काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला

[The Banaras Hindu University Sanskrit Series]

दशम पुष्प

[Vol. X]

व्याख्याकारों की दृष्टि में पातञ्जल-योगसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन

डा० (कु०) विमला कर्णाटक

१९७४
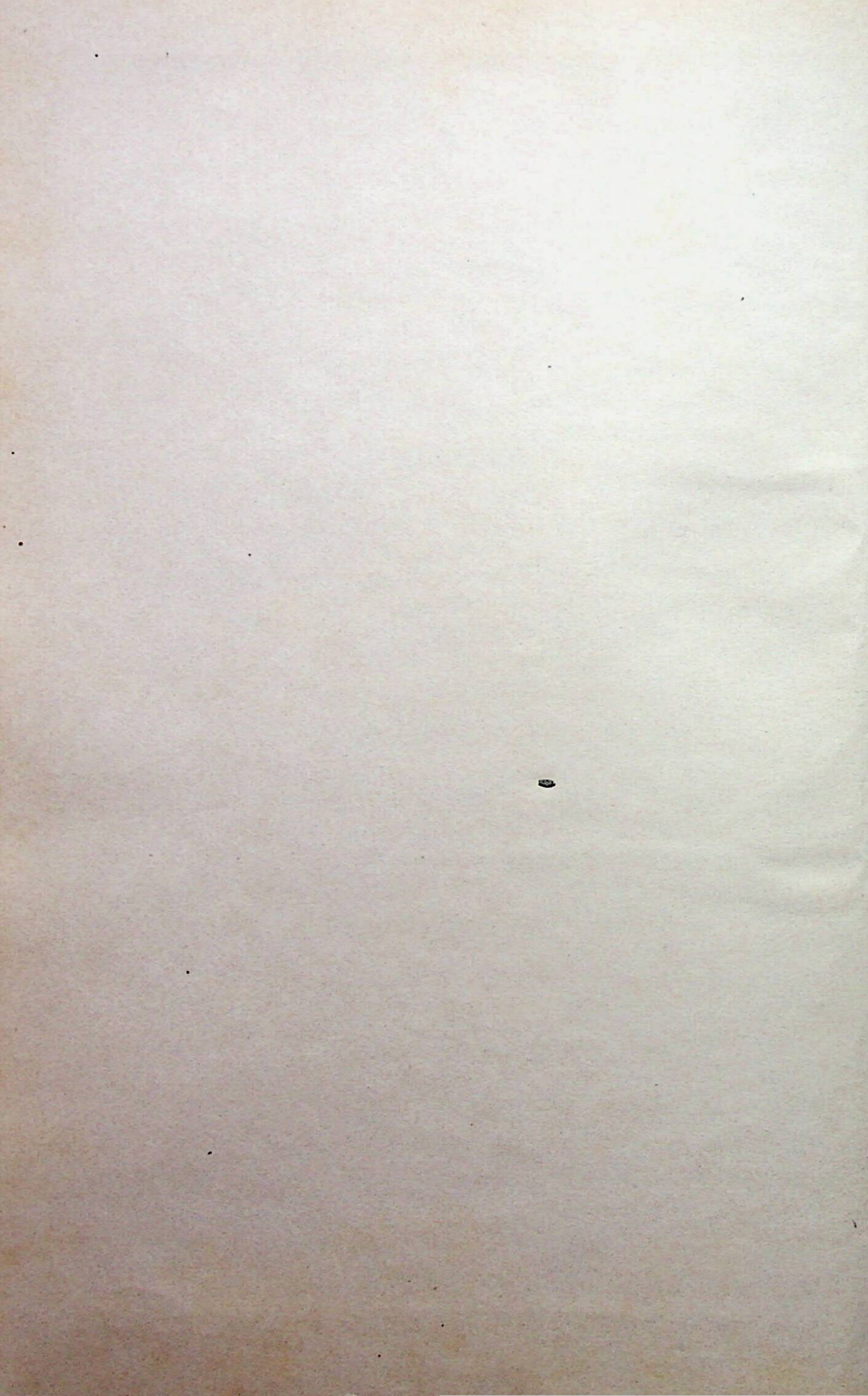
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृतग्रन्थमाला

[The Banaras Hindu University Sanskrit Series]

शोधप्रकाशनयोजना

[Research Publication Scheme]

दशम पुष्प

[Vol. X]

सम्पादक

प्रो० डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य

एम० ए० (आनर्स), पी-एच्० डी० (लन्दन), डी० लिट् (लिल्), बार-ऍट-ला (ग्रेज् इन), काव्यतीर्थ, न्यायवैशेषिकाचार्य (लब्धस्वर्णपदक),

निदेशक संस्कृत अध्ययन एवं शोधप्रकाशन योजना,

मयूरभञ्ज प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत-पालि विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-५

मई, १९७४

व्याख्याकारों की दृष्टि से पातञ्जल-योगसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन

लेखिका

डा० (कु०) विमला कर्णाटक
एम० ए०, पी-एच० डी०, विद्यालंकार
सीनियर रिसर्चफेलो
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-५

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय शोध-प्रकाशन, १९७४

समर्पणम्

विश्वविद्यालयोद्याने
श्रीमाली राजते भवान् ।
योगात्मकं शोधपुष्पं
श्रीमते दीयते मया ॥

FOREWORD

Indian Philosophy is an earnest attempt to grasp Reality in its total perspective. Thus it has bifurcated itself into theory and practice, although both have fused in all systems of Indian Philosophy. Therefore a system of thought is distinguished only by its emphasis on theory or on practice.

The Yoga system lays emphasis on practice. From ancient times, thoughts on yoga are as varied as important. With unique vision and critical acumen, the great Patañjali marshalled them into a system with God as the primordial teacher. It has since been fed and nourished both by the scholars and the yogins, in unabated continuity.

Patañjali was elaborated on the one hand by Vācaspati, a stupendous scholar, by Vijñānabhikṣu, a remarkable yogin, on the other. They were followed by others who further crystallised yogic thoughts into clear-cut channels. These were then substantiated by Tāntric thoughts. Thus evolution of the Yoga system at the hands of the commentators of Patañjali has been a confluence of thoughts and minds, based on experiments as on discursive thinking.

Dr. Kumari Vimlā had set her hand to this interesting subject. It was her Ph. D. thesis under the Department. It has won universal applause from the examiners. With amendments and improvements, it is now being presented to the scholarly world, in book form.

Based on as many as 14 published and unpublished works on the subject, it aims to be the first attempt of its kind to capture the "spirit" of yoga in its delicate shades through centuries.

Dr. Sudhakar Malaviya. the Research Assistant under the above Publication Scheme, has genuinely helped see the work through the press. The B.H.U. Press deserves congratulations for unreserved co-operation in terms of excellent printing with speed and friendliness.

30th April, 1974 S. BHATTĀCHĀRYA

दो शब्द

योगोपायविभूतिमोक्ष-पदवी यस्याः प्रसादात् स्वतः
प्राकाश्यं लभते सुसाधकहृदि प्रोद्यत्प्रभामण्डले ।
तामालम्ब्य चिदेकशक्तिमभवन् बन्धाद् विमुक्ता बुधाः
स्वात्मारामरतास्तदर्पणधिया वन्दे स्वरूपस्थिताम् ॥

एम० ए० में अध्ययन करते समय वेदान्त, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, चार्वाक आदि आस्तिक एवं नास्तिक सभी दर्शनों से परिचय प्राप्त करने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ । मीमांसा के कर्मकाण्ड की बृहत् प्रक्रिया, वेदान्त के जगन्मिथ्यात्व तथा नास्तिक दर्शनों की आचार-मीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा ने हृदयपक्ष की अपेक्षा बुद्धिपक्ष को अधिक प्रभावित किया। लेकिन योग से दोनों पक्ष प्रभावित हुए । उसमें जीवन के सभी पहलुओं पर विचार किया गया है तथा सात्त्विक-जीवनयापन का दिग्दर्शन कराया गया है ।

योगशास्त्र पर अनुसन्धान-कार्य अल्प हुआ है । और जो कुछ हुआ भी है, वह एकदेशीय एवं परिमित क्षेत्र वाला है । फलतः योग के विषय में मेरे मनस् में उत्सुकता जाग्रत् हुई । अनुसन्धान के लिए विषय चुनते हुए गुरुमुख से स्वाभिमत विषय की स्वीकृति प्राप्त कर बलवती इच्छा-शक्ति क्रियाशील हो गई। अतः अनुसन्धान के इस बौद्धिक व्यवसाय में हृदय ने भी पूर्ण सहयोग प्रदान किया ।

इस प्रकार हृदय के झुकाव एवं समय की माँग के अनुसार पातञ्जल-योगशास्त्र पर अध्ययन प्रारम्भ हुआ । समय-समय पर अत्यल्प बुद्धि इस ओर अनधिकार चेष्टा का अनुभव करने लगी । इस उत्साहहीनता को दूर करते हुए पूज्य निदेशक महोदय ने अनुसन्धानोपयोगी सुझाव देकर मुझ पर अपार कृपा की है ।

शोध के अध्ययनकाल में भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनिस्क्रप्ट्स लाइब्रेरी मद्रास, सरस्वती विद्याभवन वाराणसी, आयुर्वेदिक संस्थान पुस्तकालय वाराणसी, पार्श्वनाथ शोध विद्या संस्थान वाराणसी तथा विश्वनाथ पुस्तकालय ललिताघाट वाराणसी से मुझे पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई ।

इस पुण्य अवसर पर सर्वप्रथम मैं कृतज्ञता के साथ उस परम पिता परमेश्वर को अनेकानेक प्रणाम करती हूँ, जिसके कृपा-कटाक्ष मात्र से निर्विघ्नतापूर्वक मैं अपने संकल्पित कार्य के प्रकाशन में समर्थ हो पाई। तदनन्तर ग्रन्थ के प्रकाशन और महत्त्वपूर्ण संशोधनों के लिए मैं श्रद्धेय निदेशक गुरुवर डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, अध्यक्ष संस्कृत एवं पालि विभाग, के श्रीचरणों में स्तुति-सुमनों को समर्पित करके अपने को कृतकृत्य एवं धन्य समझती हूँ। व्यासभाष्य और वृत्ति-ग्रन्थों की दुरूह पंक्तियों के अनुवाद तथा विश्लेषणात्मक कार्य के लिए संस्कृत वाङ्मय के मूर्धन्य विद्वान् गुरुकल्प डा० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, रीडर,

संस्कृत महाविद्यालय की मैं अत्यन्त ऋणी हूँ जिन्होंने कार्यव्यापृत रहते हुए भी मुझे हार्दिक सहयोग प्रदान किया है।

वीतराग स्वामी करपात्री जी महाराज, जगद्गुरू महेश्वरानन्द जी महाराज, पद्मविभूषण महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज, प्रो० डा० पद्मा मिश्र आदि उन प्रथित कीर्तिमान् विद्वद्वरों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करना अपना परम कर्त्तव्य समझती हूँ जिनसे समय-समय पर मुझे अध्ययन, पुस्तक तथा प्रेरणा-सम्बन्धी अनेक प्रकार की सहायताएँ प्राप्त होती रहीं। डा० वी० वी० मिराशी, भू० पू० प्राध्यापक नागपुर विश्वविद्यालय और डा० आद्याप्रसाद मिश्र, प्राध्यापक, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के महत्त्वपूर्ण दिग्दर्शन के लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

गोयनका लाइब्रेरी के अध्यक्ष श्री कृष्णदत्त पन्त की मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने समय समय पर पुस्तकों का महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। अन्त में बी० एच० यू० प्रेस के सहयोगिवर्ग श्री काशी महाराज एवं श्री वसन्तराम आदि को धन्यवाद ही कह सकती हूँ। यदि उनकी इस कार्य के प्रति तत्परता एवं सहृदयता न होती तो यह ग्रन्थ प्रकाश में ही न आ पाता।

विभाग के शोध सहायक तथा मेरे सहपाठी डा० सुधाकर मालवीय धन्यवाद के पात्र हैं। आपने पूर्ण तत्परता एवं आत्मीयता के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ-प्रकाशन में मुझे सहयोग प्रदान किया है।

यह ज्ञापित करते हुए आनन्द का अनुभव हो रहा है कि पद्मविभूषण महामहोपाध्याय राजेश्वरशास्त्री द्राविड़ ने प्रस्तुत ग्रन्थ की उत्कृष्टता पर मुझे स्वर्णपदक प्रदान किया है।

भोगापवर्गार्जनदुःखमुक्तो
नरः कृतार्थो भवतीहलोके।
तन्मार्गविश्लेषणपूर्णलेखः
संपूर्णतां याति गुरोः प्रसादात्॥
पातञ्जलीयव्याख्यानान्यधिकृत्य समर्चया।
चर्चया तुष्टराधेशे विमलं ग्रन्थमर्पये॥

सीनियर रिसर्च फैलो
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

विमला कर्णाटक

ज्येष्ठ पूर्णिमा

संकेत-सूची

अ० को०	=अमरकोश
अथर्व०	=अथर्ववेद
ऋ०	=ऋग्वेद
का०	=कारिकावली (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली)
कू० पु०	=कूर्मपुराण
कै० उप०	=कैवल्यउपनिषद्
ग० पु०	=गरुड़पुराण
गी०	=गीता
च० सं०	=चरकसंहिता
छा० उप०	=छान्दोग्य उपनिषद्
जै० न्या० मा० वि०	=जैमिनिन्यायमालाविस्तर
त० वै०	=तत्त्ववैशारदी
तै० आ०	=तैत्तिरीय आरण्यक
द० स्मृ०	=दक्षस्मृति
ना० बृ० वृ०	=नागेशभट्टीयबृहद्योगसूत्रवृत्ति
ना० ल० वृ०	=नागेशभट्टीयलघुयोगसूत्रवृत्ति
न्या० भा०	=न्यायभाष्य
पं० पा० वि०	=पञ्चपादिकाविवरण
प० चं०	=पदचन्द्रिका
पा० र०	=पातञ्जल-रहस्य
पा० शि०	=पाणिनीयशिक्षा
बृ० आ० उप०	=बृहदारण्यक उपनिषद्
ब्र० सू०	=ब्रह्मसूत्र
भ० गी०	=भगवद्गीता
भा०	=भास्वती
भा० ग० वृ०	=भावागणेशीययोगसूत्रवृत्ति (योगदीपिका)
भा० दी०	=भावार्थदीपिका
भाम०	=भामती
म० प्र०	=मणिप्रभा
म० स्मृ०	=मनुस्मृति
मा० का०	=माण्डूक्यकारिका
मा० पु०	=मार्कण्डेयपुराण
मी० न्या० प्र०	=मीमांसान्यायप्रकाश

मु०	=मुक्तावली (प्रत्यक्ष खण्ड)
मो० ध०	=मोक्षधर्म (महाभारत, शान्तिपर्व)
मै० उप०	=मैत्रायणी उपनिषद्
योगवा०	=योगवासिष्ठ
यो० प्र०	=योगप्रदीपिका
यो० वा०	=योगवार्त्तिक
यो० सा० सं०	=योगसारसंग्रह
यो० सि० चं०	=योगसिद्धान्तचन्द्रिका
यो० सु०	=योगसुधाकर
यो० सू०	=योगसूत्र
रा० मा०	=राजमार्तण्ड
वा० प०	=वाक्यपदीय
वा० पु०	=वायुपुराण
वि० पु०	=विष्णुपुराण
वि० मृ० भा०	=विज्ञानामृतभाष्य
वे० प०	=वेदान्तपरिभाषा
वे० सू०	=वेदान्तसूत्र
व्या० भा०	=व्यासभाष्य
श० ब्रा०	=शतपथ ब्राह्मण
शा० उप०	=शाण्डिल्य उपनिषद्
श्वे० उप०	=श्वेताश्वतर उपनिषद्
स० द० सं०	=सर्वदर्शनसंग्रह
सां० का०	=सांख्यकारिका
सां० त० कौ०	=सांख्यतत्त्वकौमुदी
सां० द० का इति०	=सांख्यदर्शन का इतिहास
सां० प्र० भा०	=सांख्यप्रवचनभाष्य
सां० सू०	=सांख्यसूत्र
सि० मु०	=सिद्धान्तमुक्तावली
सू० बो०	=सूत्रार्थबोधिनी
सौ० पु०	=सौरपुराण
ह० यो० प्र०	=हठयोगप्रदीपिका

संक्षिप्त विषय-सूची

प्रथम पटल—दार्शनिक पृष्ठभूमि

द्वितीय पटल—संसार

तृतीय पटल—कैवल्य

———

चित्रपट्ट–सूची

———

विस्तृत विषय-सूची

प्रथम पटल—दार्शनिक पृष्ठभूमि

द्वितीय पटल—संसार

तृतीय पटल—कैवल्य

भूमिका

पातञ्जल-योग-साहित्य के अन्तर्गत **पतञ्जलिप्रणीत** योगसूत्र, व्यासभाष्य, व्यासभाष्य की टीकाएँ तथा वृत्तिग्रन्थ आते हैं। जिस प्रकार सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त आदि भारतीय दर्शनों पर सर्वप्रथम सूत्रात्मक-ग्रन्थ लिखे गए उसी प्रकार **पतञ्जलि** ने शास्त्रों में विकीर्ण योग-तत्त्वों को सूत्रात्मक ग्रन्थ-शैली में संकलित किया। पातञ्जल-योगसूत्र में जहाँ एकतः योग-साम्प्रदायिकों की विविध विचारधाराएँ प्राप्त हैं, वहाँ अपरतः **पतञ्जलि** का स्वकीय विशिष्ट दृष्टिकोण भी प्रतिविम्बित है।

व्यासभाष्य—**व्यासदेव** ने पातञ्जल-योग पर भाष्य लिखा। यह प्रामाणिक प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसके द्वारा योग-सूत्र के रहस्य प्रकाश में आए। पातञ्जल-योग-प्रासाद में प्रवेश पाने का यह मुख्य द्वार है। **पतञ्जलिप्रोक्त** योग-विद्या को व्यापक स्तर पर प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम प्रयास **व्यासदेव** ने किया है।

व्यासभाष्य की टीकाएँ—काल-क्रम से योगशास्त्र की सेवा करने वाले तीन महारथी **वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु** तथा **हरिहरानन्द आरण्यक** ने व्यासभाष्य पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखीं। तत्त्ववैशारदी, योगवार्त्तिक तथा भास्वती ने जितनी लोकप्रियता प्राप्त की है, उतनी प्रौढ़ता एवं गम्भीरता भी उनमें परिलक्षित होती है। इन व्याख्याकारों ने निष्ठा एवं तत्परता के साथ योग के रहस्यों को उद्‌घाटित करने तथा गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया है।

तत्त्ववैशारदी—**वाचस्पति मिश्र** की तत्त्ववैशारदी योगवार्त्तिक की अपेक्षा संक्षिप्त है। **वाचस्पति मिश्र** ने अत्यन्त सारगर्भित एवं ठोस शैली में योग के सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। वे जगह-जगह श्रुति, स्मृति आदि अन्य शास्त्रों के उद्धरण प्रस्तुत नहीं करते हैं। **वाचस्पति मिश्र** ने योग के दृष्टि-बिन्दु से व्यासभाष्य की व्याख्या की है। उनका एकमात्र लक्ष्य व्यासभाष्य की जटिल पंक्तियों के साथ तादात्म्य स्थापित कर उन्हें स्पष्ट रूप से सुलझाना था।

योगवार्त्तिक—**विज्ञानभिक्षुकृत** योगवार्त्तिक सांख्य-योग-वेदान्त का समन्वित रूप है। फलतः **विज्ञानभिक्षु** को **वाचस्पति** के व्याख्यानों का जगह-जगह खण्डन भी करना पड़ा है। योगवार्त्तिक उद्धरणों से आपूरित है। क्योंकि **विज्ञानभिक्षु** को नवीन सिद्धान्तों की प्रामाणिकता के लिए श्रुति स्मृतियों के उद्धरण अपेक्षित रहे।

भास्वती—व्यासभाष्य के तृतीय व्याख्याकार **हरिहरानन्द आरण्यक** की भास्वती टीका योगवार्त्तिक की भाँति खण्डन-मण्डन-प्रधान नहीं है। वह सरल एवं सुबोध शैली में लिखी गई है। उदाहरणस्वरूप, प्रकृति के साथ पुरुष के संयोग के हेतुभूत अदर्शन के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष स्तर पर **व्यासदेव** द्वारा उपस्थापित सात विकल्पों की अनुपयुक्तता[1] को लौकिक उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करने का श्रेयस् आचार्य **हरिहरानन्द आरण्यक** को है।

पातञ्जलरहस्य—पातञ्जलरहस्य तत्त्ववैशारदी की उपटीका है। इसके रचयिता **राघवानन्दसरस्वती** हैं। पातञ्जलरहस्य में तत्त्ववैशारदी के कठिन शब्द एवं वाक्यों को उठाकर उन्हें सुबोध बनाया गया है।

वृत्तिग्रन्थ—योगसूत्र पर राजमार्तण्ड, सूत्रार्थबोधिनी पदचन्द्रिका, योगसुधाकर, योगप्रदीपिका, मणिप्रभा, भावागणेशीयवृत्ति, नागेशभट्टीय लघ्वी तथा बृहती वृत्ति तथा योगसिद्धान्तचन्द्रिका—ये वृत्त्यात्मक ग्रन्थ लिखे गए हैं। 'सूत्रार्थप्रधाना वृत्तिः'—वृत्ति का यह लक्षण **भोजदेवकृत** राजमार्तण्ड, **नारायणतीर्थकृत** सूत्रार्थबोधिनी, **अनन्तदेव पण्डितकृत** पदचन्द्रिका तथा **सदाशिवेन्द्रसरस्वतीकृत** योगसुधाकर में चरितार्थ होता है। इनसे सूत्रगत किसी पद का अर्थ सन्दिग्ध नहीं रह जाता है। व्यासभाष्य, तत्त्ववैशारदी आदि बृहद् व्याख्याग्रन्थों में जिस प्रकार बौद्ध आदि आचार्यों के साथ शास्त्रार्थ के स्थल परिलक्षित होते हैं, उस प्रकार के विवादास्पद स्थल इन चार वृत्तिग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते हैं। वृत्तिकारों का उद्देश्य खण्डन-मण्डन से शून्य योग के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादक वृत्त्यात्मक ग्रन्थों का निर्माण करना था। अतः इन वृत्तिग्रन्थों को पढ़कर व्यासभाष्य, तत्त्ववैशारदी आदि प्रौढ़ टीकाओं में प्रवेश पाने के लिए योगसिद्धान्तग्राहिणी बुद्धि बनाई जा सकती है।

राजमार्तण्ड—राजमार्तण्ड ग्रन्थ भोजवृत्ति नाम से भी विख्यात है। **भोजदेव** ने चतुर्थ कैवल्यपाद के अन्तिम सूत्र में अन्य भारतीय दार्शनिकानुमोदित आत्मस्वरूप के खण्डनपुरस्सर योगसम्मत आत्मस्वरूप की स्थापना उच्च स्तर पर की है।[२] इससे उनकी बहुशास्त्रज्ञता सूचित होती है। राजमार्तण्ड में स्थान-स्थान पर सूत्रों का पाठभेद भी मिलता है।[३]

सूत्रार्थबोधिनी—**नारायणतीर्थकृत** सूत्रार्थबोधिनी में पाए जाने वाले विशिष्ट सिद्धान्त उनके योग के दूसरे ग्रन्थ योगसिद्धान्तचन्द्रिका से भिन्न हैं। इसका मुख्य कारण पूर्ववर्ती योगाचार्यों के प्रति उनकी असीम निष्ठा प्रतीत होती है। आदरभाव से उन्होंने तत्त्ववैशारदी एवं योगवार्तिक दोनों के विरोधांशों को अपनाया है। उन्होंने किसी एक मतवाद का खण्डन नहीं किया है। फलतः उनके दोनों ग्रन्थों में पृथक्-पृथक् विचारधाराएँ उपलब्ध होती हैं।

पदचन्द्रिका—पातञ्जल-योगसूत्र के उपलब्ध वृत्तिग्रन्थों में **अनन्तदेव** की पदचन्द्रिका लघुतम है। **अनन्तदेव पण्डित** ने भोजवृत्ति में समुपलब्ध पाठभेदों को प्रामाणिक माना तथा अन्य भी कई पाठभेदों का समावेश पदचन्द्रिका में किया है। उदाहरणस्वरूप **'श्रुत'** के स्थान पर **'श्रौत'** (१।५३), **'रूढो'** के स्थान पर **'तन्वनुबन्धो'** (२।९), **'क्षणतत्क्रमयोः'** के स्थान पर

---

[१] किं गुणानामधिकारः......'यावद्दाहस्तावज्ज्वर' इत्युक्तिर्यथा न सम्यग् ज्वरलक्षणं तद्वत्......—भा० पृ० २२६-२३१।

[२] संसारदशायामात्मा......चितिशक्तेः कैवल्यम्—रा० मा० पृ० ७६-८०।

[३] १।५ क्लिष्टाक्लिष्टाः के स्थान पर क्लिष्टा अक्लिष्टाः, १।१८ 'संस्कारशेषः' के स्थान पर 'संस्कारविशेषः', १।२५ 'सर्वज्ञबीजम्' के स्थान पर 'सार्वज्ञबीजम्' इत्यादि।

'क्षणक्रमसंयमात्' (३।५३), 'प्रकृत्यापूरात्' के स्थान पर 'प्रकृत्यापूरणात्' (४।२), 'विभक्तः' के स्थान पर 'विविक्तः' (४।१५) इत्यादि। लेकिन ये पाठभेद अर्थभेदपरक नहीं हैं। इनसे सूत्रार्थ में अन्तर नहीं आता है। पदचन्द्रिका में सूत्रों की संख्या भी अधिक मिलती है; उदाहरणस्वरूप (१) गृहीतसम्बन्धालिङ्गालिङ्गानि सामान्यात्मनाध्यवसायोऽनुमानम् (१।८), (२) आप्तवचनमागमः (१।९), (३) प्रतिपरिणामं च संस्कारः (१।२१) (४) एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम् (३।२२) इत्यादि। लेकिन इन नवीन सूत्रों द्वारा योग-सम्बन्धी कोई नूतन विचार प्रकाश में नहीं आता है। व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, हरिहरानन्द आरण्यक आदि व्याख्याकारों ने जिन विचारों को जिन सूत्रों के अन्तर्गत माना है, उन्हीं विचारों के आधार पर अनन्तदेव पण्डित ने नवीन सूत्रों का निर्माण किया है।

योगसुधाकर—सदाशिवेन्द्रसरस्वती ने योगसुधाकर में 'नियम'-वर्गीय स्वाध्याय के अन्तर्गत मन्त्र के भेद सर्वप्रथम प्रदर्शित किए हैं।[१] सदाशिवेन्द्रसरस्वती विषय की पुष्टि के लिए आवश्यकतानुसार उद्धरण भी देते चलते हैं। ये पूर्वाचार्यों द्वारा उद्धृत उद्धरण नहीं हैं।

उपरिर्वणित चार वृत्तिग्रन्थों की अपेक्षा भावागणेशीय योगसूत्रवृत्ति, मणिप्रभा, नागेशभट्टीय लघुयोगसूत्रवृत्ति तथा योगप्रदीपिका में योग के सिद्धान्त अधिक स्पष्ट हुए हैं।

भावागणेशीयवृत्ति—योगवार्त्तिक पर आधारित भावागणेश की योगसूत्रवृत्ति योगदीपिका नाम से विख्यात है। यह योगवार्त्तिक की भाँति वृहद् नहीं, प्रत्युत संक्षिप्त है। इसमें 'पञ्चतय्यः, संवेगः, ज्वलनम्, विदुषः'—आदि विवादास्पद शब्दों का अर्थ योगवार्त्तिक के अनुसार किया गया है। मत-मतान्तरों के उल्लेख भी इस वृत्तिग्रन्थ में दिखलाई पड़ते हैं।

मणिप्रभा—रामानन्दयति की मणिप्रभा व्यासदेव के योग-सम्बन्धी रत्न-तत्त्वों की प्रकाशिका है।[२] इसमें भाष्य की पंक्तियों को उद्धृत कर सूत्रार्थ को स्पष्ट किया गया है।[३] मणिप्रभा पर तत्त्ववैशारदी का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है; क्योंकि योग के विवादास्पद स्थलों पर दिए गए निर्णय तत्त्ववैशारदी के अनुसार हैं।[४] मणिप्रभा की भाषा अत्यन्त सरल एवं सरस है।

---

[१] ते च मन्त्रा द्विविधाः—वैदिकास्तान्त्रिकाश्च। वैदिकाः प्रगीतागीतभेदेन द्विविधाः। तान्त्रिकाः स्त्रीनपुंसकभेदेन त्रिविधाः—यो० सु० पृ० ४३।

[२] पतञ्जलिं सूत्रकृतं प्रणम्य
व्यासं मुनिं भाष्यकृतं च भक्त्या।
भाष्यानुगां योगमणिप्रभाऽऽख्यां
वृत्तिं विधास्यामि यथामतीडचाम्॥—म० प्र० पृ० १।

[३] तदाह भाष्यकारः 'यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायत इति'—म० प्र० पृ० २।

[४] (क) अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणीति 'साङ्ख्याः'। अहङ्कारस्यानुजानि बुद्धेरपत्यानि तन्मात्राणीति 'योगाः' —म० प्र० पृ० ३५।
(ख) पञ्च तन्मात्राणि बुद्धिकारणकान्यविशेषत्वाद् अस्मितावत्—त० वै० पृ० २०३।

नागेशभट्टीय लघुवृत्ति—**नागेशभट्ट** की योगसूत्र की लघ्वी टीका मुख्यतः योगवार्त्तिक पर आधृत है। शब्दों के पाठभेद तथा नए सूत्रों की योजना इसमें दृष्टिगत नहीं होती है।

योगसूत्र के वृत्तिग्रन्थों में **नागेशभट्टकृत** बृहद्योगसूत्रवृत्ति तथा योगसिद्धान्तचन्द्रिका व्यापक स्तर पर लिखे गए हैं। ये केवल सूत्रार्थप्रधान नहीं हैं। ये दोनों ग्रन्थ सांख्य-योग-वेदान्त दर्शन के समन्वयवाद पर प्रतिष्ठित हैं।

नागेशभट्टीय बृहद्योगसूत्रवृत्ति—इस वृत्तिग्रन्थ की विशिष्टता यह है कि भाषा-शैली की दृष्टि से यह योगवर्त्तिक के अनुरूप है और सैद्धान्तिक दृष्टि से यह योगवार्त्तिक एवं तत्त्ववैशारदी का मध्यमरूप है। **नागेशभट्ट** ने **विज्ञानभिक्षु** एवं **वाचस्पति मिश्र** में से किसी एक आचार्य के साथ पक्षपात नहीं किया। प्रत्युत कुशल न्यायाधीश की भाँति दोनों के वैमत्यों का खण्डन-मण्डन, अनुमोदन-तिरस्कार किया। ये **नागेशभट्ट** के स्वतन्त्र विचार के द्योतक हैं।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका—**नारायणतीर्थकृत** योगसिद्धान्तचन्द्रिका मौलिक ग्रन्थ है। ये अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों के अन्धपोषक नहीं हैं। इसमें योग का लक्षण, निद्रा का स्वरूप, स्मृति का स्वरूप, प्रणवार्थ-विवेचन, ऋतम्भरा-प्रज्ञा की उपयोगिता आदि स्थलों की सन्देहात्मक गुत्थियाँ प्रश्नोत्तर शैली से सुलझाई गई हैं। **पतञ्जलि** द्वारा प्रयुक्त **'विषय'** (१।१५), **'संज्ञा'** (१।१५), **'पुरुषख्यातेः'** (१।१६), **'उपायः'** (२।२६)—आदि शब्दों के प्रयोजन-गाम्भीर्य को समझाने का सामर्थ्य आचार्य **नारायणतीर्थ** में था। भक्तिभाव से प्रभावित **नारायणतीर्थ** की योगसिद्धान्तचन्द्रिका में जहाँ एकतः भक्तियोग पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ है, वहाँ अपरतः हठयोग से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री भी समुपलब्ध है। योगसूत्रों में निगूढ़ क्रियायोग, चर्यायोग, कर्मयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, ज्ञानयोग, अद्वैतयोग, लक्ष्ययोग, ब्रह्मयोग, शिवयोग, सिद्धियोग, वासनायोग, लययोग, ध्यानयोग, तथा प्रेमभक्तियोग—इसमें अन्वेषित हैं;[१] तथा राजयोग (असम्प्रज्ञातयोग) इन समस्त योगों का महायोग घोषित हुआ है। अवतारवाद, षट्कर्म, षट्चक्र, कुण्डलिनी-शक्ति आदि नवीन विषय इसमें विवेचित हैं। पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत विषयों में भी **नारायणतीर्थ** ने अपनी मेधा का परिचय दिया है। लेकित **नारायणतीर्थ** की यह मौलिक कृति प्रकाशित एवं अप्रकाशित प्रतियों में चतुर्थ पाद के तृतीय सूत्र तक ही प्राप्त है।

योग के आचार्यों की ऐतिहासिक परम्परा तथा उनकी अन्य कृतियाँ

योगसूत्रकार **पतञ्जलि** १५० ई० पूर्व हुए हैं।[२] **पतञ्जलि** ने योगशास्त्र की भाँति व्याकरण तथा आयुर्वेदशास्त्र पर भी लेखनी चलाई है।[३]

---

[१] **निदिध्यासनञ्चैकतानतादिरूपो राजयोगापरपर्यायः समाधिः। तत्साधनं तु क्रियायोगः, चर्यायोगः, कर्मयोगः, हठयोगः, मन्त्रयोगः, ज्ञानयोगः, अद्वैतयोगः, लक्ष्ययोगः, ब्रह्मयोगः, शिवयोगः, सिद्धियोगः, वासनायोगः, लययोगः, ध्यानयोगः प्रेमभक्तियोगश्च यो० सि० चं० पृ० २।**

[२] **स० द० सं० पृ० ९३५।**

[३] **इन सब लेखों के आधार पर महाभाष्य, योगसूत्र तथा परिष्कृत चरकसंहिता के रचयिता एक ही पतञ्जलि माने जाते हैं—सां० द० का इति० पृ० १८४।**

योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव तृतीय शतक से अधिक प्राचीन नहीं हैं। योग के भाष्यकार व्यासदेव पुराणों के रचयिता महर्षि व्यास से भिन्न प्रतीत होते हैं।

वाचस्पति मिश्र का स्थितिकाल अष्टम शताब्दी का अन्तिम अथवा नवम शताब्दी का पूर्वभाग माना जाता है। ये मिथिलादेशवासी थे। तत्त्वकौमुदी, न्यायसूचीनिबन्ध, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, न्यायकणिका, तत्त्वबिन्दु, ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा, ब्रह्मसिद्धि तथा भामती इनके अन्य दार्शनिक ग्रन्थ हैं।

भोजदेव का काल लगभग १०१९ से १०५४ ई० है।[१] सरस्वतीकण्ठाभरण तथा राजमृगाङ्क इनके अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

गोविन्दानन्दस्वामी के शिष्य[२] रामानन्दयति सोलहवीं शताब्दी के हैं।[३] वेदान्त पर आधारित ब्रह्मामृतवर्षिणी तथा विवरणोपन्यास इनकी अन्य मौलिक कृतियाँ हैं।

विज्ञानभिक्षु सोलहवीं शताब्दी के आचार्य माने जाते हैं। प्रो० ए० बी० कीथ, एफ० इ० हाल डॉ० रिचर्ड, विन्तरनिट्ज, दासगुप्ता, राधाकृष्णन्, डा० आद्याप्रसाद मिश्र, इत्यादि विद्वानों ने विज्ञानभिक्षु के उपरिनिर्दिष्ट काल के सम्बन्ध में रुचि प्रकट की है।[४] योगवार्त्तिक के अतिरिक्त विज्ञानभिक्षु के सांख्यप्रवचनभाष्य, सांख्यसारविवेक, विज्ञानामृत-भाष्य तथा योगसारसंग्रह ग्रन्थ विद्वत्समाज में प्रचलित हैं। सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव न विज्ञानभिक्षु के और तेरह ग्रन्थों की सूचना दी है।[५]

विज्ञानभिक्षु के शिष्य[६] भावागणेश विज्ञानभिक्षु के समकालीन (सोलहवीं शताब्दी के) हैं। तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, सांख्यतत्त्वप्रदीपिका, सांख्यसार तथा सांख्यपरिभाषा—इनकी अन्य कृतियाँ हैं।

---

[१] रा० मा० भूमिका पृ० २७।

[२] इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीरामानन्द-सरस्वती-(यति)-कृतौ सांख्यंप्रवचने योगमणिप्रभायाम्······—म० प्र० पृ० ९३।

[३] स० द० सं० पृ० ९४१।

[४] (क) Sāṁkhya system. p. 114 by A. B. Keith.
(ख) Preface to the Sāṁkhya-sāra p. 37, by F. E Hall.
(ग) Preface to the Sāṁkhya-sūtra-vṛtti p. 8. by Dr. R. Garbe.
(घ) Indian Literature (German Ed.) p. 457 by M. Winternitz.
(ङ) History of Indian Philosophy. Vol. I. pp. 212-221, by. S. N. Das gupta.
(च) Indian Philosophy. Vol. II by S. Rādhākṛṣṇan.
(छ) सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा—पृ० २९५-३०४।

[५] आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान—पृ० ४६-४७।

[६] भाष्ये परीक्षितो योऽर्थो वार्तिके गुरुभिः स्वयम्।
संक्षिप्तः सिद्धवत्सोऽस्यां युक्तिष्वूक्ताधिका क्वचित् ॥—भा० ग० वृ० पृ० १।

विज्ञानभिक्षु के परवर्त्ती व्याख्याकार **नागेश भट्ट** का स्थितिकाल सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध तथा सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।[१] ये महाराष्ट्री ब्राह्मण थे। इन्होंने दर्शनशास्त्र की प्रत्येक विधा पर लेखनी चलाई है। इन्होंने पचपन या छप्पन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

रामगोविन्दतीर्थ के शिष्य **नारायणतीर्थ**[२] सत्रहवीं शताब्दी के हैं। विद्वत्समाज में **नारायणतीर्थ** के निम्नाङ्कित ग्रन्थ (योग के ग्रन्थों को छोड़कर) प्रचलित ह—चन्द्रिका (सांख्यकारिका की टीका), भक्तिचन्द्रिका, भक्त्यधिकरणमाला, तत्त्वचन्द्रिका, न्यायकुसुमाञ्जलि, सिद्धान्तबिन्दु, विभावना तथा भाषापरिच्छेद।

सदाशिवेन्द्रसरस्वती ने अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में करूर नामक स्थान में जन्म ग्रहण किया था।[३] ये महान् योगी तथा परम अद्वैतनिष्ठ महात्मा थे। **सदाशिवेन्द्रसरस्वती** के ब्रह्मसूत्रवृत्ति, आत्मविद्याविलास, कविता-कल्पवल्ली तथा अद्वैतरसमञ्जरी अन्य ग्रन्थ हैं।

आधुनिक इतिहासकारों ने **अनन्तदेव पण्डित** का समय बीसवीं शताब्दी माना है। व्याकरणशास्त्र पर इनका अन्य ग्रन्थ शब्दसुधा है।

सांख्ययोग के आधुनिक व्याख्याताओं में परिगणित **हरिहरानन्द आरण्यक** का स्थितिकाल उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम तथा बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। सांख्यतत्त्वालोक, पञ्चशिखादीनां सांख्यसूत्रम्, योगकारिका, धर्मपदम्, सरलसांख्ययोग तथा व्यासभाष्य की बंगला टीका—ये **हरिहरानन्द आरण्यक** के अन्य ग्रन्थ हैं।

मैथिल पण्डित **बलदेव मिश्र** भी बीसवीं शताब्दी के हैं। ये योगी कुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम **श्रीधर मिश्र** तथा पितामह का नाम **हलधर मिश्र** था।[४] योगप्रदीपिका **बलदेव मिश्र** की अन्तिम कृति है। स्त्री एवं पुत्र के देहान्त से निर्वेद जाग्रत् होने पर उन्होंने योगशास्त्र पर लिखा।[५] योगप्रदीपिका को छोड़कर बलदेव मिश्र के अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—सन्ध्याप्रकाश, गृहस्थाचारदर्पण, उपदेशरत्न तथा भावरत्न।

———

[१] (क) सां० द० का इति० पृ० ५०६। (ख) स० द० सं० पृ० ९३४।

[२] श्रीरामगोविन्दसुतीर्थपादकृपाविशेषादुपलभ्य बोधम्।
श्रीवासुदेवादधिगत्य सर्वशास्त्राणि वक्तुं किमपि स्पृहा नः॥—सां० का० ना० टी० सहित० पृ० १।

[३] तस्यावासभूमिः करूर्नामको जनपद इति चावगम्यते—यो० सु० भूमिका पृ० ३।

[४] आसीद्धलधरो द्विजः······तस्य श्रीधरनामाऽऽसीदात्मजन्मा······तस्य ज्येष्ठतनुजः श्रीबलदेवाभिधः सुधीः—यो० प्र० पृ० १।

[५] ततः कालेन कियता मृतपुत्रकलत्रकः।
वैराग्यं प्राप्य योगस्याभ्यासं कुर्वन् सयत्नतः॥—यो० प्र० पृ० १।

व्याख्याकारों की दृष्टि से पातञ्जल-योग-सूत्र

का

समीक्षात्मक अध्ययन

प्रथम पटल—दार्शनिक पृष्ठभूमि

अध्याय—१

चतुर्व्यूहवाद

हेय

हेयहेतु

हान

हानोपाय

अध्याय—१

चित्रपट्ट सं० १
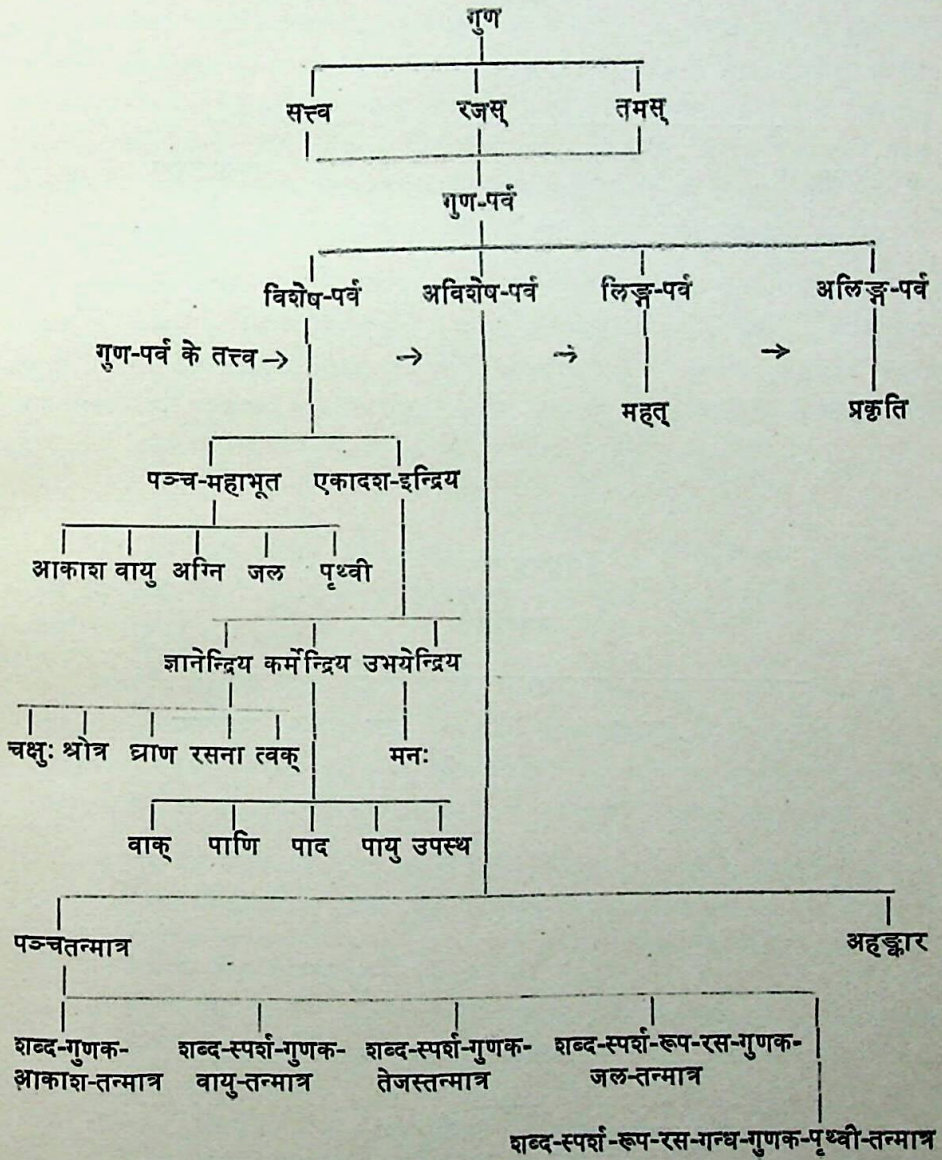
चित्रपट्ट सं० २

चित्रपट्ट सं० ३

चित्रपट्ट सं० ४

अध्याय—१

चतुर्व्यूहवाद

हिन्दी कोश में 'चतुर्व्यूह' शब्द का अर्थ योगशास्त्र एव चिकित्साशास्त्र किया गया है।[१] दोनों शास्त्रों की 'चतुर्व्यूह' संज्ञा तत्-तत् ग्रन्थों में योग तथा रोग के सम्बन्ध में चार दृष्टिकोणों से विचार किए जाने के कारण प्रतीत होती है। चिकित्साशास्त्र में रोग, रोगहेतु, आरोग्य एवं आरोग्योपाय (भैषज्य) का वर्णन उपलब्ध होता है। योगशास्त्र में दुःख (संसार), दुःख-हेतु (संसारहेतु), हान (मोक्ष) और हानोपाय (मोक्षोपाय) का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।[२] गागर में सागर की भाँति इन्हीं चार व्यूहों में शास्त्र का सार भरा हुआ है। अतः चतुर्व्यूह को योग एवं चिकित्साशास्त्ररूपी देह का मेरुदण्ड समझा जाता है।

भाष्य के व्याख्याकारों की अपेक्षा सूत्र के वृत्तिकारों ने (**नागेश भट्ट को छोड़कर**) उक्त विषय पर संक्षेप से प्रकाश डाला है। भाष्य के व्याख्याकारों ने चतुर्व्यूह के अवान्तर विषयों की भी भलीभाँति विवेचना की है। प्रस्तुत सन्दर्भ में एक-दो स्थल को छोड़कर व्याख्याकारों के व्याख्यान में वैचारिक मतभेद उपलब्ध नहीं होता है। अब योगशास्त्र के प्रत्येक 'व्यूह' पर क्रमशः विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा।

हेय

दुःख का वरण करना कोई नहीं चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति का दुःख के प्रति बलवद्द्वेष देखा जाता है।[३] अतः विवेकियों द्वारा दुःख, हेय (त्याज्य) कोटि में परिगणित हुआ है।

कालभेद से दुःख तीन प्रकार का है—अतीतकालिकदुःख, वर्तमानकालिकदुःख एवं अनागतकालिकदुःख। दुःख-क्षय के दो साधन हैं—भोग-साधन तथा योग-साधन। अतीत एवं वर्तमानकालिक दुःख का क्षय भोग द्वारा ही हुआ करता है। अनागतदुःख (भविष्य में भोग्य दुःख) का नाश दो प्रकार से हो सकता है—भोग द्वारा अथवा योगसाधना द्वारा।

सूत्रकार एवं व्याख्याकारों का कहना है कि प्रथम 'हेय' व्यूह के अन्तर्गत 'अनागत-दुःख' का ही समावेश होता है[४], अतीत एवं वर्तमानकालिकदुःख का नहीं। क्योंकि अतीत-

---

[१] नालन्दा विशाल-शब्दसागर—पृ० ३६०।

[२] यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं रोगो रोगहेतुः आरोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद्यथा—संसारः, संसार-हेतुः, मोक्षो, मोक्षोपाय इति—व्या० भा० पृ० १८५।

[३] (क) अधर्मजन्यं दुःखं स्यात् प्रतिकूलं सचेतसाम्—का० १४५।
(ख) दुःखत्वज्ञानादेव सर्वेषां स्वाभाविकद्वेषविषय इत्यर्थः—मु० पृ० १९३।

[४] हेयं दुःखमनागतम्—यो० सू० २।१६।

दुःख तो भोग द्वारा स्वतः क्षीण हो जाया करता है तथा वर्तमानकालिकदुःख भोगारूढ़ होने से द्वितीय क्षण में स्वतः नष्ट हो जाता है। अतः अफलोन्मुख अनागतदुःख ही पुरुषार्थ द्वारा नाश्य है।

व्याख्या-ग्रन्थों में कहीं-कहीं दुःख की भाँति 'संसार' की हेयता भी कही गई है, इससे 'हेय' व्यूह में परिगणित तत्त्व के सम्बन्ध में व्याख्याकारों का मतभेद नहीं समझना चाहिए, क्योंकि दोनों तत्त्व एकरूप ही हैं। दुःख, संसार का पर्याय है। अतः दुःखबहुल संसार को हेय कहने से दुःख की हेयता स्वतः आ जाती है।[१]

इस प्रसङ्ग में आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** ने इतना अधिक बतलाया है कि यद्यपि पुरुष में दुःखाभाव (दुःख का हान) सदैव स्वतः सिद्ध है तथापि उसमें भोग्यता-रूपस्वत्वसम्बन्ध से दुःखाभाव नित्य सिद्ध नहीं है। क्योंकि पुरुष बुद्धिगत सुख, दुःख आदि का अपने को भोक्ता समझकर सुखी एवं दुःखी होता है। अतः भोग्यता-रूपस्वत्वसम्बन्ध से दुःख का नाश करना पुरुषार्थ है।[२] इस प्रकार से यह हेय-संज्ञक व्यूह का स्वरूप है।

हेयहेतु

जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग का स्वरूप बतलाकर उसकी उत्पत्ति का कारण बतलाया गया है उसी प्रकार योगशास्त्र में भी दुःख की हेयता (त्याज्य) बतलाकर 'हेयहेतु' पर विचार किया गया है।

द्रष्टा (पुरुष) एवं दृश्य (बुद्धि) का जो संयोग है, वह हेयहेतु कहलाता है।[३] अर्थात् जब पुरुष दृश्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है तभी उसे दुःख का अनुभव होता है। अतः दोनों के संयोग को ही दुःख का हेतु कहा गया है।

'चित्त-वृत्तियों' के प्रकरण में आगे बतलाया जायगा कि किस प्रकार पुरुष विषयाकार-बुद्धि का द्रष्टा एवं विषयाकारबुद्धि पुरुष का दृश्य बनती है। वहीं पर बुद्धि एवं पुरुष के दृश्य एवं द्रष्टा बनने की प्रणाली के सम्बन्ध में, व्याख्याकारों में जो अंशतः मतभेद है, उसका भी मूल्यांकन किया जायगा। यहाँ हेयहेतु के स्वरूप-प्रतिपादक सूत्र में आए तीन विषयों—द्रष्टा, दृश्य एवं उनके संयोग—पर विचार अपेक्षणीय है, जिससे हेयहेतु का स्वरूप उद्घाटित हो सके।

---

१ (क)…दुःखं हेयमुक्त्वा संसारं हेयं…… न विरोध इत्यत आह-'तत्र दुःखबहुल इति त० वै० पृ० १८५।

(ख) दुःखबहुलत्वात्संसार एव दुःखमित्यर्थः—यो० वा० पृ० १८५।

२ (क) तद्धानं च समवायसम्बन्धेन यद्यपि पुरुषे नित्यसिद्धं तथाऽपि भोग्यतारूपस्वत्व-सम्बन्धेन धनादीनामिव तद्धानं न नित्यसिद्धमिति तेन सम्बन्धेन तद्धानं पुरुषार्थ इत्याशयः—यो० वा० पृ० १८७-१८८।

(ख) एवं च भोग्यतारूपस्वत्वसंबन्धेन ……तद्धानं पुरुषार्थः—ना० बृ० वृ० पृ० २८१।

३ द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः—यो० सू० २।१७।

यद्यपि **'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः'**—इस सूत्र में पठित विषयों के क्रमानुसार सूत्रकार को सर्वप्रथम द्रष्टा (पुरुष) का स्वरूप बतलाना चाहिए था, लेकिन पुरुष, दृश्य से भिन्न है, अतः सूत्रकार द्रष्टा के विषयभूत दृश्य का स्वरूप पहले बतलाते हैं, क्योंकि द्रष्टा के ज्ञान के लिए उसके विषयभूत दृश्य का ज्ञान आवश्यक होता है। अतः व्याख्याकारों ने भी पहले दृश्य-तत्त्व पर विचार किया है।[१]

दृश्य-तत्त्व-विवेचन—यहाँ[२] 'दृश्य' पद से केवल विषयाकारबुद्धि को ही नहीं लिया गया है, अपितु उससे कार्य-कारणात्मक निखिल जड़ जगत् का ग्रहण होता है। अतः व्याख्याकारों ने 'हेय'-संज्ञक व्यूह के हेतुभूत 'द्रष्टृ-दृश्य-संयोग' के एक सम्बन्धी दृश्य को लेकर निम्नलिखित विषयों पर विचार किया है—

मूल कारण प्रकृति;
गुणों का स्वभाव एवं उनका परस्पर सम्बन्ध;
'गुण' शब्द का अर्थ;
गुण प्रकृति के धर्म नहीं, अपितु द्रव्यरूप हैं;
सत्त्वादि के गुण नाम की सार्थकता;
प्रकृति का प्रयोजन; तथा
त्रिगुण से उत्पन्न पदार्थों का वर्गीकरण।

मूलकारण प्रकृति—सांख्ययोगशास्त्र के उद्भावकों ने जड़ात्मक जगत् का मूल उपादानकारण तत्सजातीय जड़ प्रकृति को माना है। प्रधान, अव्यक्त, त्रिगुण आदि उसके अपर पर्याय हैं। यही प्रकृति वेदान्त आदि अन्य दर्शनों में माया, अणु आदि नामों से अभिहित है।[३] प्रकृति अनादि अनन्त अविनाशी तत्त्व है। इसका कोई कारण नहीं है। यह त्रिगुणात्मक है। ये तीन गुण सत्त्व, रजस् एवं तमस् हैं। प्रकृति से गुणों को अथवा गुणों से प्रकृति को पृथक् नहीं किया जा सकता है। प्रकृति तदात्मक ही है। अर्थात् गुणों से अतिरिक्त प्रकृति द्रव्य नहीं है। इसलिए महर्षि **व्यासदेव** एवं **वाचस्पति** आदि व्याख्याकारों ने गुणों को 'प्रधान' शब्द का वाच्य कहा है।[४] सांख्यदार्शनिकों की भी गुण एवं प्रकृति के सम्बन्ध में यही मान्यता है।[५]

गुणों का स्वभाव एवं उनका परस्पर सम्बन्ध—सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीनों गुणों का अलग-अलग स्वभाव है। महर्षि **पंतजलि** के अनुसार सत्त्वगुण प्रकाशस्वरूप, रजोगुण क्रियास्वरूप एवं तमोगुण स्थितिस्वरूप है।[६] आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट**

---

१ योऽ वाऽ पृऽ १९४।

२ **प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**—योऽ सूऽ २।१८।

३ **नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन्संतिष्ठते जगत्।**
तमाहुः प्रकृतिं केचित् मायामन्ये परे त्वणून्॥—योऽ वाऽ पृऽ १९७।

४ **एते गुणाः···प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति**—व्याऽ भाऽ पृऽ १९७।

५ **सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्**—सांऽ सूऽ ६।३९।

६ **प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्**······—योऽ सूऽ २।१८।

'प्रकाशादि' शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करते हैं[१]—'प्रकाश' बुद्धचादि के विषयाकार परिणाम-रूप आलोक एवं भौतिक आलोक को कहते हैं। 'क्रिया' का अर्थ यत्न एवं चलना है। 'स्थिति' पद से प्रकाश और क्रिया की शून्यता कही गई है। अर्थात् तमोगुण प्रकाश एवं क्रिया का अवरोधक होता है। योगशास्त्र में गुणों की त्रिकोणता जगह-जगह सुख-दुःख-मोहात्मक, प्रीति-अप्रीति-विषादात्मक के रूप से भी अभिहित है।

महर्षि **व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, नागेश भट्ट** तथा **हरिहरानन्द आरण्यक** ने अत्यन्त गवेषणापूर्ण पद्धति से गुणों के पारस्परिक सम्बन्ध की अनेक विधाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, जो इस प्रकार है—

१—प्रत्येक गुण में अन्य दो गुणों की मात्रा (अंश) विद्यमान रहती है।[२] जिस प्रकार सत्त्वगुण का अधिक भाग रजोगुण एवं तमोगुण की मात्रा से संसृष्ट रहता है, उसी प्रकार रजोगुण एवं तमोगुण अपने-अपने प्रधान भाग के साथ अन्य दो गुणों की न्यून मात्रा से युक्त रहते हैं।[३] कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई भी पदार्थ या पदार्थगत क्रिया नहीं है, जो केवल एक गुणात्मक हो। चाहे सत्त्वगुणप्रधान देवसृष्टि हो अथवा रजोगुणप्रधान मनुष्यसृष्टि हो अथवा तमोगुणप्रधान पशुसृष्टि हो, प्रत्येक प्रधान गुण अन्य दो अप्रधान गुणों से अनुरंजित रहकर ही सृष्टि करता है। अन्यथा (अन्य गुणों से पूर्णतया पृथक् रहकर) सत्त्वादि गुण प्रकाशनादि क्रियाओं के करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं।

२—तीनों गुणों का कभी भी परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता है, अपितु शरीर की छाया की भाँति प्रत्येक गुण अन्य दो गुणों का अनुवर्तन करता है। लेकिन गुण, पुरुष के प्रति संयोग-वियोगधर्म वाले होते हैं।[४] अर्थात् अविवेकी पुरुष से ये संयुक्त रहते हैं और विवेकी पुरुष से ये वियुक्त रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अविद्याग्रस्त व्यक्ति का ही त्रिगुणात्मक प्रकृति से जायमान पदार्थों से बन्ध होता है, सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमान् पुरुष का नहीं। क्योंकि वह विवेकज्ञान के द्वारा आविद्यक-सृष्टि के बन्धन से मुक्त हो जाता है। अतः गुणों को संयोग-वियोग-धर्म वाला कहा गया है। **'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्...'** इस श्रुति-वाक्य में भी गुणों का ऐसा ही सम्बन्ध प्रतिपादित हुआ है।[५]

---

१ (क) प्रकाशो बुद्धचादिवृत्तिरूपालोको भौतिकालोकश्च, क्रिया यत्नश्चलनं च, स्थितिः प्रकाशक्रियाभ्यां यथोक्ताभ्यां शून्यत्वं तयोः प्रतिबन्ध इति यावत्—यो० वा० पृ० १९४।

(ख) तु०-ना० बृ० वृ० पृ० २८४।

२ (क) सत्त्वस्य प्रविभागोऽधिकभागः...रजस्तमोभ्याम् उपरक्तः संसृष्टः...-यो० वा० पृ० १९५।

(ख) परस्परोपरक्तप्रविभागाः—व्या० भा० पृ० १९५।

३ सत्त्वस्य प्रविभागोऽधिकभागः स्वल्पाभ्याम् च रजस्तमोभ्याम् उपरक्तः संसृष्टः, एवं रजसः तमस इत्येवम्—यो० वा० पृ० १९५।

४ संयोगवियोगधर्माणः—व्या० भा० पृ० १९५।

५ पुरुषेण सह संयोगवियोगधर्माणः—यथाऽऽम्नायते—त० वै० पृ० १९५।

३—सृष्टि के समय तीनों गुण अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध से रहते हैं। [१]जैसे महत् की उत्पत्ति-वेला में सत्त्वगुण अङ्गी होता है क्योंकि बुद्धि सत्त्वगुणबहुल द्रव्य है। तमोबहुल पञ्चतन्मात्र एवं पञ्चभूत की सृष्टि, अङ्गभूत सत्त्व एवं रजोगुण की सहायता से अङ्गीभूत तमोगुण के द्वारा हुआ करती है। निष्कर्ष यह निकला कि सृष्टि-काल में पदार्थ के स्वरूप के अनुसार उनके कारणभूत तीनों गुणों का अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध परस्पर परिवर्तित होता रहता है। यहाँ, यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रलयकाल में तीनों गुण एक दूसरे के अङ्ग बनकर नहीं रहते हैं, अपितु प्रत्येक गुण अपने में अङ्गी होता है। यह समय (प्रलय) गुणों की साम्यावस्था का कहलाता है। गुणों की साम्यावस्था के भङ्ग (संक्षोभ) होने से ही उनका अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध प्रारम्भ होता है।

ऊपर कहा गया है कि अङ्गिरूप एक गुण से कार्य की उत्पत्ति के समय अन्य दो गुण अङ्गरूप से उसके सहायक होते हैं। इस पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि एक दूसरे गुण की परस्पर सहायता से ही यदि तीनों गुण समस्त कार्यों के कारण हैं तो सत्त्वादि गुण भी क्रिया आदि के हेतु होने लगेंगे जिससे सत्त्वादिगुण को सक्रिय कहना पड़ेगा और एक ही सत्त्वगुण में प्रकाश-शक्ति और क्रिया-शक्ति दोनों के रहने से साङ्कर्यदोष भी उपस्थित होगा।[२] उपर्युक्त शङ्का का स्वरूप यह भी हो सकता है कि जिस समय सत्त्वगुण अपने शान्त कार्य में व्यापृत रहता है, उस समय अवशिष्ट दो गुणों (रजस् एवं तमस्) में भी शान्त-प्रत्यय के हेतुभाव से सामर्थ्य विद्यमान रहती है, तो जिस समय रजोगुण और तमोगुण अङ्गिरूप से होते हैं, तो उस समय भी उनसे शान्त-प्रत्यय ही उत्पन्न होना चाहिए, न कि घोर अथवा मूढ-प्रत्यय।[३] उक्त शङ्का के समाधानार्थ व्याख्याकारों का कहना है कि गुणों में अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध विद्यमान रहने पर भी उन गुणों में अपने-अपने कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य पृथक्-पृथक् ही रहती है, अतः गुणों की शक्तियों का सम्मिश्रण नहीं हो पाता है।[४] इसलिए प्रत्येक गुण, अपनी-अपनी प्रधान-वेला में अपनी शक्ति के अनुरूप ही कार्य का प्रदर्शन किया करता है। उपर्युक्त सिद्धान्त, लौकिक अनुभव से भी स्पष्ट है कि जिस समय रजोगुण की अधिकता के कारण व्यक्ति में दुःख की सृष्टि (संचार) होती है, उस समय व्यक्ति में सात्त्विकज्ञान का प्रकाश नहीं देखा जाता है। अतः गुणों में परस्पर अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है।

४—व्याख्याकारों का कहना है कि 'गुण', तुल्यजातीय एवं अतुल्यजातीय शक्ति-भेद से भी परस्पर सम्बन्धित रहते हैं।[५] जैसे प्रकाशरूप कार्य की उत्पत्ति के समय सत्त्वगुण तुल्यजातीय और रजोगुण तथा तमोगुण अतुल्यजातीयरूप शक्ति-भेद वाले होते

---

१ ते च परस्पराङ्गाङ्गिनोऽविनाभाविसाहचर्यात्—भा० पृ० १९५।

२ यदीतरसाहाय्येन सर्वे गुणाः…साङ्कर्यमिति—यो० वा० पृ० १९५।

३ सत्त्वेन शान्तप्रत्यये…सत्त्वप्राधान्य इव—त० वै० पृ० १९५।

४ भवतु शान्ते प्रत्यये जनयितव्ये रजस्तमसोरङ्गभावस्तथाऽपि नैषां शक्तयः सङ्कीर्यन्ते—त० वै० पृ० १९५।

५ तुल्यजातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः—व्या० भा० पृ० १९५-१९६।

हैं। यह 'तुल्यजातीयशक्ति' पद से उपादानकारण तथा 'अतुल्यजातीयशक्ति' पद से सहकारिकारण लिया गया है।[१] उपादानकारण एवं सहकारिकारण में परस्पर विरोध नहीं हुआ करता है। अतः तुल्यजातीय एवं अतुल्यजातीय शक्तिभेद से गुणों की परस्पर मैत्री (सम्बन्ध) हो सकती है।

इस प्रकार व्याख्याकारों ने गुणों के पारस्परिक सम्बन्ध की कई विधाएँ प्रस्तुत की हैं। उपर्युक्त वर्णन से गुणों की कार्य-प्रणाली का भी अवबोध हो जाता है।

'गुण' शब्द के अर्थ—'गुण' शब्द के अनेक अर्थ प्रचलित हैं। घट, पटादि पदार्थों के जो श्याम, रक्त पीतादि धर्म (वर्ण) हैं, उनके लिए 'गुण' शब्द का प्रयोग किया जाता है। व्यक्तियों में पाई जाने वाली योग्यता को भी 'गुण' कहते हैं। राजनीति-शास्त्र में सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय एवं द्वैधीभाव—इन छः की सामूहिक संज्ञा 'गुण' है। पाणिनीय शास्त्र में 'अ-ए-ओ' इन तीन वर्णों को 'गुण' शब्द से अभिहित किया गया है। आयुर्वेदशास्त्र में वात, पित्त एवं कफ की सन्तुलित अवस्था को गुण नाम से पुकारा गया है। न्यायवैशेषिकशास्त्र के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म एवं संस्कार—ये चौबीस द्रव्याश्रित धर्म 'गुण' हैं।[२]

'गुण' शब्द के प्रचलित उपर्युक्त अर्थों में से कोई भी अर्थ सांख्ययोगशास्त्र में प्रयुक्त 'गुण' शब्द के लिए उपयुक्त नहीं है। 'गुण', सांख्ययोगशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। यह सत्त्व, रजस् एवं तमस् के लिए प्रयुक्त हुआ है।

गुण, प्रकृति के धर्म नहीं अपितु द्रव्य रूप हैं—सत्त्व, रजस् एवं तमस् प्रकृति से भिन्न उसके धर्म नहीं हैं।[३] अपितु वृक्षों से अपृथक् वन की भाँति सत्त्वादि का समवेत नाम ही प्रकृति है। प्रकृति द्रव्य है, अतः प्रकृत्यात्मक होने से सत्त्वादि भी द्रव्यरूप ठहरते हैं। सत्त्वादि के द्रव्य होने में प्रथम प्रमाण यह है कि वे सांख्ययोगशास्त्र में महदादि के आरम्भक कहे गए हैं। यदि वे प्रकृति के धर्मस्वरूप होते तो उनसे कभी भी कार्योत्पत्ति नहीं कही जा सकती थी, क्योंकि पदार्थोत्पत्ति के प्रति धर्म किसी भी प्रकार का कारण नहीं होता है। जैसे किसी भी शास्त्र में घटोत्पत्ति के प्रति मृत्तिकागत श्याम धर्म (वर्ण) को उपादानादि कारण नहीं माना गया है। दूसरा प्रमाण यह है कि यदि सत्त्वादि धर्म होते तो 'धर्म में धर्म नहीं रहता है' (**गुणे गुणानङ्गीकारात्**)—इस न्याय के अनुसार उनके

---

१ ···तुल्यजातीय उपादानशक्तिः···सहकारिशक्तिस्त्वतुल्यजातीये—त० वै० पृ० १९६।

२ **अथ गुणा रूपं रसो गन्धस्ततः परम् ॥**
स्पर्शः संख्या परिमितिः पृथक्त्वं च ततः परम्।
संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम् ॥
बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम्।
द्रवत्वं स्नेहसंस्कारावदृष्टं शब्द एव च ॥ का० ३, ४, ५।

३ **सत्त्वादीनि द्रव्याणि, न तानि द्रव्याश्रया गुणाः तेभ्यो व्यतिरिक्तस्य गुणिनोऽभावात्-भा० पृ० १९५।**

लघुत्व, उपष्टम्भकत्व, गुरुत्वादि धर्म योगशास्त्र में कथमपि नहीं कहे जा सकते थे, किन्तु सत्त्वादि के लघुत्वादि धर्म कहे गए हैं।[१] अतः लघुत्वादि धर्म के धारक सत्त्वादि को द्रव्य (धर्मी) मानना अपरिहार्य है। तीसरा प्रमाण यह है कि पीछे **व्यासदेव** आदि ने गुणों को संयोगवियोगसम्बन्ध वाला जो कहा है, वह गुणों को द्रव्य माने बिना उपपन्न नहीं हो सकता है। अतः गुण प्रकृति के धर्म नहीं, अपितु द्रव्य रूप ही हैं। यहाँ इतना और आवश्यक है कि ये सत्त्वादि, तीन पृथक्-पृथक् द्रव्य नहीं हैं। अपितु सदा अविनाभावी (नित्य) सम्बन्ध से रहने वाले ये तीनों सत्त्वादि गुण एक प्रकृतिरूप ही हैं।

सत्त्वादि के 'गुण' नाम की सार्थकता - अब यह विचारणीय है कि सत्त्वादि को 'गुण' क्यों कहा जाता है ? इसके उत्तर में व्याख्याकारों का कहना है कि 'सत्त्वादि', पुरुष का भोगापवर्गरूप उपकार करते हैं, अतः पुरुष का उपकरण होने से वे 'गुण' कहे जाते हैं।[२] "गुण" शब्द का रज्जु अर्थ लेकर व्याख्याकारों ने कहा है कि पुरुष को बाँधने के लिए रज्जु-स्वरूप होने के कारण 'सत्त्वादि' गुण कहे जाते हैं।[३] इस प्रकार सत्त्वादि के 'गुण' नाम की सार्थकता आ जाती है।

प्रकृति का प्रयोजन—अभी-अभी आगे प्रकृति का जो प्रयोजन बतलाया जायगा उसे प्रकृति स्वयं अकेले निष्पन्न नहीं करती है अपितु अपने परिवार के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रादि रूप बुद्धि अहंकारादि से लेकर पंचमहाभूत एवं तज्जात भौतिक सदस्यों के द्वारा ही वह अपने उद्देश्य को पूरा करती है। अतः 'प्रकृति का प्रयोजन'—इस शीर्षक से उसकी पूरी वंशावली का प्रयोजन समझना चाहिए।

'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' अर्थात् मन्द (मूर्ख) व्यक्ति भी बिना किसी प्रयोजन के प्रवृत्त नहीं होता है—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्रवृत्ति (क्रिया, व्यापार) सोद्देश्य हुआ करती है। प्रकृति का सृष्टयर्थ प्रवृत्त होना भी एक क्रिया है। प्रकृति की यह प्रवृत्ति निरुद्देश्य नहीं है। वह पुरुष के भोगापवर्गार्थ प्रवृत्त होती है।[४] इसलिए महर्षि **पतंजलि** ने **'तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा'**[५]—इस सूत्र में एवकार पद के प्रयोग द्वारा एकमात्र पुरुष के लिए दृश्य की सत्ता मानने का सचेष्ट आग्रह किया है।

पुरुष अविद्याग्रस्त प्राणी है। जब वह बुद्ध्यादि के सम्पर्क में आता है, तब अविवेक के कारण बुद्धि से अपने को भिन्न न जानकर उसके सुख-दुःख आदि धर्मों को अपना समझने लगता है। दृश्य पदार्थों से अपने को भिन्न न समझना ही पुरुष का 'भोग' कहलाता है।[६] सांख्ययोगशास्त्र के अनुसार पुरुष का भोग प्रतिबिम्ब-प्रणाली से उपपन्न होता है। 'चित्त-

---

१ सत्त्वं लघु प्रकाशकं···प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः। सां० का० १३।

२ (क) सत्त्वादिषु गुणत्वं च पुरुषोपकरणत्वात्—यो० वा० पृ० ११५।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २४५।

३ एते सत्त्वादयो गुणाः पुरुषस्य बन्धनरज्जव इत्यर्थः - भा० पृ० ११५।

४ भोगापवर्गार्थं दृश्यम्—यो० सू० २।१८।

५ यो० सू० २।२१।

६ तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगः—व्या० भा० पृ० १९९।

वृत्तियों के अध्याय में पुरुष के सुखदुःखादिरूप भोग के लिए स्वीकृत प्रतिविम्ब-पद्धति पर विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा। अवास्तविक एवं औपाधिक भोग से पुरुष की जो निवृत्ति होती है, वही उसका अपवर्ग है। अर्थात् बुद्धि एवं तद्गत धर्मों से भिन्न अपने स्वरूप का साक्षात्कार होना ही पुरुष का अपवर्ग है।[1] अपवर्गप्राप्ति की पद्धति, अधिकारिभेद (पुरुष की योग्यता) से 'योगसाधना के सोपान' संज्ञक अध्याय में बतलाई जायगी। यहाँ इतना अधिक आवश्यक है: किसी एक पुरुष के भोग एवं मोक्ष को निष्पन्न करके कृतकृत्य हुई प्रकृति अपनी प्रवृत्ति (व्यापार) से उपरत नहीं हो जाती, अपितु अन्य बद्ध पुरुषों के भोगापवर्ग के सम्पादनार्थ कार्य-व्यापृत रहती है। अतः कृतार्थ पुरुष के प्रति नष्ट के सदृश हुई प्रकृति अन्य पुरुषों के प्रति नष्ट नहीं होती है।[2] उपर्युक्त विषय को आचार्य **वाचस्पति मिश्र** ने इस प्रकार समझाया है[3] :—जैसे रूप अन्ध के द्वारा नहीं देखा जाता, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं, कि रूप है ही नहीं। क्योंकि चक्षुष्मान् व्यक्तियों के द्वारा वह देखा जाता है। उसी प्रकार विवेकख्यातियुक्त पुरुष के द्वारा दृश्य के न देखे जाने पर भी अन्य अविवेकी पुरुषों को उसका दर्शन होते रहने से प्रकृति (दृश्य) की सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता है। अन्यथा (प्रकृति के एक होने से) एक पुरुष के मुक्त होने पर सभी पुरुष मुक्त होने लगेंगे अथवा प्रकृति का बहुत्व मानना पड़ेगा, जो अभीष्ट नहीं है।

ऊपर पुरुष का जो भोगापवर्ग कहा गया, वह स्थूल (व्यावहारिक) दृष्टि से है, सूक्ष्म (पारमार्थिक) दृष्टि से नहीं। वस्तुतः बुद्धि का ही बन्धन एवं मोक्ष होता है।[4] कैवल्य प्रकरण में इस पर विचार किया जायगा।

त्रिगुण से उत्पन्न पदार्थों का वर्गीकरण—सांख्ययोगशास्त्र में चौवीस जड़ तत्त्व बतलाए गए हैं। महर्षि **पतंजलि** ने सत्त्वादि तीन गुणों को वंश (दण्ड) मानकर उसके चार पर्वों में चौवीस तत्त्वों का विभाजन किया है। वे चार पर्व हैं—विशेष, अविशेष, लिङ्ग एवं अलिङ्ग।[5] अर्थात् जिस प्रकार ईख आदि के दण्ड में पर्व (ग्रन्थियाँ) होते हैं, उसी प्रकार त्रिगुणरूपी दण्ड के उपर्युक्त चार पर्व हैं। पर्व का अर्थ है—अवस्था।

सूत्र में गुणों के चार पर्व जिस क्रम से बतलाए गए हैं, उसके द्वारा हम कार्यतत्त्वों से कारणतत्त्वों की ओर बढ़ते हैं। यदि विशेषादि पर्वों के क्रम का व्युत्क्रम किया जाए तो योगदर्शन के तत्त्वीय-सर्ग-क्रम (कारण से कार्य के क्रम) का स्पष्टीकरण हो सकता है।

विशेषपर्व—विशेषपर्व के अन्तर्गत षोडश तत्त्व आते हैं—पंचमहाभूत, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ एवं उभयात्मक मन। शब्द-स्पर्श-रूप-रस एवं गन्धतन्मात्रसंज्ञक पाँच अविशेषों के क्रमशः आकाश-वायु-अग्नि-जल एवं पृथ्वीभूत-संज्ञक पाँच 'विशेष-परिणाम'

---

[1] भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति—व्या० भा० पृ० २००।

[2] कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्—यो० सू० २।२२।

[3] यद्यपि कुशलेन तं प्रति कृतकार्य्यं न दृश्यते तथापि अभावप्राप्तं भवति—त० वै० पृ० २२३।

[4] तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ···व्या० भा० पृ० २०१।

[5] विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि—यो० सू० २।१९।

हैं।[१] स्पर्शादि तन्मात्राएँ पूर्व-पूर्व तन्मात्राओं से अनुविद्ध होकर अपना-अपना कार्य (वायु आदि भूतों की उत्पत्ति) करती हैं।[२] इसलिए आकाशादि भूत क्रमशः एक, द्वि, त्रि, चतुर् एवं पंच गुणयुक्त होते हैं।[३] एकादश इन्द्रियाँ अहंकारसंज्ञक अविशेषतत्त्व का विशेष-परिणाम हैं। उसमें भी सत्त्वगुणप्रधान अहंकार की ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुणप्रधान अहंकार की कर्मेन्द्रियाँ तथा सत्त्वरजस् उभयप्रधान अहंकार का मन विशेष-परिणाम है।[४] इस प्रकार गुणों का प्रथम विशेषपर्व, द्वितीय अविशेषपर्व का कार्य कहा जाता है।

व्याख्याकारों ने उपर्युक्त सोलह तत्त्वों के समूह को 'विशेष' संज्ञा दिए जाने के कई हेतु उपन्यस्त किए हैं। उनका कहना है कि सामान्य सिद्धान्त के अनुसार योगशास्त्र में गुणों के षोडश कार्यों का 'विशेष' (उसी प्रकार अविशेष आदि) नाम पारिभाषिक है।[५] अथवा पञ्चभूतों में शान्त, घोर एवं मढ-संज्ञायुक्त तीन 'विशेष' अवस्थाएँ उपलब्ध होती हैं, उनके कारणभूत तन्मात्राओं में नहीं। उसी प्रकार श्रवण, स्पर्शन आदि विशेष व्यापार इन्द्रियों में उपलब्ध होते हैं, उनके कारणभूत अहंकार में नहीं। अतः उपर्युक्त विशेषताओं से विशिष्ट होने के कारण षोडश तत्त्वों की सामूहिक संज्ञा 'विशेष' है। अथवा यह भी कहा जा सकता है :—जिन तत्त्वों में, प्रकृति से लेकर तन्मात्रपर्यन्त पदार्थों में पाया जाने वाला 'तत्त्वान्तरोपादानत्व' रूप सामान्य नहीं है, अपितु उससे पृथक् 'विकृतिमात्रत्व' रूप विशेष है उन तत्त्वों को महर्षि **पतंजलि** ने 'विशेष' संज्ञा से अभिहित किया है।[६]

अविशेषपर्व—अविशेषपर्व के अन्तर्गत छः तत्त्व परिगणित हैं[७]—पंचतन्मात्राएँ एवं अहंकार। इस पर्व का विशेष-पर्व के साथ साक्षात् कार्यकारणभावसम्बन्ध है। 'विशेष' स्थानीय पंचभूतों की तन्मात्राएँ एवं एकादश-इन्द्रियों का अहंकार अविशेषरूप है। षोडश

---

१ (क) तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः—व्या० भा० पृ० २०२।

(ख) तु०—यो० वा० पृ० २०३।

(ग) तु०—भा० पृ० २०२ इत्यादि।

२ उत्तरोत्तरतन्मात्रेषु पूर्वपूर्वतन्मात्राणां हेतुत्वात्···यो० वा० पृ० २०३।

३ गन्ध आत्मना पंचलक्षणो, रस आत्मना चतुर्लक्षणो· शब्दः शब्दलक्षण एवेति—त० वै० पृ० २०३।

४ अस्मितालक्षणस्याविशेषस्य सत्त्वप्रधानस्य बुद्धीन्द्रियाणि विशेषाः रजःप्रधानस्य तु कर्मेन्द्रियाणि, मनस्तूभयात्मकमुभयप्रधानस्येति मन्तव्यम्—त० वै० पृ० २०३।

५ तन्मात्रपंचकमस्मिता चेति षट् पदार्था अविशेषा इत्यस्मिञ्छास्त्रे परिभाषिताः तथा च·········षोडश विशेषाः—भा० पृ० २०२।

६ (क) आकाशादीनि भूतानि शब्दादितन्मात्राणां शान्तादिविशेषशून्यशब्दादिधर्मकद्रव्याणामतएवाविशेषसंज्ञकानां विशेषा अभिव्यक्तशान्तादिविशेषका परिणामाः—यो० वा० पृ० २०३।

(ख) तु०—ना० बृ० बृ० पृ० २८६-२८७।

७ ये विशेषाः—विकारा एव, न तु तत्त्वान्तरप्रकृतयः ······त० वै० पृ० २०३।

तत्त्वों को 'विशेष' संज्ञा दिए जाने की विशेषताएँ षट्-तत्त्वों में उपलब्ध नहीं होती हैं, इसलिए उनके कारणों को 'अविशेष' संज्ञा दी गयी। अथवा यह भी कहा जा सकता है—वे तत्त्व, जो एकमात्र ऐसे तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं, जिनसे तत्त्वान्तरोत्पत्ति नहीं होती है, 'अविशेष' कहे जाते हैं। इस प्रकार की अविशेषता पंचतन्मात्र एवं अहंकार में पाई जाती है, महत् एवं प्रकृतितत्त्व में नहीं। क्योंकि इनसे उत्पन्न पदार्थ तत्त्वान्तरोपादानक होते हैं। इसलिए व्याख्याकारों ने उपर्युक्त षट्-तत्त्वों को 'अविशेष' संज्ञा से परिभाषित किया है।

षट्-अविशेषों के उपादानकारण के सम्बन्ध में मतभेद—षट् अविशेषों का उपादान-कारण कौन है? इस सम्बन्ध में व्याख्याकारों में दो मत पाए जाते हैं :—

प्रथम मत—आचार्य **वाचस्पति मिश्र, रामानन्दयति, नारायणतीर्थ** तथा **बलदेव मिश्र का एक मत है। इन विद्वानों** के अनुसार पंचतन्मात्र एवं अहंकार—इन छहों का उपादानकारण 'बुद्धि'-तत्त्व है।[१] अनुमानप्रयोग करते हुए **वाचस्पति मिश्र** लिखते हैं[२]—**पंचतन्मात्राणि बुद्धि-कारणकानि** (प्रतिज्ञा), **अविशेषत्वात्** (हेतु), **अस्मितावत्** (उदाहरण)। पंचतन्मात्र एवं अहंकार में विकारहेतुता तुल्य होने से ये छः 'अविशेष' कहे गए हैं।[३]

द्वितीय मत—आचार्य **विज्ञानभिक्षु, नागेश भट्ट** एवं **हरिहरानन्द आरण्यक** का दूसरा मत है। इन आचार्यों ने अहंकार को तन्मात्राओं का उपादानकारण माना है।[४] अर्थात् इनके अनुसार अहंकार की भाँति तन्मात्राएँ बुद्धि का साक्षात् नहीं अपितु परम्परया कार्य हैं।[५] अतः आचार्य **व्यासदेव** ने षट् अविशेषों को बुद्धि का

---

१ (क) अत्र च पञ्च तन्मात्राणि बुद्धिकारणकान्यविशेषत्वाद् अस्मितावद् इति—त० वै० पृ० २०३।
(ख) एतेषां विकाराणां प्रकृतयो बुद्धेर्विकृतयः षडविशेषाः पञ्चतन्मात्राहङ्काराः। अहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणीति साङ्ख्याः। अहङ्कारस्यानुजानि बुद्धेरपत्यानि तन्मात्राणीति योगाः—म० प्र० पृ० ३५।
(ग) तेषां प्रकृतयो बुद्धेर्विकृतयः पञ्चतन्मात्राहङ्काराः षडविशेषाः—यो० सि० चं० पृ० १३।
(घ) तु०—सू० बो० पृ० २३।
(ङ) शब्दादिपञ्चतन्मात्राणि बुद्धिकार्याणि···यो० प्र० पृ० ३२।

२ त० वै० पृ० २०३।

३ विकारहेतुत्वं चाविशेषत्वं तन्मात्रेषु चास्मितायां चाविशिष्टम्—त० वै० पृ० २०३।

४ (क) एतानि च तन्मात्राणि तामसाहँकाराच्छब्दादिक्रमेणोत्पद्यन्त इति बोध्यम्—यो० वा० पृ० २०४।
(ख) एतानि तामसाहंकाराच्छब्दादिक्रमेणोत्पद्यन्त इति बोध्यम् ना० बृ० वृ० पृ० २८७।
(ग) अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणीति क्रमेणेति—भा० पृ० २०३।

५ (क) अत्र षण्मध्ये तन्मात्राणां बुद्धिपरिणामित्वमहंकारद्वारैव—यो० वा० पृ० २०४।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २८७।

परिणाम कहा है, उनमें से तन्मात्राओं को बुद्धि का परिणाम जो कहा है, उसे अहंकार के द्वारा परम्परया समझना चाहिए। क्योंकि आचार्य **व्यासदेव** ने **'सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्'**--इस सूत्र की व्याख्या करते हुए तन्मात्राओं को अहंकार का कार्य वतलाया है।[१]

आचार्य **भोजदेव, भावागणेश, सदाशिवेन्द्रसरस्वती** तथा **अनन्तदेव पण्डित** ने उपर्युक्त विषय पर विचार नहीं किया हैं। अतः वे ऊपर कहे हुए दो पक्षों में से किस पक्ष के समर्थक थे, यह विचारणीय है।

ऊपर वर्णित दो पक्षों के अध्ययन से पता चलता है कि प्रथम पक्ष के विद्वानों के अनुसार योगदर्शन की सृष्टिप्रक्रिया, इस अंश में सांख्यशास्त्रानुमोदित सृष्टिप्रक्रिया से भिन्न है, किन्तु द्वितीय पक्ष के विद्वानों के अनुसार दोनों दर्शनों की सृष्टिप्रक्रिया तुल्य ठहरती है।

मूल्यांकन :—योगसूत्र के सर्वप्रथम प्रामाणिक व्याख्याकार**व्यासदेव**कृत योगभाष्य की एतत्स्थलीय व्याख्या का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि **वाचस्पति मिश्र** आदि आचार्यों वाला प्रथम पक्ष युक्तिसंगत है। महर्षि **व्यासदेव** ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि महत् के छः अविशेषपरिणाम हैं।[२] द्वितीय मत के समर्थक आचार्य **विज्ञानभिक्षु** आदि व्याख्याकारों ने अपने मत के पुष्टचर्थ **'सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्'**—इस सूत्र पर लिखी हुई **व्यासदेव**कृत व्याख्या को जो प्रस्तुत किया है, वह ठीक नहीं लगता है। **'सूक्ष्मविषयत्वं……'**--इस सूत्र के द्वारा तन्मात्रादि से लेकर प्रकृति-पर्यन्त पदार्थों में जो उत्तरोत्तर सूक्ष्मता वर्णित हुई है, वह कारणत्वनिबन्धन नहीं है, अपितु पदार्थ के स्वरूपानुसार है। यह आवश्यक नहीं है कि एक कारण(महत्) के दो कार्यों (अहंकार एवं तन्मात्र)का तुल्य परिमाण हो। वे भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं। जैसे **'इन्द्रियेभ्यः परं मनः'**—इस श्रुति वाक्य ने एक कारण के कार्यभूत इन्द्रियों में से मन को पर (सूक्ष्मतर) कहा है। उसी प्रकार यहाँ भी बुद्धि के छः कार्यों में तन्मात्राओं की अपेक्षा अहंकार को सूक्ष्म कहा जा सकता है। अतः आचार्य **विज्ञानभिक्षु** आदि को तन्मात्राओं की अपेक्षा अहंकार की सूक्ष्मता कारणत्वनिबन्धन नहीं समझनी चाहिए और प्रकृति की निरतिशयसूक्ष्मता से पुरुष की सूक्ष्मता को भिन्न सिद्ध करने के लिए व्यासभाष्य में 'कारणत्व' शब्द का जो प्रयोग किया गया है, उसे तन्मात्रादि तत्त्वों की क्रमिक सूक्ष्मता का मापदण्ड नहीं समझना है; क्योंकि प्रकृति एवं पुरुष की सूक्ष्मता का भेदक और कोई हेतु न होने से यहाँ अगत्या 'कारणत्व' को हेतु माना गया है। अतः निष्कर्ष यह हुआ कि योगशास्त्र के उद्भावक महर्षि **पतंजलि**, भाष्यकार **व्यासदेव**, भाष्य एवं सूत्र के व्याख्याकार आचार्य **वाचस्पति मिश्र** तथा **रामानन्दयति** आदि के अनुसार तन्मात्राओं का कारण 'बुद्धि' है। योगशास्त्र के सृष्टिक्रम-सम्बन्धी इस विशिष्ट मत का समादर सांख्याचार्य **विन्ध्यवासी** ने भी किया है।[३] उन्होंने योगशास्त्रीयसृष्टिक्रम को स्वीकार करके सांख्यदर्शन में

---

[१] **सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानमिति सूत्रे भाष्येण तथा व्याख्यातत्वादिति—यो० वा० पृ० २०४।**

[२] **एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः - व्या० भा० पृ० २०४।**

[३] **महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते पंचतन्मात्राण्यहङ्कारश्चेति विन्ध्यवासिमतम्-सां० द० का० इ० पृ० १७५।**

सृष्टिक्रम के सम्बन्ध में प्रचलित धारा के विपरीत द्वितीय धारा को प्रवाहित किया है। भले ही वह धारा दूसरे सांख्यदार्शनिकों द्वारा स्वीकृत न होने से जीर्ण-क्षीण ही रही। इस प्रकार गुणों के द्वितीय पर्व पर विचार किया गया।

लिङ्गपर्व—गुणों के तृतीय पर्व की 'लिङ्ग' संज्ञा है। लिङ्गपर्व के अन्तर्गत एकमात्र षट्अविशेषों का कारण 'महत्'तत्त्व आता है।[१] महत्तत्त्व से सम्बन्धित पर्व को 'लिङ्ग' नाम से कहे जाने का हेतु उपन्यस्त करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु, नागेश भट्ट** आदि विद्वान् लिखते हैं—**'लयं गच्छतीति लिङ्गम्'**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार बुद्धि का अपने कारण प्रधान में लय होता है, इसलिए वह 'लिङ्ग' कही जाती है।[२] लेकिन ऐसा कहना ठीक नहीं लगता, क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार (पदार्थ का नाश न होने से) महाभूतादि से लेकर उत्तरोत्तर सभी पदार्थ अपने-अपने कारण में तिरोभूत (लीन) होने से लिङ्गपर्व के अन्तर्गत आने लगेंगे। अतः ऐसा कहना चाहिए कि जिस प्रकार अङ्कुरोत्पत्ति से भूमि में बोए हुए बीज का क्रमिक विकास अनुमित होता है, उसी प्रकार प्रकृति के आद्य परिणाम 'महत्' से सृष्ट्यारम्भ अनुमित होने से अथवा सभी वस्तुओं का व्यञ्जक होने से वह 'लिङ्ग' कहा गया है।[३] इसमें स्मृतिवाक्य भी प्रमाण है।

व्यासभाष्य की **'एते सत्तामात्रस्याऽऽत्मनो महतः'**—इस पंक्ति में बुद्धि के लिए प्रयुक्त 'सत्तामात्र', 'आत्मा' एवं 'महत्' शब्दों के स्वारस्य को बतलाते हुए आचार्य **वाचस्पति मिश्र** लिखते हैं—जो पुरुषार्थ-क्रिया करने में समर्थ होता है, उसे सत् कहते हैं और उसका धर्म सत्ता कहलाता है। चाहे शब्दादिविषयभोगरूप पुरुषार्थ-क्रिया हो अथवा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप पुरुषार्थ-क्रिया हो, दोनों बुद्धि में मुख्यरूप से विद्यमान हैं। इसलिए आचार्य **व्यासदेव** ने बुद्धि को 'सत्तामात्र' कहा है।[५] आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** के अनुसार 'सत्ता' शब्द का अर्थ व्यक्तता अथवा विद्यमानता है।[६] यह व्यक्तता सर्वप्रथम बुद्धितत्त्व में आती है, क्योंकि वह प्रकृति का पहला कार्य है।[७] तात्पर्य यह है कि प्रलयकाल में समस्त विकार-द्रव्य मूलकारण प्रकृति में अतीत एवं अनागत अर्थात् अव्यक्तरूप से रहते हैं, व्यक्तरूप से नहीं।

---

[१] लिङ्गमात्रं बुद्धिः—रा० मा० पृ० २७।

[२] लयं गच्छतीति लिङ्गमात्रम् --यो० सु० पृ० ३७।

[३] (क) लिङ्गमखिलवस्तूनां व्यञ्जकं तन्मात्रं महत्तत्वम्—यो० वा० पृ० २०४।
(ख) लिङ्गमात्रं त्वविशेषेभ्यो यत्परं पूर्वोत्पन्नं जगदङ्कुररूपं महत्तत्त्वं तस्य चाखिलवस्तुव्यञ्जकत्वेन लिङ्गमात्रत्वम्—ना० बृ० वृ० पृ० २८७।

[४] ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात् कालचोदितात्।
विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जँस्तमोनुदः॥ श्रीमद्भागवत ३।५।२७।

[५] पुरुषार्थक्रियाक्षमं सत्; तस्य भावः सत्ता। तन्मात्रं महत्तत्त्वम्, यावती काचित्पुरुषार्थक्रिया शब्दादिभोगलक्षणा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिलक्षणा वाऽस्ति, सा सर्वा महति बुद्धौ समाप्यत इत्यर्थः—त० वै० पृ० २०४-२०५।

[६] सत्ता विद्यमानता व्यक्ततेति यावत्—यो० वा० पृ० २०४।

[७] व्यक्ततामात्रं महत्तत्त्वमाद्यकार्यत्वात्—यो० वा० पृ० २०४।

सृष्टिकाल में बीज से अंकुर की भाँति प्रकृति का प्रथम कार्य बुद्धि; सत्ता को प्राप्त करती है, इसलिए उसे सत्तामात्र कहते हैं।[१] इस प्रकार आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** के अनुसार संसाररूप वृक्ष का महत्तत्त्व अस्तितामात्र परिणाम है और अहंकार आदि वृद्धिपरिणाम हैं।[२] निरुक्तकार **यास्कमुनि** ने भी पदार्थ की छः प्रकार की अवस्थाओं के मध्य **'जायते'** के पश्चात् **'अस्ति'** एवं **'वर्द्धते'** अवस्थाओं को गिना है। बौद्धदार्शनिक 'विज्ञान' को क्षणिक एवं तुच्छ मानते हैं, अतः उनके मत के खण्डनार्थ बुद्धि के लिए 'आत्म' शब्द का प्रयोग किया गया है।[३] लिङ्गतत्त्व अहंकारादि समस्त विकारों का आधार है। क्योंकि महत्तत्त्व में ही विशेष एवं अविशेष-संज्ञक पर्व अनागत-अवस्था से स्थित होकर दण्ड के उत्तरोत्तर पर्व की भाँति स्थावर-जङ्गमरूप में विवृद्धिकाष्ठा को प्राप्त होते हैं। इसलिए बुद्धि 'महत्' शब्द से निर्दिष्ट है।[४] इसमें स्मृतिवाक्य भी प्रमाण है।[५] यह गुणों के तृतीय पर्व का स्वरूप है।

अलिङ्गपर्व—जिस प्रकार प्रथम पर्व की विशेषताएँ द्वितीय पर्व में न पाई जाने से द्वितीय पर्व की संज्ञा नञ्घटित है उसी प्रकार तृतीय पर्व (लिङ्गपर्व) की विशेषताएँ चतुर्थ पर्व में उपलब्ध न होने से चतुर्थ पर्व की संज्ञा नञ्घटित है। जिस प्रकार बुद्धितत्त्व से उसके कारण 'प्रकृति' का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार प्रकृति से उसका कारण अनुमित नहीं होता है। क्योंकि वह किसी का कार्य न होने से उसका कोई कारण नहीं है। अतः प्रकृतिस्वरूप पर्व को 'अलिङ्ग' कहा गया है।[६] गुणों के चतुर्थ पर्व के अन्तर्गत प्रकृति को रखने से प्रकृति गुणों से भिन्न प्रतीत होती है। किन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। सांख्ययोगशास्त्र में गुणों के दो प्रकार के परिणाम स्वीकार किए गए हैं—सरूप-परिणाम एवं विरूप-परिणाम। सरूप-परिणामविशिष्ट त्रिगुण को ही प्रकृति कहते हैं और विरूप-परिणामविशिष्ट त्रिगुण को ही महदादि कहते हैं। अतः अलिङ्गादि-संज्ञक पर्वों के अन्तर्वर्ती प्रकृति आदि तत्त्व गुणों से पृथक् नहीं हैं, अपितु उससे अभिन्न हैं।

---

[१] (क) प्रलये हि सर्वं ···· सत्तामात्रमुच्यते—यो० वा० पृ० २०४।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २८७।

[२] (क) तथा च संसारवृक्षस्यास्तितामात्रपरिणामो महत्तत्त्वं वृद्धिपरिणामस्त्वहंकारादिति यो० वा० पृ० २०४।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २८७।

[३] आत्मन इति स्वरूपोपदर्शनेन तुच्छत्वं निषेधति—त० वै० पृ० २०५।

[४] (क) तस्मिन्सूक्ष्मरूपे ते पूर्वोक्ता अविशेषविशेषाः पदार्थाः ऽवस्थयाऽनागतावस्थया स्थित्वोत्तरोत्तरवंशपर्वाणीव विवृद्धिकाष्ठां स्थावरजङ्गमानां प्राप्नुवन्ति—यो० वा० पृ० २०५।
(ख) यतश्च ·····प्राप्नुवन्तीत्यस्य महत्त्वम्—ना० बृ० वृ० पृ० २८८।

[५] महान्प्रादुरभूद् ब्रह्मा कूटस्थो जगदङ्कुरः—यो० वा० पृ० २०५।

[६] अलिङ्गनिष्कारणत्वान्न तत् कस्यचित् स्वकारणस्य लिङ्गमनुमापकम्—भा०पृ०२०६।

जैसे इक्षुदण्ड के पर्व इक्षु से पृथक् नहीं हैं किन्तु 'गुणों की चार अवस्थाएँ जो कही कही जाती है, उसे वन के वृक्ष की भाँति औपचारिक समझना चाहिए।

गुणों की चार अवस्थाओं के नित्यानित्य का निर्धारण—विशेष, अविशेष एवं लिङ्ग-संज्ञक तीन पर्वों की स्थिति पुरुष के भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ के निमित्त है। अतः तत्-तत् पुरुषों के उपाधिभूत तत्-तत् बुद्धयादिकों द्वारा अपने-अपने उपधेय पुरुष का भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ सम्पादित हो जाने पर प्रयोजनशून्य बुद्धयादि की स्थिति में कोई हेतु न होने से वे अपने कारण में आत्यन्तिकरूप से लीन हो जातीं हैं। अतः विशेषादि तीन अवस्थाओं (पर्वों) को अनित्य कहा गया है।[१] गुणों की अलिङ्गावस्था पुरुषार्थजन्य न होने से नित्य है।[२] प्रकृति पुरुष की भाँति कूटस्थनित्य नहीं, अपितु परिणामिनित्य है।

गुणों के चार से अधिक पर्व नहीं—यहाँ यह शंका होती है, गुणों के चार ही पर्व क्यों कहे गए ? उनके ब्रह्माण्ड, स्थावर, जङ्गम आदि रूप से अनन्त प्रकार के पर्व बन सकते हैं। उक्त शङ्का का समाधान करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** लिखते हैं कि ब्रह्माण्ड आदि, षोडश विशेषों के तत्त्वान्तरपरिणाम नहीं हैं। वे भूतों के धर्मादि परिणाम के अन्तर्गत हैं।[३] अतः ब्रह्माण्डादि से सम्बन्धित पर्वों की अलग से गणना नहीं की गई है। इस प्रकार गुणों के चार ही 'पर्व' हैं।

महदादि क्रम से सृष्टयारम्भ की प्रामाणिकता—ऊपर गुणों के चार पर्वों पर विचार करते समय योगशास्त्र के सृष्टि-क्रम पर भी प्रकाश आ जाता है। सम्प्रति **विज्ञानभिक्षु नागेश भट्ट** आदि आचार्य उपर्युक्त सृष्टि-क्रम को श्रुतिमूलक सिद्ध करते हुए लिखते हैं—सांख्ययोगशास्त्र में सृष्टि का जो क्रम वर्णित है, गर्भोपनिषद् एवं गोपालतापनीय उपनिषद् में भी वही क्रम उपलब्ध होता है।[४] इस प्रकार सांख्ययोगशास्त्र के तेईस जड़ तत्त्व भी प्रामाणिक हैं। यदि कहा जाए कि ऐसा (तेईस तत्त्व) मानने पर अद्वैत का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों से विरोध होगा, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि

---

[१] त्रयाणान्त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति, स चार्थो हेतुर्निमित्तं कारणं भवतीत्यनित्याऽऽख्यायते—व्या० भा० पृ० २०९।

[२] नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति न तस्याः पुरुषार्थता कारणं भवतीति, नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याऽऽख्यायते—व्या० भा० पृ० २०८-२०९।

[३] (क) विशेषेभ्यः परमुत्तरभावि तत्त्वान्तरं तत्त्वभेदः नास्ति अतो विशेषाणां तत्त्वान्तरपरिणामो नास्तीत्यर्थः। अतो ब्रह्माण्डादिकं सर्वं विशेषपर्वणैव गृहीतमिति भावः—यो० वा० पृ० २११।

(ख) तु० ना० बृ० वृ० पृ० २९१।

[४] (क) ......अष्टौ प्रकृतयः षोडश विकाराः शरीरम्—यो० वा० पृ० २१२।

(ख) गोपालतापनीये 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत्। तस्मादव्यक्तम्। अव्यक्त-मेवाक्षरम्। तस्मादक्षरान्महत्। महतो वै अहंकारः। तस्मादेवाहंकारा-त्पञ्च तन्मात्राणि। तेभ्यो भूतानि' इत्युक्तेः—ना० बृ० वृ० पृ० २९१।

व्यावहारिक एवं पारमार्थिकरूप से विषय भिन्न-भिन्न हैं। अतः अद्वैत का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ व्यावहारिकरूप से पदार्थों की सत्ता का निषेध नहीं करती हैं। इस प्रकार आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** ने सांख्य, योग एवं वेदान्तदर्शन में तत्त्वों के स्वरूप के सम्बन्ध में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है।[1]

इस प्रकार गुणों की चार अवस्थाओं एवं तत्सम्बन्धित कतिपय अवान्तर विषयों पर चर्चा की गयी। संयोग के एक सम्बन्धी दृश्य का स्वरूप बतलाने के पश्चात् व्याख्याकार संयोग के द्वितीय सम्बन्धी तथा दृश्य से संबन्धित द्रष्टृतत्त्व (पुरुष पदार्थ) पर विचार करते हैं।

द्रष्टृतत्त्व का विवेचन—सूत्रकार ने पुरुष के स्वरूप के प्रतिपादक दो सूत्रों का मुख्यतया निर्माण किया है—'**द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः**' तथा '**चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।**'[2] यद्यपि इन दो सूत्रों के अतिरिक्त कतिपय अन्य पातञ्जल-सूत्रों की व्याख्या करते हुए भी व्याख्याकारों ने प्रसङ्गतः पुरुष के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं तथापि उक्त दो सूत्रों के सन्दर्भ में उन्होंने पूर्ण मनोयोग के साथ पुरुष के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। उनमें भी आचार्य **वाचस्पति मिश्र**, **विज्ञानभिक्षु**, **नागेश भट्ट** एवं **हरिहरानन्द आरण्यक** का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

ज्ञानस्वरूप पुरुष—ज्ञान, बुद्धि का स्वरूप नहीं है, क्योंकि उसी अधिकरण (बुद्धि) में अज्ञान भी रहता है[3], जो ज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी है। अतः अज्ञानकाल में बुद्धि में ज्ञान न रहने से ज्ञान उसका स्वरूप नहीं, अपितु धर्म सिद्ध होता है। किन्तु दृश्यस्वरूप बुद्धि से भिन्न द्रष्टा पुरुष 'ज्ञानस्वरूप' है। क्योंकि उसमें ज्ञान कादाचित्क नहीं है। '**द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः**'—इस सूत्र में 'दृशिमात्र' पद के प्रयोग द्वारा सूत्रकार को यही (पुरुष की ज्ञानस्वरूपता) अभिप्रेत है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** ने तो पुरुष के सम्बन्ध में योग की उपर्युक्त मान्यता को श्रुतिस्मृतियों के द्वारा भी परिपुष्ट किया है[4], जिससे न्यायवैशेषिकों का आत्मसम्बन्धी (पुरुष को ज्ञानधर्म वाला मानने का)-विचार, श्रुति, स्मृतियों के विरुद्ध होने से अनुपयुक्त सिद्ध हो सके। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** का कहना है कि पुरुष को ज्ञान का आश्रय मानने पर धर्म-धर्मी

---

[1] (क) अद्वैतश्रुतिस्तु न तासां बाधिका, व्यवहारपरमार्थभेदेन विषयभेदात्—यो० वा० पृ० २१२।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २९१।

[2] यो० सू० २।२०, यो० सू० ४।२२।

[3] अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥—सां० का० २३।

[4] (क) ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथंचन।
ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः॥—सौ० पु० ११।२५, यो० वा० पृ० २१३।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २९२।

रूप से दो वस्तुओं की कल्पना करनी पड़ेगी, जिससे गौरवदोष होगा। अतः लाघवतर्क एवं श्रुति-स्मृतियों के आधार पर सिद्ध होता है कि पुरुष ज्ञानस्वरूप है। वस्तुतः पुरुष को दृशिमात्र कहने से दृश्य के पूर्वोक्त समस्त धर्मों का भी पुरुष में अभाव सिद्ध हो जाता है।

विषयाकारबुद्धि का प्रतिसंवेदी पुरुष—बुद्धयादि पदार्थों का दृश्यत्व एवं पुरुष का द्रष्टृत्व तभी उपपन्न हो सकता है जब बुद्धि, दर्शनक्रिया का कर्म बने और पुरुष दर्शनक्रिया का कर्त्ता हो। व्याख्याकारों ने बुद्धि एवं पुरुष के उपर्युक्त व्यवहार (दृश्य एवं द्रष्टा) को बिम्ब-प्रतिबिम्ब के आधार पर उपपन्न किया है। उनका कहना है कि पुरुष घटादि विषयाकारबुद्धि का प्रतिसंवेदी है।[1] अर्थात् बुद्धि सत्त्वबहुल है। सत्त्वगुण के कारण उसमें स्वच्छता है और स्वच्छता के कारण निर्मल दर्पण की भाँति प्रतिबिम्ब-ग्राहक शक्ति है। जिस प्रकार दर्पण में मुखाकृति को देखने वाला व्यक्ति दर्पणगत मालिन्य को अपना समझता है और 'मेरा मुख मलिन हो रहा है'—ऐसा सोचकर दुःखी होता है। उसी प्रकार जब पुरुष घटादि विषयाकारबुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है तब बुद्धिगत धर्मों को अपना समझकर 'मैं घट को जानता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ,'—इस प्रकार सोचता है। इस प्रकार बुद्धिरूप दर्पण में प्रतिबिम्बित पुरुष; बुद्धि एवं उससे सम्बन्धित पदार्थों को दृश्य बनाता हुआ स्वयं उनका द्रष्टा बनता है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रणाली के द्वारा पुरुष विषयाकारबुद्धि का प्रतिसंवेदी (बुद्धि के समान ज्ञाता) सिद्ध होता है। सूत्रकार ने **'प्रत्ययानुपश्यः'**[2] पद के द्वारा उपर्युक्त तथ्य की ओर ही संकेत किया है।

सूत्रकार ने **'प्रत्ययानुपश्यः'** के साथ **'शुद्धोऽपि'**—पद का भी प्रयोग किया है, जिससे पुरुष के वास्तविक एवं औपाधिक दो रूपों का पता चलता है। व्याख्याकारों ने बुद्धि के साथ पुरुष की तुलना करते हुए पुरुष के उपर्युक्त दोनों रूपों को निम्नाङ्कित प्रकार से स्पष्ट किया है।

बुद्धि एवं पुरुष में वैधर्म्य

पुरुष अपरिणामी और बुद्धि परिणामिनी—बुद्धि ज्ञाताज्ञातविषयक होने से परिणामिनी और पुरुष सदाज्ञातविषयक होने से अपरिणामी कहा गया है। बुद्धि को शब्दादि विषयों का ज्ञान तभी होता है, जब वह शब्दादि विषयों के आकार में परिणत होती है। इसीलिए पटाकारवृत्ति काल में घटाकारवृत्ति न होने से उसे घट का ज्ञान नहीं रहता है। अतः कादाचित्क-विषयाकारत को धारण करने वाली बुद्धि परिणामिनी सिद्ध होती है। अनुमानप्रमाण इस प्रकार है—**बुद्धिः परिणामिनी ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् श्रोत्रादिवत्**।[3] यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है कि पुरुष की तरह बुद्धि को अपरिणामिनी क्यों नहीं माना जाता? क्योंकि बुद्धि, विषय के आकार की जो कही जाती है, उसका तात्पर्य बुद्धि में विषय का प्रतिबिम्बमात्र पड़ना है। इस विषयप्रतिबिम्ब में कादाचित्कत्व होने से बुद्धि की ज्ञाताज्ञातविषयता भी उपपन्न हो

---

[1] **स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी—व्या० भा० पृ० २१४।**

[2] **द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः—यो० सू० २।२०।**

[3] **त० वै० पृ० २१५।**

जाती है ? उक्त शङ्का का समाधान करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेशभट्ट** कहते हैं[१] कि बुद्धि में विषय का प्रतिविम्ब मानने वाला सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि स्वप्नावस्था एवं ध्यानावस्था में विषय के समीप न रहने से उसका प्रतिविम्ब बुद्धि में नहीं पड़ता, किन्तु ज्ञान होता है; वस्तुतः शास्त्रों में जहाँ-कहीं बुद्धि में विषय का प्रतिबिम्ब पड़ना कहा भी गया है, उसका तात्पर्य बुद्धि का विषयाकार परिणाम होना ही है। बुद्धिनिष्ठ विषयज्ञान नैमित्तिक होने से अनित्य होता है। अतः बुद्धि परिणामिनी है। इसके विपरीत, बुद्धि से भिन्न पुरुष को घट, पटादि दृश्य पदार्थ सदा ही ज्ञात रहते हैं। अतः पुरुष को अपनी बुद्धि का ज्ञान सदैव होते रहने के कारण वह अपरिणामी है। यदि पुरुष को परिणामी माना जाए, तो उसे जड़ भी कहना होगा। क्योंकि परिणाम जड़ पदार्थों का धर्म है। लेकिन पुरुष की जड़ता श्रुति-स्मृतिकारों को मान्य नहीं है। अतः पुरुष को परिणामी नहीं कह सकते हैं। यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है कि पुरुष को सदाज्ञातविषयक मानने पर वह कभी भी केवली (मुक्त) नहीं हो सकेगा। उक्त शङ्का का समाधान आचार्य **वाचस्पति मिश्र** करते हैं।[२] उनका कहना है कि चित्त की निरोधावस्था (जो मोक्ष का साक्षात् साधन है) में चित्त का विषयाकारपरिणाम नहीं होता है। चित्त वृत्तिशून्य रहता है। बुद्धि के रहने पर भी इस समय पुरुष को उसका ज्ञान नहीं हो पाता है। क्योंकि यह नियम है कि पुरुष विषयविशिष्ट-बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित होकर ही बुद्धि का ज्ञाता वनता है। वृत्तिशून्य बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। अतः असम्प्रज्ञातसमाधिकाल में पुरुष में विषयसापेक्ष सर्वज्ञातृता नहीं रहती है। इसलिए पुरुष के केवली (मुक्त) होने में किसी प्रकार की वाधा उपस्थित नहीं होती है। उपर्युक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकला कि सम्प्रज्ञात एवं व्युत्थान अवस्था में बुद्धि पुरुष का विषय भी हो और अगृहीत भी हो—ये दोनों विरोधी बातें नहीं हो सकती हैं। अतः बुद्धि की भाँति पुरुष में कदाचिद् विषयाकारता नहीं है। इसलिए उसे अपरिणामी कहा गया है। पुरुष की अपरिणामिता में अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—**पुरुषः अपरिणामी सदा सम्प्रज्ञातव्युत्थानावस्थयोर्ज्ञातविषयत्वात्।**[३]

बुद्धि परार्थ एवं पुरुष स्वार्थ—इन्द्रियों की सहायता से बुद्धि पुरुष के लिए भोग एवं मोक्ष का सम्पादन करती है। इसलिए समस्त दृश्य पदार्थ 'परार्थ' धर्म वाले कहे गए हैं। बुद्धि के परार्थत्व का साधक अनुमानप्रयोग इस प्रकार है—**परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात् शय्याऽऽसनाभ्यङ्गवत्।**[४] दूसरी तरफ पुरुष 'स्वार्थ' है। वह साधनों की

[१] (क) न च पुरुष इव बुद्धावपरिणामित्वेऽपि विषयस्य प्रतिबिम्बनमेव विषयाकारताऽस्तु ततश्च प्रतिबिम्बकादाचित्कत्वेन ज्ञाताज्ञातविषयत्वमुपपद्येतेति वाच्यम्? स्वप्नध्यानादौ विषयासान्निध्येन तत्प्रतिबिम्बासम्भवात्। शास्त्रेषु बुद्धौ विषयप्रतिबिम्बवचनं तु तत्समानाकारपरिणाममात्रेण। अतो बुद्धेरर्थग्रहणस्यानित्यतया तस्या अर्थाकारपरिणामोऽनुमीयत इति—यो० वा० पृ० २१५।

(ख) तु०—ना० वृ० बृ० पृ० २९३।

[२] उत्तरम्—न हि बुद्धिश्च नाम इति—त० वै० पृ० २१६।

[३] त० वै० पृ० २१६।

[४] त० वै० पृ० २१७।

अपेक्षा करता हुआ किसी अन्य भोक्ता का भोग्य नहीं बनता है। बुद्धि ही पुरुष के उपभोग के लिए विषयों को उपस्थित करती है। जो मिलकर कार्य करने वाला नहीं होता है, वह कभी परार्थ नहीं हो सकता है। पुरुष द्रष्टा एवं भोक्ता है। इस प्रकार दृश्य-पदार्थ पुरुष के प्रयोजन के लिए है, किन्तु पुरुष किसी अन्य के प्रयोजन के लिए नहीं है, इसलिए वह स्वार्थ है।[१]

बुद्धि त्रिगुण एवं पुरुष अ-त्रिगुण—वही पदार्थ परिणामी हो सकता है, जो त्रिगुणात्मक हो। गुणों का स्वभाव है कि वे प्रतिक्षण परिणाम को प्राप्त होते हैं, अतः बुद्ध्यादि पदार्थों में परिणाम उपलब्ध होने से वे त्रिगुणात्मक हैं। बुद्ध्यादि दृश्य पदार्थों से भिन्न पुरुष अपरिणामी होने से अ-त्रिगुण अर्थात् गुणरहित है। उपर्युक्त वैधर्म्य के कारण बुद्धि और पुरुष में जड़ता एवं चेतनता की भिन्नता भी पाई जाती है।

बुद्धि एवं पुरुष में साधर्म्य—ऊपर पुरुष का बुद्धि से जो वैधर्म्य वर्णित हुआ है वह वास्तविक है तथापि किन्ही अंशों में पुरुष का बुद्धि के साथ काल्पनिक सादृश्य भी है। इसलिए व्याख्याकारों ने पुरुष को बुद्धि से अत्यन्तभिन्न या अत्यन्त-अभिन्न नहीं कहा है। उनका कहना है कि व्युत्थानकाल में पुरुष बुद्धि-वृत्ति के सदृश है। अर्थात् बुद्धि-वृत्ति को देखता हुआ पुरुष पारमार्थिकरूप से बुद्धि-सरूप नहीं है, फिर भी तत्सदृश प्रतीत होता है। जिस प्रकार जपाकुसुम के सन्निधान से स्फटिक में लौहित्य प्रतीत होता है, वस्तुतः लौहित्य उसका धर्म नहीं है; उसी प्रकार विषयाकाराकारित-बुद्धि में प्रतिविम्बित पुरुष विषयाकार की भाँति प्रतिभासित होता है, तथापि विषयाकारता पुरुष का धर्म नहीं है।[२]

इस प्रकार व्याख्याकारों ने द्रष्टा का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ चित्रित किया है। अव ऊपर वर्णित दोनों सम्वन्धियों के 'संयोगसम्वन्ध' का सहेतुक प्रतिपादन किया जाता है।

द्रष्टा तथा दृश्य के संयोग का स्वरूप—सांख्ययोगशास्त्र में जड़ एवं चेतन तत्त्वों के मध्य दो प्रकार का संयोग माना गया है[3]—संयोगसामान्य एवं संयोगविशेष। जड़-

---

[१] स्वार्थः पुरुष इति—व्या० भा० पृ० २१७।

[२] यतस्तमनुपश्यन्नतः पुरुषो तदात्माऽपि परमार्थतो बुद्ध्यसरूपोऽपि तत्सरूप इव प्रकाशते तदनुकारी भवति स्फटिक इव जपासरूपः—यो० वा० पृ० २१८।

[३] (क) स्वशक्तिर्दृश्यं भोग्यतायोग्यत्वात्; स्वामिशक्तिर्द्रष्टा भोक्तृभोग्यत्वात्, तयोः स्वरूपोपलब्धौ हेतुर्यः संयोगविशेषः स एव द्रष्टृदृश्यसंयोगोऽत्र हेयहेतुरुक्त इत्यर्थः; विभुना द्रष्टृदृश्यसंयोगसामान्यस्य सार्वकालिकत्वेन हेयाहेतुत्वादिति भावः। स च संयोगविशेषो बुद्धिद्वारकः; दृश्यबुद्धिसत्त्वोपाधिरूपाः सर्वे धर्मा इति पूर्वभाष्यात्। अतो दृश्यवत्या बुद्ध्या संयोग एवात्र संयोगविशेषः यो० वा० पृ० २२४।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २९६।

तत्त्व प्रकृति एवं चेतन-तत्त्व पुरुष दोनों नित्य एवं व्यापक (विभु) हैं। इन दोनों का स्वाभाविक सम्बन्ध सर्वदा बना रहता है। अतः ऐसे दो नित्य एवं विभु पदार्थों का सम्बन्ध, जो स्वभावतः है, 'संयोगसामान्य' है। प्रकृति तथा पुरुष का यह 'संयोगसामान्य' संसार का हेतु नहीं है, अन्यथा पुरुष का मोक्ष उपपन्न न हो सकेगा क्योंकि सयोगसामान्य का कभी नाश नहीं होता है। बुद्धि एवं पुरुष का नैमित्तिक संयोग संसार का हेतु बन सकता है, जिसका नाश सम्भव हो। महर्षि **पतञ्जलि** एवं पातञ्जलयोग के व्याख्याकारों ने बुद्धि एवं पुरुष के भावगत संयोग को संसार का हेतु बतलाया है। उनका कथन है कि जिस समय पुरुष 'मैं भोक्ता हूँ' इस प्रकार के भाव से युक्त हो और बुद्धि 'मैं भोग्य हूँ' इस प्रकार के भाव से युक्त हो--उस समय स्वस्वामिभावस्वरूप बुद्धि एवं पुरुष का जो संयोग है, वही हेयहेतु है। बुद्धि तथा पुरुष का यह भावगत संयोग ही 'संयोगविशेष' हैं। बुद्धि तथा पुरुष का यह विलक्षण संयोग सार्वकालिक नहीं है, अपितु सनिमित्तक होने से कादाचित्क एवं नाश्य है। अतः 'संयोगविशेष' के हेतु का नाश होने से संयोग नष्ट हो जाता है तथा संयोग के नष्ट होते ही उसका कार्य दुःख (दुःखबहुल संसार) भी नष्ट हो जाता है।

द्रष्टा तथा दृश्य के संयोग का हेतु—द्रष्टा पुरुष एवं दृश्यभावापन्नबुद्धि के संयोग का हेतु अविद्या है। अविद्या को अदर्शन भी कहते हैं। यह स्पष्ट है कि अदर्शन अथवा अविद्या नञ्घटित समस्तपद है। नञर्थ दो प्रकार का है—प्रसज्यप्रतिषेध एवं पर्युदास। पर्युदासार्थक नञ् के आधार पर 'अदर्शन' (अविद्या) शब्द का अर्थ दर्शनविरोधी (विद्याविरोधी) है तथा प्रसज्यप्रतिषेधार्थक नञ् के आधार पर उसका अर्थ दर्शनाभाव (विद्याभाव) है।

प्रकृति तथा पुरुष के विलक्षणसंयोग की भाँति उसका हेतुभूत अदर्शन भी विशेष प्रकार का है। इसलिए आचार्य **व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, नागेश भट्ट,** तथा **हरिहरानन्द आरण्यक** ने अदर्शनविशेष का स्वरूप बतलाने के लिए अदर्शन को आठ विकल्पों द्वारा प्रस्तुत किया है[1] :—

प्रथम विकल्प—साधिकार गुणों में महदादि पदार्थों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है; इससे संसार का हेतुभूत प्रकृति तथा पुरुष का संयोग उत्पन्न होता है। क्या गुणों की कार्यजननशक्ति, जो अदर्शनरूप है, बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का हेतु है ?

द्वितीय विकल्प—दृशिरूप स्वामी के प्रति प्रधानस्वरूप चित्त के दो कर्त्तव्य हैं :— पहला, शब्दादि विषय का अनुभव करा कर पुरुष में अपने से अभेद का मतिभ्रम उत्पन्न कराना; तथा दूसरा, अभेदभ्रम के अपसारणपूर्वक पुरुष को उसके स्वरूप का साक्षात् अवबोध कराना। चित्त में इस प्रकार की कृतार्थता की अनुत्पत्ति जो अविद्यामूलक है, क्या बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का हेतु है ? अनिष्पन्न चित्त का अपने मूलकारण में आत्यन्तिकरूप से लय नहीं होता है, अपितु वह बार-बार (प्रत्येक प्रलय के पश्चात्) पुरुष से संयुक्त होता रहता है। क्या यही अदर्शन है ?

---

[1] **स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः—यो० सू० २।२३ की व्याख्याएँ द्रष्टव्य।**

तृतीय विकल्प—गुणों की अर्थवत्ता भी अदर्शन है। सत्कार्यवाद के अनुसार वर्तमान अवस्था की भाँति पदार्थ की अतीत एवं अनागत अवस्थाएँ भी हैं। अतः भोगापवर्ग का अपने कारणभूत गुणों में अव्यपदेश्य (अनागत) रूप से रहना अदर्शन कहा जाता है। क्या इस प्रकार का अदर्शन बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का हेतु है ?

चतुर्थ विकल्प—विपर्ययज्ञानजनित वासना प्रलयकाल में अपने आश्रयभूत चित्त के साथ मूलकारण प्रकृति में लीन होकर सृष्टिकाल में पुनः अपने आश्रयभूत चित्त की उत्पत्ति का हेतु होती है—अदर्शन कही जाती है। क्या यही वासनारूप अदर्शन बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का हेतु है ?

पंचम विकल्प—मूलकारण प्रधान में सृष्टि एवं प्रलय से सम्बन्धित दो प्रकार के संस्कार माने गए हैं—गतिसंस्कार एवं स्थितिसंस्कार। 'संस्कार' शब्द का अर्थ अवस्था है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के स्थितिसंस्कार (साम्यपरिणाम) के क्षय (अभिभव) पूर्वक महदादि विकार के आरम्भ के हेतुभूत गतिसंस्कार (विरूप परिणाम) की सक्रियता (कार्योन्मुखता) अदर्शनमूलक हुआ करती है। क्या इस प्रकार का अदर्शन बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का हेतु है ?

प्रधान के इन दो संस्कारों को समझाते हुए भाष्याकार लिखते हैं[1]—यदि प्रधान सर्वदा 'स्थितिसंस्कार' में ही रहे अर्थात् उसमें कभी भी गतिसंस्कार न हो तो उससे कभी भी महदादि पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इससे प्रकृति को 'प्रधान' कहना ही अनुपपन्न होगा। क्योंकि सांख्ययोगशास्त्र में 'प्रधान' शब्द 'मूलकारण' के अर्थ में परिभाषित है। इससे सिद्ध है कि प्रकृति में गतिसंस्कार है। अब यदि प्रधान सर्वदा गतिरूप में ही रहे, उसमें कभी भी स्थितिसंस्कार न पाया जाए तो प्रकृति की भाँति महदादि पदार्थों को भी नित्य कहना पड़ेगा, क्योंकि जिसका लय नहीं होता, उसे नित्य कहते हैं। लेकिन यह उचित नहीं; क्योंकि सभी शास्त्रों में कार्य को अनित्य ही माना गया है। दूसरा हेतु यह है कि महदादि को नित्य मानने पर प्रलयावस्था—जो कार्यों की लयावस्था है—नहीं बन पायगी लेकिन यह अभीष्ट नहीं है। अतः महदादि विकारजात की अनित्यता एवं प्रलयावस्था की उपपत्ति के लिए सांख्ययोगशास्त्रियों ने प्रधान में गतिसंस्कार की भाँति स्थितिसंस्कार भी स्वीकार किया है[2]। क्या उपर्युक्त प्रकार का अदर्शन बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का हेतु है ?

---

[1] (क) प्रधानं स्थित्यैव वर्त्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्, तथा गत्यैव वर्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्—व्या० भा० पृ० २२८।

(ख) तु०—त० वै० पृ० २२८।

(ग) तु०—यो० वा० पृ० २२८।

(घ) तु०—भा० पृ० २२७-२२८।

(ङ) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २९७।

[2] उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा—व्या० भा० पृ० २२८।

षष्ठ विकल्प—कई दार्शनिक दर्शनशक्ति को ही अदर्शन बतलाते हैं और उसमें **'प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिः'**—इस श्रुतिवाक्य को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है, यद्यपि ज्ञानस्वरूप पुरुष समस्त पदार्थों को जानने में समर्थ है तथापि प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व (प्रधान द्वारा महदादि सृष्टि से पूर्व) उसे पदार्थों का अवबोध नहीं हो पाता है। अतः प्रधान अपने स्वरूप का परिचय देने के लिए सृष्टयर्थ प्रवृत्त होता है, किन्तु अशक्त की स्वतः प्रवृत्ति अशक्य होने से प्रधान की प्रवृत्ति अविद्यामूलक कही गई है। अतः प्रधान की दर्शनशक्ति ही अदर्शन है। क्या यही अदर्शन बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का हेतु है ?

सप्तम विकल्प—बहुत से विद्वानों का मत है कि अदर्शन प्रधान एवं पुरुष दोनों का धर्म है। प्रधानगत अदर्शन का वही स्वरूप है जो षष्ठ विकल्प के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। पुरुष का अदर्शन, प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व उसके द्वारा दृश्य पदार्थों को न जानना है।

यहाँ प्रधान एवं पुरुष के अदर्शन में यह अन्तर है कि प्रधान का अदर्शन धर्म स्वाभाविक है और पुरुष का यह औपाधिक है; क्योंकि पुरुषनिष्ठ अदर्शन प्रतिबिम्बविधया होता है।

अष्टम विकल्प—कुछ आचार्यों का कहना है कि शब्दादिविषयक जो ज्ञान (दर्शन) है, वही अदर्शन है; प्रकृति तथा पुरुष का भेदज्ञान न हो पाना अदर्शन नहीं है। क्या यही अदर्शन बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का हेतु है ?

अदर्शन के ऊपर वर्णित आठ विकल्पों में से युक्तियुक्त विकल्प का निर्णय करते हुए आचार्यगण लिखते हैं,[१] प्रस्तुत सन्दर्भ में **'स्वस्वामिशक्तयोः....'** तथा **'तस्य हेतुरविद्या'**—इन दो सूत्रों के अनुसार चतुर्थ विकल्पगत वासनात्मक अदर्शन ही बुद्धि तथा पुरुष के संयोग के हेतुरूप से यहाँ ग्राह्य है। अन्य विकल्प सर्वपुरुषसाधारण होने से प्रत्येक पुरुष में जो भोग-वैचित्र्य दिखलाई पड़ता है, वह उसके प्रति कारण नहीं हैं। वे निखिल जगत् के कारण प्रकृति तथा पुरुष के संयोग के प्रति हेतु हैं। उक्त वासनात्मक अदर्शन तत्-तत् पुरुष के साथ तत्-तत् बुद्धि के संयोग का हेतु है। इससे प्रत्येक पुरुष का भोग-वैचित्र्य उपपन्न हो जाता है। अतः संयोगविशेष के प्रति चतुर्थ विकल्प द्वारा कथित अदर्शनविशेष ही हेतु है; अन्य विकल्पों द्वारा कथित अदर्शनसामान्य नहीं।

अदर्शनविशेष का स्वरूप—यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है कि जिस अदर्शन को द्रष्टृदृश्यसंयोग का हेतु कहा जा रहा है, वह स्वयं द्रष्टृ-दृश्यसंयोग के पश्चात् उत्पन्न हो सकता है क्योंकि पुरुष के साथ असंयुक्त बुद्धि में मिथ्याज्ञान (अदर्शन) नहीं रह सकता। इससे द्रष्टृ-दृश्यसंयोग होने पर विपर्ययज्ञान और विपर्ययज्ञान होने पर संयोग—इस प्रकार का अन्योन्याश्रयदोष उपस्थित होता है। अतः अविद्या बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का हेतु कैसे हो सकती है ? उक्त शङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार लिखते हैं - यदि अदर्शन

---

१ ...**चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगो हेयहेतुः स्वस्वामीत्यादिप्रकृतसूत्रेणोक्तः—तस्य हेतुरविद्या चतुर्थविकल्परूपमदर्शनमेवेति सूत्रेण सहान्वयः—यो० वा० पृ० २३२।**

(अविद्या) मात्र को द्रष्टृ-दृश्यसंयोग का हेतु कहा जाता तो उक्त अन्योन्याश्रयदोष उपस्थित हो सकता था। किन्तु योग में अदर्शनमात्र को संयोग का हेतु नहीं माना गया है, अपितु मिथ्याज्ञानजनित वासना उक्त संयोग का हेतु है। अपने आश्रयभूत चित्त के साथ निरुद्ध हुई सर्गान्तरीय अविद्यावासना प्रधान में विद्यमान रहती है। अतः उस अविद्यावासना से वासित प्रधान, तत्-तत् पुरुष के साथ संयुक्त होकर उसी प्रकार की बुद्धि को उत्पन्न करता है।[1] अतएव प्रलयकाल में वासनारूप से अविद्या विद्यमान रहने से पुरुष मुक्त नहीं हो पाता है। किन्तु जब उसका शुभाशुभ कर्म भोगोन्मुख होता है, तब बुद्धि आविर्भूत होकर पुनः भोगसम्पादन करने लगती है। इस प्रकार द्रष्टृ-दृश्यसंयोग का हेतुभूत अदर्शनविशेष वासनारूप ही है।

हेयहेतु से सम्बन्धित प्रत्येक पक्ष पर विचार करने के पश्चात् अब तृतीय व्यूह पर विचार किया जायगा।

हान

'हान' पद का अर्थ 'त्याग' है किन्तु योगशास्त्र में यह 'मोक्ष' के अर्थ में परिभाषित है। अथवा यह भी कहा जा सकता है—कार्य तथा कारण में अभेद विवक्षित होने से दुःख के कारण संयोग (अविद्यामूलक संयोग) का अभाव होने से जो दुःखरूप कार्य का अभाव (मोक्ष=नाश) है, उसे 'हान' कहते हैं। आचार्यों का कहना है, दुःखाभावरूप हान की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब हेय के हेतुभूत संयोग का आत्यन्तिकरूप से नाश हो जाए।[2] अन्यथा प्रलयकाल में बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का अभाव रहने से अल्पकालिक दुःखाभाव को भी मोक्ष की कोटि में रखना पड़ेगा। लेकिन किसी भी शास्त्र में मोक्ष के अनित्यत्व की कल्पना नहीं की गई है। अतः लजिस संयोगाभाव से संसाररूप बन्धन का आत्यन्तिकरूप से नाश होता है, उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष का अपर पर्याय कैवल्य है। कैवल्य की अवस्था—जो पुरुष के केवलीभाव की परिचायिका है—में पुरुष का कैसा स्वरूप रहता है, इस पर कैवल्यप्रकरण में विचार किया जायगा। सम्प्रति मोक्ष के हेतुभूत संयोगाभाव के उपाय—जो चतुर्थ व्यूहस्थानीय है—पर विचार अपेक्षणीय है।

हानोपाय

यद्यपि 'हान-व्यूह' का प्रतिपादन करते समय हान की प्राप्ति का उपाय निर्दिष्ट हुआ है तथापि किस प्रकार यह साधन प्राप्त हो सकता है, यह प्रमुख प्रश्न है। अतः चतुर्थ व्यूह की अवतारणा हुई है। हान का उपाय अविप्लुत विवेकख्याति है। इतना ही नहीं

---

१ (क) सर्गान्तरीयाया अविद्यायाः स्वचित्तेन सह निरुद्धाया अपि प्रधानेऽस्ति वासना, तद्वासनावासितं च प्रधानं तत्तत्पुरुषसंयोगिनीं तादृशीमेव बुद्धिं सृजति—त० वै० पृ० २३३।

(ख) तु०—यो० वा० पृ० २३३।

(ग) तु० ना० बृ० वृ० पृ० २९८।

२ तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्—यो० सू० २।२५।

महर्षि **पतञ्जलि** तथा **वाचस्पति मिश्र** आदि व्याख्याकार हानोपाय का संकेतमात्र करके मौन नहीं हुए हैं, अपितु हानोपायरूप 'विवेकख्याति' का सिद्ध होना दुरूह जानकर उन्होंने अपने-अपने ग्रन्थ के अधिकतम स्थलों में हानोपाय के उपाय का भी क्रमिक वर्णन किया है। यह 'योगसाधना के सोपान'--संज्ञक प्रकरण में कहा जायगा।

विद्या एवं अविद्या का परस्पर विरोध है। एक के उदय होने पर दूसरे का अभिभव होता है। यदि बुद्धि तथा पुरुष के संयोग के हेतुभूत अविद्या के प्रतिद्वन्द्वी 'विद्या' का उदय हो जाए तो उसकी विरोधिनी अविद्या का नाश हो जाता है। फलस्वरूप उसके कार्य बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का भी अभाव हो जाता है; जिस प्रकार प्रकाशमान् सूर्य के उदित होते ही उसका विरोधी अन्धकार नष्ट हो जाता है। योगाचार्यों द्वारा उपदिष्ट 'विद्या' ऐसी विलक्षण वस्तु है, जो दीर्घकालीन अभ्यास के द्वारा यदि साधक को प्राप्त हो जाए तो वह अविद्या का मूलतः क्षय करती हुई साधक को सर्वदा के लिए कैवल्यपद पर प्रतिष्ठित करती है। यह विद्या 'अविप्लुत सत्त्वपुरुषान्यताख्याति'-रूप है[१]। यह योगशास्त्र में 'विवेकज्ञान' के नाम से भी विख्यात है। 'अविप्लुतसत्त्व-पुरुषान्यताख्याति' का अर्थ है—'मिथ्याज्ञानादि की बाधाओं से रहित प्रकृति तथा पुरुष का अपरोक्षात्मक भेदज्ञान। यद्यपि आगम तथा अनुमानप्रमाण के द्वारा भी प्रकृति तथा पुरुष के भिन्न-भिन्न स्वरूप का ज्ञान होता है तथापि उससे व्युत्थानात्मक प्रत्यय एवं तज्जन्य संस्कार का नाश नहीं हुआ करता है। प्रत्युत प्रकृति-पुरुषाभिन्नात्मक प्रत्यय की अभिव्यक्ति होती रहती है;[२] अन्यथा मोक्षलाभ अत्यन्त सुकर हो जाता। अतः यौगिक पद्धति द्वारा प्राप्त अविप्लुतविवेकज्ञान ही 'हानोपाय' है।[३] अविप्लुत विवेकख्याति 'हान' का साक्षात् उपाय नहीं, अपितु वह अविद्याक्षय (दग्धबीज) के द्वारा परम्परया हेतु है।

सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा--सांख्ययोगशास्त्र के अनुसार विवेकज्ञान समस्त ज्ञानों में उत्कृष्टतम है। यह राजस तथा तामस वृत्तियों से रहित विशुद्धसत्त्वगुणप्रधान एकाग्रचित में[४] अङ्कुरित, पल्लवित एवं कुसुमित होता है। जिस समय वह फलोन्मुख होता है, उस समय सात प्रकार की प्रज्ञाओं का उदय होता है।[५] ये विवेकज्ञान की परिपूर्णता का सोपान हैं। इसलिए वे 'प्रान्तभूमि' नाम से परिभाषित हैं। 'प्रान्तभूमि' शब्द का विग्रह करते हुए आचार्य **वाचस्पति मिश्र** लिखते हैं—**प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमीनां**

---

[१] विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः यो० सू० २।२६।

[२] आगमानुमानाभ्यामपि विवेकख्यातिरस्ति। न चासौ व्युत्थानं तत्संस्कारं वा निवर्त्त-यति, तद्वतोऽपि तदनुवृत्तेः—त० वै० पृ० २३६।

[३] दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितायाः भावनायाः प्रकर्षपर्यन्तं समाधिजा साक्षात्कार-वती विवेकख्यातिर्निवर्त्तितसवासनमिथ्याज्ञाना निर्विप्लवा हानोपाय इति—त० वै० पृ० २३७।

[४] तामसराजसव्युत्थानप्रत्ययानुत्पादे···त० वै० पृ० २३८।

[५] तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा—यो० सू० २।२७।

अवस्थानां तास्तथोक्ताः।[१] व्याख्याकारों का वक्तव्य है, यद्यपि ज्ञान (विवेकज्ञान) एक ही है, तथापि प्रज्ञा के सात भेद विषयभेद पर आधारित हैं। विषयभेद से ज्ञानभेद होता है।[२] जैसे रूपज्ञान स्पर्शज्ञान से भिन्न है; क्योंकि एक ज्ञान रूपविषयक है और दूसरा स्पर्शविषयक।

प्रज्ञा के सात भेद दो समूहों में विभक्त हैं—कार्यविमुक्तिप्रज्ञाओं का समूह तथा चित्तविमुक्तिप्रज्ञाओं का समूह। कार्यविमुक्तिप्रज्ञाएँ वे हैं, जो प्रयत्नसाध्य हैं और चित्त-विमुक्ति प्रज्ञाएँ वे हैं, जो कार्यविमुक्ति प्रज्ञाओं के प्राप्त होने पर विना किसी प्रयास के स्वतः सिद्ध (प्राप्त) होती हैं। कार्यविमुक्तिप्रज्ञाओं के अन्तर्गत पहली चार प्रज्ञाएँ आती हैं और चित्तविमुक्तिप्रज्ञा के अन्तर्गत अन्तिम तीन प्रज्ञाएँ परिगणित हैं।[३] अब क्रमशः प्रत्येक प्रज्ञा का वर्णन किया जायगा।

कार्यविमुक्तिप्रज्ञाएँ—

प्रथम प्रज्ञाभूमि—यह भूमि ज्ञेयशून्य-अवस्था कही जाती है। इस अवस्था में साधक को परिणाम आदि दुःखबहुल प्रधानजन्य विकारजात में हेयता के दर्शन होते हैं। अर्थात् उसे इस प्रकार का अनुभव होता है कि—दुःखरूप हेय संसार को मैंने भली-भाँति जान लिया है; अब इस विषय में जानने के लिए कुछ नहीं बचा है।

द्वितीय प्रज्ञाभूमि—यह भूमि हेयशून्य अवस्था कही जाती है। इस अवस्था में साधक को इस प्रकार का साक्षात्कार होता है कि—हेय के हेतुभूत निखिल अविद्यादि क्लेश मेरे क्षीण हो चुके हैं; अब क्षीण करने योग्य कुछ नहीं रहा है।

तृतीय प्रज्ञाभूमि—यह भूमि प्राप्यप्राप्त-अवस्था कही जाती है। इस अवस्था में साधक को इस प्रकार का अनुभव होता है कि—कैवल्य की प्राप्ति से प्राप्त होने योग्य सब कुछ मुझे प्राप्त हो चुका है, अब मेरे लिए कुछ और प्रापणीय नहीं है। इस अवस्था में साधक कैवल्य प्राप्त कर लेता है, ऐसी बात नहीं। उसे केवल प्रापणीय वस्तु के स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान होता है। इसलिए यह भूमि प्राप्य-प्राप्त-अवस्था कही गई है। यही कारण है कि व्यासभाष्य आदि में तृतीय प्रज्ञा का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—निरोध (असम्प्रज्ञात) समाधि के द्वारा मैंने संसाररूप हान का प्रत्यक्ष कर लिया, अब कुछ जानने के लिए शेष नहीं रहा है।

चतुर्थ प्रज्ञाभूमि—यह भूमि चिकीर्षाशून्य-अवस्था कही जाती है। इस अवस्था में साधक ऐसा अनुभव करता है कि विवेकज्ञान हो जाने से मेरे सब कर्त्तव्य समाप्त हो चुके हैं; अब मेरे लिए कुछ करणीय नहीं है।

उक्त चार प्रकार की प्रज्ञाएँ कार्यविमुक्ति हैं; क्योंकि इनके प्राप्त होने पर साधनानुष्ठान की समाप्ति होती है।

---

१ त० वै० पृ० २३८।

२ विषयभेदात् प्रज्ञाभेदः—त० वै० पृ० २३८।

३ इत्येषा चतुष्टयी कार्य्या विमुक्तिः प्रज्ञायाः; चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी—व्या० भा० पृ० २३९।

चित्तविमुक्तिप्रज्ञाएँ—

प्रथम प्रज्ञाभूमि—इस अवस्था में साधक को ऐसी अनुभूति होती है कि—मेरी बुद्धि भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ सम्पादित करके अपना अधिकार समाप्त कर चुकी है। आचार्य **सदाशिवेन्द्रसरस्वती** इसे शोकनिवृत्ति-अवस्था कहते हैं।[1] आचार्य **विज्ञानभिक्षु** का कथन है कि यह चित्तनाश की आद्य भूमि है, जो परवैराग्यरूप है।[2]

द्वितीय प्रज्ञाभूमि—इस अवस्था में चित्त के सुख दुःखादि धर्म लयाभिमुख होकर चित्त के साथ मूलकारण प्रकृति में आत्यन्तिकरूप से लय को प्राप्त हो चुकते हैं। जैसे पर्वतचूड़ से गिरे हुए उपलखण्ड अपने स्थान में पुनः लौटने के लिए असमर्थ होते हैं, वैसे ही अविप्लुतविवेकख्यातिमान् साधक का कृतकृत्य चित्त एक बार पुरुष से वियुक्त होने पर पुनः उसके साथ संयुक्त नहीं होता है। यह लिङ्गशरीर के विनाश की अवस्था है।

तृतीय प्रज्ञाभूमि—इस अवस्था में उक्त सत्त्वादि गुणों के सम्बन्ध से रहित चैतन्य-स्वरूप पुरुष कुशल कहा जाता है।

ऊपर तीन प्रकार की चित्तविमुक्ति प्रज्ञाएँ कही गईं, उससे स्पष्ट है कि साधक को उस प्रकार का अनुभव होता है, न कि प्रज्ञा होते ही चित्त आदि लीन होने लगते हैं। अन्यथा प्रथम चित्तभूमि में ही चित्त का लय हो जाने से अग्रिम प्रज्ञाओं का उदय न हो सकेगा; क्योंकि ज्ञान का अधिकरण चित्त है। इस समय साधक की जीवन्मुक्त अवस्था होती है। इस प्रकार हानोपाय का स्वरूप प्रतिपादित हुआ। सम्प्रति **'तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा'**—इस सूत्रगत **'तस्य'** पद को लेकर व्याख्याकारों में जो मतभेद उपलब्ध है, उस पर विचार करना आवश्यक है।

'तस्य' पद के अर्थ पर विचार—'तस्य' पद के अर्थ के सम्बन्ध में दो विरोधी विचार उपलब्ध हैं।

प्रथम पक्ष—आचार्य **वाचस्पति मिश्र, रामानन्दयति, सदाशिवेन्द्रसरस्वती, हरिहरानन्द आरण्यक** तथा **बलदेव मिश्र** ने 'तस्य' पद का अर्थ 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमान् पुरुष' किया है।[3]

द्वितीय पक्ष—इसके विपरीत आचार्य **भोजदेव, विज्ञानभिक्षु,** उनके शिष्य

---

[1] शोकनिवृत्तिरेका—यो० सु० पृ० ४०।

[2] इयं परवैराग्यरूपा चित्तनाशस्याद्यभूमिकारूपा—यो० वा० पृ० २४०।

[3] (क) प्रत्युदितख्यातेः=वर्तमानख्यातेर्योगिनः—त० वै० पृ० २३७।
(ख) स्थिराविप्लवात्मख्यातेर्विदुषः प्रत्ययान्तरतिरस्कारेण सप्तप्रकाराः प्रज्ञाऽवस्थाश्चरमा भवन्ति—म० प्र० पृ० ३९।
(ग) तस्य संजातविवेकख्यातेः पुरुषस्य···यो० सु० पृ० ४०।
(घ) तु०—भा० पृ० २३८।
(ङ) तु०—यो० प्र० पृ० ३६।

भावागणेश एवं **नागेश भट्ट** **'तस्य'** पद को हानोपाय (विवेकख्याति) का परामर्शक मानते हैं।[1] आचार्य **नारायणतीर्थ** ने सूत्रार्थबोधिनी[2] में प्रथम पक्ष का अनुसरण किया तथा योगसिद्धान्त-चन्द्रिका[3] में द्वितीय पक्ष का।

मूल्यांकन—द्वितीय पक्ष के समर्थक आचार्य **विज्ञानभिक्षु** आदि ने स्वपक्ष के पुष्टचर्थ प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए कहा है[4]—यद्यपि पुंल्लिङ्ग के आधार पर 'तत्' पद से 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमान् पुरुष' को लिया जा सकता था किन्तु पूर्व सूत्र में पुरुष की चर्चा नहीं हुई है। अतः **'तस्य'** पद से व्यवहित पुरुष को नहीं ले सकते हैं। **व्यासदेव** ने भी **'तस्य'** पद का अर्थ **'प्रत्युदितख्यातेः'** किया है। लेकिन उनका उपर्युक्त पक्ष युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है। व्यासभाष्य की **'सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति'**—इस पंक्ति से स्पष्ट है कि वे विवेकवान् पुरुष की सात प्रकार की प्रज्ञाएँ मानते हैं। अतः उन्होंने **'तस्य'** पद की व्याख्या **'प्रत्युदितख्यातेः'** जो की है, उसका अर्थ भी बहुव्रीहिसमास (उदित हुई है विवेकख्याति जिस योगी को) के द्वारा वही निकलता है। दूसरा हेतु यह है कि यदि सूत्रकार को **'तस्य'** पद से विवेकख्याति बतलानी अभिप्रेत होती तो वे सूत्र के अन्त में पुनः 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग न करते, क्योंकि विवेकख्याति स्वयं प्रज्ञारूप है। अतः प्रज्ञा की सात प्रकार की प्रज्ञा न होने से 'विवेकख्याति की सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा होती है' यह सूत्रार्थ ठीक नहीं प्रतीत होता है। **'तस्य'** पद का अर्थ विवेकख्यातिमान् योगी करने से 'विवेकख्यातिप्राप्त योगी को सात प्रकार की प्रज्ञा प्राप्त होती है'—इस प्रकार का सूत्रार्थ उचित प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह हुआ कि **वाचस्पति मिश्र** आदि आचार्यों का पक्ष युक्तियुक्त है। इस प्रकार 'हानोपाय' संज्ञक चतुर्थ व्यूह का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

ऊपर 'विवेकख्याति' को हानोपाय कहा गया है। विवेकख्याति का उदय अष्टाङ्ग-योग की साधना द्वारा हुआ करता है। अष्टाङ्गयोग अविद्या आदि अशुद्धि का क्षय करता हुआ ही विवेकख्याति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार अशुद्धिक्षय एवं विवेकख्याति के उदय—इन दो के प्रति अष्टाङ्गयोग कारण है। वह इन दो के प्रति किस प्रकार का कारण है—यह बतलाने के लिए व्याख्याकारों ने योगशास्त्रानुमोदित नवविधकारणवाद पर विचार किया है, जो निम्नाङ्कित प्रकार से है—

---

[1] (क) तस्य=उत्पन्नविवेकज्ञानस्य—रा० मा० पृ० ३०।
(ख) तस्य=विवेकख्यातिरूपहानोपायस्य—यो० वा० पृ० २३७।
(ग) तु०—भा० ग० वृ० पृ० ४९।
(घ) तु०—ना० ल० वृ० पृ० ५०।

[2] तस्य विदुषः सप्तप्रकारा प्रज्ञा ··सू० बो० पृ० २६।

[3] तस्य उत्पन्नसाक्षात्कारस्य प्रान्तभूमिः प्रज्ञा···यो० सि० चं० पृ० ६७।

[4] तच्छब्दोक्तहानोपायस्य स्वरूपाख्यानं प्रत्युदितख्यातेरिति; अन्यथा तस्येतिपुंल्लिङ्गा-नुपपत्तेः प्रत्याम्नायः परामर्शः। न चात्र प्रत्युत्पन्नख्यातेः पुरुषस्य परामर्श इत्यर्थः सम्भवति पुरुषस्य पूर्वसूत्रेष्वप्रस्तुतत्वात्—यो० वा० पृ० २३८।

नौ प्रकार के कारण—न्यायवैशेषिकदर्शन में तीन प्रकार के कारण स्वीकार किए गए हैं—समवायिकारण, असमवायिकारण तथा निमित्तकारण। वेदान्त एवं मीमांसा के विद्वान् दो प्रकार के कारण बतलाते हैं—उपादानकारण एवं निमित्तकारण। योगदर्शन में नौ प्रकार के कारण प्रसिद्ध हैं। योग के समानतन्त्र सांख्य की तत्त्व-मीमांसा योगदर्शन के तुल्य होने से सांख्यदार्शनिकों को भी योग के नौ कारण अमान्य नहीं हैं। वे नौ कारण हैं[1]—उत्पत्तिकारण, स्थितिकारण, अभिव्यक्तिकारण, विकारकारण, प्रत्ययकारण, आप्तिकारण, वियोगकारण, अन्यत्वकारण एवं धृतिकारण।

पातञ्जलयोग के व्याख्याकारों में से आचार्य **वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु**, बृहद्वृत्तिकार **नागेशभट्ट** एवं **हरिहरानन्द आरण्यक** ने उपर्युक्त नौ प्रकार के कारणों पर विचार किया है। इस सन्दर्भ में व्याख्याकारों में मतभेद नहीं है। सभी ने समान रूप से कारणों के स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

उत्पत्तिकारण—उत्पत्तिकारण का अर्थ उपादानकारण है[2]। न्यायवैशेषिक दर्शन में यही उपादानकारण समवायिकारण कहा गया है। मनस् विज्ञान का उत्पत्तिकारण है[3]। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** के शब्दों में वृत्त्यात्मक विज्ञान के उत्पत्तिरूप अतिशय में मनस् कारण है।[4] उत्पत्ति का अर्थ असत् (पहले से अविद्यमान) पदार्थ का उत्पन्न होना नहीं हैं, अपितु सत्कार्यवाद के अनुसार, मनस् के द्वारा विज्ञान को अनागत-अवस्था से हटाते हुए वर्तमान अवस्था में लाना है।[5] यही विज्ञान के प्रति मनस् का उत्पत्तिकारणत्व है। उत्पत्तिकारण को आप्तिकारण से पृथक् करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** का कहना है कि आप्तिकारण पदार्थोत्पत्ति के प्रति साक्षात्कारण नहीं है; अपितु प्रतिबन्ध को हटाते हुए आप्तिकारण पदार्थ की उत्पत्ति का कारण है। इसलिए घटादियों की उत्पत्ति के प्रति दण्डादि आप्तिकारण कहे गए हैं।[6] उत्पत्तिकारण पदार्थोत्पत्ति का साक्षात् कारण है।

स्थितिकारण—जिस प्रकार शरीर का धारक होने से आहार शरीर का स्थिति-

---

[1] उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्॥ व्या० भा० पृ० २४३।

[2] (क) उत्पत्तिकारणत्वमुपादानकारणत्वमिति—यो० वा० पृ० २४४।
(ख) तु० –ना० बृ० वृ० पृ० ३०२।
(ग) तु०—भा० पृ० २४३।

[3] तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति विज्ञानस्य—व्या० भा० पृ० २४३।

[4] (क) ज्ञानस्य वृत्तिरूपस्योत्पत्तिरूपातिशयेन मनः कारणं सम्भवति—यो० वा० पृ० २४३।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३०२।

[5] मनोविज्ञानमव्यपदेश्यावस्थातोऽपनीय वर्तमानावस्थामापादयदुत्पत्तिकारणं विज्ञानस्य—त० वै० पृ० २४४।

[6] आप्तिकारणं च नोत्पत्तौ साक्षात्कारणं किंतु प्रतिबन्धनिवृत्ति-द्वारेति। घटादिषु दण्डादीनि च पूर्वोक्ताप्तिकारणमध्य एव प्रवेशनीयानि—यो० वा० पृ० २४३।

कारण है, उसी प्रकार सांख्ययोगशास्त्र में पुरुषार्थ को मन का स्थितिकारण माना गया है।[१] क्योंकि सांख्ययोगशास्त्र में मनस् की स्थिति तभी तक मानी गई है जब तक वह भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ का सम्पादन नहीं कर लेता है। अर्थात् भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ के निष्पन्न हो जाने पर (मनस् की स्थिति का कारण न रहने से) मनस् सर्वदा के लिए अपने मूलकारण प्रकृति में लीन हो जाता है। यद्यपि पुरुषार्थ सभी भोग्य पदार्थों की स्थिति का कारण है तथापि समस्त भोग्य पदार्थों में मनस् प्रधान है। इसलिए उसे स्थितिकारण के उदाहरणरूप में रखा गया है।

अभिव्यक्तिकारण—आलोक तथा रूपज्ञान दोनों रूप की अभिव्यक्ति के कारण हैं।[२] अर्थात् रूप (रूपवान् पदार्थ) की अभिव्यक्ति तभी हो सकती है, जब आलोक हो तथा आलोक होने पर रूपाभिव्यक्ति के लिए रूप का ज्ञान होना भी आवश्यक है। अतः दोनों रूपाभिव्यक्ति के प्रति हेतु कहे गए हैं। आचार्य **वाचस्पति मिश्र** के शब्दों में प्रत्यक्ष ज्ञान के निमित्तभूत इन्द्रिय के द्वारा अथवा विषय की जो स्वतः संस्क्रियारूप अभिव्यक्ति होती है—उसके कारण को अभिव्यक्तिकारण कहते हैं; जैसे आलोक रूप का अभिव्यक्ति-कारण कहा जाता है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** का वक्तव्य है कि महर्षि **व्यासदेव** ने आलोक तथा रूपज्ञान दोनों को जो रूप की अभिव्यक्ति का कारण माना है। उनमें से बुद्धिवृत्ति की अभिव्यक्ति में आलोक कारण है और पौरुषेयबोध की अभिव्यक्ति में बुद्धिवृत्तिस्वरूप रूपज्ञान कारण है।[३]

विकारकारण—अग्नि पदार्थों के विकार का कारण कहा जाता है। अग्नि-संयोग से चावल आदि खाद्य पदार्थों के पकने से उनमें रूपान्तर (विकार) आ जाता है। जब चित्त ध्येयातिरिक्त विषय का चिन्तन करता है, तब वह चिन्त्य पदार्थ मनस् के विकार का कारण कहा जाता है[४]। क्योंकि उससे चित्त की एकाग्रता भङ्ग होती है। जैसे मृकण्डु आदि समाहित मनस् वाले ऋषियों का भी मनस् **उम्लोचा** आदि अप्सराओं को देखकर विकृत हुआ था।[५] अतः **मृकण्डु** आदि ऋषियों के समाधि-भङ्ग के प्रति **उम्लोचा** आदि अप्सराएँ 'विकारकारण' स्वरूप थीं।

प्रत्ययकारण—व्याख्याकारों ने प्रत्ययकारण द्वारा ज्ञान के प्रति ज्ञान को कारण बतलाया है। जैसे अग्निज्ञान के प्रति धूमज्ञान प्रत्ययकारण है क्योंकि

---

[१] स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता—व्या० भा० पृ० २४४।

[२] अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्यालोकस्तथा रूपज्ञानम्—व्या० भा० पृ० २४४।

[३] (क) तत्र बुद्धिवृत्तावालोकः कारणं पौरुषेयबोधे च रूपज्ञानं बुद्धिवृत्तिरूपमिति विभागः—यो० वा० पृ० २४४।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३०२।

[४] विकारकारणं मनसो विषयान्तरम्—व्या० भा० पृ० २४४।

[५] यथा हि मृकण्डोः समाहितमनसो···सुरूपलावण्ययौवनसम्पन्नामप्सरसमुम्लोचामीक्षमाणस्य समाधिमपहाय तस्यां सक्तो मनो बभूवेति—त० वै० पृ० २४४।

धूमज्ञान से वह्नि का ज्ञान होता है[1]। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** ने प्रत्ययकारण के उपर्युक्त उदाहरण को शब्दज्ञान के अन्तर्गत रखा है। अर्थात् पर्वत में वह्नि है—इस शब्दप्रयोग के द्वारा वह्नि का जो ज्ञान होता है उसका प्रत्ययकारण पर्वत में धूमदर्शन है। वे अभिव्यक्तिकारण को आनुमानिकज्ञान का साधन बतलाते हैं।[2] किन्तु तत्त्ववैशारदी के टिप्पणीकार **बलरामोदासीन** ने इनके मत का खण्डन किया है।[3]

आप्तिकारण—'आप्ति' शब्द का अर्थ 'प्राप्ति' है। 'आप्ति' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य **वाचस्पति मिश्र** कहते हैं कि निरपेक्ष कारणों में कार्य को उत्पन्न करने की जो स्वाभाविक शक्ति है, वह प्राप्ति कही जाती है और उसका किसी अपवाद के द्वारा जो प्रतिबन्ध होता है—वह अप्राप्ति कहा जाता है। जैसे जल से स्वभावतः निम्न प्रदेश की ओर गमन करने की शक्ति है। सेतु के द्वारा उसका प्रतिबन्ध किया जाता है। यह प्रतिबन्ध अप्राप्ति कहा जाता है। जब किसी साधन के द्वारा सेतु को हटा दिया जाता है, तब जल में निम्न-प्रदेश की ओर गमन करने की जो स्वाभाविकी शक्ति विद्यमान रहती है; वह पुनः निम्न-प्रदेश की ओर गमन करने का कार्य करने लगती है। तब यह कहा जाता है कि जल में निम्न-प्रदेश की तरफ गमन करने की शक्ति प्राप्त हुई है। वस्तुतः यह स्वाभाविकी शक्ति पहले से ही जल में विद्यमान रहती है; केवल अपवाद के कारण वह रुक जाती है। उसी प्रकार सुख तथा प्रकाशशील बुद्धिसत्त्व में सुख एवं विवेकख्याति को उत्पन्न करने की स्वाभाविकी शक्ति विद्यमान है; जिसे प्राप्ति कहते हैं। लेकिन यह स्वाभाविकी शक्ति अधर्म अथवा तमोगुणरूप प्रतिबन्ध के कारण उद्बुद्ध नहीं रहती है। जब योगाङ्गानुष्ठान के द्वारा अधर्मादि अवरोधक हट जाते हैं तब अप्रतिहतवृत्ति के स्वभाव वाला बुद्धिसत्त्व स्वभावतः ही धर्म तथा विवेकख्याति की उत्पत्ति के कारणरूप से अपनी शक्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार विवेकख्यातिरूप कार्य के प्रति योगाङ्गानुष्ठान प्राप्तिकारण है।[4]

वियोगकारण—किसी पदार्थ की प्राप्ति उसके प्रतियोगी (विरोधी) के वियोगपूर्वक हुआ करती है। जैसे धर्म की प्राप्ति अधर्म के वियोगपूर्वक होती है। अतः प्राप्तिकारण के मूल में वियोगकारण है। आचार्य **वाचस्पति मिश्र** ने कहा भी है कि अवान्तर कार्य की अपेक्षा से वही प्राप्तिकारण वियोगकारण होता है।[5] जैसे एक ही योगाङ्गानुष्ठान विवेकख्याति के प्रति प्राप्तिकारण होता हुआ अशुद्धिक्षय का वियोगकारण होता है।

अन्यत्वकारण—सुवर्णकार सुवर्ण को कटक, कुण्डल, मयूरादि अनेक रूप प्रदान करता है, अतः सुवर्णकार स्वर्ण के अन्यत्व का कारण है।[6] यहाँ यह ज्ञातव्य है, यद्यपि सत्कार्य-

---

[1] प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य—व्या० भा० पृ० २४४।

[2] (क) यो० वा० पृ० २४४।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३०२।

[3] पातंजलदर्शने बलरामोदासीनकृतटिप्पणी पृ० १९६।

[4] प्राप्तिकारणं योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः—व्या० भा० पृ० २४४।

[5] अवान्तरकार्यापेक्षया तदेव वियोगकारणम्—त० वै० पृ० २४५।

[6] अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः—व्या० भा० पृ० २४५।

वाद के अनुसार कटक, कुण्डल आदि कार्य (धर्म) सुवर्ण (धर्मी) से भिन्न नहीं, अपितु अभिन्न ही हैं तथापि यहाँ लोकदृष्टि से कार्य को कारण से भिन्न समझकर कहा जा रहा है। इसी प्रकार एक ही स्त्रीविषयक ज्ञान से कामी, सपत्नी, पति तथा तत्त्वज्ञानी को क्रमशः मूढता, दुःखिता तथा उदासीनता की अनुभूति होती है। इस अन्यत्व के प्रति क्रमशः अविद्या, द्वेष, राग तथा माध्यस्थ्य कारण है। अर्थात् तत्-तत् पुरुष में मूढादि को उत्पन्न करने वाले अविद्यादि अन्यत्वकारण कहे जाते हैं।

अन्यत्वकारण को विकारकारण से पृथक् करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** कहते हैं—सुवर्णादि धर्मी के कटकादि धर्म के परित्यागपूर्वक सुवर्ण में कुण्डलादि धर्म लाने में जो (सुवर्णकार) हेतु बनता है वह अन्यत्वकारण कहा जाता है। क्योंकि कटकादि धर्म के विनाशपूर्वक अन्य कुण्डलादि धर्म की उत्पत्ति होती है। सुवर्णादि धर्मी अपने समस्त विकारों में अनुगत रहता है, अतः सुवर्ण के अन्यत्व का कोई कारण नहीं है। यही विकार-कारण से अन्यत्वकारण का भेद है।

धृतिकारण—शरीर इन्द्रियों का धारक है अर्थात् इन्द्रियों का धृतिकारण शरीर है।[1] इन्द्रियाँ योगक्षेम के निर्वाहार्थ शरीर की धारक हैं; क्योंकि प्राणादि (जो इन्द्रियों का सामान्य व्यापार है) के अभाव में शरीर मृत हो जाता है। इसी प्रकार पृथ्वी आदि महाभूत शरीर के धृतिकारण हैं और पृथ्वी आदि महाभूत परस्पर विधार्य-विधारकभाव सम्बन्ध से स्थित हैं। जैसे आकाश वायु का 'धृतिकारण' है और मण्डलाकार वायु (चक्रवात्या) छिद्राकाश की धारिका है, क्योंकि छिद्राकाश चक्रवात्या के आश्रित रहता है। इसी प्रकार तेजस् का धारक वायु है और तेजस् अण्डान्तर्वर्ती वायु का धारक है। इसी प्रकार अन्य महाभूतों में भी विधार्यविधारकभाव सम्बन्ध विद्यमान है। उसी प्रकार तिर्यक्, मनुष्य तथा देवादिशरीर भी परस्पर विधार्यविधारकभाव सम्बन्ध से स्थित हैं। इतना अन्तर है कि इनमें साक्षात् आधार-आधेयभाव सम्बन्ध नहीं है, अपितु एक दूसरे के शरीर की धृति के लिए उपयोगी होने से इनमें विधार्यविधारकभाव सम्बन्ध कहा गया है। जैसे गाय आदि के दुग्धसेवन से मनुष्य, शरीर को धारण करता है और मनुष्यों द्वारा दाना-भूसा आदि खिलाए जाने से गाय आदि शरीर को धारण करती हैं। इसी प्रकार मनुष्यशरीर द्वारा किए गए यज्ञ, बलिदान आदि देवशरीर के लिए उपयोगी होते हैं तथा देवशरीर द्वारा की गई वृष्टि मनुष्यशरीर के लिए लाभदायक होती है। इसमें श्रुति-वाक्य प्रमाण है। इस प्रकार विधार्यविधारकभाव सम्बन्ध से युक्त धृतिकारण का स्वरूप समझ में आ जाता है।

आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** ने एकरूप प्रतीत होते हुए धृतिकारण एवं स्थिति-कारण के भेद को स्पष्ट किया है। उनका कहना है, अनुप्रवेश एवं अप्रवेश के कारण दोनों में अवान्तरभेद है। पुरुषार्थ, आहार आदि शरीर से अविभक्त रहकर ही शरीर को स्थिर रखते हैं; अतः वे शरीर के स्थितिकारण कहे जाते हैं। लेकिन शरीरादि इन्द्रियों में अनुप्रवेश किए विना ही इन्द्रियों को धारण करते हैं; इसलिए इन्द्रियों के प्रति शरीरादि धृतिकारण हैं।

---

१ धृत्तिकारणं शरीरमिन्द्रियाणाम्—व्या० भा० पृ० २४५।

दोनों कारणों में यही महान् अन्तर है।[१] अतः स्थितिकारण से पृथक् धृतिकारण की कल्पना अनुचित प्रतीत नहीं हो रही है।

श्रुति, स्मृतियों द्वारा जीव, ईश्वर, अविद्या, कर्म आदि के सम्बन्ध में कहे हुए कारणों का भी इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है[२]; तथा संसार के अन्य सभी पदार्थों में भी इन नौ से अतिरिक्त और कोई कारण उपलब्ध नहीं होता है। अतः नौ प्रकार के ही कारण हैं—ऐसा योगशास्त्रियों का कथन है। महर्षि **व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र** आदि ने पदार्थों में विद्यमान नानाविध कार्यकारणभाव सम्बन्ध के सूक्ष्म अन्तर को अपनी पैनी दृष्टि से पहचान कर अशुद्धिक्षय एवं विवेकख्याति के प्रति अष्टाङ्गयोग को क्रमशः वियोगकारण एवं प्राप्तिकारण बतलाया है।

चतुर्व्यूहवाद के उपर्युक्त वर्णन के आधार पर जाना जा सकता है कि यह योगशास्त्र का सारभूत अंश है। योगशास्त्ररूपी भवन में प्रवेश करने का यह मुख्य द्वार है। अतः इस पर सर्वप्रथम विचार किया गया है।

---

[१] (क) कार्यानुप्रवेशाप्रवेशाभ्याम् अवान्तरभेदात् स्थितिहेतुर्हि पुरुषार्थाहारादिर्मतः शरीराद्यविभक्तः सन्नेव तानि स्थापयति। धृतिहेतुश्च शरीरादिन्द्रियादीन-नु प्रविश्यैव तानि धारयतीति महान् विशेषः—यो० वा० पृ० २४६।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३०३।

[२] (क) यथायोगमेतद्रूपैरेव कारणत्वैरविद्याकर्मजीवेश्वरादीनां सर्वकारणत्वप्रतिपा-दिकाः श्रुत्यादयो व्याख्येयाः—ना० बृ० वृ० पृ० ३०३।

(ख) तु०—यो० वा० पृ० २४६।

अध्याय—२

परिणामवाद

समाधि-परिणाम
एकाग्रता-परिणाम
निरोध-परिणाम
धर्म-परिणाम
लक्षण-परिणाम
अवस्था-परिणाम
त्रिविध परिणामों के क्रम पर विचार
त्रिविध परिणामों का एकीकरण
धर्मी का स्वरूप

अध्याय—२

परिणाम
सरूप-परिणाम
विरूप-परिणाम
तत्त्वान्तरोपादान-परिणाम
तत्त्वान्तरानुपादान-परिणाम
धर्म-परिणाम
लक्षण-परिणाम
अवस्था-परिणाम
अनागतलक्षण-परिणाम
वर्तमानलक्षण-परिणाम
अतीतलक्षण-परिणाम
पदार्थाभिव्यक्ति-परिणाम
ज्ञानाभिव्यक्ति-परिणाम
क्रियाभिव्यक्ति-परिणाम
अर्थाकार-परिणाम
प्रतिबिम्बाकार-परिणाम
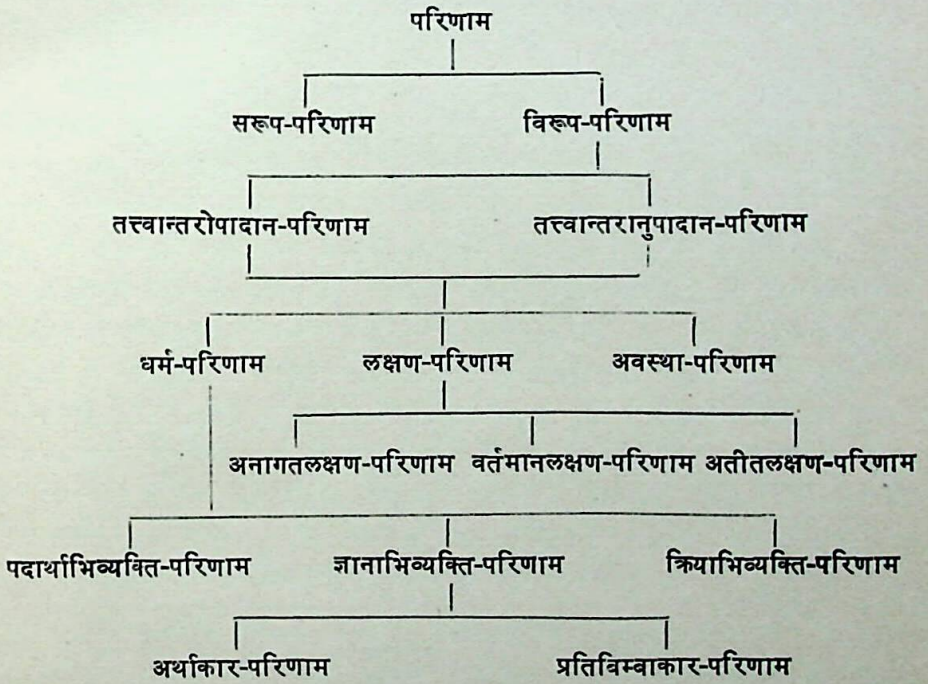
अध्याय—२

परिणामवाद

जगत् अर्थात् जड़वर्ग की सत्ता के विषय में किसी का मतभेद नहीं है; भले ही भारतीय दार्शनिकों द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से उसकी सत्ता स्वीकार की गई हो। किन्तु जगत् के मूलकारण के सम्वन्ध में पर्याप्त मतभेद होने से सृष्टि मूलकारण के साथ किसरूप में सम्बद्ध है—इस विषय में भारतीय दार्शनिकों का एकमत नहीं है। इस कारण भारतीयदर्शन में अनेक सृष्टिवादों की सृष्टि हुई।

न्याय-वैशेषिकों के मत में जगत् का मूलकारण नित्य परमाणु है। द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि रूप से संयुक्त हुए अनेक परमाणु अपने से भिन्न कार्य को उत्पन्न (आरम्भ) करते हैं, इसलिए उनका सृष्टिवाद आरम्भवाद के नाम से प्रसिद्ध है। पृथ्वी आदि उपादानकारणों के समूहमात्र को सृष्टि (कार्योत्पत्ति) वतलाने वाले बौद्ध सङ्घातवादी कहे जाते हैं। जगत् को ब्रह्म की अवास्तविक छाया वतलाने वाले अद्वैतवेदान्ती विवर्तवादी कहे जाते हैं। सांसारिक प्रपंच को व्यक्ति की अविद्या के कारण तात्कालिक तथा तद्रूप बतलाने वाले वेदान्तैकदेशी दृष्टिसृष्टिवादी कहे जाते हैं। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के आचार्य अभिनवगुप्त के सम्प्रदाय में सृष्टिविचार प्रतिविम्बवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इनके मत में जगत् का मूल कारण ब्रह्म है; किन्तु न तो वह ब्रह्म का परिणाम अथवा विवर्त है और न ही ब्रह्म ने जगत् का आरम्भ किया है। अपितु जैसे दर्पण में बहिर्भूत पदार्थों का प्रतिविम्ब दिखलाई पड़ता है, वैसे ही ब्रह्म में अन्तर्भूत जगत् का प्रतिबिम्व दिखलाई पड़ता है। जगत् को प्रकृति का यथार्थ परिणाम (कार्य) बतलाने वाले सांख्य-योगाचार्य परिणामवादी कहे जाते हैं। परिणामवाद सांख्य-योगदर्शन का एक मुख्य सिद्धान्त है।

परिणामवाद के अनुसार प्रकृति का साक्षात् परिणाम (कार्य) महत्, महत् का परिणाम अहङ्कार, अहङ्कार का परिणाम एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्राएँ; एवं पञ्चतन्मात्राओं का परिणाम पञ्चमहाभूत हैं। सांख्य-योगदर्शन की विकास-परम्परा[1] में मुख्यतया इतने ही तत्त्वों की गणना हुई है। ये तत्त्व कुल चौबीस हैं। लेकिन सांख्य-योगाभिमत परिणामवाद चौबीस तत्त्वों के विकास (परिणाम) पर्यन्त ही सीमित नहीं है; अपितु परिणामशील पञ्चतन्मात्राओं का परिणामभूत (कार्यभूत) पञ्चमहाभूत भी परिणामी हैं। क्योंकि ये गो, घट आदि अनन्त रूपों में परिणत होते हैं। लेकिन सांख्य-योगशास्त्र में चौबीस तत्त्वों तक कार्यकारण की जो पारिणामिक परम्परा कही गई है, वह पञ्चमहाभूतों से आगे होने वाली विकास परम्परा से भिन्न है। क्योंकि पञ्चमहाभूत (तथा एकादश इन्द्रियाँ) तत्त्वान्तर

---

[1] प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥—सां० का० २२।

के उपादानकारण नहीं हैं;[१] लेकिन प्रकृति आदि महदादि तत्त्वान्तरों के उपादानकारण हैं। यही कारण है कि पार्थिव मृत्पिण्ड का घटाकारपरिणाम अथवा दूध का दध्याकारपरिणाम होने के पश्चात् मृत्पिण्डादि घटादि में अनुस्यूत रहकर ही अनुमित होते हैं; उनका अपना स्वतन्त्र आकार नहीं रहता। अर्थात् मृत्पिण्ड एवं घट, दूध एवं दही पृथक्-पृथक् प्रतीत नहीं होते हैं। दूसरी तरफ अहङ्कारादि की उत्पत्ति के बाद महदादि अपने कार्यों में अनुस्यूत रहकर भी अपने स्वरूप की हानि नहीं करते। अर्थात् कार्यकारण-रूप से दोनों पदार्थों की पृथक्-पृथक् सत्ता रहती है। अतः महदादि का अहङ्कारादि परिणाम मृत्पिण्डादि के घटादि परिणाम से भिन्न है।

तत्त्वान्तर को उत्पन्न करने वाले परिणाम से भिन्न एक अन्य प्रकार का परिणाम भी महदादि पदार्थों में उपलब्ध होता है, जो वृत्ति नाम से योग में प्रसिद्ध है। जैसे बुद्धि का अध्यवसायात्मक परिणाम[२] (वृत्ति), अहङ्कार का अभिमानात्मक परिणाम[३] (वृत्ति), मनस् का संकल्प-विकल्पात्मक परिणाम[४] (वृत्ति) तथा इन्द्रियों का आलोचनात्मक परिणाम[५] (वृत्ति)।

उपर्युक्त दो प्रकार के परिणामों से अतिरिक्त परिणाम का तृतीय रूप भी है, जो पदार्थाभिव्यक्ति एवं ज्ञानाभिव्यक्ति का हेतु नहीं है और जो महदादि सभी पदार्थों में न पाया जाकर एकमात्र मूलकारण प्रकृति में ही पाया जाता है और महाप्रलय के समय ही उपलब्ध होता है। उस परिणाम का नाम है—सरूपपरिणाम। सरूपपरिणाम के समय प्रकृति के सत्त्वादि गुण अपने-अपने रूप में परिणत होते हैं। अर्थात् सत्त्वगुण सत्त्वगुण के रूप में, रजोगुण रजोगुण के रूप में एवं तमोगुण तमोगुण के रूप में परिणत होते हैं। पुरुष के साथ पुरुषार्थनिमित्तक संयोग होने से पूर्व तक प्रकृति का सरूपपरिणाम ही चलता रहता है। प्रकृति तथा पुरुष के संयोग के क्षण से साम्यावस्थाक गुणों में संक्षोभ (जिसका अपर पर्याय विरूपपरिणाम है) होने लगता है। तब प्रत्येक गुण अन्य दो गुणों का विमर्दन करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार विमर्द्यविमर्दकभावापन्न त्रिगुण प्रकृति का सृष्ट्यात्मकपरिणाम प्रारम्भ होता है।

सांख्य तथा योग में परिणामवाद की उपर्युक्त विधाओं—सरूपात्मक, सृष्टयात्मक (विरूपात्मक) तथा वृत्त्यात्मक—का स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। लेकिन योगाङ्गों के अभ्यास द्वारा योग की अवस्थाओं के विजित साधक के कौन-कौन से चित्त-धर्म अपेक्षित कालपर्यन्त अपना-अपना विशिष्टरूप धारण किए रहते हैं—इसका योग में ही वर्णन उपलब्ध है।

---

[१] यद्यपि च पृथिव्यादीनां गोघटवृक्षादयो विकाराः, एवं तद्विकारभेदानां पयोबीजादीनां दध्यङ्कुरादयः, तथापि गवादयो बीजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम्—सां० त० कौ० पृ० ३७। यहाँ की 'तत्त्व-प्रकाशिका' व्याख्या द्रष्टव्य

[२] अध्यवसायो बुद्धिः ...—सां० का० २३। " " "

[३] अभिमानोऽहङ्कारः...—सां० का० २४। " " "

[४] उभयात्मकमत्र मनः...—सां० का० २७। " " "

[५] रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः—सां० का० २८।

महर्षि पतञ्जलि ने समाधिविशिष्ट चित्त-धर्मों के परिणामों का मुख्यतया तीन प्रकार से विभाजन किया है—निरोध-परिणाम, समाधि-परिणाम एवं एकाग्रता-परिणाम। लेकिन उपर्युक्त तीन प्रकार के परिणामों का व्याख्यान करने से पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है कि चित्त के ये तीन प्रकार के परिणाम योग की कौन-कौन सी अवस्थाओं के हैं। क्योंकि इस सम्बन्ध में योग के व्याख्याकारों में दो प्रकार की विरोधी विचार-धाराएँ उपलब्ध होती हैं। इस कारण निरोधादि परिणामों के स्वरूप में भी अंशतः मतभेद दिखलाई पड़ता है।

निरोधादि परिणाम के परिणमनकाल के सम्बन्ध में आचार्य **वाचस्पति मिश्र, रामानन्दयति, नारायणतीर्थ, सदाशिवेन्द्रसरस्वती, हरिहरानन्द आरण्यक** तथा **बलदेव मिश्र** आदि आचार्यों का एक मत है। **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश, योगसिद्धान्तचन्द्रिकाकार** एवं **नागेश भट्ट** का दूसरा मत है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में **भोजदेव** तथा **अनन्तदेव पण्डित** की व्याख्याएँ[1] अस्पष्ट हैं। अतः वे किस मत के समर्थक थे, विचारणीय है।

प्रथम मत[2]—**वाचस्पति मिश्र** आदि आचार्यों के अनुसार चित्त की निरुद्ध-अवस्था

---

[1] (क) व्युत्थानं क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्ताख्यं भूमित्रयं, निरोधः प्रकृष्टसत्त्वस्य अङ्गितया चेतसः परिणामः—रा० मा० पृ० ४१।

(ख) व्युत्थानं…एकाग्रतापरिणाम इत्युच्यते—प० चं० पृ० ३३-३४।

[2] (क) अ—असम्प्रज्ञातं समाधिमपेक्ष्य सम्प्रज्ञातो व्युत्थानम्, निरुध्यतेऽनेन निरोधः= ज्ञानप्रसादः परवैराग्यम्…—त० वै० पृ० २९०।

आ—सम्प्रज्ञातसमाधिपरिणामावस्थां चित्तस्य दर्शयति—त० वै० पृ० २९१।

इ—ततः पुनः समाधेः पूर्वापरीभूताया अवस्थाया निष्पत्तौ…—त० वै० पृ० २९२।

(ख) अ—परवैराग्यरूपवृत्त्या संप्रज्ञातवृत्तेस्तत्संस्कारस्य चाभिभवे सति परवैराग्यसंस्कार एवाभिव्यक्तः सन्निर्बीजनिरोधपरिणाम—म० प्र० पृ० ५३।

आ—एवं निर्बीजावस्थामुक्त्वा संप्रज्ञातपरिणाममाह—म० प्र० पृ० ५३।

(ग) अ—तत्र यदा व्युत्थानाऽभिभवो निरोधप्रादुर्भावश्च भवति तदा निरोधसंस्कारस्यासंप्रज्ञातस्य क्षणेनावसरेण युक्तं चित्तं भवति—सू० बो० पृ० ३६।

आ—एवं निर्बीजावस्थामुक्त्वा संप्रज्ञातपरिणाममाह—सू० बो० पृ० ३६।

(घ) अ—सोऽयमीदृशश्चित्तस्य निरोधपरिणामो निर्बीजः समाधिर्भवति—यो० सु० पृ० ५९।

आ—इत्थं निरोधपरिणामरूपं निर्बीजसमाधिमभिधाय संप्रज्ञातसमाधिपरिणाममभिधातुमाह—यो० सु० पृ० ६०।

(ङ) अ—निरोधचित्तम्=प्रत्ययशून्यं चित्तम्—भा० पृ० २८९।

आ—सर्वार्थताहीनसमाधिस्वभावेन समाधिप्रज्ञया च चित्तस्याभिसंस्कारः सम्प्रज्ञाताख्यः समाधिपरिणामः—भा० पृ० २९२।

इ—ततः=तदा समाधिकाले पुनरन्यो यः परिणामस्तल्लक्षणमाह—भा० पृ० २९२।

(च) चित्तस्य संप्रज्ञातसमाधिपरिणामावस्थां दर्शयति—यो० प्र० पृ० ५८।

अर्थात् असम्प्रज्ञात दशा में निरोधपरिणाम, प्रारम्भिक एकाग्र-अवस्था अर्थात् सम्प्रज्ञातयोग की अभ्यासदशा में समाधिपरिणाम तथा सुदृढ़ एकाग्र-अवस्था अर्थात् विजित सम्प्रज्ञातदशा में एकाग्रतापरिणाम होता है। अर्थात् इनके मत में सम्प्रज्ञातसमाधि की प्रारम्भिक अवस्था में चित्त का समाधिपरिणाम, सम्प्रज्ञातसमाधि की सुदृढ़ अवस्था में चित्त का एकाग्रता-परिणाम तथा सम्प्रज्ञातसमाधि की अग्रिम अवस्था असम्प्रज्ञातसमाधि में चित्तका निरोध-परिणाम' होते हैं।

दूसरा मत[१]—योग के साधनभूत अष्टांगों में समाधि अष्टम है। समाधि का साक्षात् फल है—योग। यह समाधि चित्त का एकाग्रता-विशेष है। प्रारम्भ में तत्त्ववस्तु के प्रति चित्त का केन्द्रीकरण विक्षेप-कण्टकित होता रहता है। चित्त की इस प्रक्रिया का नाम है—समाधि-परिणाम। उक्त विक्षेप-शून्य तत्त्व-विशेष के प्रति एकान्त केन्द्रीकरण होना ही चित्त का एकाग्रता-परिणाम है। उक्त समाधि-परिणाम तथा एकाग्रता-परिणाम चिन्तनात्मक होने से परोक्षवृत्ति हैं। एकाग्रता-परिणाम का फल है—योग। योग वृत्ति-निरोधात्मक है। सम्प्रज्ञात-योग में क्लिष्ट-वृत्तियों का निरोध होने पर भी तत्त्व-साक्षात्कारात्मक अपरोक्षवृत्ति रहती है। असम्प्रज्ञात-योग में सर्ववृत्तियों का निरोध होता है। कहा जा सकता है कि सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात उभययोग-साधारण क्लिष्ट-वृत्तियों के निरोधात्मक चित्त का निरोध-परिणाम होता है। इस प्रकार योग-साधन समाधि के समाधि-परिणाम एवं एकाग्रता-परिणाम तथा योग का निरोध-परिणाम होता है।

मूल्यांकन—उपर्युक्त दोनों पक्षों में से आचार्य **वाचस्पति, रामानन्दयति** आदि का पक्ष योगसूत्र एवं व्यासभाष्य के अनुरूप होने से युक्तियुक्त प्रतीत होता है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** आदि ने परिणाम से संबन्धित सूत्र एवं उसके भाष्य में स्पष्टतया कथित प्रस्तुत सन्दर्भीय

---

१ (क) अ—निरोधरूपयोगद्वयकार्यः परिणामो व्याख्यातः। इदानीं तद्विलक्षणं योगाङ्ग-समाधिकार्यं परिणामं दर्शयति—यो० वा० पृ० २९१।

आ—अनेन पूर्वसूत्रोक्तचित्ताद्व्यवच्छेदः कृतः, तत्र समाधीयमानचित्तस्यैव परिणामस्योक्तत्वादिति च पुनस्तथैवेत्यनेन धारावाहिक एकाग्रतासन्तान उक्तः—यो० वा० पृ० २९३।

(ख) अ—तत्रादावङ्गसमाध्यवस्थातोऽङ्गियोगयोरवस्थायां विशेषमाह—भा० ग० वृ० पृ० ६२।

आ—अङ्गसमाधेरवस्थायां विशेषमाह—भा० ग० वृ० पृ० ६३।

(ग) तदेवं योगतदङ्गतयोः परिणामवैलक्षण्यं तयोर्विवेकाय प्रदर्शितम्—यो० सि० चं० पृ० १११।

(घ) अथाङ्गसमाधिकालिकचित्तपरिणामापेक्षया योगद्वयकालिकनिरोधावस्थ-चित्तक्षणेषु गुणानां वृत्तस्य व्यापारस्याप्यस्थिरत्वात्त्रिगुणात्मकस्य चित्तस्य परिणामावश्यकत्वेन जायमानः परिणामः कीदृश तत्राह—ना० बृ० वृ० पृ० ३२०।

(ङ) इदानीं निरोधरूपयोगद्वयपरिणामापेक्षया विलक्षणं योगाङ्गसमाधिकार्यं परि-णाममाह—ना० बृ० वृ० पृ० ३२१।

विचारों का अतिक्रमण करके जिन तर्कों से नवीन मत की उद्भावना की है, वह निम्नलिखित कारणों से उचित नहीं प्रतीत होती है :—

१—आचार्य **विज्ञानभिक्षु** आदि ने—**व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः**[1]—इस सूत्र को सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञातयोगकाल के चित्त के निरोध-परिणाम का प्रतिपादक कहा है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि चित्त की पंचम निरुद्धभूमि ही ऐसी है, जिसमें चित्त का वृत्त्यात्मक परिणाम सम्पूर्णतः समाप्त होकर केवल वृत्तिजन्य संस्कारों के परिणाम होता रहता है। सम्प्रज्ञातयोग में चित्त क्लिष्टाक्लिष्ट उभयवृत्तिशून्य नहीं रहता क्योंकि उस समय चित्त का ध्येयाकार परिणाम होता रहता है। अतः जब सम्प्रज्ञातयोग असम्प्रज्ञातयोग के सदृश चित्त की वृत्तिशून्य संस्कारधर्मशेष-अवस्था ही नहीं है, तब भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले दो प्रकार के योगों में चित्त का एक ही प्रकार का निरोध-परिणाम मानना कैसे युक्तियुक्त होगा ?

२—सूत्र में आए 'संस्कार' पद से ऐसा प्रतीत होता है कि चित्त के भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले संस्कारों का ही द्वन्द्वयुद्ध (परिणाम) प्रदर्शित करना सूत्रकार को अभिप्रेत है। निरोधसंस्कारविशिष्ट चित्त के असम्प्रज्ञात-अवस्था प्राप्त करने पर ही हो सकता है, सम्प्रज्ञात-अवस्था प्राप्त होने पर नहीं। क्योंकि सम्प्रज्ञात-समाधि में चित्त का प्रत्ययात्मक-परिणाम होता ही रहता है।

३—व्युत्थान-संस्कारों और निरोध-संस्कारों के पारस्परिक युद्ध में व्युत्थान-संस्कारों की पराजय (अभिभव) एवं निरोध-संस्कारों की विजय (प्रादुर्भाव) दिखलाकर सूत्रकार ने चित्त धर्मी की प्रशान्तवाहिनी अवस्था[2] का अग्रिम सूत्र से वर्णन किया है, उससे भी निरोध-परिणाम असम्प्रज्ञातसमाधि प्राप्त चित्त का ही प्रतीत होता है।

४—निरोध-परिणाम के सूत्र से सम्बन्धित व्यासभाष्य की उपसंहारात्मक अन्तिम पंक्ति—**तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम्**[3]—से भी निरोध-परिणाम असम्प्रज्ञातसमाधिकालिक चित्त का ही प्रतीत होता है।

५—**बालरामोदासीन** ने योगदर्शन पर लिखी अपनी टिप्पणी[4] में आचार्य **विज्ञानभिक्षु** के निरोधपरिणाम–सम्बन्धी मत का खण्डन करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किया है, उससे भी आचार्य **विज्ञानभिक्षु** आदि का पक्ष दुर्बल प्रतीत होता है। हेतु इस प्रकार है—

---

[1] यो० सू० ३।९।

[2] तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्—यो० सू० ३।१०।

[3] व्या० भा० पृ० २९०-२९१।

[4] अत्र सूत्रे निरोधपदेनासम्प्रज्ञात एव गृह्यते, न सम्प्रज्ञातोऽपि। निर्बीजसमाध्युपक्रम एव प्रश्नकरणाद्, 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' इति सूत्रात् सम्प्रज्ञाते स्फुटतरपरिणामाऽनुभवात्तत्र प्रश्नाऽनुपपत्तेश्चेत्याशयेनाह 'निरोधः ज्ञानप्रसाद' इति। एतेन निरोधश्च योगद्वयसाधारणो ग्राह्य इति भिक्षूक्तिः प्रत्युक्ता वेदितव्या—योगदर्शनम्, बालरामोदासीनकृत टिप्पणी पृ० १९९।

निरोधपरिणाम के प्रतिपादक सूत्र की अवतर्णिका में महर्षि व्यास द्वारा उठाया हुआ प्रश्न असम्प्रज्ञातकालिक वृत्तिशून्य चित्त के अपरिदृष्ट संस्कारों के परिणाम का स्वरूप जानने की इच्छा से ही हो सकता है क्योंकि इस समय चित्त के संस्कारधर्मों की क्रियाशीलता (परिणामिता) प्रत्यक्ष नहीं होती है। सम्प्रज्ञातावस्थापन्न चित्तधर्मी के परिणाम के स्वरूपज्ञान के विषय में ऐसी जिज्ञासा नहीं हो सकती है क्योंकि प्रथमपाद के **'ऋतम्भरा-तत्र प्रज्ञा'**—सूत्र के तात्कालिक चित्त में होने वाले परिणाम का स्वरूपज्ञान हो चुका रहता है। अतः आलोच्यमान सूत्र में प्रयुक्त 'निरोध' पद से असम्प्रज्ञात का ही ग्रहण होता है। अर्थात् यहाँ 'निरोध' सम्प्रज्ञात का संग्राहक नहीं है।'

६—निरोध-परिणाम से आगे के दो—समाधि-परिणाम एवं एकाग्रता-परिणाम योग के प्रथम भेद सम्प्रज्ञातसमाधि-प्राप्त किए साधक के चित्त की वृत्त्यात्मक-क्रियाशीलता (परिणामशीलता) के प्रतिपादक हैं। इनके द्वारा अङ्ग-समाधि-प्राप्त हुए चित्त का परिणाम नहीं बतलाया गया है। आचार्य **व्यासदेव** ने एकाग्रता-परिणाम का स्वरूप एवं उसके अविरल गति से घटित होने का काल समाधिभङ्ग[१] होने तक बतलाया है, वह चित्त की एकाग्रताभूमि की परिपक्व अवस्था में ही सम्भव है। अङ्गभूतसमाधि-प्राप्त चित्त में ऐसा गाम्भीर्य कहाँ? उसे तो प्रयत्नपूर्वक एकाग्र बनाना पड़ता है, वह स्वभावतः एकाग्र नहीं हुआ करता। इस प्रकार एकाग्रता-परिणाम, सम्प्रज्ञातसमाधिकालिक चित्त का होने से उसकी पूर्व अवस्था जो समाधि-परिणाम के नाम से योगसूत्र में कही गई है, वह भी सम्प्रज्ञातसमाधिकालिक चित्त की ही है।

७—यदि एकाग्रता-परिणाम को अङ्गसमाधि की परिपक्व अवस्था का माना जाए तो अङ्ग-समाधि तथा अङ्गि-समाधि में चित्त की ध्येयाकारता समान होने से अङ्गिसम्प्रज्ञात-समाधि को स्वीकार करना अनावश्यक हो जायगा। अतः अङ्ग-समाधि में चित्त की एकाग्रता इतनी सुदृढ़ नहीं रहती है कि उस समय चित्त का सदृशप्रत्ययप्रवाह दीर्घकाल तक चल सके।

८—आचार्य **वाचस्पति मिश्र** आदि की व्याख्या में अङ्ग-समाधि के परिणाम की अनुक्ति का दोष आचार्य **विज्ञानभिक्षु** आदि द्वारा दिया गया है[२], वह भी उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि आचार्य **विज्ञानभिक्षु** आदि द्वारा निर्धारित त्रिविध परिणामों का क्षेत्र स्वीकार करने पर भी स्वयं उनकी व्याख्या में चित्त की क्षिप्तादि अवस्थाओं में होने वाले परिणामों का स्वरूप न बतलाने का दोष उपस्थित हो सकता है। अतः यह मानना है कि महर्षि पतञ्जलि को ही योगशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात-

---

[१] आसमाधिभ्रंशादिति—व्या० भा० पृ० २९३।

[२] (क) व्युत्थानं निरोधश्च योगद्वयसाधारण एवात्र ग्राह्यः, केवलस्यासम्प्रज्ञातरूपस्य निरोधस्यात्र ग्रहणे सम्प्रज्ञाताख्यनिरोधस्य परिणामाकथनान्न्यूनताऽऽपत्तेः—यो० वा० पृ० २८९।

(ख) तु०—भा० ग० वृ० पृ० ६२-६३।

(ग) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३२०।

योग पर ही सभी दृष्टिकोणों से (जिसमें से एक दृष्टिकोण परिणामवाद है) विचार करना अभिप्रेत था। अन्यथा वे स्वयं चित्त की पाँचों भूमियों में होने वाले परिणाम का स्वरूप अवश्य बतलाते। अतः सम्प्रज्ञातसमाधि-प्राप्त किए चित्त में होने वाले समाधि परिणाम एवं एकाग्रता-परिणाम का स्वरूप तत्सम्बन्धित सूत्रों द्वारा बतलाया गया है। अतः आचार्य **वाचस्पति मिश्र** आदि द्वारा कथित त्रिविध परिणामों का कालनिर्धारण—सूत्र एवं भाष्यानुसारी होने से ग्राह्य है।

सूत्रकार **पतञ्जलि** ने समाधि की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में समारूढ चित्त के त्रिविध परिणामों का वर्णन जिस क्रम से किया है वह (क्रम) योग-साधनाक्रम पर आधारित नहीं है। उनका मुख्य उद्देश्य निरुद्धभूमिक चित्त के अस्फुटतम परिणाम का स्वरूप बतलाना था। क्योंकि चित्त की पञ्चम निरुद्धभूमि के विषय में—जब चित्त की सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं—संम्भावना होने लगती है कि शायद चित्त साधना द्वारा प्राप्त अपनी पाँचवी (निरुद्ध) अवस्था में निर्व्यापार (परिणामशून्य) रहता है। इस शङ्का के समाधानार्थ प्रवृत्त महर्षि **पतञ्जलि** ने समाधियुक्त चित्त के निरोध-परिणाम के साथ-साथ उसके अन्य दो परिणामों के बारे में भी प्रसङ्गतः बतलाया है। अथवा उनका लक्ष्य योग-साधनाक्रम की उपेक्षा कर सामान्यतया योगारूढ चित्त के तीन परिणाम बतलाना था। किन्तु यहाँ सोपान-आरोहण-न्याय से समाधियों के जीतने के क्रमानुसार तत्-तत् कालिक चित्त के परिणामों का क्रमशः वर्णन किया जायगा, जिससे भली-भाँति विदित हो सके कि किस प्रकार चित्तधर्मिगत परिणाम साधनाक्रम के अनुसार क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम होता चलता है।

समाधि-परिणाम

जब साधक का चित्त प्रयत्नपूर्वक क्षिप्तादि भूमियों से ऊपर उठकर एकाग्रभूमि में प्रविष्ट होता है, तब उसके चित्त का सार्वविषयाभिमुख्य-धर्म क्रमशः शिथिल होता जाता है और ऐकविषयाभिमुख्य-धर्म क्रमशः प्रबल होता जाता है।[1] इस प्रकार व्युत्थानरूप वृत्ति-धर्मों के अभिभव एवं एकविषयाकारवृत्ति-धर्मों के प्रादुर्भाव से चित्त-धर्मी का अन्वित होना चित्त का समाधिपरिणाम है।[2] सम्प्रज्ञातसमाधि प्राप्त होते ही चित्त में इस प्रकार का परिणाम होता है। इसलिए सम्प्रज्ञातसमाधि के प्रारम्भिक काल में चित्त में एकाग्रता-धर्म (वृत्ति) का ही सर्वथा एवं सर्वदा उदय एवं लय होना सम्भव नहीं है। उस समय व्युत्थान एवं एकाग्रतारूप दोनों प्रकार की वृत्तियों के उदय एवं लय का चक्र चलता है।

एकाग्रता-परिणाम

जब साधक का चित्त एकाग्रता-अवस्था को पूर्णरूप से प्राप्त कर लेता है, तब उसके चित्त की व्युत्थान-रूप-वृत्तियाँ निःशेषरूप से शान्त हो जाती हैं और चित्त की

---

[1] **सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः यो० सू० ३।११।**

[2] **सर्वार्थता=युगपदिव सर्वेन्द्रियेषु विषयग्रहणाय सञ्चरणशीलता; एकाग्रता=एक-विषयता; अनयोर्धर्मयोः क्षयोदयरूपः परिणामः समाधिपरिणामः—भा०पृ० २९२।**

केवल ध्येयाकार वृत्तियाँ उठती और लीन होती रहती हैं। अतः चित्त-धर्मी की वह अवस्था जिसमें सदृश ध्येयाकारवृत्तिरूप धर्म का ही आविर्भाव एवं तिरोभाव होता रहता है, वह परिनिष्ठित सम्प्रज्ञातसमाधिकालिक चित्त का एकाग्रता-परिणाम है।[१] चित्त का यह धारावाहिक ध्येयाकार-परिणाम योगी के समाधि से व्युत्थित होने के पूर्वकाल तक चलता रहता है।

यद्यपि दोनों प्रकार के समाधि-परिणाम एवं एकाग्रता-परिणाम चित्त-धर्मी के वृत्तिरूप धर्मों का ही उदय और लयरूप परिणाम हैं, तथापि दोनों परिणामों में यह अन्तर है कि समाधि-परिणाम के समय व्युत्थान और एकाग्रतारूप दो प्रकार की वृत्तियों का तथा एकाग्रता-परिणाम के समय केवल एकाग्रतारूप वृत्तियों का कालभेद से क्रमशः आविर्भाव एवं तिरोभाव होता रहता है।

निरोध-परिणाम

साधना-क्रम की दृष्टि से सम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध होने के पश्चात् साधक प्रयत्न-पूर्वक असम्प्रज्ञातसमाधि पर विजय प्राप्त करता है। असम्प्रज्ञातसमाधि में सम्प्रज्ञात-कालिक ध्येयाकारवृत्तिरूप परिणाम साकल्येन समाप्त हो जाता है। लेकिन चित्त-धर्मी में वृत्तिजन्य संस्कार-धर्म पड़े रहते हैं और उधर असम्प्रज्ञातसमाधि के अभ्यास की वृद्धि होने से सर्ववृत्तिनिरोधरूप संस्कार भी बढ़ते हैं। निरोध-संस्कार की दृष्टि से एकाग्रता-संस्कार भी व्युत्थानरूप माना जाता है। सूत्रकार पतञ्जलि का कहना है कि निरुद्ध-अवस्थाविशिष्ट चित्त के व्युत्थानात्मक संस्कारों का अभिभव और निरोधात्मक संस्कारों का क्रमशः प्रादुर्भाव होता है; यही निरोधक्षणान्वयी चित्त-धर्मी का निरोध-परिणाम है।[२] निरोध-परिणाम की प्रथम दो परिणामों से किसी भी अंश में समानता नहीं है। निरोध-परिणाम में चित्त का वृत्त्यात्मक परिणाम नहीं होता है अपितु निरुद्धजातीय संस्कारों की ही क्रमशः वृद्धि और क्षति होती रहती है। इस प्रकार साधना द्वारा योग की अवस्थाओं को प्राप्त करने के साथ-साथ चित्त की परिणाम-क्रिया भी किस क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम होती चलती है।

ऊपर निरोधादि भेद से तीन प्रकार का परिणाम कहा गया, वह योग की अवस्थाओं को प्राप्त चित्त का ही होता है। समाहित तथा व्युत्थित सभी व्यक्तियों के चित्त में सामान्यतया तीन प्रकार का परिणाम उपलब्ध होता है। उनके नाम हैं—धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम एवं अवस्था-परिणाम। ये मूलप्रकृति तथा तज्जात महदादि पदार्थों में भी उपलब्ध होते हैं।[३] ये तीन प्रकार के परिणाम योगशास्त्र में ही मुख्यतया विवेचित

---

१ ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः—यो० सू० ३।१२।

२ व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः यो० सू० ३।९।

३ (क) एतेऽपि परिणामाः सर्व एव यथायोग्यं प्रकृत्यादिष्वप्यवगन्तव्याः—यो० वा० पृ० २९३।

(ख) तेन प्रकृत्यादिषु तत्त्वान्तरपरिणामवदेतेऽपि बोध्याः—ना०बृ०वृ०पृ० ३२१।

हुए हैं। महर्षि पतञ्जलि ने भूत एवं इन्द्रियों को दृष्टिपथ में रखते हुए धर्मादि त्रिविध परिणामों का स्वरूप निर्धारित किया है। क्योंकि घट, पटादि स्थूल भूतों को लेते हुए उनका स्वरूपज्ञान होना सहज है।

इन त्रिविध परिणामों के सम्बन्ध में योगसूत्र एवं व्यासभाष्य के व्याख्याकारों में मत-भेद नहीं है। केवल लघुवृत्तिग्रन्थों में संक्षेप से तथा भाष्य के व्याख्याग्रन्थों में विस्तर से विवेचित हुआ है।

धर्म-परिणाम

धर्म (कार्य) के कारण धर्मी (कारण) में होने वाला रूपान्तरण (भावान्यथात्व) धर्मी का धर्म-परिणाम है।[1] सांख्ययोगशास्त्र में 'धर्म' तथा 'धर्मी' शब्द सामान्यरूप से कार्य एवं कारण अर्थ में प्रसिद्ध हैं। लेकिन यहाँ 'धर्म' शब्द से कारण का तत्त्वान्तररूप गृहीत नहीं है तथा 'धर्मी' शब्द 'तत्त्वान्तरोपादानक' नहीं है। अन्यथा 'धर्म-परिणाम' एवं 'तत्त्वान्तर-परिणाम' दोनों कारण की समान कार्यावस्था के वाचक होंगे, जो शास्त्रविरुद्ध है। अतः कारण की तत्त्वान्तरभिन्न कार्योत्पत्ति ही धर्मी का धर्म-परिणाम है। जैसे पृथ्वी आदि भूतों (धर्मियों) का गो, घट, वृक्ष आदि रूप से धर्म-परिणाम होता है।[2] इन्द्रियादि धर्मियों का घटादि पदार्थों के 'आलोचन' रूप से धर्म-परिणाम होता है।[3] निरोध-परिणाम के प्रसङ्ग में चित्त-धर्मी के व्युत्थान-संस्कारों एवं निरोध-संस्कारों का क्रमशः अभिभव और प्रादुर्भाव होना चित्त-धर्मी का धर्म-परिणाम है।[4]

धर्म में धर्मी बनने की योग्यता—पदार्थों का धर्मधर्मिभावसम्बन्ध नियत नहीं है। अर्थात् धर्म सदा धर्म ही रहे धर्मी नहीं तथा धर्मी सदा धर्मी ही रहे धर्म नहीं—इस प्रकार धर्म एवं धर्मी के रूप से पदार्थों का विभाजन नहीं किया जा सकता है। क्योंकि अपने धर्मी की दृष्टि से जो धर्म है, वही अपने धर्म की दृष्टि से धर्मी भी हुआ करता है। उदाहरणस्वरूप मृत्तिका के घटाकार-परिणाम से पूर्व होने वाले कतिपय धर्म-परिणामों के मध्य धर्मधर्मिभावसम्बन्ध परिवर्तित होता हुआ इस प्रकार द्रष्टव्य है—मृत्तिका (धर्मी) का सर्वप्रथम चूर्णाकार-परिणाम, तदनन्तर चूर्णमृत् का पिण्डाकार-परिणाम, तदनन्तर पिण्डमृत् का कपालाकार-परिणाम, तदनन्तर कपालमृत् का घटाकारपरिणाम होता है। इसी प्रकार पृथ्वी इत्यादि के गो, वृक्ष आदि कार्यों का दधि, अङ्कुर आदि रूप से परिणाम होता है। इनमें उत्तरोत्तर परिणाम की दृष्टि से पूर्व-पूर्व पदार्थ धर्मी तथा उत्तरोत्तर पदार्थ धर्म है। अतः महदादि से लेकर पञ्चमहाभूत एवं उससे आगे के पदार्थ सापेक्ष-धर्मी हैं। केवल

---

[1] अवस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मतिरोभावे धर्मान्तरप्रादुर्भावस्यैव धर्मपरिणामत्वम्—यो० वा० पृ० २९४।

[2] तत्र भूतानां पृथिव्यादीनां धर्मिणां गवादिर्घटादिर्वा धर्मपरिणामः—त० वै० पृ० २९७।

[3] एवमिन्द्रियाणामपि धर्मिणां तत्तन्नीलाद्यालोचनं धर्मपरिणामः—त० वै० पृ० २९७।

[4] व्युत्थाननिरोधयोरभिभवप्रादुर्भावावेव चित्ते धर्मिणि धर्मपरिणामः······—यो० वा० पृ० २९४।

मूलकारण प्रकृति ही निरपेक्ष-धर्मी है। प्रकृति का कारण न होने से वह किसी का धर्म (कार्य) नहीं है। प्रकृति, महत्, अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्राओं में तत्त्वान्तरोपादानतारूप धर्मिता तथा भूतेन्द्रियों में भावान्यथात्वोपादानतारूप धर्मिता है।

धर्म-परिणाम से धर्मी का भावान्यथात्व, द्रव्यान्यथात्व नहीं[१]—सुवर्ण आदि पदार्थों का रुचक स्वस्तिक, कुण्डल आदि रूप से अनेक प्रकार का धर्म-परिणाम होता है। उससे सुवर्ण-धर्मी का स्वरूपतः नाश नहीं होता है। अर्थात् रुचकादि धर्म-परिणाम के समय सुवर्ण असुवर्ण नहीं हो जाता है।[२] यदि धर्म-परिणाम धर्मी के द्रव्यान्यथात्व का हेतु माना जाए तो सांख्य-योगसम्मत पदार्थों की परिणामशीलता का सिद्धान्त बौद्धों के क्षणिकवाद की कोटि में आने लगेगा और 'वही घट है'—इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा भी नहीं बन पायगी।[3] अतः धर्म-परिणाम से धर्मी का द्रव्यान्यथात्व न होकर भावान्यथात्व होता है। यह भावान्यथात्व सुवर्ण-धर्मी के भाजन आदि धर्मों के अभिभवपूर्वक कटकादि धर्मों का प्रादुर्भावरूप है।[४] प्रत्यभिज्ञा द्वारा कटक, कुण्डल, रुचक आदि सभी विकारों (धर्मों) में अनुगत रहने वाले सुवर्णसामान्य की सिद्धि होती है, वह अवयवी (धर्मी) रूप है।[५] अतः धर्म-परिणाम से धर्मी की आकृति में ही अन्तर आता है।

धर्म-परिणाम का सिद्धान्त धर्मियों की कूटस्थ-नित्यता का पोषक नहीं—बौद्ध दार्शनिकों का आक्षेप है[६] कि सुवर्ण-धर्मी नष्ट होकर रुचक कुण्डल आदि रूप से उत्पन्न होता है। सुवर्ण

---

[१] तत्र तेषु परिणामेषु मध्ये धर्मिणि सत एव धर्मस्यातीताद्यवस्थासु धर्मिणो भावान्यथात्वं धर्मान्यथात्वमेव भवति न द्रव्यान्यथात्वम् यो० वा० पृ० २९८।

[२] (क) सुवर्णादिर्यथा भाजनस्य रुचकस्वस्तिकव्यपदेशो भवति, तन्मात्रमन्यथा भवति, न तु द्रव्यं सुवर्णमसुवर्णतामुपैति अत्यन्तभेदाभावात्—त० वै० पृ० २९८।

(ख) धर्मिणस्त्रिविधेऽपि परिणामे संस्थानान्यथात्वमेव न द्रव्यान्यथात्वं सुवर्णकटकादिवत् धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेदोऽत्यन्ताभेदश्च नेति तात्पर्यम्—ना० ल० वृ० पृ० ६४।

[३] (क) स्वरूपान्यथात्वे हि प्रतिक्षणं परिणामेन क्षणिकताऽऽपत्त्या प्रत्यभिज्ञाऽऽद्यनुपपत्तिः—यो० वा० पृ० २९८।

(ख) स्वरूपान्यथात्वे हि प्रतिक्षणं परिणामेन क्षणिकत्वापत्त्या प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः—ना० बृ० वृ० पृ० ३२२।

[४] सुवर्णस्य भावान्यथात्वं भाजनादिरूपधर्मापाये कटिकादिधर्माभिव्यक्तिः—यो० वा० पृ० २९८।

[५] (क) प्रत्यभिज्ञाबलेन च सुवर्णसामान्यस्य सर्वविकारानुगतस्य सिद्धिः तत्सामान्यं चावयविरूपो धर्मीति—यो० वा० पृ० २९८।

(ख) प्रत्यभिज्ञाबलेन…चावयविरूपो धर्मीति—ना० बृ० वृ० पृ० ३२३।

[६] (क) धर्मा एव हि रुचकादयस्तथोत्पन्नाः परमार्थसन्तो न पुनः सुवर्णं नाम किञ्चिदेकमनेकेष्वनुगतं द्रव्यमिति यदि पुनः निवर्त्तमानेष्वपि धर्मेषु द्रव्यमनुगतं भवेत्ततो न चितिशक्तिवत्परिणामेतापि तु कौटस्थ्येनैव विपरिवर्त्तेत,

नाम का अलग से कोई द्रव्य (धर्मी) नहीं है, जो एक होता हुआ भी अनेक धर्मों में अनुगत रहे। सुवर्ण-धर्मी क्षणिक होने से उत्तरान्वयी नहीं है। यदि धर्मी सर्वकाल तथा सभी अवस्थाओं में परिवर्तनशील धर्मों में अन्वित रहते हुए अन्यथात्वभाव को न प्राप्त हो तो उसे चितिशक्ति के समान कूटस्थनित्य कहना होगा। चितिशक्ति भी परिणामरूप से रहित सर्वदा कूटस्थरूप से रहती है; अर्थात् उसकी अपने स्वरूप से प्रच्युति नहीं होती है। लेकिन ऐसा सांख्ययोग के आचार्यों को मान्य न होगा। क्योंकि उनके मत में चितिशक्ति (पुरुष एवं पुरुषविशेष) को छोड़कर अन्य सभी पदार्थ परिणामशील हैं। अतः धर्मों से अतिरिक्त धर्मी द्रव्य नहीं है, जो सभी धर्मों में अनुस्यूत रहे।

उपर्युक्त आक्षेप के विरोध में **वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, नागेशभट्ट** आदि आचार्यों का कहना है कि मृत्तिकादि धर्मी एकान्तनित्य नहीं हैं। जो स्वरूपतः एवं धर्मतः नित्य है, वही एकान्तनित्य है; और इस प्रकार की एकान्तनित्यता ही कूटस्थता है।[1] चितिशक्ति को छोड़कर धर्मरूप से अनित्य मृत्तिकादि धर्मियों में यह उपलब्ध नहीं होती है। अर्थात् मृत्तिकादि तीनों लोकों के जितने भी पदार्थ हैं, सब (मृत्तिकादि) वर्तमानकालिकधर्म (घटादि) से विशिष्ट होकर जिस प्रकार की अर्थक्रिया (जलाहरणादि) करते हैं, उस प्रकार की अर्थक्रिया उनमें सर्वदा नहीं रहती है—यह प्रत्यक्षसिद्ध है। मृत्तिकाधर्मी का घट-धर्म वर्तमान अवस्था में जिस प्रकार जलाहरणादि अर्थक्रिया करता है उसी प्रकार अतीतावस्था में भी करता रहे, तो कपाल, शर्करा, चूर्ण आदि रूप वाले घट को भी अर्थक्रिया करनी चाहिए।[2] लेकिन यह प्रत्यक्षविरुद्ध है। अतः अनेक धर्म-परिणामों के

(टि०५४) परिणामात्मकरूपं परिहाय रूपान्तरेण कौटस्थ्येन परिवर्त्तनं परिवृत्तिः। यथा चितिशक्तिरन्यथाऽन्यथाभावं भजमानेष्वपि गुणेषु स्वरूपादप्रच्युता कूटस्थनित्यैवं सुवर्णाद्यपि स्याद्। न चेष्यते। तस्मान्न द्रव्यमतिरिक्तं धर्मेभ्य इति—त० वै० पृ० २९८–२९९।

(ख) तत्र धर्मपरिणामस्वीकारे बौद्धः प्रत्यवतिष्ठते⋯पूर्वतत्त्वस्य धर्मिणोऽनतिक्रमेण कूटस्थत्वापत्तेः। धर्मिणो धर्मेष्वन्वयित्वे हि पूर्वापरसकलावस्थाभेदेष्वनुगततयाऽतीताद्यवस्थायामपि सत्त्वप्रसङ्गेन धर्मी कौटस्थ्येनैव तिष्ठेत्—ना० बृ० वृ० पृ० ३२४।

[1] (क) एकान्तेन सर्वथा स्वरूपतो धर्मतश्च नित्यत्वमेव कौटस्थ्यमस्माभिरप्युपेयते। तच्च चितिशक्तेरेव, न तु धर्मरूपेणानित्यस्य धर्मिण इत्यर्थः—यो० वा० पृ० २९९।

(ख) सर्वथा स्वरूपतो धर्मतश्च नित्यत्वस्यैव कौटस्थ्येन तस्य च चितिशक्तावेव सत्त्वं न तु धर्मरूपेणानित्ये धर्मिणीत्यदोषात्। विकारव्यावृत्तं प्रकृतेर्नित्यत्वं च स्वतोऽतीतानागतावस्थाशून्यत्वम्—ना० बृ० वृ० पृ० ३२४।

[2] (क) तदेतत् त्रैलोक्यं न तु द्रव्यमात्रं व्यक्तेः—अर्थक्रियाकारिणो रूपादपैति⋯⋯ यदि हि घटो व्यक्तेर्नपेयात् कपालशर्कराचूर्णादिष्ववस्थास्वपि व्यक्तो घट इति पूर्ववदुपलभ्यर्थक्रिये कुर्यात् तस्मादनित्यं त्रैलोक्यम्—त० वै० पृ० ३००।

पश्चात् भी धर्मी की स्वरूपतः च्युति नहीं होती है; अपितु धर्मों के अभिभव, प्रादुर्भाव से उसका धर्मतः परिवर्तन होता रहता है। अतः परिवर्तनशील (जो एकान्त-नित्य भी नहीं और एकान्त-अनित्य भी नहीं) धर्मियों में कूटस्थनित्यता की आशङ्का न्यायसङ्गत नहीं है।

धर्मपरिणाम से धर्मियों की एकान्त-अनित्यता सिद्ध नहीं होती—आचार्य **वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, नागेशभट्ट** एवं **हरिहरानन्द आरण्यक** का वक्तव्य है कि मृत्तिकादि धर्मियों का जो धर्मतः नाश प्रतिपादित हुआ उससे उन्हें गगनारविन्द, शशशृङ्ग आदि की तरह एकान्त-अनित्य नहीं समझना है, क्योंकि धर्मी के धर्मों का स्वरूपतः नाश नहीं होता है। अपितु वे अपनी अतीतादि अवस्थाओं में अव्यक्तरूप से रहते हैं।[1] दूसरा हेतु यह है[2] कि अत्यन्त तुच्छ पदार्थ का किसी को प्रत्यक्ष नहीं हो सका और न उसमें किसी प्रकार की अर्थक्रिया-शक्ति ही देखी गई है। लेकिन योग द्वारा निवेदित पदार्थ समय-समय पर अर्थक्रिया करते देखे जाते हैं, इसलिए उन्हें शशशृङ्गादि की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। अतः धर्म-परिणाम के कारण धर्मी में एकान्त-अनित्यता की शंका उचित नहीं है।

लक्षण-परिणाम

योगशास्त्र में 'लक्षण' शब्द का पारिभाषिक अर्थ काल है। आचार्य **वाचस्पति मिश्र** का कहना है कि **लक्ष्यते भिद्यतेऽनेन इति लक्षणम्**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार लक्षण-परिणाम के द्वारा एक काल की वस्तु का दूसरे काल की वस्तु से भेद लक्षित होता है।[3] आचार्य **विज्ञानभिक्षु** द्वारा निर्मित लक्षण-परिणाम के निम्नाङ्कित लक्षण से आचार्य **वाचस्पति मिश्र** का उपर्युक्त कथन समर्थित होता है। लक्षण इस प्रकार है[4]—अवस्थित धर्म के अनागतादिलक्षण के परित्यागपूर्वक वर्तमानादिलक्षण की जो प्राप्ति है, उसे लक्षणपरिणाम कहते हैं। अर्थात् अनागतादिकालविशिष्ट धर्म के द्वारा अपने अनागतादिलक्षण को छोड़ते हुए वर्तमानादिलक्षण का ग्रहण किया जाना ही धर्म का लक्षण-परिणाम है।

(टि०५५) (ख) तदेतत्त्रैलोक्यं कार्यकारणात्मकं चतुर्विंशतितत्त्वरूपं यथायोगं धर्मरूपेण स्वतश्च वर्तमानावस्थारूपव्यक्तेरपैति। नैवेह किञ्चनाग्र आसीत् इत्यादिश्रुत्या यत्सावयवं तदनित्यं घटादिवदित्याद्यनुमानैश्च कपालशर्कराचूर्णाद्यवस्थायां व्यक्तो घट इत्यप्रतीतेश्चार्थक्रियाऽदर्शनाच्च—ना० बृ० वृ० पृ० ३२४।

[1] नित्यत्वप्रतिषेधादतीतमपि सूक्ष्मरूपेणास्ति नात्यन्तमुच्छिद्यते—ना० बृ० वृ० पृ० ३२४।

[2] यत् तुच्छं न तत् कदाचिदप्युपलब्ध्यर्थक्रिये करोति, यथा गगनारविन्दः करोति चैतत् त्रैलोक्यं कदाचिदप्युपलब्ध्यर्थक्रिये इति—त० वै० पृ० ३००।

[3] (क) लक्ष्यतेऽनेन लक्षणं कालभेदः तेन हि लक्षितं वस्तु वस्त्वन्तरेभ्यः कालान्तर-युक्तेभ्यो व्यवच्छिद्यते—त० वै० पृ० २९४।

(ख) लक्षणपरिणामः—लक्षणं कालः, अतीतानागतवर्तमानकालैर्लक्षित्वा यद् भेदेन मननम्—भा० पृ० २९४।

[4] लक्षणपरिणामो हि अवस्थितस्य धर्मस्यानागतादिलक्षणत्यागे वर्तमानादिलक्षण-लाभः—यो० वा० पृ० २९४।

लक्षण-परिणाम के भेद एवं उदाहरण—कालभेद से लक्षण-परिणाम तीन प्रकार का है—अनागतलक्षण-परिणाम, वर्तमानलक्षण-परिणाम तथा अतीतलक्षण-परिणाम।[1]

मृत्तिकादि धर्मी में घटादि धर्म छिपे रहते हैं। जब मृत्तिका का घटाकार-परिणाम (धर्म-परिणाम) होता है, तब घटात्मक धर्म अपनी अनागत-अवस्था को छोड़कर वर्तमान-अवस्था प्राप्त करता है। इस प्रकार अनागतलक्षण का त्याग होते हुए घट का वर्तमानलक्षण प्राप्त करना घटात्मक धर्म का लक्षण-परिणाम है। यही वर्तमान अवस्था वाला घटात्मक धर्म कुछ काल के पश्चात् अतीत-अवस्था में चला जाता है। इस प्रकार घट का वर्तमान-अवस्था से अतीत-अवस्था में चला जाना भी उसका लक्षण-परिणाम है। इसी प्रकार निरोध-परिणाम के प्रसङ्ग में चित्त-धर्मी के अनागत-अवस्था निरोधसंस्कारों का अपनी अनागत-अवस्था छोड़ते हुए वर्तमान-अवस्था प्राप्त करना लक्षण-परिणाम है। अनागत-अवस्था के परित्याग-पूर्वक निरोधात्मक संस्कार का वर्तमानलक्षण-परिणाम होते ही व्युत्थान-संस्कार वर्तमान-अवस्था (जो अनागत-अवस्था के पश्चात् आती है) को छोड़कर अतीत-अवस्था में चला जाता है। क्योंकि एक चित्त-धर्मी में परस्पर-विरोधी दो धर्म युगपत् वर्तमान-अवस्था में नहीं रह सकते। इस प्रकार निरुद्धभूमियुक्त चित्त के व्युत्थान और निरोधसंस्कारों का लक्षण-परिणाम चक्रवत् चलता है। इन्द्रियादि धर्मियों के आलोचन-धर्म में भी इसी प्रकार त्रिविध लक्षण-परिणाम उपलब्ध होता है। उपर्युक्त उदाहरणों से यह भी स्पष्ट हुआ कि धर्म-परिणाम होते ही लक्षण का लक्षणान्तर-परिणाम होता है।

धर्म-परिणाम एवं लक्षण-परिणाम में अन्तर—धर्म-परिणाम का अधिकरण धर्मी तथा लक्षण-परिणाम का अधिकरण धर्म हुआ करता है। अतः धर्मी का परिणाम धर्म के अन्यथात्व द्वारा तथा धर्म का परिणाम लक्षण के अन्यथात्व द्वारा कहा जाता है। धर्म-परिणाम का तात्पर्य कार्याभिव्यक्ति में है और लक्षण-परिणाम का तात्पर्य अभिव्यक्त कार्य के काल-परिवर्तन में है।

धर्म-परिणाम से लक्षण-परिणाम का अधिकरण भिन्न—लक्षण-परिणाम का अधिकरण धर्मी नहीं अपितु धर्म है; क्योंकि घटादि धर्म ही अनागत, वर्तमान तथा अतीतरूप तीन लक्षणों को क्रमशः प्राप्त होते हुए अन्य लक्षण वाले पदार्थों से पृथक्रूप से बोधित होते हैं। धर्मी तो सभी कालों में (प्रलय के पूर्व तक) समानरूप (अभिव्यक्तरूप) से रहता है। वह घटादि धर्म के समान अभिव्यक्त या अनभिव्यक्तरूप से परिवर्तित नहीं होता है। लक्षण-परिणाम की पहली और तीसरी अवस्था से कार्य की अव्यक्तता (अनभि-व्यक्तता) संकेतित है। अतः लक्षण-परिणाम का अधिकरण धर्मी नहीं, अपितु धर्म (कार्य) ही है।

दोनों परिणामों के अधिकरणों में साम्य—जिस प्रकार धर्म-परिणाम से धर्मी के स्वरूप की हानि नहीं होती, उसी प्रकार लक्षण-परिणाम से धर्म का नाश नहीं होता है, क्योंकि अनागत से वर्तमान और वर्तमान से अतीत-अवस्था के प्राप्त करने पर भी धर्म अपने

---

[1] धर्माणां चातीतानागतवर्तमानरूपता लक्षणपरिणामः—त० वै० पृ० २९७।

धर्मत्व का अतिक्रमण नहीं करता है। अर्थात् अनागत-धर्म ही वर्तमान एवं वर्तमान-धर्म ही अतीत हुआ करता है।[१]

त्रिविध लक्षण-परिणामों का पारस्परिक सम्बन्ध—एक लक्षण की अभिव्यक्ति के समय धर्म अपने अन्य दो अनभिव्यक्त लक्षणों से असम्बन्धित नहीं रहता है।[२] अर्थात् त्रिविध लक्षणों का धर्म के साथ सम्बन्ध बना रहता है। उदाहरणस्वरूप जलाहरण आदि अर्थक्रियाओं को करता हुआ वर्तमानलक्षण वाला घट-धर्म अपने पूर्ववर्ती अनागत तथा पश्चात्वर्ती अतीत-लक्षण से युक्त रहता है। अनागत एवं अतीत लक्षण-परिणाम की भी यही स्थिति है कि वे अपने-अपने वर्तमानकाल में अन्य दो लक्षणों से वियुक्त नहीं रहते हैं। अतः एक लक्षण के परिणामकाल में धर्म के अन्य दो लक्षणों की भी स्थिति बनी रहने से अनागतादि तीनों लक्षण नित्य हैं तथा धर्म भी तीनों कालों में रहने से नित्य है।[३]

यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि वर्तमानकाल में घट के द्वारा जलाहरण आदि अर्थक्रियाएँ होती देखी जाने से उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम माना जा सकता है, किन्तु घट अपनी वर्तमान अवस्था में अनागत एवं अतीतलक्षण से भी युक्त रहता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वर्तमानलक्षण के समान अनागत एवं अतीतलक्षण के द्वारा घट में किसी प्रकार की विशिष्टता (अर्थक्रियाकारिता) नहीं देखी जाती। अतः एक लक्षण के अभिव्यक्तिकाल में तद्भिन्न दो लक्षणों की उपलब्धि न होने से उनका अभाव ही मानना उचित है। उक्त शङ्का के समाधानार्थ आचार्यों का कहना है—यद्यपि घट के वर्तमानलक्षण के समान उसके अन्य दो लक्षणपरिणामों का सद्भाव प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध नहीं है तथापि उनकी सत्ता अनुमानगम्य है। जैसे एक स्त्री में आसक्त हुआ पुरुष अन्य स्त्रियों के प्रति विरक्त नहीं देखा जाता है। क्योंकि जिस काल में अन्य स्त्रियों के प्रति उसका राग आविर्भूत होता है, उस काल में उन स्त्रियों के प्रति उसका विराग नहीं देखा जाता है। अतः वर्तमानकालिक राग के अभिव्यक्तिकाल में अतीतकालिक तथा अनागतकालिक राग की सत्ता अनुमित होती है[४]; और उनकी सत्ता होने से तीनों लक्षणों का परस्पर सम्बन्ध भी स्पष्ट है।

---

१ (क) य एव निरोधोऽनागत आसीत् स एव सम्प्रति वर्तमानो, न तु निरोधोऽनिरोध इत्यर्थः—त० वै० पृ० २९४-२९५।
(ख) निरोधः (धर्मः) त्रिलक्षणः त्रिभिरध्वभिरतीतानागतादिकालभेदैर्युक्तः··· अनागतो निरोधरूपो धर्मो वर्तमानभूतोऽतीतो भविष्यतीति त्रिलक्षणावियुक्तः —भा० पृ० २९५।

२ (क) अत्र एकैकलक्षणाभिव्यक्तिकालेऽपि धर्मो लक्षणान्तराभ्यां सूक्ष्माभ्यां वियुक्तो न भवतीति समुदायार्थः। तथा धर्मा इव लक्षणान्यपि नित्यान्येवेति नात्यन्तासदुत्पत्तिसदत्यन्तोच्छेदयोः प्रसङ्ग इति भावः। यो० वा० पृ० ३०१।
(ख) धर्मा इव लक्षणान्यपि नित्यानीति—ना० बृ० वृ० पृ० ३२५।

३ (क) एकलक्षणाभिव्यक्तिकाले लक्षणान्तरयोरनुपलम्भादभाव एव युक्तः—यो० वा० पृ० ३०१।
(ख) नन्वेकलक्षणयोगे लक्षणान्तरे नानुभूयेते तत्कथं तद्योगः? —त०वै०पृ० ३०१।

४ पुरुषस्यैकस्यां स्त्रियां रागकालेऽन्यासु विरक्त इति व्यवहाराभावेनैकविषयरागानागतलक्षणस्यानुमानेन सिद्धेः—ना० बृ० वृ० पृ० ३२५।

इस प्रकार एक ही काल में तीनों लक्षणों के अस्तित्व का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ। उसमें कालसांकर्यदोष की कल्पना करके पूर्वपक्षी उसे लोकव्यवहार के विरुद्ध बतलाता है। पूर्वपक्षी का कहना है[1] कि–एक ही काल में यदि एक ही वस्तु के साथ अनागतादि सभी लक्षणों का सम्बन्ध स्वीकार किया जाए तो अनागतलक्षण वर्तमानलक्षण हो जायगा और इस प्रकार अनागतादि सभी अध्वाओं (कालों) में कालसांकर्यदोष भी प्रसक्त होगा। फलस्वरूप **'घटो वर्तमानः'** के व्यवहारकाल में ही **'घटो भविष्यति'** अथवा **'घटोऽतीतः'** ऐसा व्यवहार भी होने लगेगा। लेकिन यह अनुभवविरुद्ध है। इस अननुभूयमान व्यवहार की उपपत्ति के लिए यदि सिद्धान्ती की ओर से यह कहा जाए कि घटादि धर्म के वर्तमानादि लक्षणों की अनुक्रम से उत्पत्ति होती है, जिससे कालसांकर्यदोष नहीं आ पाता, तो इससे असत् की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होता है। अतः यह मानना उचित है[2] कि केवल वर्तमानलक्षण वाली वस्तुएँ हैं; पूर्व (अनागत) तथा उत्तर (अतीत) काल में उनका अभाव रहता है। व्यवहार के प्रतियोगी होने मात्र से उनमें अतीत आदि (**घटोऽतीतः**) का व्यवहार किया जाता है। इस शङ्का के समाधानार्थ योगाचार्यों का कहना है कि अर्द्धवैनाशिकों ने घटादि धर्मों की त्रिकालस्पर्शिता का खण्डन करके धर्मों का एकमात्र वर्तमान-लक्षण-परिणाम माना है। वह उचित नहीं है। वर्तमान समय में ही धर्म का धर्मत्व नहीं, अपितु अतीतादि समय में भी वह रहता है[3]। वस्तुस्थिति इस प्रकार है—घटादि[4] धर्म का वर्तमानलक्षण-परिणाम प्रत्यक्ष-गम्य है; और लक्षण के पूर्ववर्ती अनागतकाल तथा पश्चात्वर्ती अतीतकाल के साथ घटादि धर्म का सम्बन्ध अनुमानप्रमाण से सिद्ध है। क्योंकि असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का नाश नहीं होता है। अर्थात् यदि घटादि धर्म अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व मृत्तिकादि धर्मी में अनागत-अवस्था के रूप से न छिपे रहें तो उनका वर्तमानलक्षण-परिणाम कथमपि नहीं हो सकता है। उपर्युक्त आशय को उदाहरण द्वारा इस प्रकार कहा जा सकता है—क्रोध एवं राग दोनों चित्त (धर्मी) के धर्म हैं। लेकिन चित्त की दोनों प्रकार की वृत्तियाँ युगपत् नहीं होतीं, अपितु क्रोध के पश्चात् ही चित्त में राग-धर्म देखा जाता है। यदि पूर्वपक्षी के अनुसार क्रोध के समय चित्त का राग-धर्म अनागत-अवस्था में नहीं था, तो क्रोध के पश्चात् चित्त में राग-धर्म

---

[1] यदा धर्मो वर्तमानस्तदैव तदतीतोऽनागतश्च तदा त्रयोऽप्यध्वानः सङ्कीर्येरन्, अनुक्रमेण चाध्वनां भावेऽसदुत्पादप्रसङ्ग इति भावः—त० वै० पृ० ३०१।

[2] (क) अतः वर्तमानलक्षणमेव सर्वं वस्तु। पूर्वोत्तरकालयोस्तु तस्याभावमात्रम्। तत्प्रतियोगित्वादेवं चातीतत्वादिव्यवहार इति—ना० बृ० वृ० पृ० ३२५।
(ख) अतो वर्तमानमात्रलक्षणकं···अतीतत्वादिव्यवहार इति—यो०वा०पृ० ३०२।

[3] (क) यतो न वर्तमानसमयमात्रेऽस्य धर्मस्य धर्मत्वं किन्त्वतीतादिसमयेऽपीति शेषः यो० वा० पृ० ३०२।
(ख) वर्तमानसमय एव धर्मत्वमिति न युक्तम्—ना० बृ० वृ० पृ० ३२५।

[4] वर्तमानतैव हि धर्माणामनुभवसिद्धा; ततः प्राक्पश्चात्कालसम्बन्धमवगमयति; न खल्वसदुत्पद्यते, न च सद्विनश्यति—त० वै० पृ० ३०२।

की कैसे उत्पत्ति हो सकेगी और उत्पन्न न होकर वह कैसे अनुभूत हो सकेगा ?[१] अत: क्रोध की वर्तमान-अवस्था में चित्त-धर्मी का दूसरा राग-धर्म अनागतलक्षणरूप से रहता है और जब राग-धर्म अनागत-अवस्था को छोड़कर वर्तमानलक्षण-परिणाम वाला होता है, तब वर्तमानलक्षणक क्रोध का अतीतलक्षण-परिणाम प्रारम्भ होता है। इस प्रकार[२] धर्मों का अनागत, वर्तमान तथा अतीतकाल में रहना निश्चित होने से उनके लक्षणों का भी पारस्परिक सम्बन्ध स्फुट है। वैनाशिक लोगों ने ऊपर अभाव के प्रतियोगी को ध्यान में रखकर अतीतादि के व्यवहार की बातक ही है, वह युक्तियुक्त नहीं है।[३] क्योंकि घट के न रहने पर ध्वंसप्रतियोगित्वादिरूप अतीतादि का व्यवहार अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि संयोगित्वादि की तरह प्रतियोगित्व आदि भी सम्बन्धिद्वय की सत्ता के विना अनुपपन्न होती हैं;[४] और सत्-असत् का सम्बन्ध नहीं देखा जाता है।[५] अत: वर्तमानलक्षण के समान घटादि का अनागत तथा अतीत लक्षण-परिणाम भी हुआ करता है; और यह तीनों कालों में घटादि धर्म की सत्ता मानने पर ही हो सकता है। इस प्रकार **'घटोऽतीतः'**, **'घटोऽनागतः'**—रूप से भी व्यवहार उपपन्न हो जाता है।[६]

एक लक्षण-परिणाम के समय धर्म का अन्य दो लक्षणों के साथ सम्बन्ध दिखलाकर व्याख्याकारों ने पूर्वपक्षियों द्वारा त्रिविधलक्षणों में दिए गए कालसांकर्यदोष का निराकरण किया है[७]—मृत्तिका-धर्मी के घट-धर्म में अनागतादि तीनों लक्षणों की युगपत् अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती, क्योंकि प्रत्येक लक्षण की अभिव्यक्ति का साधन (अभिव्यञ्जक) भिन्न-भिन्न होता है। अत: जिस काल में जिस लक्षण की अभिव्यक्ति का साधन उपस्थित होता है, उस काल में वही लक्षण-परिणाम अपने धर्म के साथ अभिव्यक्त होता है। जैसे मृत्पिण्ड में रहने वाली घट की अनागत-अवस्था जब अपनी अभिव्यक्ति के साधन दण्ड, चक्र आदि को

---

१ **क्रोधोत्तरकालं हि चित्तं रागधर्मकमनुभूयते; यदा च रागः क्रोधसमयेऽनागतत्वेन नासीत्तत्कथमसावुत्पद्येतानुत्पन्नश्च कथमनुभूयेतेति —त० वै० पृ० ३०२।**

२ **एवं चातीतादिकालेऽपि रागादेश्चित्तादिधर्मत्वाद्धर्माणां त्रिलक्षणत्वं सिद्धम्—ना० बृ० वृ० पृ० ३२५।**

३ **(क) यच्चाभावप्रतियोगितामात्रेणेत्यादि तदपि न—ना० बृ० वृ० पृ० ३२५।**
(ख) यच्च तैरुच्यतेऽभावप्रतियोगितामात्रेणातीतादिव्यवहार इति, तदपि हेयम्—यो० वा० पृ० ३०२।

४ **(क) असति घटे ध्वंसप्रतियोगित्वादिरूपस्यातीतत्वस्य वृत्त्यनुपपत्ते; संयोगित्वादिवत्प्रतियोगित्वादेरपि सम्बन्धिद्वयसत्त्वं विनाऽनुपपत्तेः—यो० वा० पृ० ३०२।**
(ख) असति घटे ··विनाऽनुपपत्तेः—ना० बृ० वृ० पृ० ३२५।

५ **सदसतोः सम्बन्धादर्शनात्—यो० वा० पृ० ३०२।**

६ **घटो वर्तमान इतिवत् घटोऽतीतो भविष्यन्निति प्रत्ययाभ्यां घटावस्थाविशेषयोरेव सिद्धेः अन्यथा भावाभावस्याप्यतिरिक्तत्वादिप्रसङ्गः—यो० वा० पृ० ३०२।**

७ **त्रयाणामनागतादिलक्षणानामेकदैकस्मिन् वस्तुनि सम्भवोऽभिव्यक्तिर्नास्ति किन्तु स्वाभिव्यञ्जकं दण्डचक्रादिवस्त्वञ्जनतुल्यं यस्य एवं भूतस्य लक्षणस्य क्रमेण भावोऽभिव्यक्तिर्भवेदिति नाभिव्यक्तौ साङ्कर्यम्—यो० वा० पृ० ३०२।**

प्राप्त करती है (क्योंकि दण्ड, चक्र आदि की सहायता से ही कुम्हार घट बनाता है), तब वह मृत्तिका-धर्मी के घटपरिणाम के साथ ही वर्तमान अवस्था प्राप्त करती है, जिससे घट दिखलाई पड़ता है; और वही वर्तमानकालीन घट जब अतीत-अवस्था के अभिव्यञ्जक दण्डप्रहार आदि साधन से भग्न हो जाता है, तब वह अतीतलक्षण-परिणाम वाला कहा जाता है। अतः अतीतादि लक्षणों की अभिव्यक्ति में सांकर्यदोष की सम्भावना नहीं की जा सकती। एक अभिव्यक्त (विशेष) लक्षण के साथ अन्य दो अनभिव्यक्त (सामान्य) लक्षणों का स्वरूपतः सम्बन्ध होने से जो सम्मिश्रण (सांकर्य) होता है, वह सत्कार्यवाद के अनुसार उचित ही है।[१] अध्वाओं का स्वरूपतः सांकर्य मानने में किसी प्रकार की बाधा भी नहीं आती है; क्योंकि विशेष का विशेष के साथ विरोध दिखलाई पड़ता है, सामान्य के साथ नहीं।[२] घट के वर्तमानकाल में उसका वर्तमानलक्षण विशेष है और अन्य दो लक्षण सामान्य हैं। अतः एक काल में तीनों लक्षण मित्रतापूर्वक रह सकते हैं। सामान्य और विशेष लक्षणों (पदार्थों) के परस्पर-अविरोध का सिद्धान्त **पञ्चशिखाचार्य** को भी मान्य है। उन्होंने सूत्र के द्वारा अपने अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट किया है[३]--बुद्धि के आठ रूप (धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य) तथा प्रमाणादि पाँच वृत्तियों की अभिव्यक्ति का एक काल होने से उनमें परस्पर विरोध हो सकता है; किन्तु विशेषरूप धर्मादिकों का सामान्यरूप अधर्मादिकों के साथ विरोध नहीं होता है। अतः किसी एक लक्षण के अभिव्यक्तिकाल में अन्य दो लक्षण उससे सुसम्बद्ध रहने पर भी उनमें काल-सांकर्यदोष नहीं आ पाता।[४]

लक्षण-परिणाम का सिद्धान्त धर्मों की कूटस्थनित्यता का पोषक नहीं—अभिव्यक्त-लक्षण अथवा अनभिव्यक्त लक्षणरूप से घटादि धर्मों का तीनों कालों में अस्तित्व रहता है। तथापि इतने मात्र से उनमें कूटस्थनित्यता नहीं आती, क्योंकि अनागतादिलक्षण वाले धर्मों का प्रतिक्षण अवस्था-परिणाम चलता रहता है।

अनागतादि लक्षण का लक्षण-परिणाम—ऊपर घटादि धर्मों का लक्षण-परिणाम विवेचित हुआ। अब यह शङ्का उद्‌बुद्ध होती है क्या अनागतादि लक्षणों का भी लक्षण-परिणाम होता है अथवा नहीं? शङ्काकार स्वयं कहता है[५] यदि अनागतादि लक्षण का

---

[१] (क) स्वरूपतस्तु साङ्कर्यमिष्यत एवेत्यर्थः—यो० वा० पृ० ३०२।
(ख) स्वरूपस्तु साङ्कर्यमस्त्येव—ना० बृ० बृ० पृ० ३२५।

[२] अव्यक्तयोर्लक्षणयोर्व्यक्तेन लक्षणेन सह नास्ति विरोधः—यो० वा० पृ० ३०३।

[३] रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुद्ध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते—पञ्चशिखाचार्य का वचन, व्या० भा० पृ० ३०३।

[४] तदेवं सर्वधर्माणां सदैव लक्षणत्रयसम्बन्धोऽस्ति; अभिव्यक्तिस्तु त्रयाणां क्रमिकीति सिद्धम्—यो० वा० पृ० ३०३।

[५] नन्वयं लक्षणपरिणामो लक्षणेऽस्ति न वा? आद्येऽनवस्थाः; अन्त्ये लक्षणपरिणामे परिणामलक्षणासम्भवः—पूर्वलक्षणातीततायां लक्षणान्तराभिव्यक्तेरेव लक्षण-परिणामत्वात्—यो० वा० पृ० ३०३।

लक्षण-परिणाम माना जाय, तो द्वितीय लक्षण का भी तृतीय लक्षण-परिणाम तथा तृतीय का चतुर्थ लक्षणपरिणाम मानना पड़ेगा और इस प्रकार लक्षण के लक्षणपरिणाम की परम्परा का अन्त (विश्रान्ति) नहीं होगा। अतः अनवस्था-दोषग्रस्त होने से यह पक्ष त्याज्य है। यदि अनवस्था दोष से बचने के लिए लक्षण का लक्षण-परिणाम न माना जाय तो लक्षण-परिणाम का लक्षण—पूर्व लक्षण के अतीत होने पर दूसरे लक्षण की अभिव्यक्ति––लक्षण-परिणांम में ही नहीं घट सकेगा। लेकिन यह योगशास्त्रियों को मान्य नहीं होगा। इस प्रकार योगाचार्यों के गले में उभयतः पाशारज्जु पतित होती है।

उपर्युक्त शङ्का के निरसनार्थ आचार्य **विज्ञानभिक्षु** प्रवृत्त हुए। उनका कहना है[1] कि लक्षण-परिणाम मानने पर जो अनवस्था-दोष आता है वह बीजाङ्कुरन्याय की तरह अपरिहार्य होने से दोष नहीं है। अतः लक्षणपरिणाम की सिद्धि के लिए लक्षण (काल) का लक्षण-परिणाम मानना उचित है। इसी कारण धर्म-परिणाम के प्रसङ्ग में भी धर्म (कार्य) का धर्म-परिणाम और उस धर्म का अग्रिम धर्म-परिणाम स्वीकार किया गया है।

अवस्था-परिणाम

लक्षण-परिणाम के समान अवस्था-परिणाम भी धर्म का ही हुआ करता है, धर्मी का नहीं। धर्म का एक अध्वा (काल) से दूसरे अध्वा में प्रस्थान, जिस लक्षण-परिणाम के द्वारा होता है, उसका सहायक अवस्था-परिणाम ही होता है। यदि अवस्था-परिणाम न होता तो किसी बाह्य निमित्त के बिना ही धर्म की जो स्वभावतः भग्नावस्था देखने में आती है, वह उपपन्न नहीं हो सकती थी।

योगशास्त्र में धर्म का अवस्था-परिणाम के कारण होने वाला अन्यथात्व भिन्न-भिन्न रूप से व्यवहृत हुआ है।[2] जैसे निरोध-परिणाम के प्रसङ्ग में चित्त के व्युत्थानसंस्कार एवं निरोधसंस्कारों का अवस्था-परिणाम––व्युत्थानसंस्कारों की दुर्बलता (न्यूनता) एवं निरोधसंस्कारों की प्रबलता (अधिकता) के रूप से जाना जाता है। वर्तमानलक्षणापन्न गवादि धर्मों में—वाल्य, कौमार, यौवन तथा वार्धक्य रूप से अवस्था-परिणाम होता है। इसी प्रकार वर्तमान-लक्षणविशिष्ट रत्नादि के आलोचन का स्फुटत्व, अस्फुटत्व आदि रूप से अवस्था-परिणाम होता है।

उपर्युक्त अवस्था-परिणाम वर्तमानलक्षणापन्न धर्मों में ही नहीं, अपितु अनागत तथा अतीत-लक्षण में भी उपलब्ध होता है। इस अंश को स्पष्ट करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** का कहना है[3] कि अतीत एवं अनागतलक्षण की भी शीघ्रभविष्यत्ता और विलम्बभविष्यत्ता आदि

---

[1] **बीजाङ्कुरवत्प्रामाणिकत्वेनास्या अनवस्थाया अदोषत्वात्; अन्यथा धर्मस्य धर्मस्तस्यापि धर्म इत्याद्यनवस्थाया अपि दोषत्वापत्त्या धर्मधर्मिभावादिरपि न सिध्येदिति—यो० वा० पृ० ३०३।**

[2] **घटादीनामपि नवपुरातनताऽवस्थापरिणामः······लक्षणस्य रत्नाद्यालोचनस्य स्फुट-त्वास्फुटत्वादिरवस्थापरिणामः—त० वै० पृ० २९७।**

[3] **शीघ्रभविष्यत्ताविलम्बभविष्यत्ताऽऽदिरूपो विशेषस्तयोरपि लक्षणयोरनुमीयते सत्त्वादिवदेव गुणत्वेन प्रतिक्षणपरिणामित्वसिद्धेः—यो० वा० पृ० २९६।**

रूप की अवस्थाएँ अनुमित होती हैं, क्योंकि सत्त्वादि की तरह काल भी गुणरूप है। अतः उसका भी लक्षण-परिणाम होना स्वाभाविक है।

जिस प्रकार पिण्ड, कपाल एवं घटरूप से मृत्तिका-धर्म का धर्म-परिणाम प्रत्यक्षयोग्य है, उसी प्रकार धर्म में प्रतिक्षण होने वाले अवस्था-परिणाम का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। वह अनुमानगम्य ही है।[१]

धर्म-परिणाम एवं लक्षण-परिणाम से अवस्था-परिणाम में अन्तर यह है कि धर्म-परिणाम एवं लक्षण-परिणाम प्रतिक्षण नहीं होते, लेकिन अवस्था-परिणाम प्रतिक्षण हुआ करता है।[२] धर्मरूप महदादि संसार का प्रतिक्षण होने वाला परिणाम स्मृतिकारों को भी मान्य है।[३] आचार्य **विज्ञानभिक्षु** का कहना है कि नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत तथा आत्यन्तिक —चार प्रकार के प्रलयों में जो नित्यप्रलय है, वह काल का प्रतिक्षण परिणाम मानने पर ही उपपन्न होता है।[४] अतः पदार्थों की प्रतिक्षण परिणामशीलता से उसका अवस्था-परिणाम स्पष्ट है।

त्रिविध परिणामों के क्रम पर विचार

ऊपर जिस क्रम से त्रिविध परिणामों का प्रतिपादन किया गया, वह सोद्देश्यक है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्योत्पत्ति से पूर्व भी कार्य (धर्म) कारण (धर्मी) में अव्यक्तरूप से विद्यमान रहता है। अतः धर्मी के धर्म-परिणाम से पूर्व भी धर्मी में अव्यक्तरूप से स्थित धर्म का लक्षण-परिणाम (अनागतलक्षण-परिणाम) एवं अवस्था-परिणाम हुआ करता है। इस प्रकार परिणाम के औत्पत्तिक-क्रम के अनुसार धर्म-परिणाम का सबसे अन्त में विवेचन किया जाना उचित प्रतीत होता है। तथापि धर्म-परिणाम के द्वारा ही धर्म का पूर्वकालिक परिणाम अनुमित हो सकता है। इसलिए व्याख्याकारों द्वारा लक्षण-परिणाम (अनागत-लक्षण-परिणाम) एवं अवस्था-परिणाम (अनागतकालिक अवस्था-परिणाम) के ज्ञापक (लिङ्ग) धर्म-परिणाम की व्याख्या सर्वप्रथम की गई है। सूत्रकार ने भी इसी कारण भूतेन्द्रियों (भूतेन्द्रियों के द्वारा महदादि सभी पदार्थों) का त्रिविध-परिणाम बतलाते हुए धर्म-परिणाम को सबसे पहले गिनाया है।[५]

जिस प्रकार धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम तथा अवस्था-परिणाम—ये तीन परिणाम माने गए हैं उसी प्रकार धर्मपरिणाम-क्रम, लक्षणपरिणाम-क्रम तथा अवस्थापरिणाम-

---

१ धर्मपरिणाम इवावस्थापरिणामे प्रतिक्षणक्रमो न प्रत्यक्षीक्रियत इति तमनुमानेन साधयति—यो० वा० पृ० ३१५।

२ विशिष्टोऽतिशयितः; धर्मलक्षणपरिणामयोः प्रतिक्षणंमनुत्पादादवस्थापरिणामस्य च प्रतिक्षणमुत्पादात्—यो० वा० पृ० ३१६।

३ नित्यदा ह्यङ्गभूतानि भवन्ति न भवन्ति च।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते॥ श्रीमद्भागवत ११।२२।४२।

४ पुराणे चात एव चतुर्विधः प्रलय उक्तः—नित्यो नैमित्तिकश्चेति प्राकृतात्यन्तिकौ तथा इति। नित्यः— प्रतिक्षणं जायमानः—यो० वा० पृ० ३१६।

५ एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः—यो० सू० ३।१३।

क्रम के भेद से क्रम भी त्रिविध है। लक्षणपरिणाम-क्रम के अनागतलक्षणपरिणाम-क्रम तथा तर्तमानलक्षणपरिणाम-क्रम दो अवान्तर भेद भी हैं। अतीतलक्षण-परिणाम में क्रम नही है।

पातञ्जल-योग के विभूति-प्रकरण में क्रम पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। तथापि यहाँ मुख्यरूप से उस कालघटित क्रम को नहीं लिया गया है। यहाँ 'क्रम'-शब्द पौर्वापयमात्र का वाचक है।[१] इससे परिणामों की पूर्व-पश्चिमता का निर्धारण किया गया है।

मृत्तिका-धर्मी के पिण्ड धर्म के नाशपूर्वक घट-धर्म की उत्पत्ति में जो पौर्वापर्यरूप क्रम है, वह धर्मपरिणाम-क्रम कहा जाता है।[२] घट-कार्य का अनागतकाल से वर्तमानकाल में जो आरोहण होता है, वह दो लक्षणों के मध्य का लक्षणपरिणाम-क्रम है।[३] इसी प्रकार घट का वर्तमानकाल से अतीतकाल में जो अवरोहण होता है, वह भी दो लक्षणों के मध्य का लक्षणपरिणाम-क्रम है। लेकिन अतीतलक्षण-परिणाम में लक्षण का लक्षणान्तर प्राप्तिरूप क्रम नहीं है।[४] क्योंकि वर्तमान-लक्षण के पश्चात् अतीतलक्षण आने से अतीतलक्षण में परता है, किन्तु अतीत के पश्चात् दूसरा लक्षण न आने से उसमें पूर्वता नहीं है।[५] किन्तु अनागतादि में दोनों धर्म (पूर्वता-परता) होने से उनका क्रम माना गया है। इस प्रकार अनागतलक्षण-परिणाम और वर्तमानलक्षण-परिणाम में ही क्रम का लक्षण क्यों घटित होता है अतीत में नहीं? अतीत का क्यों नहीं लक्षणान्तर परिणाम होता है?—इस पर विचार करना है। इस निषेधांश पर विचार करने से पूर्व विधिरूप से प्राप्त अवस्था-परिणाम-क्रम को पहले बतलाया जा रहा है—जिस प्रकार मृत्तिका-धर्मी के पिण्ड, कपाल तथा घट आदि धर्मों का क्रमशः धर्मान्तर परिणामरूप

---

१ (क) क्रमलक्षणमाह—कस्यचिद् धर्मस्य समनन्तरधर्मः···अव्यवहितपरवर्ती धर्मः पूर्वस्य क्रम इत्यर्थः—भा० पृ० ३१५।
(ख) ननु धर्माणामेव क्रमः पौर्वापर्यात्मा सम्भवति···यो० वा० पृ० ३१५।
(ग) तु०—ना० बृ० बृ० पृ० ३३०।
(घ) क्रमः=आनन्तर्यमित्यर्थः—पा० र० पृ० ३१४।

२ तथा च मृदेकैव चूर्णं भूत्वा पश्चात् पिण्डो भवतीत्येकः क्रमः; पश्चाच्च घट इत्यादिक्रमैः—यो० वा० पृ० ३१५।

३ एवं घटस्यानागतभावाद्वर्तमानभावप्राप्तिः पिण्डस्य वर्तमानभावादतीतभावप्राप्तिरिति लक्षणक्रमः—ना० बृ० वृ पृ० ३३०।

४ (क) नातीतस्यास्ति क्रम इति। लक्षणाल्लक्षणान्तरप्राप्तिरूपः क्रमो नातीतस्येत्यर्थः—यो० वा० पृ० ३१५।
(ख) लक्षणाल्लक्षणान्तरप्राप्तिरूपोऽतीतभावाद्वर्तमानतेति न क्रमः—ना० बृ० वृ० पृ० ३३०।
(ग) नातीतस्यास्ति क्रमः—व्या० भा० पृ० ३१५।

५ पूर्वपरतायां सत्यां समनन्तरत्वम्; सा तु नास्त्यतीतस्य, तस्माद् द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः—व्या० भा० पृ० ३१५।

धर्मपरिणाम-क्रम सर्वजनवेद्य है। उसी प्रकार धर्म में प्रतिक्षण होने वाले अवस्था-परिणाम का क्रम लौकिकसन्निकर्ष के गम्य नहीं है। अवस्था-परिणाम का एक अवस्था से अवस्थान्तर प्राप्ति रूप क्रम अनुमेय है। नूतन घट में बहुत काल के पश्चात् जो जीर्णता दृष्टिगोचर होती है[1] वही घट का अवस्थापरिणाम-क्रम है। घट का यह जीर्णभाव (जीर्णता) एक ही क्षण में अकस्मात् नहीं हो पाता, अपितु घटनिर्माण के अग्रिम क्षण से ही घट की पुरातनता रूप अवस्था-परिणाम प्रारम्भ हो जाता है। लेकिन प्रारम्भिक क्षणों में घट की यह जीर्णता अत्यन्त अल्प होने के कारण दिखलाई नहीं पड़ती। क्षणभेद से घट की धीरे-धीरे बढ़ती (स्थूल होती) हुई जीर्णता जब उद्भूतरूप की हो जाती है, तब जीर्णता सभी को प्रत्यक्ष होने लगती है। क्योंकि पदार्थ के प्रत्यक्ष का प्रयोजक उद्भूतरूप होता है। अन्त में एक समय ऐसा भी आता है कि हाथ का स्पर्श[2] पाते ही उसका अतीतलक्षण-परिणाम प्रारम्भ हो जाता है अर्थात् वह भग्न हो जाता है। इस प्रकार घटादि धर्मों को स्वभावतः अर्थात् दण्डप्रहार आदि बाह्यनिमित्त के बिना ही वर्तमान से अतीत-लक्षण में पहुँचाने वाले अवस्था-परिणाम का क्रम उपर्युक्त प्रकार से अनुमित होता है। इस प्रकार त्रिविधपरिणाम-क्रम का स्वरूप उद्घाटित होता है।

अतीतलक्षण-परिणाम-क्रम का निषेध—नष्ट हुए घटादि पदार्थ की पुनरुत्पत्ति न होने का सिद्धान्त नवीन नहीं है। क्योंकि दैनन्दिन जीवन में सभी को इसका अनुभव होता है तथा दार्शनिकों को भी यह सिद्धान्त मान्य है। किन्तु सत्कार्यवादी सांख्य-योगशास्त्रियों के पक्ष में यह शङ्का उत्पन्न होती है कि उनके अनुसार पदार्थ का नाश नहीं होता, अपितु कार्योत्पत्ति से पूर्व एवं कार्यनाश के पश्चात् भी वह अपने कारण में अव्यक्तरूप से विद्यमान रहता है। अतः उनके अनुसार नष्ट हुए घट की पुनरुत्पत्ति होनी चाहिए; लेकिन वे लोग ऐसा नहीं मानते हैं। पूर्वपक्षी की उपर्युक्त शङ्का का समाधान आचार्य **विज्ञानभिक्षु, वाचस्पति मिश्र** तथा **नागेश भट्ट** आदि निम्नलिखित प्रकार से करते हैं:—

यदि अतीत-धर्म की पुनः वर्तमान अवस्था मानी जाए तो मुक्तिवाद का उच्छेद हो जायगा।[3] क्योंकि अतीतावस्था को प्राप्त हुए अन्तःकरण, अविद्या तथा कर्मादि का

---

[1] (क) सा च पुराणता···परिणामोऽनुमीयते—यो० वा० पृ० ३१६।
(ख) तत्र यद्यपि प्रतिक्षणपरिणामो न प्रत्यक्षः···ना० बृ० वृ० पृ० ३३०।

[2] ······पाणिस्पर्शमात्रविशीर्य्यमाणावयवसंस्थानाः परमाणुभावमनुभवन्तो दृश्यन्ते। न चायमभिनवानामकस्मादेव प्रादुर्भवितुमर्हति। तस्मात् क्षणपरम्पराक्रमेण सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मबृहद्बृहत्तरबृहत्तमादिक्रमेण प्राप्तेषु विशिष्टोऽयं लक्ष्यते—त० वै० पृ० ३१५।

[3] (क) यद्यतीतस्य पुनर्वर्त्तमानता स्यात् तर्ह्यनिर्मोक्षः स्यात्, विनष्टान्तःकरणाविद्याकर्मादीनां पुनरुद्भवेन मुक्तस्यापि संसारोदयसम्भवात्—यो० वा० पृ० ३१०।
(ख) किञ्चैवं सत्यनिर्मोक्षापत्तिः। विनष्टान्तःकरणाविद्याकर्मादीनां पुनरुदभवेन मुक्तस्यापि संसारोदयापत्तेः—ना० बृ० वृ० पृ० ३२८।

कालान्तर में पुनरुद्भव होने से मुक्त पुरुष को पुनः संसार में आना पड़ेगा। वस्तुतः मुक्त पुरुष का संसारागमन शास्त्रकारों को मान्य नहीं है।

दूसरा हेतु यह है कि कार्योत्पत्ति के प्रति कार्य की प्रागभावस्थानीय अनागत-अवस्था भी हेतु मानी गई है लेकिन यह अतीतलक्षण-परिणाम के पश्चात् पुनः वर्तमानलक्षण-परिणाम मानने पर घटित नहीं होता है। क्योंकि उनमें कार्य-कारणभाव सम्बन्ध के नियामक पौर्यापर्य का अभाव है।[1]

सत्कार्यवाद के अनुसार पूर्व अभिव्यक्त घटादि व्यक्ति की पुनः अभिव्यक्ति स्वीकार नहीं की गई है।[2] अन्यथा द्वितीय अभिव्यक्ति की तृतीय अभिव्यक्ति और इस क्रम से अभिव्यक्ति की पुनरभिव्यक्ति मानने पर अनवस्थादोष लग जायगा।

यदि[3] अतीत (नष्ट हुए) घट की पुनः अभिव्यक्ति होती तो **'स एवायं घटः'**—इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा भी हुआ करती। लेकिन किसी को इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता है। अगर उपर्युक्त प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती भी है, तो वह नष्ट-सजातीय उत्पन्न द्वितीय घट के आधार पर होती है। उपर्युक्त हेतुओं से स्पष्ट है कि अभिव्यक्त होकर कारण में लीन हुए अर्थात् अतीत अवस्था को प्राप्त हुए घटादि व्यक्ति पुनः उत्पन्न नहीं होते। इसलिए अतीतलक्षण-परिणाम में लक्षणान्तर प्राप्तिरूप क्रम का निषेध किया गया है।

पूर्वपक्षी का कहना है कि अतीतलक्षण-परिणाम का क्रम स्वीकार करने पर अनेक प्रकार की लौकिक एवं शास्त्रीय असङ्गतियाँ ऊपर कही गईं; लेकिन अतीतलक्षण-परिणाम-क्रम का निषेध करने से प्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि न होने की समस्या उपस्थित होगी, क्योंकि प्रलय महदादि पदार्थों की अतीतावस्था है। अर्थात् उस समय सृष्टिक्रम के ठीक विपरीत क्रम से भूतादि कार्य अपने-अपने कारण में लीन होते हुए मूलकारण प्रकृति में प्रविलीन रहते हैं। लेकिन प्रलय में प्रविलीन हुई महदादि उपाधियाँ यदि कालान्तर में कारण से पृथक् होकर पुनः तत्-तत् पुरुषों से संयुक्त न मानी जाएँ, तो अ-मुक्त पुरुषों को पुनः संसार में नहीं आना पड़ेगा। वे भी मुक्त कोटि में आने लगेंगे। इससे—अविप्लुत-सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के उदय और शुभाशुभ-कर्मों का उपभोग द्वारा क्षय करके साधक मोक्ष पद पर प्रतिष्ठित होता है—ऐसा कहना अनुपपन्न हो जायगा। अतः प्रलय में अतीतावस्था को प्राप्त हुई प्रत्येक पुरुष की पृथक्-पृथक् महदादि उपाधियाँ अग्रिम सृष्टि में उसी क्रम से

---

[1] अनागतावस्थायाः प्रागभावस्थानीयाया वर्तमानावस्थायां हेतुत्वेनातीतवर्तमानतयोः कार्यकारणतानियामकपौर्वापर्यभावात्—ना० बृ० वृ० पृ० ३२७।

[2] (क) एवं च सत्कार्यवादेऽपि पूर्वाभिव्यक्तघटादिव्यक्तेर्न पुनरभिव्यक्तिरिति—ना० बृ० वृ० पृ० ३२८।

(ख) एतेन सत्कार्यवादेऽपि पूर्वाभिव्यक्तो घटादिर्न पुनरुत्पद्यत इति सिद्धान्तः स्मर्त्तव्यः—यो० वा० पृ० ३१०।

[3] (क) किञ्च यद्यतीतोऽपि घटः पुनर्वर्तमानः स्यात्तदा स एवायं घट इति कदाचित् प्रत्यभिज्ञायेत—यो० वा० पृ० ३१०।

(ख) तस्यापि······प्रत्यभिज्ञापत्तेः—ना० बृ० वृ० पृ० ३२८।

कालान्तर अनागतादि-परिणाम से युक्त होती हैं। इस प्रकार अतीतलक्षण-परिणाम में पूर्वता एवं परता रहने से उसमें भी क्रम का लक्षण घटित होता है। अतः अतीतलक्षण-परिणाम-क्रम का निषेध सङ्गत नहीं है।

उपर्युक्त आक्षेप का समाधान इस प्रकार है—अतीतावस्था के दो भेद हैं—आत्यन्तिक-अतीतावस्था एवं सामान्य-अतीतावस्था। **व्यासदेव** आदि ने पदार्थों की आत्यन्तिक-अतीतावस्था के क्रम का निषेध किया है, सामान्य-अतीतावस्था के क्रम का नहीं। अर्थात् आत्यन्तिक-अतीतावस्था (लक्षण) वाले पदार्थों का पुनरभिव्यक्तिरूप क्रम नहीं देखा जाता; लेकिन सामान्य-अतीतावस्था (लक्षण) वाले पदार्थों का अनागतादि परिणाम हुआ करता है। जैसे जीवन्मुक्त पुरुष देहत्याग के पश्चात् पुनः शरीर-ग्रहण नहीं करता। क्योंकि विदेहपुरुष की बुद्धि आदि उपाधियों (लिङ्गशरीर) का अपने उपधेय पुरुष से आत्यन्तिक वियोग हो जाता है। यही मुक्त पुरुष की उपाधियों की आत्यन्तिक अतीतावस्था है, जिसकी पुनरभिव्यक्ति नहीं होती। इसी प्रकार सांख्यशास्त्र में व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ तत्त्वों के यथार्थ अपरोक्षज्ञान के द्वारा त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक-अतीतावस्था (आत्यन्तिकनाश) का उपदेश दिया गया है। सामूहिक प्रलय अथवा वैयक्तिक प्रलय में बद्ध पुरुषों की बुद्धि, अहङ्कार आदि उपाधियाँ अपने मूलकारण प्रकृति में लीन होती हैं, यह उपाधियों की सामान्य-अतीतावस्था है। क्योंकि प्रकृति तथा पुरुष के संयोग की हेतुभूत अविद्या प्रलय के समय बद्ध पुरुषों में सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहती है। फलस्वरूप सभी बद्ध पुरुष अग्रिम सृष्टि में पुनः अपनी-अपनी उपाधियों से संयुक्त हो जाया करते हैं। अतः सामान्य-अतीतलक्षण-परिणाम वाले पदार्थों में पौर्वापर्यरूप क्रम विद्यमान है जिससे वैयक्तिक प्रलय अथवा सामूहिक प्रलय में बद्ध-पुरुषों की मोक्षावस्था नहीं बन पाती।

सामान्य-अतीतावस्था वाले पदार्थ की पुनरभिव्यक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद है। सांख्याचार्य **पञ्चाधिकरण** के मत में प्रलय के पूर्वापर में (प्रलय के पूर्व और प्रलय के पश्चात्) रहने वाला संसार एक ही है।[1] अर्थात् प्रलय में सामान्यतः अतीत अवस्था को प्राप्त हुए महदादि पदार्थ ही अग्रिम सृष्टि में पुनः अभि-व्यक्त होते हैं। आचार्य **पञ्चाधिकरण** का उपर्युक्त सिद्धान्त **भर्तृहरि**कृत वाक्यपदीय के व्याख्याकार **हेलराज** के ग्रन्थ में उल्लिखित है। पञ्चपादिका के विवरणकार **प्रकाशात्ममुनि** ने भी अपने विवरण ग्रन्थ में सांख्यदर्शन के त्रिविध-परिणामों की व्याख्या के प्रसङ्ग में **'तदेव'** पद के प्रयोग द्वारा **पञ्चाधिकरण** के ऊपर निर्दिष्ट मत का समर्थन किया है। विवरणकार **प्रकाशात्ममुनि** की पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार है—'अनागतलक्षणापन्न-कार्य अनागत-अवस्था को छोड़ता हुआ वर्तमान-लक्षण प्राप्त करता है, तदनन्तर वर्तमान को छोड़कर अतीतलक्षणापन्न होता है। तदनन्तर वही अतीत-अवस्था वाला कार्य अपनी अतीत अवस्था को छोड़ते हुए अनागतलक्षणापन्न होता है।'[2]

---

[1] **अतीतमपि केषाञ्चित् जगत् विपरिवर्तते—वा० प० ३।३।५३।**

[2] **कार्यमनागतलक्षणापन्नं तत्परित्यज्य वर्तमानलक्षणमापद्यते, पुनस्तत् परित्यज्य अतीतलक्षणापन्नं भवति, पुनस्तदेव आगामिलक्षणापन्नं भवति—पं०पा०वि०पृ० ५८।**

वाक्यपदीय के व्याख्याकार **भर्तृहरि**[1] तथा उसके भाष्यकार **हेलराज**[2] के मत में अग्रिम सृष्टि के समय अतीतावस्थ-संसार पुनः लौटकर नहीं आता। अपितु तत्सदृश दूसरा संसार आर्विभूत होता है। योगियों में अतीत पदार्थों को पुनः बुलाने की शक्ति होती है — योगियों की इस शक्ति के सम्बन्ध में आधुनिक शिक्षाशास्त्री **गोपीनाथ कविराज** के मन्तव्य — वस्तुतः योगी अतीत पदार्थों को नहीं बुलाते हैं, यदि बुलाते भी हैं तो अतीत पदार्थ के सदृश द्वितीय पदार्थ को बुलाते हैं, एकदम उसी को नहीं—से स्पष्ट है कि उनके मत में भी वही अतीत पदार्थ पुनः वर्तमान-अवस्था को प्राप्त नहीं करता; अपितु तत्सदृश पदार्थ की अभिव्यक्ति के आधार पर सामान्यतः अतीतपदार्थ में क्रम का निर्धारण किया जाता है।

इस सम्बन्ध में पातञ्जलयोग के आचार्यों का मत सांख्याचार्यों से भिन्न है। **विज्ञानभिक्षु**[2] **नागेशभट्ट**[3] आदि ने योगवार्तिक आदि में स्पष्ट रूप से कहा है कि अतीतव्यक्ति पुनः उत्पन्न न होकर कारण से व्यक्तन्तर की ही अभिव्यक्ति होती है। जैसे लोक-व्यवहार में मृत्तिका-धर्मी के घट-धर्म को अतीत-अवस्था में पहुँच जाने पर मृत्तिका से पुनः वही घट-व्यक्ति नहीं, अपितु तत्सदृश घटान्तर-व्यक्ति उत्पन्न होता देखा जाता है। लेकिन दोनों घट-व्यक्तियों में घटत्व-जाति समान होने से एकता है। अतः जात्या घटादि व्यक्तियों का एकत्व ही सामान्य-अतीतलक्षणपरिणाम-क्रम का प्रयोजक होता है। इसलिए प्रलय के पश्चात् अग्रिम सृष्टि में भी तत्सदृश संसार की अभिव्यक्ति होती है। अतः सांख्याचार्य **पञ्चाधिकरण** वाला पक्ष (अतीत पदार्थ का ही फिर से अनागतादिलक्षणपरिणाम) लोकव्यवहार के विरुद्ध होने से युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है।

अतः मुक्त पुरुष की महदादि उपाधियों एवं अविद्या आदियों की ही आत्यन्तिक-अतीतावस्था होती है। उनका तत्सदृश व्यक्त्यन्तर लक्षण-परिणाम वाला क्रम नहीं होता है। अन्य सभी सामान्य-अतीतावस्था के पदार्थों में तत्सदृश व्यक्त्यन्तर वाला लक्षण-परिणामक्रम होता है।

अतीतकालिक पदार्थ की सिद्धि—यह शङ्का होती है कि जब आत्यन्तिक तथा सामान्य-अतीतपदार्थ की पुनरभिव्यक्ति ही नहीं होती तब अतीतकालिक पदार्थ की सत्ता ही क्यों मानी जाए?[4] यही कहना उचित है कि अतीतलक्षण-परिणाम के पश्चात् पदार्थ नष्ट ही हो जाता है।

उक्त शङ्का के उत्तर में **विज्ञानभिक्षु** आदि आचार्यों का कहना है कि अतीतकालिक पदार्थ स्वरूपतः सत् है क्योंकि योगियों को उसका योगज-प्रत्यक्ष होता है। यदि अतीतकाल

---

१ (क) अतीताख्या तु या शक्तिस्तया जन्म विरुध्यते—वा० प० ३।३।५१।
(ख) तु— वा० प० ३।३।५३।

२ उपसम्पद्यमानम्=जायमानम्; तच्च व्यक्त्यन्तरम्, अतीतव्यक्तेरनुत्पादस्य वक्ष्यमाणत्वात्—यो० वा० पृ० २९५।

३ तच्च व्यक्त्न्तरमेव। अतीतव्यक्तेः पुनरनुत्पादस्य वक्ष्यमाणत्वात्—ना० बृ० वृ० पृ० ३२२।

४ नन्वेवमतीतस्य पुनरनुत्पादादतीतसत्त्वकल्पना व्यर्था—यो० वा० पृ० ३१०।

में पदार्थ की सत्ता न मानी जाए तो योगियों को उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा क्योंकि ज्ञान निर्विषयक नहीं हुआ करता है।[१] दूसरा हेतु यह है कि विषय और ज्ञान में जो विषय-विषयिभाव सम्बन्ध है वह भी असत् में सम्भव नहीं। सम्बन्ध दो सत् पदार्थों में ही देखा जाता है, सत् और असत् में नहीं।[२] प्रत्यक्ष आदि ज्ञान में संयोग आदि सम्बन्ध रखते हैं।[3] अतः जब योगियों को होने वाले अतीतपदार्थविषयक प्रत्यक्षव्यवहार[४] (अतीत लोगों को स्वदेह में देखना) का अपलाप नहीं किया जा सकता, तब सम्बन्ध की विषयनिष्ठता के लिए अतीत पदार्थों की सत्ता मानना अपरिहार्य है। तृतीय हेतु यह है कि यदि अतीतकाल में पदार्थ का स्वरूपतः नाश होता तो असत् शशशृंगादि के समान किसी को भी उसका प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो पाता। क्योंकि ब्रह्ममीमांसा-सूत्र में लिखा है कि पदार्थ का ज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) पदार्थ के अभाव होने से नहीं होता है।[५] लेकिन अतीतकालिक पदार्थ का ज्ञान योगी को होता है। अतः अतीत हुए पदार्थ की भी सत्ता मानना आवश्यक है।

सिद्धान्ती के उपर्युक्त विवरण से 'अतीतकालिक पदार्थ भी ज्ञान का विषय होता है' यह पूर्वपक्षी को मान्य हुआ। लेकिन वह (पूर्वपक्षी) ज्ञान के स्वरूप को निम्नाङ्कित प्रकार से प्रस्तावित करता है—जिस प्रकार शुक्ति में होने वाला रजतज्ञान (भ्रमज्ञान) बुद्धि का परिणामविशेष ही है, क्योंकि रजतभ्रम के स्थल में रजत् की सत्ता नहीं रहती उसी प्रकार पदार्थ की अतीतादि अवस्था में योगी को होने वाला ज्ञान (अतीतपदार्थ-विषयकज्ञान) योगज धर्मादि से जायमान बुद्धि का परिणामविशेष ही है।[६]

पूर्वपक्षी के उपर्युक्त प्रस्ताव का खण्डन करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु का कहना है कि योगी को अतीतादि स्वरूप वाली वस्तु का केवल प्रत्यक्ष नहीं, अपितु प्रत्यभिज्ञा भी हुआ करती

---

[१] (क) भविष्यदभिव्यक्तिकमनागतमनुभूताभिव्यक्तिकमतीतमनुभूयमानाभिव्यक्तिकं वर्तमानं त्रयमप्येतत्स्वरूपं, सत् यतो योगिनां प्रत्यक्षज्ञानविषयः। यदि चैतत्स्वरूपतो न स्यान्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदपत्स्यत्—ना० बृ० वृ० पृ० ३७०।

(ख) निर्विषयं ज्ञानं न भवेदिति सर्वं ज्ञानस्य विषयः स्यात्। तस्मादतीतानागतसाक्षात्कारस्यास्ति विशेषविषयः—भा० पृ० ४१२।

[२] (क) ज्ञानादेर्विषयताऽऽदिरूपोऽपि सम्बन्धोऽसति न सम्भवति, सतोरेव सम्बन्धदर्शनात्—यो० वा० पृ० ३१०।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३२८।

[३] प्रत्यक्षादिषु संयोगादिरेव प्रत्यासत्तिः—यो० वा० पृ० ३१०।

[४] लोकानतीतान्ददृशे स्वदेह इत्यादिवाक्यशतसिद्धयोगिप्रत्यक्षान्यथानुपपत्त्या तत्सिद्धेः; विषयतत्सन्निकर्षयोः प्रत्यक्षहेतुत्वात्—यो० वा० पृ० ३१०।

[५] शशशृङ्गादीनां ज्ञानादर्शनादितिभावः। तथा चोक्तं ब्रह्ममीमांसासूत्रेण 'नाभाव उपलब्धे' रिति—यो० वा० पृ० ४१२।

[६] (क) ननु शुक्तिरजतादिवत् बुद्धिपरिणामविशेष एव योगजधर्मादिजन्योऽतीतादिस्थले साक्षिज्ञानविषयोऽस्त्विति—यो० वा० पृ० ४१२।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३७०।

है ।[1] योगी द्वारा होने वाले इस प्रकार के अतीतवस्तुविषयक ज्ञान का बाध नहीं किया जा सकता है ।[2] अतः बाधक (बाधज्ञान) के न रहने पर भी यदि पूर्वपक्षी द्वारा अतीतादि वस्तु के ज्ञान को बुद्धि का परिणामविशेष मानने का आग्रह किया जाए तब तो लाघव से वर्तमानकालिक वस्तु के ज्ञान को भी बुद्धि का ही परिणामविशेष मानने की उसे (पूर्वपक्षी को) अभिरुचि होनी चाहिए ।[3] लेकिन इस प्रकार समस्त ज्ञान को असत्‌रूप मानने का दोष आयगा, जो उसे मान्य नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि ऋतम्भरा-प्रज्ञा के अधिकारी ऋषियों को भ्रमज्ञान हो ही नहीं सकता है। अतः अतीतकाल में भी पदार्थ की सत्ता सिद्ध होती है ।

पूर्वपक्षी अतीतलक्षण-वस्तु का अभाव सिद्ध करने के लिए पुनः प्रयास करता है। उसका कहना है कि अतीत पदार्थ के न होने से उसका स्मरणमात्र ही हुआ करता है[4], प्रत्यक्ष नहीं। स्मरणज्ञान के लिए पदार्थ की सत्ता होना आवश्यक नहीं है। इसका खण्डन करते हुए **आचार्य विज्ञानभिक्षु** का कहना है—योगी को ऐसे अतीत पदार्थों का भी प्रत्यक्ष होता है जिनका उसे पहले (पदार्थों की वर्तमान अवस्था के समय) प्रत्यक्ष नहीं हुआ रहता है ।[5]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि आत्यन्तिक अथवा सामान्य अतीतलक्षण-परिणाम से पदार्थ का आत्यन्तिक रूप से नाश नहीं होता, अपितु वह अपने कारण में अव्यक्तरूप से रहता है, क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार पदार्थ सत् होने से उसका नाश नहीं होता है ।

ऊपर त्रिविध परिणामों से सम्बन्धित विचार धर्म एवं धर्मी के भेदपक्ष पर आधारित है। अब धर्म-धर्मी के अभेदपक्ष के आधार पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है ।

त्रिविध परिणामों का एकीकरण

योगदार्शनिकों का कहना है कि परमार्थतः एक ही परिणाम है ।[6] वह एक परिणाम कौन सा है ?—इस सम्बन्ध में योग के व्याख्याकारों का एक मत नहीं है ।

कुछ व्याख्याकारों की दृष्टि में अवस्था-परिणाम ही वास्तविक है। धर्म-परिणाम धर्मी का एक अवस्थाविशेष ही है और लक्षण-परिणाम से भी धर्म की एक विशिष्ट अवस्था का

---

१ (क) योगिना पूर्वानुभूतातीतादेः कालान्तरेऽपि प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्—यो० वा० पृ० ४१२ ।
(ख) योगिना···प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्—ना० बृ० वृ० पृ० ३७० ।

२ न चानुपलम्भो बाधकः, योगिप्रत्यक्षसिद्धस्य सौक्ष्म्येणानुपलम्भोपपत्तेः—यो० वा० पृ० ४१२ ।

३ (क) बाधकाभावेऽपि वस्तूनां बुद्धिमात्रत्वे वर्तमानावस्थवस्तूनामपि बुद्धिमात्रताप्रसङ्गाच्च—यो० वा० पृ० ४१२ ।
(ख) वर्तमानवस्तूनामप्येवं बुद्धिमात्रताप्रसङ्गाच्च—ना० बृ० वृ० पृ० ३७० ।

४ अतीतार्थस्मरणमेवास्तु—यो० वा० पृ० ३१० ।

५ पूर्वाननुभूतस्यापि योगिना दर्शनात्—यो० वा० पृ० ३१० ।

६ परमार्थस्त्वेक एव परिणामः—व्या० भा० पृ० २९७ ।

ही बोध होता है। अवस्था-परिणाम—धर्म-परिणाम एवं लक्षण-परिणाम के द्वारा हुई धर्मों की अवस्था के अवस्थान्तर का कारण है। अतः अवस्था-परिणाम में अन्य दो परिणामों का समावेश हो जाने से धर्मी का वस्तुतः अवस्था-परिणाम ही मानना उचित है।

महर्षि **व्यासदेव** तथा उनके परवर्ती **वाचस्पति** आदि सभी व्याख्याकारों ने धर्मी का धर्मरूप एक ही परिणाम माना है और लक्षण-परिणाम एवं अवस्था-परिणाम को धर्म-परिणाम का ही अवान्तरभेद बतलाया है। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए ये लोग कहते हैं—धर्म धर्मिरूप ही है तत्त्वान्तररूप नहीं। धर्म-परिणाम के द्वारा ही धर्म धर्मी से पृथक् बोधित होता है, लक्षणादि परिणाम के द्वारा नहीं। वे तो धर्म के ही अन्यथात्व के प्रयोजक हैं। चूँकि धर्मी एक है, अतः परिणाम भी एक है और वह परिणाम धर्म-परिणाम ही है।[1]

धर्मी का लक्षण

न्यायदर्शन की वासना से धर्म-धर्मी शब्द गुण-गुणी के पर्याय प्रतीत होते हैं किन्तु यहाँ ये कार्य-कारण अर्थ में परिभाषित हैं। **धर्मोऽस्याऽस्तीति धर्मी**—इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि जिसका धर्म होता है, उसे धर्मी कहते हैं।[2] अतः धर्मी के ज्ञान के लिए धर्म का ज्ञान होना आवश्यक है। धर्मी में तीन प्रकार के धर्म हैं शान्तधर्म, उदितधर्म एवं अव्यपदेश्य-धर्म। धर्मी सर्वदा इनमें अनुस्यूत रहता है।[3] व्याख्याकारों ने 'धर्म' शब्द को शक्तिपरक माना है (यह शक्ति कार्यनिर्माणपरक होने से 'धर्म' शब्द को कार्यवाची कहना अनुचित नहीं है) यह शक्तिरूप धर्म शक्तिमान् धर्मी में तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है। इसे धर्मी से अलग नहीं किया जा सकता है। स्पष्ट शब्दों में मृत्तिका आदि द्रव्यरूप धर्मी में अव्यक्त रूप से रहने वाली जो चूर्ण, पिण्ड तथा घटादि निर्माण की योग्यतारूप शक्ति है, वही धर्म है।[4] इस सन्दर्भ में **हरिहरानन्द आरण्यक** ने धर्म का लक्षण एवं उसके भेदों को नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है। उनका कहना है[5]—जिससे पदार्थ जाना जाता है, वह

---

[1] (क) एक एव परिणामः त्रयोऽपि धर्मिपरिणाम एव यतो धर्मिस्वरूप एव धर्मोऽतो धर्मिपरिणाम एवैष लक्षणादिपरिणामो धर्मादेरित्यवान्तरमेव विभज्यते—यो० वा० पृ० २९७।

(ख) यथाऽर्थत एक एव धर्मपरिणामोऽस्त्यन्यौ काल्पनिकौ—भा० पृ० २९७।

[2] धर्मोऽस्यास्तीति धर्मी नाविज्ञाते धर्मे स शक्यो ज्ञातुम्—त० वै० पृ० ३०८।

[3] शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी—यो० सू० ३।१४।

[4] (क) धर्मिणः=द्रव्यस्य मृदादेः; शक्तिरेव=चूर्णपिण्डघटाद्युत्पत्तिशक्तिरेव धर्मः तेषां तत्राव्यक्तत्वेन भाव इति यावत्—त० वै० पृ० ३०८।

(ख) स च धर्मः शक्तिरूपः ·····—यो० वा० पृ० ३०८।

(ग) शक्तिरेव धर्मः—व्या० भा० पृ० ३०८।

[5] पदार्थनिष्ठो ज्ञातभावो धर्मः। धर्मेणैव पदार्था ज्ञायन्ते। अतो धर्माः प्रमाणादि-सर्ववृत्तिविषयाः। ते च मूलतस्त्रिविधाः—प्रकाशधर्माः, क्रियाधर्माः, स्थितिधर्माश्चेति। ते पुनस्त्रितया वास्तवाश्चारोपिताश्च। तथा वास्तववैकल्पिकाश्चेति, सर्वं एते पुनर्लक्षणभेदाच्छान्ता वा उदिता वा अव्यपदेश्या वेति विभज्यन्ते। —भा० पृ० ३०८–३०९।

उसका धर्म होता है। अतः प्रमाणादि सभी वृत्तियों के विषय धर्मरूप हैं। ये मूलतः तीन प्रकार के हैं—प्रकाश-धर्म, क्रिया-धर्म एवं स्थिति-धर्म। इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन अवान्तर भेद हैं—वास्तव-धर्म, आरोपित-धर्म तथा अवास्तव-वैकल्पिक-धर्म। ये सब स्वरूपभेद से पुनः तीन प्रकार के हैं—शान्त-धर्म, उदित-धर्म, अव्यपदेश्य-धर्म। लक्षणपरिणाम की व्याख्या के सन्दर्भ में शान्तादि त्रिविध धर्मों का स्वरूप व्याख्यात हो चुका है। सम्प्रति अव्यपदेश्यधर्म के सम्बन्ध में विचार किया जायगा, जिससे सांख्य-योगशास्त्रानुमोदित पदार्थों की सर्वशक्तिमत्ता का सिद्धान्त पुष्ट हो सके।

पदार्थों की सर्वशक्तिमत्ता[१]—सामान्यतः भविष्य में व्यापार (अर्थक्रिया) करने वाले धर्मों को अव्यपदेश्य कहा जाता है। किन्तु आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** का मत है—जो भविष्य मे व्यापार करेंगे उन्हें ही अव्यपदेश्यधर्म नहीं कहना चाहिए, क्योंकि भविष्य में व्यापार न करने पर भी अनागतलक्षण वाली वस्तुएँ योगमत में स्वीकार की गई हैं।[२] अतः ये लोग प्रकारान्तर से अव्यपदेश्यधर्म का लक्षण करते हैं—परिणामशील सभी वस्तुओं में सूक्ष्मरूप से अवस्थित शक्ति (सभी प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य) ही 'अव्यपदेश्य' शब्द से कही जाती है।[३] पदार्थों की सर्वशक्तिमत्ता का सिद्धान्त नवीन नहीं है। यह **पञ्चशिखाचार्य** आदि को भी मान्य है। उनका कहना है[४]—वृक्ष, लता आदि स्थावर वनस्पतियों के पुष्प, फल, फूल आदि में जो सुरभि, असुरभि, मृदु, कठिनत्वादि नानारूपता देखी जाती है, वह जल और पृथ्वी के परिणाम के कारण है। अतः जल और भूमि में रसादि विकार को उत्पन्न करने की विद्यमान अव्यक्त शक्तियाँ ही 'अव्यपदेश्य' शब्द से कही जाती हैं। यदि जल और भूमि में रसादि शक्तियाँ छिपीं न हों तो जल और भूमि का अनेक प्रकार का परिणाम नहीं हो सकता। क्योंकि शक्ति के बिना भी यदि कार्योत्पत्ति मानी जाए तो पदार्थों का कार्यकारणभाव सम्बन्ध निश्चित करना दुष्कर हो जायगा और असत् पदार्थ की भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी, जो सर्वथा विरुद्ध है।[५] इसी प्रकार **गच्छतीति जङ्गमः**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार मनुष्य, पशु, मृग आदि जङ्गमों में जो रसादि का

---

१ (क) सर्वं सर्वात्मकमिति—व्या० भा० पृ० ३१०।

२ (क) ये व्यापारान् करिष्यन्ति तेऽव्यपदेश्या इति वक्तुं न शक्यते, अकरिष्यमाणव्यापारकस्यापि केवलानागतलक्षणस्य वस्तुनः स्वीकारात्—यो०वा० पृ०३१०।
(ख) तु—ना० बृ० वृ० पृ० ३२८।

३ (क) सर्वत्र परिणामिन्यवस्थिताः सर्वविकारजननशक्तय एवाव्यपदेश्या इत्यर्थः—यो० वा० पृ० ३१०।
(ख) अव्यपदेश्या धर्मा असंख्याताः। तैः सर्ववस्तूनां सर्वसम्भवयोग्यता—भा० पृ० ३१०।

४ जलभूम्योः परिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टम्; तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेषु—पञ्चशिखाचार्य का वचन—व्या० भा० पृ ३१०।

५ सोऽयमनेकमात्मिकाया भूमेरनीदृशस्य वा जलस्य न परिणामो भवितुमर्हति। उपपादितं हि नासदुत्पद्यत इति—त० वै० पृ० ३११।

वैचित्र्य दिखलाई पड़ता है, वह स्थावरों के परिणाम के कारण हैं। द्राक्षा आदि उत्तम फलों के सेवन से मनुष्य को प्राप्त होने वाला विपुल सौन्दर्य फलादि स्थावरों के परिणाम-विशेष के कारण है।[१] इसी प्रकार स्थावरों में जो विश्वरूपता देखी जाती है, वह जङ्गमों के परिणाम-विशेष के कारण है। गो आदि जङ्गम के गोबर, दुग्ध आदि से धान्य, चम्पक आदि पौधों का सिञ्चन करने से उनमें विलक्षण रूप, रस आदि का प्रादुर्भाव होता है।[२] जैसे जङ्गमों के रुधिर से सिञ्चित दाडिम वृक्ष, तालफल के सदृश बड़े-बड़े आकार वाले फलों को उत्पन्न करते देखे गए हैं।[३] उपर्युक्त समस्त दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि सभी वस्तुओं में निखिल प्रकार के कार्यों के उत्पन्न करने की शक्ति है।

यदि सभी पदार्थों में सभी प्रकार की वस्तुओं के उत्पन्न करने की शक्ति न मानी जाए तो एक ही ब्रह्मा के शरीर से समस्त देव, दानव, नर, पशु आदि कैसे उत्पन्न हुए? अगस्त्य की जठराग्नि से समुद्र का शोषण कैसे हुआ? ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, पार्वती आदि के शरीरों में विश्व का दर्शन कैसे हुआ?[४] श्रुति द्वारा ब्रह्मवित् की सर्वभावरूप सिद्धि कही गई है,[५] वह कैसे उपपन्न हो सकती है? अतः श्रुतिस्मृतिशास्त्रों एवं लौकिक प्रत्यक्ष के आधार पर निश्चित है कि सभी पदार्थों में सर्वजातीय वस्तु के जनन की शक्ति विद्यमान है।

उपर्युक्त विचार साक्षात् अथवा परम्परया निखिल कार्य-कारणों के पारस्परिक अभेद के सिद्धान्त पर आधारित है। इसलिए यदि योगी आम्र-बीज से आम्ल-वृक्ष की उत्पत्ति करके दिखलाता है तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि सभी वृक्षों का कारण पञ्चमहाभूत है।

पूर्वपक्षी का आक्षेप है—प्रत्येक पदार्थ को निखिल शक्तियों से युक्त मानने पर पत्थर के टुकड़े से अङ्कुरोत्पादन तथा मनुष्य-शरीर से प्राणधारियों की उत्पत्ति होने लगेगी। अर्थात् किसी भी स्थान पर किसी भी समय किसी भी वस्तु से किसी भी कार्य की अभिव्यक्ति होने लगेगी। अतः पदार्थों की सर्वशक्तिमत्ता का सिद्धान्त दोषावह है। पदार्थों की सर्व-शक्तिमत्ता के सिद्धान्त को त्रुटिपूर्ण समझने वाले पूर्वपक्षियों को योगसूत्र के सभी व्याख्याकार समान रीति से उत्तर देते हैं—यद्यपि प्रत्येक कारण सर्व-कार्यात्मक है तथापि उसे पृथक्-पृथक् कार्य की अभिव्यक्ति के लिए उसी के अनुरूप उचित देश (भूलोक आदि), काल (कलियुग

---

१ तथा स्थावराणां जङ्गमेषु=मनुष्यपशुमृगादिषु रसादिवैचित्र्यं दृष्टम्। उपभुञ्जाना हि ते फलादीनि रूपादिभेदसम्पदमासादयन्ति—त० वै० पृ० ३११।

२ तथा स्थावराणां यद्वैश्वरूप्यं तज्जङ्गमानां परिणामनिमित्तकं दृष्टं गोमयदुग्धादि-भिर्धान्यचम्पकादीनां स्थावराणां विचित्ररूपरसदिदर्शनात्—यो० वा० पृ० ३११।

३ रुधिरावसेकात्किल दाडिमीफलानि तालफलमात्राणि भवन्ति—त० वै० पृ० ३११।

४ यदि च सर्वत्र सर्वसजातीयवस्तुजननशक्तिर्न स्वीक्रियते तदा कथमेकस्मादेव चतुर्मुखशरीरादखिलदेवदानवनरपश्वादिसमुद्भवः, कथं वाऽगस्त्यजाठराग्नेः समुद्रशोषणम्, कथं वा ब्रह्मविष्णुरुद्रपार्वतीशरीरादिषु विश्वरूपदर्शनम्?......—यो० वा० पृ० ३१२।

५ स इदं सर्वं भवति तस्मात्सर्वमभवत्—बृ० आ० उ० १।४।१०।

आदि), आकार (संयोगविशेष रूप) तथा निमित्तकारण (अधर्मादि) रूप सहकारिकारण की अपेक्षा रहती है।[1] अतः उचित देशादि कारणों के न रहने पर सर्वशक्त्यात्मक पदार्थ अपने विविधरूप का प्रदर्शन कैसे कर सकता है ? जैसे[2] कुमकुम की अभिव्यक्ति कश्मीर देश में ही होती है, पञ्चाल आदि देशों में नहीं। ग्रीष्मकाल में वर्षा न होने से धान्य की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।[3] इसी प्रकार मृगी से मानव शिशु का जन्म नहीं होता है, क्योंकि उसमें मनुष्याकार बच्चे की अभिव्यक्ति नहीं रहती[4] तथा सुखोपभोग का हेतु पुण्योदय[5] न होने से पापी व्यक्ति कभी सुखी नहीं रहता है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है—यद्यपि देश, काल, आकार तथा सहकारिकारण का अभाव होने से कोई भी वस्तु किसी भी स्थान पर किसी भी समय किसी भी कार्य को उत्पन्न नहीं कर पाती, तथापि पदार्थों की सर्वशक्तिमत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार करने में बाधा नहीं आती है।

परिणामवाद सांख्य एवं योग दोनों दर्शनों की आधार-शिला है। लेकिन धर्मादि त्रिविध परिणामों का सूक्ष्म विवेचन एकमात्र पातञ्जल-योग में ही उपलब्ध है। उपर्युक्त विवरण से सृष्टि-प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक वादों में से सत्कार्यवाद की उपादेयता एवं दोषशून्यता भी उद्घाटित होती है।

---

[1] देशकालाकारनिमित्तासंबन्धान्न खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति—व्या० भा० पृ० ३१२।

[2] यथा कुङ्कुमस्य कश्मीरः। तेषां सत्त्वेऽपि पञ्चालादिषु न समुदाचार इति न कुङ्कुमस्य पञ्चालादिष्वभिव्यक्तिः—त० वै० पृ० ३१२।

[3] एवं निदाघे न प्रावृषः समुदाचार इति न तदा शालीनाम्—त० वै० पृ० ३१२।

[4] एवं न मृगी मनुष्यं प्रसूते…—त० वै० पृ० ३१२-३१३।

[5] एवं नापुण्यवान् सुखरूपं भुङ्क्ते—त० वै० पृ० ३१३।

अध्याय—३

स्फोटवाद

अध्याय—३

स्फोटवाद

स्फोटवाद वैयाकरणों का मुख्य सिद्धान्त है और महर्षि **पतञ्जलि** इसके प्रथम आविष्कर्त्ता माने जाते हैं। तथापि व्याकरणमहाभाष्य के सिद्धान्तों पर आधारित महर्षि **पतञ्जलि** की उद्भट-मेधा ने—योगशास्त्र का अनुशासन करते हुए भी उसके तृतीय पाद के संयम (धारणा, ध्यान एवं समाधि)-जन्य सिद्धियों के प्रकरण में शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय का इतरेतर–अध्यास (कल्पित-तादात्म्य) के सन्दर्भ में—स्फोटतत्त्व की ओर संकेत किया है।[१] योगसूत्र में छिपे इस सिद्धान्त को आचार्य **व्यासदेव** प्रकाश में लाए तथा भाष्य के व्याख्याकार आचार्य **विज्ञानभिक्षु, वाचस्पति मिश्र, हरिहरानन्द आरण्यक** तथा सूत्र के व्याख्याकार **नागेशभट्ट** आदि द्वारा वह स्पष्टीकरण की प्रक्रिया द्वारा सरल बनाया गया है। इस प्रकार स्फोटवाद योगदर्शन का भी मुख्य सिद्धान्त है।

योगाभिमत स्फोटवाद के प्रतिपादन से पूर्व—उक्त वाद की उत्पत्ति क्यों हुई? कौन-कौन दार्शनिक इसके समर्थक हैं? किन्हें यह सिद्धान्त मान्य नहीं? क्यों मान्य नहीं? वे स्फोटवाद से सिद्ध होने वाले प्रयोजन को किस अन्य उपाय से सिद्ध करते हैं?—इत्यादि शङ्काओं का विवेचन आवश्यक है।

प्रथम शङ्का का समाधान—प्रत्येक प्राणी भाषा (बोली) के माध्यम से अपना अभिप्राय दूसरे को समझाता है और भाषा के द्वारा ही दूसरे का तात्पर्य समझता है। लेकिन किसी पद या वाक्य का अर्थ सभी व्यक्ति एक सा क्यों समझते हैं?—इस पर शास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार कम किया जाता है। इसका उत्तर स्थूलरूप से यह दिया जा सकता है कि सुनाई देने वाले शब्दों में किसी अर्थ-विशेष के बोधन का सामर्थ्य अवश्य रहता होगा जिससे उच्चरित पद या वाक्य के द्वारा सबको समान रूप से अर्थबोध हुआ करता है। दर्शन की पदावली में यह उत्तर इस प्रकार है—गो, घट, पट आदि जिन शब्दों का उच्चारण किया जाता है, वे वर्णरूप हैं। कई वर्णों के मिलने से पद बनता है और उससे अर्थ-ज्ञान होता है। उत्पत्ति और विनाश वर्णों का स्वभाव है। उत्पत्ति और स्थिति के पश्चात् तृतीय क्षण में उनका नाश हो जाता है। अनेक वर्णों का एक साथ उच्चारण होना सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रत्येक वर्ण का उच्चारणकाल भिन्न-भिन्न होता है। जैसे 'गो' शब्द के ग् वर्ण के उच्चारणकाल में ओ और विसर्ग की उत्पत्ति नहीं होती तथा विसर्ग के उच्चारणकाल में ग् वर्ण नहीं रहता है। अतः उत्पत्तिलयशील वर्णों का जब साहित्य ही सम्भव नहीं, तब ये भिन्न-भिन्न क्षणस्थायिवर्ण संयुक्त हुए बिना पद का निर्माण किस प्रकार कर सकते हैं, जिससे अर्थज्ञान हो सके? और प्रत्येक वर्ण में अर्थबोध की शक्ति

---

[१] **शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्**
यो० सू० ३।१७।

स्वीकार नहीं की गई है। अतः उच्चरित वर्णों से विशेष प्रक्रिया द्वारा होने वाले अर्थबोध के लिए ही स्फोटसिद्धान्त स्वीकार किया गया है। स्फोटवादी वैयाकरणों का कहना है कि वागिन्द्रिय द्वारा विशेष-क्रम से श्रोत्र-ग्राह्य घ, अ, ट, अ--रूप वर्णात्मक तथाकथित पद उत्पन्न होता है। उक्त वर्णों की उत्पत्ति-दशा में तत्-तत् वर्णग्राही एक-एक श्रावण-प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। तत्-तत् श्रावण-प्रत्यक्ष से तत्-तत् वर्णविषयक एक-एक संस्कार होता है। तत्-तत् संस्कारसहकृत अन्तिमवर्णात्मक उक्त अवर्ण का प्रत्यक्ष अखण्ड घटात्मक पद-स्फोट का व्यञ्जक होता है; एवं अभिव्यक्त पद-स्फोट से घट-पदार्थ की स्मृति होती है। इसी प्रकार वाक्यार्थबोध के लिए वाक्यस्फोट माना गया है। 'स्फोट' पद के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—**स्फुटति = व्यक्तीभवति अर्थोऽस्मादिति स्फोटः**—से भी स्फोटवाद की उपयोगिता स्पष्ट है। ध्वनियों (वर्णों) द्वारा स्फोटात्मक पद की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए वैयाकरण लोग स्फोटात्मक पद की द्वितीय व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं—**स्फुटयते = अभिव्यज्यते वर्णैरिति स्फोटः**। इन दोनों व्युत्पत्तियों के आधार पर स्फोट का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है—**'वर्णाभिव्यङ्ग्यत्वे सति अर्थप्रतीतिजनकत्वं स्फोटत्वम्'**। अर्थात् जो वर्णों से अभिव्यङ्ग्य होकर अर्थ-प्रतीति का जनक होता है उसे स्फोट कहते हैं।

द्वितीय शङ्का का समाधान—वैयाकरण एवं योगाचार्य स्फोटवाद के समर्थक हैं।

स्फोटवाद के विषय में वैयाकरणों का मत—वैयाकरणों के मत में शब्द ब्रह्मरूप है।[1] इसलिए स्फोट परमानन्दस्वरूप ब्रह्मतत्त्व का पर्याय है। वैयाकरण लोग लौकिक वर्णात्मक शब्दों के लिए 'स्फोट' शब्द का व्यवहार उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार पट आदि में चित्रित या फोटो आदि में 'यह मनुष्य है,' 'यह देवदत्त है'—इत्यादि व्यवहार लोक में प्रचलित है।

चार प्रकार के शब्द हैं[2]—परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी। उक्त चतुर्विध शब्दों में परा नाम की वाक् को आत्मस्वरूप घोषित किया गया है। यही वैयाकरणों का मुख्य सिद्धान्त है। यह परा वाक्‌रूप स्फोट अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण सर्वजनवेद्य नहीं है। यह व्यवहार से ऊपर की वस्तु है। योगी लोग ही निर्विकल्पक समाधि की अवस्था में इसका साक्षात्कार कर पाते हैं। जब परा-अवस्था से पश्यन्ती-अवस्था को वाणी प्राप्त होती है तब भी योगी के अतिरिक्त साधारणजन को वह प्रत्यक्ष नहीं हुआ करती है। परा एवं पश्यन्ती में शब्द तथा अर्थ इतने सम्मिलित रहते हैं कि उनमें यत्किञ्चित् भी पार्थक्य की प्रतीति नहीं होती है। जब मध्यमा-अवस्था को वाणी प्राप्त होती है, तब शब्द तथा

---

१ **अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।**
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ वा० प० १।१।

२ **मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः**
पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः।
वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिवोरस्य जन्तोः सुषुम्णा,
बद्धस्तस्माद् भवति पवनप्रेरितो वर्णसंज्ञः॥
परवाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥ स्फोटदर्शन पृ० २२।

अर्थ में तादात्म्य रहने पर भी सर्वसाधारण को उनका पृथक् रूप से बोध होने लगता है। किन्तु दूसरों के सुनने योग्य न होने के कारण वह सूक्ष्म कही गई है। वैसे कान बन्द कर लेने पर सूक्ष्मतर वायु के अभिघात से उत्पन्न उस सूक्ष्म शब्द को प्रत्येक व्यक्ति स्वयं सुन पाता है। वाणी की उपर्युक्त सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्म—ये तीन अवस्थाएँ 'प्रणव'-रूप हैं। इसके पश्चात् चौथी वैखरी वाणी (वर्ण) ही वक्ता के मुख से उच्चरित होकर श्रोता की श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होती है। लेकिन उपर्युक्त अनेक बाधाओं के कारण अर्थज्ञान नहीं हो पाता है। जब वैखरी के द्वारा हृदयदेश में स्थित वाणी में संक्षोभ उत्पन्न होता है तब उस (मध्यमा) में अवस्थित अर्थ-वाचक स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, फलस्वरूप अर्थबोध होता है। इस प्रकार वैखरी वाणी ही हृदयस्थ स्फोट की अभिव्यञ्जक होती है। शब्दों के संकेत का ज्ञान भी मध्यमा में ही होता है। इससे मध्यमा में ही अर्थ- बोधकता होना स्वाभाविक है। वाक्यपदीय में **भर्तृहरि** ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।[1]

तृतीय एवं चतुर्थ शङ्का का समाधान—सांख्य, मीमांसा, वेदान्त एवं न्यायदर्शन में स्फोटवाद का खण्डन उपलब्ध है। स्फोटवाद के समर्थक आशुविनाशशील वर्णों में वाचकत्व-शक्ति न मानकर स्फोटात्मक पद में वाचकत्व के निर्वाहार्थ स्फोट का सिद्धान्त मानते हैं। किन्तु सांख्य आदि दार्शनिक वर्णों में ही अर्थाभिधायक-शक्ति मानकर स्फोटवाद का विरोध करते हैं।

सांख्यशास्त्र का मत : वर्ण ही वाचक हैं—सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक महर्षि **कपिल** ने स्फोटवाद को मान्यता नहीं दी है। उनका सूत्र है—**'प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः'**।[2] अपने सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए सांख्यदार्शनिक कहते हैं[3]—स्फोटवादी योगाचार्यों का यह कहना है—जिस प्रकार कम्बु, ग्रीवा आदि अवयवों से अतिरिक्त घट आदि अवयवी स्वीकार किए जाते हैं उसी प्रकार वर्णों से अतिरिक्त कलश इत्यादि अवयविस्वरूप एक अखण्ड पद माना जाता है, जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। वही पदविशेष स्फोट है। यह युक्तियुक्त नहीं है। यदि स्फोटवादी कहे—आनुपूर्वीविशिष्ट वर्णसमुदाय से शब्दविशेष (स्फोट) अभिव्यक्त होता है—इस पर सांख्यदार्शनिकों का वक्तव्य है—तब वर्णसमुदाय से ही अर्थबोध हो जाए, व्यर्थ में अप्रामाणिक स्फोट की कल्पना क्यों की जाए? यदि पूर्वपक्षी के मतानुसार वर्णसमूह से अनभिव्यक्त (अज्ञात) रहकर भी पदस्फोट से अर्थप्रतीति हो सकती है—तो यह उनकी कोरी कल्पनामात्र है। क्योंकि अज्ञात स्फोट में अर्थप्रत्यायन शक्ति नहीं रहती है। यदि पूर्वपक्षी (स्फोटवादी) कहे—गृहीत-संकेत वाले वर्ण ही स्फोट के व्यञ्जक होते हैं—इस पर कहना है कि व्यञ्जक वर्णों को ही साक्षात् वाचक मानने में लाघव होगा। यदि पूर्वपक्षी अगृहीतसंकेत वाले वर्णों को ही

---

[1] वैखर्या हि कृतो नादः परश्रवणगोचरः।
मध्यमया कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते॥ स्फोटदर्शन पृ० २३।

[2] सां० सू० ५।५७।

[3] प्रत्येकवर्णेभ्योऽतिरिक्तं···स्फोट इत्युच्यते। स शब्दो प्रामाणिकः कुतः प्रतीत्य-प्रतीतिभ्याम्—सां० प्र० भा० पृ० २०९।

स्फोट का अभिव्यञ्जक मानने की बात करते हैं तो इससे सबको अर्थबोध होने लगेगा। अतः वर्णों में ही अर्थप्रत्यायन शक्ति विद्यमान रहने से स्फोट की कल्पना व्यर्थ है—ऐसा सांख्याचार्यों का कहना है।[१]

शब्द नित्य हैं और उनके वाचक वर्ण हैं—शावरभाष्य, श्लोकवार्त्तिक एवं शास्त्र-दीपिका आदि मीमांसा के ग्रन्थों में स्फोटवाद की आलोचना की गई है एवं वर्णवाद का समर्थन किया गया है। शब्द को नित्य मानते हुए भी उन्हें स्फोटरूप शब्द की सत्ता मान्य नहीं है। मीमांसक लोगों ने किन प्रमाणों के आधार पर वर्ण में वाचकत्वशक्ति की स्थापना की है?—इसका योगसम्मत स्फोटवाद का प्रतिपादन करते समय स्पष्टीकरण हो जाएगा। क्योंकि योगसूत्र के व्याख्याकारों ने स्फोटवाद के सिद्ध्यर्थ मीमांसकों से ही शास्त्रार्थ किया है।

वर्ण ही वाचक हैं : वेदान्तियों का मत—वेदान्ती भी स्फोटवाद नहीं मानते हैं। ये वर्णों की ही अर्थ-प्रत्यायकत्वशक्ति में विश्वास करते हैं। ब्रह्मसूत्र के शाङ्करभाष्य में यह विषय विवेचित हुआ है।[२]

वर्ण ही वाचक हैं : नैयायिकों का मत—सांख्य, मीमांसा एवं वेदान्त की भाँति न्याय के ग्रन्थों में भी स्फोटवाद का खण्डन उपलब्ध है।[३] उनके यहाँ वर्ण-समुदाय की वाचकता (पदसिद्धि) के दो सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं—(१) संस्कारपक्ष एवं (२) शब्द-जशब्दन्यायपक्ष। दोनों पक्षों का सारांश यह है :—

संस्कारपक्ष—नैयायिक शब्द (वर्ण) को अनित्य मानते हैं। प्रथम क्षण में शब्द उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षणपर्यन्त रहता है तथा तृतीय क्षण में स्वोत्तरवर्ती विरोधी शब्द से अथवा स्वतः नष्ट हो जाता है। किन्तु उस नष्ट-शब्द का संस्कार रह जाता है। इसलिए उत्तरवर्ण के प्रत्यक्षकाल में संस्कारवश अव्यवहितोत्तरत्व-सम्बन्ध से पूर्व-पूर्व वर्णवत्ता का ज्ञान हुआ करता है। अर्थात् संस्कारवश ही पूर्व-पूर्व वर्णों की विशिष्टता उत्तरोत्तर वर्णों में ज्ञात होती जाती है। उत्पत्ति-विनाशशील होने पर भी वर्णों का साहित्य सम्भव है। अतः वर्णों में अर्थबोधन शक्ति है—ऐसा मानना उपयुक्त है।

शब्दजशब्दन्यायपक्ष—यह पक्ष वीचीतरङ्गन्याय के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें अन्तिम वर्ण के उच्चारणकालपर्यन्त पूर्व उच्चरित सभी वर्ण अपने-अपने सदृश वर्णों को उत्पन्न करते रहते हैं। इस प्रकार वर्णों का सहावस्थान होने से पद बन जाता है। उसी में शक्तिग्रह मानकर अर्थबोध भी हो जाता है और जिस प्रकार 'वन'—इस प्रतीति का विषय वृक्ष-समुदाय से भिन्न वन नाम की कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं होती, उसी प्रकार

---

१ स शब्दः किं प्रतीयते न वा? आद्ये येन वर्णसमुदायेनानुपूर्वीविशेषविशिष्टेन सोऽभिव्यज्यते तस्यैवार्थप्रत्यायकत्वमस्तु किमन्तर्गडुना तेन? अन्त्ये त्वज्ञातस्फोटस्य नास्त्यर्थप्रत्यायनशक्तिरिति व्यर्था स्फोटकल्पना—सां० प्र० भा० पृ० २०९।

२ शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्—ब्र० सू० १।३।२८ पृ० ३२२-३३०।

३ एतेन तावद्वर्णाभिव्यङ्ग्यः पदस्फोटोऽपि निरस्तः, तत्तद्वर्णसंस्कारसहितचरमवर्णोपलम्भेन तद्व्यञ्जकेनैवोपपत्तेः—मु० पृ० ६९-७१।

वर्णसमुदाय से अतिरिक्त पद भी नहीं होता है। पद वर्णसमुदायरूप ही है। अतः वर्णों में अर्थजननशक्ति होने से अप्रामाणिक स्फोटात्मक शब्दतत्त्व की कल्पना व्यर्थ है।

कहा जा सकता है कि सांख्य, मीमांसा, वेदान्त एवं न्याय दार्शनिक वर्णों में ही वाचकत्वशक्ति स्वीकार करते हैं; अतः अर्थाविबोध के लिए स्फोटवाद के समर्थक जिस अखण्ड, वर्णावयवरहित तथा नित्य स्फोट को स्वीकार करते हैं, उसमें गौरवदोष की उद्भावना कर ये लोग उसे अनावश्यक घोषित करते हैं।

स्फोटवाद का प्रतिपादन—

वाचक शब्द के बतलाने की इच्छा से **आचार्य व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र विज्ञानभिक्षु, हरिहरानन्द आरण्यक, नागेशभट्ट** आदि आचार्यों ने सर्वप्रथम तीन प्रकार के शब्दों का उल्लेख किया है, जिससे वाचक शब्द का अन्य दो प्रकार के अवाचक शब्दों से भेद प्रदर्शित हो सके।

तीन प्रकार के शब्द

आचार्य **विज्ञानभिक्षु** के मतानुसार शब्द त्रिविध हैं—वर्णभिन्न, वर्णात्मक तथा स्फोटात्मक। **विज्ञानभिक्षु** का अभिप्राय इस प्रकार है :—

शङ्खादि अथवा वागिन्द्रिय के साथ उदानवायु के अभिघाताख्य संयोग से ध्वनि की उत्पत्ति होती है।[1] उक्त ध्वनि वीचीतरङ्गन्याय से ध्वन्यन्तर को उत्पन्न करता रहता है। इस परम्परा से ध्वनि श्रोत्र-देश के साथ सम्बद्ध होता है।[2] श्रोत्र-देश से सम्बद्ध उक्त प्रथम ध्वनि के परिणामविशेष का नाम है—नाद। पूर्वोक्त शङ्खादि के साथ अभिघाताख्य संयोग के आधार पर उक्त वीचीतरङ्गन्याय से ध्वनि का परिणामविशेष नाद वर्णभिन्न अथवा अवर्ण शब्द कहलाता है। इसी प्रकार वागिन्द्रिय के साथ उदानवायु के अभिघाताख्य संयोग के आधार पर उक्त वीचीतरङ्गन्याय से ध्वनि का परिणामविशेष नाद 'वर्ण' नाम से अभिहित होता है। अर्थात् नाद ही उक्त प्रकार से वर्णभिन्न शब्द अथवा वर्णात्मक शब्द है।[3] तृतीय प्रकार का शब्द स्फोटात्मक पद है।

वर्णभिन्न शब्द वाचक ही नहीं; वर्णात्मक शब्द भी वाचक नहीं है।[4] क्योंकि

---

[1] ध्वनिर्नाम वागिन्द्रियशङ्खादिष्वभिहतस्योदानवायोः परिणामभेदः—यो० वा० पृ० ३२४।

[2] येन परिणामेनोदानवायुर्वक्तृदेहादुत्थाय शब्दधारां जनयन् श्रोतृश्रोत्रं प्राप्नोति—यो० वा० पृ० ३२४।

[3] (क) तस्य ध्वनेः परिणामभूतं वर्णावर्गसाधारणं नादाख्यं शब्दसामान्यमेव श्रोत्रस्य विषयः।...स च शब्दो वर्णजातीयत्वेन वर्ण इत्युच्यते—यो०वा० पृ०३२४।
(ख) ध्वनिर्नाम वागिन्द्रियादिष्वभिहतस्योदानवायोः परिणामभेदः—ना० बृ० बृ० पृ० ३३।

[4] वागिन्द्रियजन्यः शब्दो वर्ण एव न तु भृङ्गादिशब्दो नापि वाचकं पदम्—यो० वा० पृ० ३२१-३२२।

वाचक होने के लिए वर्णों का साहित्य नितान्त अपेक्षित है। यह साहित्य, सहभाव अथवा एकत्रीभाव वर्णों की सह-स्थिति है। किन्तु आशुविनाशी वर्णों की सहस्थिति कथमपि सम्भव नहीं है। जैसे 'गो'—शब्द के अन्तिम वर्ण विसर्जनीय के उत्पत्तिक्षण में गकार नष्ट हो जाता है। इस स्थिति में गकार के साथ विसर्जनीय की सह-स्थिति कैसे सम्भव हो सकती है ? अतः वर्णभिन्न शब्द की भाँति वर्णात्मक शब्द भी अर्थ का वाचक नहीं है, यह मानना होगा।

अतएव अर्थ का वाचक है—शब्द का तृतीय प्रकार पद-स्फोट। आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार स्फोटज्ञान की प्रक्रिया इस प्रकार है :—(१) वागिन्द्रिय के अष्ट स्थानों[१] में से किसी स्थानविशेष के साथ उदानवायु के अभिघाताख्य संयोग से तत्-तत् वर्णों की उत्पत्ति होगी। (२) प्रत्येक वर्णग्राही एक-एक श्रावण-प्रत्यक्ष होगा।[२] (३) तत्-तत् श्रावण-प्रत्यक्ष से तत्-तत् वर्णविषयक एक-एक संस्कार होगा। (४) तत्-तत् संस्कार से पद-विशेषघटक-समस्त-वर्णविषयक स्मृति उत्पन्न होगी। (५) तादृश-स्मृतिसहकृत अन्तःकरण से गकारोत्तर-ओकारोत्तर-विसर्जनीयरूप आनुपूर्वी से युक्त गोपदात्मक पदस्फोट का मानस-प्रत्यक्ष ('गो यह एक पद है'—इत्याकारक ज्ञान) होगा।[३] तादृश-पदस्फोट-विषयक ज्ञान से ही अर्थ-स्मृति होगी।[४] इस प्रकार क्षणिक, क्रमिक, नानाप्रयत्नसाध्य तथा सखण्ड वर्णों के माध्यम से नित्य, अक्रम, एकप्रयत्नसाध्य तथा अखण्ड पद-स्फोट का ज्ञान होता है।

आचार्य **वाचस्पति** तथा **विज्ञानभिक्षु** के मध्य पदस्फोट के सन्दर्भ में मौलिक मतभेद है। यह इस प्रकार है :—आचार्य **वाचस्पति** के अनुसार तत्-तत् वर्ण-संस्कार-सहकृत श्रोत्रेन्द्रिय से पदस्फोट का प्रत्यक्ष होता है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** के अनुसार उक्त संस्कार-जन्य-स्मृति-सहकृत अन्तःकरण से पदस्फोट का प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् पदस्फोट-ज्ञान (जिससे अर्थ-स्मृति होती है) आचार्य **वाचस्पति** के अनुसार श्रावण-प्रत्यक्षात्मक है; किन्तु आचार्य **विज्ञानभिक्षु** के अनुसार वह मानस-प्रत्यक्षात्मक है।

शब्द के उपर्युक्त तीन भेदों में पदाख्य शब्द अर्थ के स्फुटीकरण का कारण होने से 'स्फोट' कहलता है। स्फोटाख्य पद गकारादि वर्णों से भिन्न एवं अभिन्न उभयरूप है।

---

[१] (क) अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥ पा० शि० १३।
(ख) वागिन्द्रयं वर्णव्यञ्जकमष्टस्थानकम्. त० वै० पृ० ३२०।

[२] नानेकवर्णपदेषु श्रोत्रेण ग्रहीतुं शक्यते—यो० वा० पृ० ३२४।

[३] (क) तथा चायं तृतीयः शब्दोऽन्तः करणस्यैव ग्राह्यः—यो० वा० पृ० ३२४।
(ख) अखण्ड एकः स्फोटाख्यः···अन्तःकरणस्यैव ग्राह्यः—ना०बृ०वृ०पृ० ३३२।

[४] पूर्वपूर्ववर्णसंस्काराणां तत्स्मृतीनां चान्तःकरणनिष्ठानामन्तःकरणसहकारित्व-मेवोचितम्। अतः स्मृतानां वर्णानां मनसैवानुपूर्वी ग्रहीतुं शक्यते—यो० वा० पृ० ३२४।

स्फोटाख्य पद के इस भेदाभेदरूप पर आगे विचार किया जायगा। 'गो' यह एक पद है—इस प्रकार का व्यवहार स्फोट की सिद्धि में प्रमाण है। क्योंकि वर्णों के अनेक होने से उनसे एकत्व-व्यवहार असम्भव है। प्रत्येक वर्ण में अर्थ-प्रत्यायन की शक्ति निहित नहीं है। अतः अर्थज्ञान के हेतुरूप से भी स्फोट की सिद्धि होती है।

पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न करता है—आनुपूर्वीविशिष्ट समूह के एक होने से—गो यह एक पद है—इस प्रकार का एकत्व-व्यवहार उपपन्न हो सकता है। अतः आनुपूर्वीविशिष्ट वर्ण-समूह ही अर्थ-प्रत्यायन का हेतु हो। फलस्वरूप स्फोट की कल्पना व्यर्थ है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** का उत्तर है[1]—यदि आनुपूर्वीविशिष्ट वर्णसमूह के अतिरिक्त पद नहीं माना जायगा तो संयोगविशेष से अवच्छिन्न मृत्कणसमूह के एक होने से उसी के द्वारा जलाहरणादि क्रियाएँ होने की आपत्ति आयगी। फलस्वरूप घटादि अवयविमात्र का उच्छेद हो जायगा। पूर्वपक्षी को यह मान्य न होगा। अतः जिस प्रकार संयोगविशेष से विशिष्ट (युक्त) मृत्कणसमूह से जलाहरण आदि क्रियाएँ असम्भव हैं; उसी प्रकार आनुपूर्वीविशिष्ट वर्ण-समूह में अर्थप्रत्यायन की शक्ति निहित नहीं है। एतावता वर्णव्यतिरिक्त, एकप्रयत्नजन्य, नादाभिव्यङ्ग्य, अन्तःकरणग्राह्य पदात्मक शब्द ही वाचक है। अर्थ-प्रत्यायन का हेतु होने से यही 'स्फोट' कहा जाता है। इस प्रकार आचार्य **विज्ञानभिक्षु** के अनुसार शब्द त्रिविध हैं—वर्णभिन्न, वर्णात्मक तथा स्फोटात्मक।

अपदरूप वर्णों से अर्थावबोध नहीं हो सकता

मीमांसादर्शन के आचार्य **शबरस्वामी, कुमारिलभट्ट, पार्थसारथि मिश्र** आदि वर्णों में ही अर्थप्रत्यायकत्व-शक्ति मानते हैं। वे स्फोटरूप पद स्वीकार नहीं करते हैं। आचार्य **वाचस्पति मिश्र** ने एक बहुत सुन्दर उदाहरण द्वारा मीमांसकों के इस मत का खण्डन किया है।[2] इससे वर्णों की अपदरूपता एवं अर्थप्रत्यायन की असमर्थता प्रतिपादित की गई है।

आचार्य **वाचस्पति मिश्र** मीमांसकों से प्रश्न करते हैं—जिस प्रकार खूँटी की सहायता से छींका लटका रहता है, क्या उसी प्रकार पद के प्रत्येक वर्ण में अर्थप्रत्यायन की शक्ति निहित है अथवा वर्तुलाकार तीन पत्थरों पर अवलम्बित रहने वाले घट की भाँति पद के अवयवभूत समस्त वर्ण सामूहिक रूप से अर्थ के धारण करते हैं ?[3]

आचार्य **वाचस्पति मिश्र** के अनुसार प्रत्येक वर्ण में स्वातन्त्र्येण अर्थप्रत्यायन-शक्ति नहीं मानी जा सकती, अन्यथा पद के अन्य वर्णों का उच्चारण व्यर्थ हो जायगा। दूसरे को

---

[1] यदि चानुपूर्वीविशिष्टसमूहस्यैकत्वादेकत्वव्यवहारः तेनैव रूपेणार्थप्रत्ययहेतुत्वं च स्वीक्रियते, तर्हि संयोगविशेषावच्छिन्नावयवसमूहादेवैकत्वव्यवहारजलाद्याहरणयो-रुपपत्त्या घटाद्यवयविमात्रोच्छेदप्रसङ्गः, युक्तिसाम्यात्—यो० वा० पृ० ३२५।

[2] यस्तु वैयात्यादेकपदानुभवमविज्ञाय वर्णानेव वाचकानातिष्ठते, तं प्रत्याह—त० वै० पृ० ३२१।

[3] ते खल्वमी वर्णाः प्रत्येकं वाच्यविषयां धियमादधीरन् नागदन्तका इव शिक्याव-वलम्बनं, संहता वा ग्रावाण इव पिठरधारणम् ?—त० वै० पृ० ३२१।

सास्नादिविशिष्ट 'गो' व्यक्तिविशेष का बोध कराने के लिए ही गकारविशिष्ट, ओकार-विशिष्ट विसर्ग-वर्ण का उच्चारण किया जाता है। यदि प्रथम वर्ण 'ग्' के उच्चारण से ही तादृश अर्थप्रतीति निष्पन्न हो जाए तो अर्थप्रत्यायन में सहायता न करने के कारण द्वितीय आदि वर्णों को उक्त अर्थप्रतीति का साधन नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि साधन का साधनत्व अनिष्पन्न क्रिया की निष्पत्ति में ही है। अतः प्रत्येक वर्ण में अर्थप्रत्यायन की शक्ति है—यह प्रथम विकल्प ठीक नहीं है।[१]

द्वितीय विकल्प वर्णों के स्वभावानुकूल न होने से त्याज्य है।[२] द्वितीय विकल्प इस प्रकार है—यद्यपि संसार के यावत् पदार्थ विनाशशील हैं तथापि पदार्थों का स्थिति-काल भिन्न-भिन्न है। जैसे घट, पट आदि अधिक समय तक अस्तित्व धारण करते हैं जब कि शब्द उत्पत्ति तथा स्थिति के दो क्षणों को छोड़कर तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है। अतः वर्तुलाकार तीन पत्थरों पर घट आदि का कुछ कालपर्यन्त अवलम्बित रहना सम्भव हो सकता है, क्योंकि पत्थर और घट की एक देश में एक साथ स्थिति सम्भव है। लेकिन वर्ण उत्पत्ति और विनाश स्वभाव वाले हैं। एक काल में पद-घटक समस्त वर्णों का सहावस्थान सम्भव नहीं है[3]। इसलिए पद के समस्त वर्ण सम्मिलित होकर अर्थ धारण करते हैं—यह पक्ष भी त्याज्य है।

मीमांसाशास्त्र के आचार्य **कुमारिल भट्ट, पार्थसारथि मिश्र** आदि का कहना है—दर्शपूर्णमास याग के घटक आग्नेय आदि छः[४] यागों का एक काल में स्वरूपतः साहित्य (सम्मिलन) सम्भव नहीं है फिर भी तत्-तत् आग्नेय आदि यागों से उत्पन्न होने वाले संस्कारों (अदृष्ट, अपूर्व) के द्वारा यागों के साहित्य की कल्पना (अर्थापत्ति) की जाती है। फलस्वरूप अपूर्व के माध्यम से छः याग मिलकर परमापूर्व को उत्पन्न करते हुए स्वर्ग के निष्पादक कहे जाते हैं। उसी प्रकार आशुविनाशी वर्णों का एक काल में स्वरूपतः सहावस्थानरूप साहित्य सम्भव नहीं है; फिर भी प्रत्येक वर्ण के तत्तत्-ज्ञान से

---

१ (क) एकस्मादर्थप्रतीतेरनुत्पत्तेः; उत्पत्तौ वा द्वितीयादीनामनुच्चारणप्रसङ्गः; निष्पादितक्रिये कर्मणि विशेषानाधायिनः साधनस्य साधनन्यायातिपातात्—त० वै० पृ० ३२१।

(ख) तु—ना० बृ० वृ० पृ० ३३३।

२ वर्णा एकसमयासम्भवित्वात्परस्परनिरनुग्रहात्मानस्ते पदमसंस्पृश्यानुपस्थाप्याविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते—व्या० भा० पृ० ३२१।

३ सम्भवति हि ग्राव्णां संहतानां पिठरधारणमेकसमयभावित्वात्; वर्णानां तु यौगपद्यासम्भवोऽतः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकत्वायोगात् सम्भूयापि नार्थधियमादधते—त० वै० पृ० ३२१।

४ पुरोडाशद्रव्यक आग्नेययाग, आज्यद्रव्यक उपांशु याग और पुरोडाशद्रव्यक अग्नीषोमीययाग पूर्णमासी में किए जाते हैं। पुरोडाशद्रव्यक आग्नेययाग, दधिद्रव्यक ऐन्द्रयाग एवं पयोद्रव्यक ऐन्द्रयाग अमावस्या में किए जाते हैं।

जायमान संस्कारों के माध्यम से वर्णों का साहित्य हो सकता है। अतः पद के अवयवभूत समस्त वर्ण मिलकर अर्थप्रत्यायन के हेतु होते हैं—ऐसा कहना अनुचित नहीं है।[१]

आचार्य **वाचस्पति मिश्र** एवं **नागेश भट्ट** मीमांसकों के उपर्युक्त विचार को दोषपूर्ण[२] सिद्ध करने के लिए कई विकल्प उपस्थित करते हैं। उनका प्रश्न है:—वर्णज्ञान से क्या अर्थ-स्मृति के हेतुभूत संस्कार की उत्पत्ति होती है अथवा वर्णज्ञान से उत्पन्न हुआ संस्कार अपूर्वरूप है?

आचार्य **वाचस्पति मिश्र** एवं **नागेश भट्ट** स्वयं ही इसका समाधान करते हैं। उनका कहना है—यदि मीमांसकों का द्वितीय विकल्प की ओर झुकाव है, तो वह प्रमाणाभाव, कल्पनागौरव एवं अन्योन्याश्रयदोष-ग्रस्त होने से त्याज्य है। यह इस प्रकार है—आग्नेय आदि यागों में शास्त्र के आधार पर अपूर्व की कल्पना की जाती है। क्योंकि याग से उत्पन्न होने वाले स्वर्गादि फल के अव्यवहित पूर्वक्षण पर्यन्त याग-क्रिया नहीं ठहरती है। याग के निष्पन्न होते ही वह क्रिया समाप्त हो जाती है; और स्वर्ग बहुत काल के पश्चात मिलता है। अतः याग और स्वर्ग के साध्यसाधनभाव सम्बन्ध की सिद्धि के लिए ऐसा कहा जाता है कि याग से उत्पन्न हुआ अपूर्व (अदृष्ट) स्वर्ग-फल की निष्पत्ति पर्यन्त रहता है। इस प्रकार याग भी स्वर्ग का अपूर्व द्वारा कारण माना जाता है। लेकिन वर्णानुभव से अपूर्वाख्य संस्कार की उत्पत्ति मानने में कोई प्रमाण नहीं है। दूसरा हेतु यह है कि क्रमशील वर्णों के ज्ञान से केवल एक अपूर्वाख्यसंस्कार की उत्पत्ति नहीं होती है; अपितु जैसे प्रथम वर्ण के अनुभव से अपूर्वाख्यसंस्कार उत्पन्न होगा उसी प्रकार द्वितीय एवं तृतीय वर्णज्ञान से भी दूसरे, तीसरे अपूर्वों की उत्पत्ति माननी होगी। इस प्रकार अनन्त संस्कारों की कल्पना का गौरवदोष उपस्थित होगा। तृतीय हेतु यह है कि इससे अन्योन्याश्रयदोष (इतरेतराश्रयदोष) भी उपस्थित होगा। यह इस प्रकार है—जब तक शब्द और उसमें रहने वाली शक्ति का ज्ञान नहीं रहता, तब तक शब्द अर्थज्ञान का हेतु नहीं बन सकता है। प्रत्यक्षज्ञानस्थल में करण चक्षु के विषय-सम्बन्ध का ज्ञान न रहने पर भी चक्षुःसन्निकृष्ट विषय का ज्ञान हो जाता है। लेकिन यहाँ जब शब्द का स्वरूपतः ज्ञान, उसमें रहने वाली शक्ति का ज्ञान एवं शब्दार्थज्ञान के समस्त अङ्ग विदित हुए रहते हैं तभी शब्द अर्थज्ञान का हेतु होता है। जैसे धूम एवं वह्नि का स्वरूपतः ज्ञान तथा उनके व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध का ज्ञान रहने पर ही धूमदर्शन से न दिखलाई पड़ने वाली अग्नि

---

१ (क) यथाऽऽग्नेयादिकर्माणि क्रमवर्त्तीनि सन्त्यऽपि।
संहत्य कुर्वते कार्यमेव वर्णास्तथैव नः॥

(ख) दृष्टश्च पूर्णमासादेः क्रमः संहत्यकारिणः।
अभ्यासानां तु लोकेऽपि स्वाध्यायग्रहणादिषु॥

२ (क) न च संस्कारद्वाराऽऽग्नेयादीनामिव परमापूर्वे वा स्वर्गे वा जनयितव्येऽनियत-क्रमाणामपि साहित्यमर्थबुद्ध्युपजनने वर्णानामपि साम्प्रतम्? विकल्पासहत्वात्—त० वै० पृ० ३२२।

(ख) तु—ना० बृ० वृ० पृ० ३३३।

का अनुमित्यात्मक-ज्ञान हो पाता है, अन्यथा नहीं। अतएव वक्ता द्वारा उच्चारित शब्द बधिर को न सुनाई दे अथवा किसी तरह सुनाई भी दे जाए तो भी उच्चारित शब्द की शक्ति का ज्ञान न रहने से शब्द अर्थप्रत्यायन का हेतु नहीं होता है। इसलिए वर्णानुभवजन्य अपूर्वाख्यसंस्कार अर्थप्रत्यायन का साधन है—ऐसा ज्ञान शब्दार्थज्ञान से पूर्व आवश्यक है। लेकिन ऐसा ज्ञान किसी अन्य उपाय से तो हो नहीं सकता। केवल शब्द के अर्थ का ज्ञान होने से ही वह सम्भव है। ऐसा मानने से अन्योन्याश्रयदोष प्रसक्त होगा। अर्थात् अपूर्वाख्यसंस्कार के निश्चय से अर्थज्ञान और अर्थज्ञान के निश्चय से उक्त संस्कार का निश्चय होगा। इस प्रकार वर्ण के अनुभव से उत्पन्न अपूर्वाख्यसंस्कार के द्वारा सम्मिलित वर्ण अर्थप्रत्यायन करा देंगे, अतः स्फोट के मानने की क्या आवश्यकता है—यह द्वितीय विकल्प दोषपूर्ण होने से त्याज्य है।[1]

प्रथम विकल्प के अनुसार वर्णों के वाचकत्व का समर्थक (पूर्वपक्षी) यह कहता है—वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार स्मृति का उत्पादक होता है, इसलिए संस्कारों का समुदाय अन्त्यवर्णानुभव का सहकारी होकर अर्थज्ञान का जनक हो सकता है। अतः स्फोट की कल्पना व्यर्थ है।

उत्तर में आचार्य **वाचस्पति मिश्र** एवं **नागेश भट्ट** कहते हैं—यद्यपि अनुभूत वस्तु का स्मरण देखा जाता है, जिससे उसका कारण (संस्कार) अनुमित होता है तथापि जिस विषय के अनुभव से संस्कार उत्पन्न होता है उसी विषय की स्मृति या बुद्धि को वह संस्कार उत्पन्न करता है, अन्यविषयक स्मृति या बुद्धि को नहीं। यह उक्त संस्कारों का स्वभाव है। इस स्थिति में वर्णविषयक अनुभवजन्य संस्कार वर्णविषयक स्मृति या बुद्धि को ही उत्पन्न कर सकता है। वह अर्थविषयक स्मृति को किसी भी प्रकार उत्पन्न नहीं कर सकता है। यदि वर्णविषयक अनुभवजनित संस्कार अन्य अर्थात् अर्थविषयक स्मृति या बुद्धि को उत्पन्न करे, तो मनुष्य किसी एक ही पदार्थ के अनुभव से सब कुछ जान जायगा; फलस्वरूप अतिप्रसङ्ग दोष उपस्थित होगा।[2] भामती में भी आचार्य **वाचस्पति मिश्र** ने अपने उपर्युक्त सिद्धान्त का उल्लेख किया है[3]। उसका तात्पर्य यह है—'भावना नामक संस्कार अपने उत्पादक अनुभवविषयक स्मृति को उत्पन्न करता है; इसलिए उसका सामर्थ्य अन्यत्र

---

१ (क) न तावदनन्तरः, कल्पनागौरवापत्तेः—स एव तावददृष्टपूर्वः कल्पनीयस्तस्य च क्रमवद्भिर्वर्णानुभवैरेकस्य जन्यत्वं न सम्भवतीति तज्जातीयानेकावान्तर-संस्कारकल्पनेति गौरवम्। न चैष ज्ञापकहेत्वङ्गमज्ञातस्तदङ्गतामनुभवतीति, न खलु सम्बन्धोऽर्थप्रत्यायनाङ्गमज्ञातोऽङ्गतामुपैति—त० वै० पृ० ३२२।

(ख) तु—ना० बृ० वृ० पृ० ३३३।

२ स्मृतिफलप्रसवानुमितस्तु संस्कारः स्वकारणानुभवविषयनियतो न विषयान्तरं प्रत्ययमाधातुमुत्सहते, अन्यथा यत्किञ्चिदेवैकमनुभूय सर्वः सर्वं जानीयात्—त० वै० पृ० ३२२।

३ भावनाऽभिधानस्तु संस्कारः स्मृतिप्रसवसामर्थ्यमात्मनः।
न च तदेवार्थप्रत्ययप्रसवसामर्थ्यमपि भवितुमर्हति—भाम० पृ० २५४।

नहीं देखा जाता है। अतः गो, महिष आदि के अनुभव से उत्पन्न हुआ संस्कार तुरग (अश्व)-विषयक स्मृति को उत्पन्न नहीं करता है।' अतः वर्णविषयक अनुभवजन्य संस्कार से अर्थ-विषयक स्मृति या बुद्धि कैसे उत्पन्न हो सकती है।

पूर्वपक्षी पुनः शङ्का करता है—जिस प्रकार पद के अवयवभूत प्रत्येक वर्ण के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से पद के सभी वर्णों को युगपत् विषय बनाने वाली स्मृति उत्पन्न होती है उसी प्रकार एक स्मृति के विषय बने हुए अनेक वर्ण (वर्णसमुदाय) भी अर्थ के वाचक हो सकते हैं। क्योंकि स्मरणकाल में पद के अवयवभूत सभी वर्ण सम्मिलित हो जाते हैं। अतः आशुविनाशी वर्णों का एकत्रीकरण सम्भव न होने से वर्णों में वाचकत्वशक्ति नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

इस पर आचार्य **वाचस्पति मिश्र** एवं **नागेश भट्ट** का कहना है—यह नियम नहीं है[1] कि जिस क्रम से पदार्थों का अनुभव होता है, उसी क्रम में से वे स्मृत भी हों। प्रायः यही देखा जाता है कि स्मरणात्मकज्ञान के समय सभी अनुभूत पदार्थ ध्यान में नहीं आते हैं, अथवा अस्पष्टरूप से उनका स्मरण हुआ करता है, अथवा कभी-कभी स्मरणज्ञान भ्रमपूर्ण भी होता है। दूसरी बात यह है कि स्मरणज्ञान पूर्वानुभूत परम्परा (क्रम) को विषय नहीं बनाता है।[2] अतः स्मरणज्ञान में एक साथ विषय बनने वाले वर्णों से अर्थप्रत्यायन हो जायगा इसलिए वर्णों से अभिव्यक्त होने वाले स्फोट को मानने की क्या आवश्यकता है? —पूर्वपक्षी का यह मन्तव्य शोभनीय नहीं है।

वर्णों की पदरूपता एवं सर्वाभिधानशक्तिता

प्रत्येक वर्ण स्फोटात्मक पद नहीं है। वह पद से भिन्न है। क्योंकि उससे अर्थबोध नहीं हो सकता। अग्निमय अयःशलाका के समान वर्ण आविर्भूत एवं तिरोभूत होते रहते हैं तथापि अवस्था एवं अवस्थावान् में भेदाभेद होने से पद का अवयव वर्ण भी पदरूप माना जाता है। जैसे, वृक्ष की—बीज, अंकुर, शाखा, पल्लव आदि अवस्थाएँ, अवस्थावान् वृक्ष से भिन्न तथा अभिन्न उभयरूप हैं।[3] अतः धर्म-धर्मी के भेदाभेद की विवक्षा से अपद-वर्ण ही व्यावहारिक दृष्टि से पद कहा जाता है। पदात्मक यह वर्ण दूसरे वर्णों की सहायता से स्वसम्बन्धित सभी अर्थों के बतलाने की योग्यता भी रखता है। जैसे—'गो' इस पदस्फोट का 'गकार' वर्ण उत्तरवर्ती 'ओकार' वर्ण से संयुक्त होकर अपने को 'गण' आदि पदों से व्यावृत्त करता है। एवं 'ग्' तथा 'ओ' वर्णों के सहित उत्तरवर्ती विसर्ज-

---

[1] न च प्रत्येकवर्णानुभवजनितसंस्कारपिण्डलब्धजन्मस्मृतिविषयतया जातसहभावा वाचकाः। क्रमाक्रमविपरीतक्रमानुभूतानामविशेषेणार्थबोधकत्वापत्तेः—ना० बृ० वृ० पृ० ३३३।

[2] क्रमस्य त्वनुभवाविषयस्य न स्मृतिविषयत्वमित्युक्तमेव—ना० बृ० वृ० पृ० ३३३।

[3] (क) तच्च स्फोटपदं गकारादिवर्णेभ्यो भिन्नाभिन्नं, भेदाभेदयोरनुभवात्—यो० वा० पृ० ३२४।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३३४।

नीय (:) वर्ण 'गौर' इत्यादि पदों से अपने को व्यावृत्त कर 'गोः'—इस स्फोटात्मक अखण्ड पद में तादात्म्यसम्बन्ध से रहकर सास्नादिविशिष्ट गोव्यक्ति का बोध कराता है। वही ग् वर्ण 'गण, नग' आदि पदों के णकार और नकार वर्णों से संयुक्त होकर गण या नग रूप पदस्फोट को अभिव्यक्त करता है।[१] अतः अपदरूप वर्णों में पद बनने की तथा सर्वार्थबोधन की योग्यता है।

वर्णों की सर्वार्थबोधन की योग्यता सुनकर कहीं पूर्वपक्षी पुनः स्फोटवाद की निरर्थकता पर विचार न करने लगे, इसलिए योग के व्याख्याकार पदस्फोट का स्वरूप स्पष्ट करते हुए स्फोटवाद की निरर्थकता से सम्बन्धित अवशिष्ट सन्देह का भी निम्नाङ्कित प्रकार निराकरण करते हैं।

स्फोटात्मक शब्द में प्रमाण

'गो यह पद है'—इस प्रकार की अबाधित प्रतीति या व्यवहार स्फोटात्मक शब्द में प्रमाण है।[२] वर्णमात्र को उपर्युक्त प्रतीति का विषय नहीं कह सकते; क्योंकि प्रयत्नभेद से उच्चरित अनेक वर्णों में एक अभिन्न निमित्त के विना (एक वस्तु के अनुस्यूत रहे विना) 'यह एक पद है'—इस प्रकार की प्रतीति (जो अबाधितरूप से सर्वसिद्ध है) कदापि नहीं हो सकती है। जिस प्रकार एक सूत्र में अनुस्यूत हुए विना पुष्पों के विषय में 'यह एक माला है'—इस प्रकार का ज्ञान नहीं देखा जाता है। अतः अनुभवसिद्ध स्फोटात्मक शब्द मानना आवश्यक है।

स्फोट की अभिव्यक्ति में क्रमिकता

योग के व्याख्याकार पदस्फोट की अभिव्यक्ति एक काल में नहीं मानते; अपितु उसे क्रमशः स्वीकार करते हैं। प्रथम वर्ण से स्फोट (पद) की अस्फुट अभिव्यक्ति होती है; बाद में वह (स्फोट) द्वितीयादि वर्णों से स्फुट, स्फुटतर तथा स्फुटतम होता चलता है।[३] अर्थात् प्रत्येक वर्ण स्फोट को अभिव्यक्त करता हुआ भी अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक स्पष्टरूप से स्फोट की अभिव्यञ्जक नहीं होती है, अपितु पूर्व-पूर्व अभिव्यक्ति से उत्पन्न संस्कारों के सहित अन्तिम वर्ण ही स्पष्टरूप से स्फोट को प्रकाशित करता है। दैनन्दिन जीवन में इस प्रकार का अनुभव भी होता है—किसी भी पदार्थ का पहले अस्पष्ट ज्ञान होता है, बाद में पदार्थ स्पष्टरूप से समझ में आता है।[४] जैसे प्रथम दृष्टिपात में दूर स्थित वनस्पतिवृक्ष

---

१ (क) वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा इति। सर्वाभिरभिधानशक्तिभिर्निचितः। गौः, गणः, गौरं, नग इत्यादिषु हि गकारो गोत्वाद्यर्थाभिधायिषु दृष्ट इति ..... —त० वै० पृ० ३२१–३२२।

(ख) तु० यो० वा० पृ० ३२५।

२ गौरित्येतदेकं पदमिति। तया पदं गृह्यते —त० वै० पृ० ३२१।

३ केवलभागानुभवेन पदमव्यक्तमनुभूयतेऽनुसंहारधिया तु भागानुभवयोनिसंस्कारलब्धजन्मना व्यक्तमिति विशेषः—त० वै० पृ० ३२२।

४ अव्यक्तानुभवाश्च प्राञ्चः संस्काराधानक्रमेण व्यक्तमनुभवमादधाना दृष्टाः—त० वै० पृ० ३२२।

स्थौल्यादि सादृश्यदोष के कारण हस्ती प्रतीत होता है। लेकिन वृक्षविषयक इस अस्पष्टज्ञान के साथ आगे बढ़ने पर वनस्पति का स्पष्टज्ञान होने लगता है। अतः अव्यक्तज्ञान व्यक्तज्ञान का पूर्ववर्ती है। इस प्रकार स्फोट की क्रमिक अभिव्यक्ति मानने पर पद के दूसरे, तीसरे वर्ण भी निरर्थक नहीं होते हैं। वे पदस्फोट की स्फुटतम प्रतीति में सहायक बनते हैं। भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय में भी पदस्फोट की क्रमिक अभिव्यक्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है।[१]

आचार्य वाचस्पति का कहना है कि जो लोग; प्रत्येक वर्ण में अर्थप्रत्यायन की शक्ति मानकर पद के प्रथम वर्ण से अस्पष्ट अर्थबोध और द्वितीयादि वर्णों से स्फुटतर अर्थबोध होता है—ऐसा कहते हैं—वह ठीक नहीं है। क्योंकि वर्ण में अर्थप्रत्यायन की शक्ति निहित न रहने से पद का प्रत्येक वर्ण अस्फुटरूप से भी अर्थ का ज्ञान नहीं करा पाता है, जिससे वे बाद में स्फुट अर्थज्ञान कराते हैं—ऐसा कहा जा सके।[२] द्वितीय हेतु यह है कि पदार्थ की अस्फुट तथा स्फुट प्रतीति का सिद्धान्त प्रत्यक्षज्ञान के लिए ही है। वर्ण से होने वाला अर्थज्ञान प्रत्यक्षरूप नहीं है।[३] इसलिए पद के अवयवभूत वर्णों से अर्थ क्रमशः स्फुट होता चलता है, यह नहीं कहा जा सकता है। तृतीय हेतु यह है कि वर्णों से उत्पन्न हुआ अर्थज्ञान स्फुट होगा अथवा उत्पन्न ही नहीं होगा; किन्तु अस्पष्ट नहीं होगा।[४] लेकिन वर्ण-व्यङ्ग्य प्रत्यक्षात्मक स्फोट के मानने पर अर्थप्रत्यायन में अस्फुटता तथा स्फुटता की कल्पना की जा सकती है।[५] वस्तुतः प्रत्येक वर्ण के अनुभवजन्य संस्कारसहकृत श्रोत्र द्वारा उत्पादित 'गो यह एक पद है'—इत्याकारा एकत्वबुद्धि में गो-पदस्फोट अभिव्यक्त होता है।

निश्चित संख्या वाले आनुपूर्वीविशिष्ट वर्णों से निरवयव पद-स्फोट की अभिव्यक्ति

वर्ण पदरूप नहीं है और वह पद का वास्तविक अवयव भी नहीं है। फिर भी 'यह गो है'—इस पद-स्फोट की अभिव्यक्ति ग्, ओ और विसर्ग—इस प्रकार की आनुपूर्वी-विशिष्ट तीन वर्णों से होती है। यदि 'गो'—इस पद-स्फोट की अभिव्यक्ति किसी भी क्रम वाले किन्हीं तीन (या उससे भी न्यूनाधिक) वर्णों से मानी जाए तो जिन अनिश्चित तीन वर्णों से गो-पद-स्फोट की अभिव्यक्ति हो रही है, उन्हीं से ॐ-पद-स्फोट की भी अभिव्यक्ति होने लगेगी। क्योंकि किसी एक पद-स्फोट के अभिव्यञ्जक कौन-कौन और कितने

---

१ पूर्वापूर्वाऽनुभवजन्यभावनासचिवेऽन्तिमे।
चेतसि स्फुरति स्फोटो रत्नतत्त्वमिव स्फुटम्॥—स्फोटदर्शन पृ० १०५।

२ न चेयं विधा वर्णानामर्थप्रत्यायने सम्भविनी। नो खलु वर्णाः प्रत्येकमव्यक्तमर्थं-प्रत्ययमादधत्यन्ते व्यक्तमिति शक्यं वक्तुम्—त० वै० पृ० ३२३।

३ प्रत्यक्षज्ञान एव नियमाद् व्यक्ताव्यक्तत्वस्य; वर्णाधेयस्त्वर्थप्रत्ययो न प्रत्यक्षः—त० वै० पृ० ३२३।

४ तदेष वर्णेभ्यो जायमानः स्फुट एव जायेत न वा जायेत; न त्वस्फुटः—त० वै० पृ० ३२३।

५ स्फोटस्य तु ध्वनिव्यङ्ग्यस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्फुटास्फुटत्वे कल्प्येते इत्यसमानम्—त० वै० पृ० ३२३।

वर्ण हैं, इसका कोई नियम नहीं रहेगा। लेकिन इस प्रस्ताव से लोकव्यवहार में बाधा पहुँचेगी। अतः निश्चित संख्या तथा निश्चित आनुपूर्वीविशिष्ट दो, तीन, चार, पाँच वर्ण भिन्न-भिन्न पद-स्फोट के अभिव्यञ्जक होते हैं, किसी एक पद-स्फोट के नहीं।[१]

निरवयव पद-स्फोट की सावयव प्रतीति का आधार

स्फोट स्वभावतः निरवयव एवं एक है। फिर भी वह सावयव तथा अनेक प्रतीत होता है। मणि, कृपाण, दर्पण आदि में एक ही पुरुष अनेक प्रकार का भासित होता है। किसी में गौरवर्ण भी श्याम प्रतीत होता है, किसी में गोल मुख भी लम्बा प्रतीत होता है और किसी में एक मुख भी दो दिखलाई पड़ता है। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रयत्नों से उच्चारित वर्णों के द्वारा निरवयव एक स्फोट भी नाना वर्णों के रूप से सावयव तथा अनेक प्रतीत होता है। पारमार्थिकरूप से स्फोट एक तथा नित्य है।[२] वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने भी निरवयव स्फोट की सावयवता में यही हेतु उपन्यस्त किया है।[३] इसलिए 'गो'—इस पदात्मक स्फोटविशेष का गकार भाग अपने सम्बन्धी ओकार तथा विसर्ग से युक्त होकर ही 'गो'—पदस्फोट को अभिव्यक्त करता है। 'गो'—पदस्फोट की अभिव्यक्ति के लिए गौर आदि पदस्फोटों के औ आदि वर्णों की अपेक्षा नहीं रहती है। इसी प्रकार गो पदस्फोट का ओकार भाग (अंश) 'शोचि' आदि पद के सादृश्य से अपने सम्बन्धी गो पदस्फोट का निर्धारण करने में समर्थ नहीं होता है किन्तु गकार से सम्बन्धित ओकार 'गो'—पदस्फोट को अभिव्यक्त करता है। तात्पर्य यह है यद्यपि स्फोट वर्णों से अभिव्यङ्ग्य तथा वर्णों से अतिरिक्त है तथापि वह स्फोट अपने में अध्यस्त तत्-तत् वर्णों से तादात्म्य स्थापित किए रहता है। इसी कारण तत्-तत् वर्णों से रूषित होकर ही उसकी प्रतीति होती है, दूसरे वर्णों से रूपित होकर नहीं। अर्थात् जिन वर्णों से स्फोट अभिव्यक्त होता है, उन्हीं का अध्यास उस स्फोट में देखा जाता है, अन्य वर्णों का नहीं।

पदस्फोट का अवास्तविक एवं वास्तविक स्वरूप

व्याख्याकारों का मत है कि स्फोट वर्णात्मक नहीं है। किन्तु सादृश्यरूप उपाधिविशेष से वर्णरूप न होते हुए भी वह वर्णाकार प्रतीत होता है। वास्तव में पद वर्ण से भिन्न है। एक होता हुआ भी मुख खण्डित दर्पण में अनेक दिखलाई पड़ता है। लेकिन प्रतिबिम्बित अवास्तविक अनेक मुखों से बिम्बरूप वास्तविक एक मुख भिन्न है।

---

[१] इयन्तो—द्वित्राः, त्रिचतुराः, पञ्चषाः। एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृत्ता गकारौकार-विसर्जनीयाः सास्नाऽऽदिमन्तमर्थमवद्योतयन्ति—त० वै० पृ० ३२३।

[२] तद्धि प्रत्येकमेव प्रयत्नभेदभिन्ना ध्वनयो व्यञ्जयन्तः परस्परविसदृशतत्तत्पदव्यञ्ज-कध्वनिभिस्तुल्यस्थानकरणनिष्पन्नाः सदृशाः सन्तोऽन्योन्यविसदृशैः पदैः पदमेकं सादृश्यमापादयन्तः प्रतियोगिभेदेन तत्सादृश्यानां भेदात्तदुपधानादेकमप्यनवयवमपि सावयवमिवानेकात्मकमिवावभासयन्ति—त० वै० पृ० ३२२।

[३] यथा मणिकृपाणादौ मुखमेकमनेकधा।
तथैव ध्वनिषु स्फोटः एक एव विभिद्यते॥—स्फोटदर्शन पृ० ९३।

पद की वर्णभिन्नता के प्रसङ्ग में एक शङ्का उत्पन्न होती है :—यदि पद अवर्णरूप ही है तो उसकी उपाधिरहित अपने वास्तविकरूप से भी कभी प्रतीति होनी चाहिए। जिस प्रकार जपाकुसुम-उपाधि के संयोग से स्फटिकमणि रक्तवर्ण प्रतीत होता है और जपाकुसुम (उपाधि) के हटा लेने पर वह अपने शुभ्ररूप से प्रतिभासित होता है। लेकिन पद अपने वास्तविक अवर्णरूप से तथा निरवयव, अक्रम आदि रूप से कभी भी अनुभव में नहीं आता है।[१] अतः वर्ण पद के वास्तविक अवयव (धर्म) हैं और पद वर्णरूप ही है। अतएव अपने वर्ण-रूप को छोड़कर उस स्फोट की प्रतीति हो ही कैसे सकती है? किसी को कभी भी ऊष्णतारहित वह्नि का अनुभव नहीं हो सकता। यदि किसी को ऐसा अनुभव हुआ भी है तो यह उसका भ्रम है। व्याख्याकार **वाचस्पति मिश्र** उक्त शङ्का का समाधान इस प्रकार करते हैं :—उपाधि का स्वभाव है कि वह अपने उपधेय से संयुक्त भी रहती है और उससे वियुक्त भी रहती है। जैसे स्फटिक आदि के साथ लाक्षारस, जपाकुसुम आदि उपाधियों का संयोग-वियोग दिखलाई पड़ता है। लेकिन स्फोट-पदप्रत्यय प्रयत्नविशेष से उत्पन्न होने वाले वर्णविशेष से ही अभिव्यक्त होता है। उसकी अभिव्यक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः सादृश्यदोष सदा रहने के कारण पद-स्फोट वर्णरूप से ही ज्ञान का जनक होता है।[२] लेकिन इससे पद-स्फोट वर्णरूप ही है—यह नहीं कहा जा सकता। वह अवर्णरूप ही है। पद निर्भाग (निरवयव) है; किन्तु सादृश्यरूप उपाधि के कारण उसके अवयवों की कल्पना की जाती है। वस्तुतः पद के वर्णरूप अवयव नहीं होते हैं। पूर्व तथा पररूप अवयवों के न होने से ही पद को अक्रम भी कहा जाता है। अतः पद अखण्ड है। वह वर्णों के समान अनेक नहीं, किन्तु एक है। वह एकत्व-बुद्धि का विषय होता है। वर्ण अनेकत्व-बुद्धि के विषय होते हैं। वर्ण प्रयत्नविशेष के द्वारा सम्पादित होता है; जब कि पद वर्णों के द्वारा अभिव्यक्त हुआ करता है। स्फोट नित्य है, वर्ण अनित्य हैं।

पद में वाक्यार्थ-बोधन की आवश्यकता

योग के व्याख्याकारों का कहना है—जिस प्रकार प्रत्येक वर्ण में पदार्थबोधक पद बनने की योग्यता है, उसी प्रकार प्रत्येक पद में वाक्यार्थबोधक वाक्य बनने का भी सामर्थ्य निहित है।[३] अर्थात् पद में वाक्य-शक्ति भी निहित है। पद में वाक्यार्थबोधक वाक्य बनने की योग्यता दो प्रकार से है—प्रथम, अध्याहृत पदों की सहायता द्वारा तथा द्वितीय, स्वरूपतः।

पद में वाक्यार्थबोधन की योग्यता है, यह बतलाने के लिए योग के व्याख्याकारों का कहना है कि दूसरे व्यक्ति को बोध कराने के लिए शब्दप्रयोग किया जाता है। दूसरे को उसी

---

[१] अभागमक्रममवर्णं चेत् पदतत्त्वं कस्मादेवंविधं कदाचिन्न प्रथते? न हि लाक्षारसावसेकोपधानापादितारुणभावः स्फटिकमणिस्तदपगमे स्वच्छो धवलो नानुभूयते। तस्मात् पारमार्थिका एव वर्णाः—त० वै० पृ० ३२४-३२७।

[२] पदप्रत्ययस्य तु प्रयत्नभेदोपनीतध्वनिभेदादन्यतोऽनुत्पादात्तस्य च सदा सादृश्यदोषरूषिततया वर्णात्मनैव प्रत्ययजनकत्वमिति कुतो निरुपाधिनः पदस्य प्रथा—त० वै० पृ० ३२७।

[३] सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः—त० वै० पृ० ३२८।

का बोध कराया जाता है, जिसके जानने की वह इच्छा रखे। मनुष्य उसी के जानने की इच्छा रखता है जिसको वह ग्रहण कर सके। लेकिन पदार्थ ग्रहण के योग्य नहीं होता है। वाक्यार्थ ही ग्रहण के योग्य हुआ करता है। क्योंकि जितने शब्द हैं वे वाक्यार्थपरक ही होते हैं।[१] अतः वाक्यार्थ ही सब पदों का अर्थ माना जाता है। इसलिए केवल एक पद के प्रयोगकाल में भी आकांक्षित पदों का अध्याहार करके अर्थ समझा जाता है। क्योंकि एक पद में अर्थबोधन का सामर्थ्य निहित नहीं है। उदाहरणरूप में 'वृक्ष' पद के उच्चारण से **अस्ति**—क्रिया का अध्याहार किया जाता है। क्योंकि पदार्थ (कारक) कभी सत्ता (अस्तित्व) को छोड़कर नहीं रह सकता; यह अनुभवसिद्ध है। अन्य शास्त्रों का भी यही सिद्धान्त है।[२] अतः क्रियापद के बिना कारकों की स्थिति न रहने से उनमें वाक्यार्थबोधन की शक्ति स्वीकृत है।

इसी प्रकार क्रियापद भी कारकपद के बिना नहीं रह सकता है। क्योंकि क्रिया का क्रियात्व कारक के बिना उपपन्न नहीं होता है। क्रिया चाहे कर्तृ-कारक की अपेक्षा रखे अथवा कर्म या करण की; किन्तु उसे कारक की अपेक्षा ही नहीं—ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इसलिए **'पचति'** कहने से कर्त्ता (देवदत्त), कर्म (ओदन) आदि कारकों के अध्याहार की आकांक्षा होती है। बुद्धिमान् व्यक्ति प्रसङ्ग के अनुसार कारकों का अध्याहार भी किया करता है। कहा जा सकता है कि क्रियापद में भी वाक्यार्थबोधन की योग्यता निहित है। यदि क्रिया में ऐसी योग्यता निहित न होती तो वह कभी भी कारक का आक्षेप न कर पाती। अतः पद में अन्य पदों की सहायता से वाक्यार्थबोधन की योग्यता है।

पद में वाक्यार्थबोधन की स्वरूपयोग्यता बतलाते हुए योग के व्याख्याकार कहते हैं—कतिपय ऐसे भी पद हैं जो क्रिया या कारकवाची अन्य पदों की अपेक्षा किए बिना भी वाक्यार्थबोध कराते हैं। उदाहरणरूप में 'श्रोत्रिय', 'जीवति' आदि पद। श्रोत्रिय पद का अर्थ है—जो वेद का अध्ययन करता है; 'जीवति' पद का अर्थ है—जो प्राणों को धारण करता है। इन पदों से इस प्रकार का वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता था, यदि उनमें इस प्रकार के अर्थबोध की शक्ति निहित न रहती। कहा जा सकता है जैसे पद के कल्पित भाग होने से वर्णों में पदार्थशक्ति निहित है, उसी प्रकार वाक्य का भाग होने से पदों में भी वाक्यार्थ-शक्ति निहित है।

यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है—यदि वाक्य का अर्थ एक पद से ही निकल आता है तो वाक्य-प्रयोग क्यों किया जाता है? क्योंकि एक पद के उच्चारण में प्रयत्नलाघव है और अल्प प्रयास करना मनुष्य का स्वभाव है।

उपर्युक्त शङ्का के समाधानार्थ आचार्य **वाचस्पति मिश्र** कहते हैं—पूर्वपक्षी की शङ्का कुछ अंश तक अवश्य मान्य है। तथापि वक्ता के अभिप्राय को श्रोता तभी असन्दिग्धरूप से समझ पाता है, जब वक्ता अपना तात्पर्य समझाने के लिए वाक्य-प्रयोग करे। क्योंकि पद में

---

[१] **तथा च वाक्यमेव तत्र तत्र वाचकं न तु पदानि। तद्भागतया तु तेषामप्यस्ति वाक्यार्थवाचकशक्तिः**—त० वै० पृ० ३२८।

[२] **यत्रान्यत् क्रियापदं नास्ति तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रयोक्तव्यः**—त० वै० पृ० ३२९।

वाक्यार्थशक्ति विद्यमान रहने पर भी उससे स्पष्टतया वाक्यार्थ अभिव्यक्त नहीं हो पाता है। अतः फलाभिमुख होने से पद की अपेक्षा कष्टसाध्य वाक्य-प्रयोग उचित ही है।

योग के व्याख्याकार वाक्य-प्रयोग के अन्य प्रयोजन को भी प्रकाश में लाए हैं। उनका कथन है कि संस्कृत वाङ्मय में ऐसे भी कतिपय पद हैं, जिनका क्रिया तथा कारकरूप समान है और व्याकरण की दृष्टि से वे शुद्ध भी हैं। किन्तु वाक्य में प्रयुक्त अन्य पदों की सहायता से उनके वास्तविकरूप (क्रियारूप अथवा कारकरूप) का ज्ञान हो पाता है। यदि वक्ता वाक्य-प्रयोग न करके भिन्न-भिन्न अर्थ वाले पदों का ही प्रयोग करे तो श्रोता, वक्ता के अभिप्राय को कथमपि नहीं समझ सकता है। अतः अभिप्राय के स्पष्टीकरणार्थ वाक्य-प्रयोग अत्यावश्यक है।

योग के व्याख्याकार वाक्य-प्रयोग द्वारा उन शब्दों को भी उपस्थित करते हैं, जिनका बाह्यरूप तुल्य है, किन्तु अर्थ एवं पदजाति के आधार पर वे भिन्न-भिन्न हैं और व्याकरण की अन्वाख्यान-पद्धति (प्रकृति तथा प्रत्यय के विभेदीकरण) से ही उनका अर्थज्ञान हो पाता है। जैसे **घटो भवति** (घट है) और **भवति भिक्षां देहि** (आप भिक्षा दें)—इन दो वाक्यों में प्रयुक्त प्रथम **'भवति'** पद क्रियापरक है और द्वितीय **'भवति'** पद नामपरक है, जबकि दोनों का बाह्य रूप तुल्य है। **अश्वः त्वम्** (तुम जाओ) और **अश्वो याति** (अश्व जाता है)—इन दो वाक्यों की भी यही स्थिति है। व्याकरणशास्त्र के विशेषज्ञ प्रथम **'अश्वः'** पद को क्रियार्थक (अश्वः क्रिया श्वो धातु, लुङलकार का रूप है) और द्वितीय **'अश्वः'** पद को घोटकार्थक मानते हैं। वाक्य में प्रयुक्त अन्य पदों की सहायता से ही ये अपना वास्तविक रूप प्रदर्शित करते हैं, अन्यथा नहीं। अतः पद में वाक्यार्थ का ज्ञान कराने का सामर्थ्य निहित रहने पर भी अभिप्राय के स्पष्टीकरणार्थ वाक्य-प्रयोग व्यर्थ नहीं है।

आचार्य **वाचस्पति मिश्र** ने पद में वाक्यशक्ति बतलाते हुए योगाभिमत वाक्यस्फोट की ओर संकेत किया है। लेकिन पदस्फोट के समान वाक्यस्फोट भी होता है, ऐसा उन्होंने स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने इसका स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है।[1] आचार्य **नारायणतीर्थ** की—वर्णाभिव्यङ्ग्य पदतत्त्व एवं पदाभिव्यङ्ग्य वाक्यतत्त्व शब्द का अभिधेय है—इस पंक्ति से स्पष्ट है कि उन्होंने भी योगदर्शन में पदस्फोट के समान वाक्यस्फोट को मान्यता दी है।[2] योगसुधाकर में भी उपर्युक्त मान्यता को समर्थन प्राप्त है।[3]

स्फोटवाद के प्रतिपादन से विदित हुआ कि इस विषय में व्याख्याकारों का मतभेद नहीं है। स्फोटवाद के प्रतिपादन की शैली सबकी समान है। इतना अवश्य है कि आचार्य **नागेश भट्ट** को छोड़कर अन्य वृत्तिकारों (**भोजदेव, नारायणतीर्थ, भावागणेश, सदाशिवेन्द्रसरस्वती, अनन्तदेव पण्डित** तथा **बलदेव मिश्र**) ने इस पर विचार नहीं किया है।

---

[1] **नन्वेवं युक्तिसाम्याद्वाक्यमपि स्फोटरूपं एकैकं स्याद् इति चेत् ? बाधकाभावे सतीष्टत्वात्—यो० वा० पृ० ३२५।**

[2] **वर्णव्यङ्ग्यं पदं पदव्यङ्ग्यं वाक्यमिति शब्दतत्त्वम्—सू० बो० पृ० ३८।**

[3] **तेषां वर्णव्यङ्ग्यं पदं पदव्यङ्ग्यं वाक्यं शक्त्यादिवृत्त्या बोधकमिति शब्दतत्त्वम्—यो० सु० पृ० ६४।**

इससे वेदान्त, न्याय, मीमांसा के दार्शनिकों की भाँति उन्हें भी यह वाद स्वीकृत नहीं था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस विषय पर विचार न करने के कई कारण हो सकते हैं। (१) हो सकता है कि शास्त्र के चरम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति में इस वाद का विशेष उपयोग न होने के कारण वे इस विवादग्रस्त विषय के किन्तु-परन्तु के झगड़े में नहीं पड़े हों। (२) अथवा महर्षि **व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र** आदि पूर्वाचार्यों द्वारा उक्त विषय की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाने के पश्चात् पुनः उस पर विचार करना उन्हें अन्यथा (अनावश्यक) प्रतीत हुआ हो। (३) तृतीय प्रबल प्रमाण यह है कि यदि वे पूर्वाचार्यों के इस मत से सहमत न होते तो अवश्य ही अपने मौलिक सिद्धान्त की स्थापना एवं पूर्वाचार्यों के मत का खण्डन करते, क्योंकि मानवमात्र का स्वभाव है कि वह अपने मत की स्थापना एवं उसकी प्रसिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है। लेकिन उन्होंने (**भावागणेश, सदाशिवेन्द्रसरस्वती, अनन्तदेव पण्डित** एवं **बलदेवमिश्र**) ऐसा न कियां। अतः कहा जा सकता है कि आचार्य **भावागणेश** आदि भी योगाभिमत स्फोटवाद के समर्थक हैं।

अध्याय—४

ईश्वरवाद

ईश्वर का स्वरूप एवं तत्समानजातीय अन्य पुरुषों से उसकी भिन्नता
ईश्वर के उपाधिभूत चित्त का स्वरूप एवं दोनों का संयोग
महाप्रलय में ईश्वरोपाधि का लय होता है अथवा नहीं ?
ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष में शास्त्र-प्रमाण
अनुमान-प्रमाण से ईश्वर के निरतिशय सामर्थ्य की सिद्धि
ईश्वर की अद्वितीयता
बुद्ध आदि ईश्वर नहीं
ईश्वर की अनादि गुरुता
ईश्वर की प्रवृत्ति में हेतु
जीवात्म-साक्षात्कार की अपेक्षा परमात्म-साक्षात्कार का वैशिष्ट्य
जीव में आत्मत्व-प्रयोग गौण
जीव और ईश्वर में अंशांशिभावसम्बन्ध
अवतारवाद
ईश्वर-चिन्तन की विधि
ईश्वर के स्वरूपप्रतिपादन का उद्देश्य

अध्याय–४

चित्रपट्ट सं० १

पुरुष-जातियाँ	वास्तविक भोग	औपाधिक भोग	औपाधिक भोग-शून्यता	पूर्वकालिक बन्ध	उत्तरकालिक बन्ध	त्रैकालिक-बन्ध	त्रैकालिक-बन्ध-शून्यता
पुरुष-सामान्य	नहीं	हाँ	नहीं	हाँ	हाँ	हाँ	नहीं
पुरुष-विशेष: विदेहलीन प्रकृतिलीन →	नहीं	हाँ	नहीं	हाँ	हाँ	नहीं	नहीं
पुरुष-विशेष: मुक्त →	नहीं	हाँ	नहीं	हाँ	नहीं	नहीं	नहीं
पुरुष-विशेष-ईश्वर	नहीं	नहीं	हाँ	नहीं	नहीं	नहीं	हाँ

चित्रपट्ट सं० २
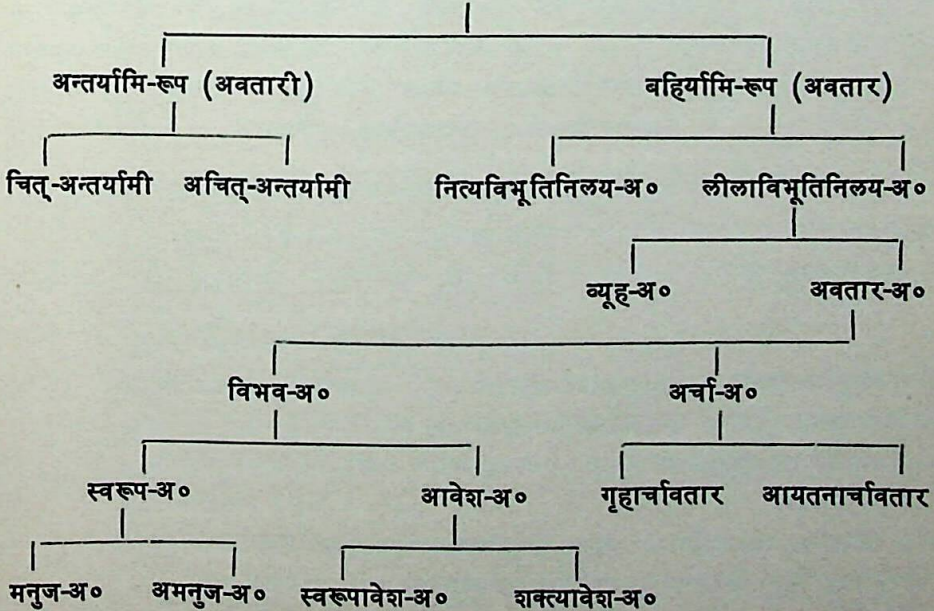
अध्याय—४

ईश्वरवाद

आसन तथा प्राणायाम जैसी कष्टसाध्य क्रियाओं को सुनकर कोमल शरीरधारी हठयोग में प्रवृत्त होने से भयभीत होते हैं। चंचल स्वभाव के व्यक्ति प्रकृति आदि सूक्ष्म पदार्थों में चित्त को स्थिर करने की कल्पना भी नहीं कर पाते हैं। प्रत्यक्षवादी अलक्ष्यभूत ईश्वर-तत्त्व के चिन्तन में विश्वास नहीं करते हैं। भक्तिरस से आप्लावित भक्तगण प्रभु का ध्यान करने से अतिरिक्त भौतिक, तुच्छ किन्तु सत्य तत्त्वों के चिन्तन की बात भी नहीं सोच पाते हैं। भिन्न-भिन्न स्वभाव के व्यक्ति जीवन का चरम-लक्ष्य मोक्ष कैसे उपलब्ध कर सकें?—इस प्रश्न के समाधानार्थ महर्षि पतञ्जलि ने भिन्न-भिन्न मार्गों का प्रदर्शन करने वाले योगशास्त्र का निर्माण किया। इससे ज्ञानी, कर्मी, भक्तिवादी, प्रत्यक्षवादी एवं हठयोगी आदि सभी प्रकार के साधक अपने अनुकूल मार्ग का अनुसरण कर लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। पातञ्जल-योगशास्त्र—ज्ञानयोग, हठयोग, कर्मयोग, प्रेम-भक्तियोग, अद्वैतयोग, लययोग, ध्यानयोग, चर्यायोग आदि सभी योगों का एक महायोग है। यह एकान्तवादी दर्शन नहीं अपितु समन्वयवादी दर्शन है। यह एक व्यक्ति का नहीं अपितु मानवमात्र का सर्वाङ्गीण विकास करने वाला है।

ईश्वर-भक्तों की तुष्टि के लिए महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में भक्तियोग[१] का समावेश किया और उसे सर्वश्रेष्ठ साधन घोषित किया है।[२] यह भक्तियोग ईश्वरतत्त्व से सम्बन्धित है, इसलिए योगशास्त्र में ईश्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि जगत् के सृजन एवं उपसंहार में ईश्वर का विशेष उपयोग नहीं है तथापि साधक को अल्प प्रयास से मोक्ष-प्राप्ति के अन्तिम एवं मुख्यतम साधन असम्प्रज्ञात-समाधि तक पहुँचाने में भगवत्कृपा सर्वोत्तम उपाय है। भगवत्कृपा ईश्वर-चिन्तन पर अवलम्बित है।

ईश्वर का स्वरूप एवं तत्समानजातीय अन्य पुरुषों से उसकी भिन्नता

योग के व्याख्याकारों के अनुसार अविद्या आदि पाँच क्लेश, राग-द्वेष आदि से उत्पन्न अच्छे-बुरे कर्म, कर्मानुसार फलोपभोग एवं भोगरूप वृत्ति से उत्पन्न वासनापुञ्ज—

---

[१] ईश्वरप्रणिधानाद्वा—यो० सू० १।२३।

[२] परमात्मप्रज्ञाऽन्तस्योपायस्य स्वधिमात्रतीव्रसंवेगत्वाभावेऽप्यासन्नतमोऽसंप्रज्ञातो भवतीति···उभयो प्रज्ञयोरेव देहाद्यभिमाननिवर्त्तकत्वेन परवैराग्यद्वारकत्वसाम्येऽप्यतितीव्राभ्यासं विनाऽपि परमात्मप्रज्ञाया आसन्नतमयोगहेतुतया श्रैष्ठ्यात्—यो० वा० पृ० ६३।

(ख) ईश्वरस्तं ध्यायिनमभिध्यानमात्रेण 'अस्य समाधिमोक्षावासन्नतमौ भवेताम्' इतीच्छामात्रेण रोगाशक्त्यादिभिरुपायानुष्ठानमान्द्येऽप्यनुगृह्णात्यानुकूल्यं भजते—यो० वा० पृ० ६४।

इन सबसे ईश्वर सर्वदा अस्पृष्ट है ।[१] यद्यपि पुरुषमात्र में क्लेशादि से असम्बद्धता पाई जाती है तथापि बुद्धि, अहङ्कार, इन्द्रिय आदि उपाधियों के संयोग से जीवत्व[२] को प्राप्त हुए पुरुष में अपनी समीपवर्त्तिनी बुद्धि के धर्मों का प्रतिसंक्रमण होता है। इससे अकर्त्ता होते हुए भी जीव (पुरुष) अपने को भोक्ता समझता है। पुरुष में चिच्छायापत्ति से बुद्धिगत सुख-दुःख आदि धर्मों का प्रतिफलन होता है। इस सम्बन्ध की स्थापना करती है—अविद्या। बुद्धि की सम्पत्ति का अपने को स्वामी समझना ही पुरुष का बन्ध है। अविद्याकृत बन्धन का स्वरूप समझकर उससे मुक्ति पाने के लिए योग-साधना में प्रवृत्त हुआ बद्ध पुरुष कालान्तर में (वर्तमान या आगामी किसी जन्म में) प्रकृति तथा पुरुष के भेदज्ञान के पश्चात् अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, जिसे मोक्ष कहते हैं। अतः मुक्त पुरुषों की पहले बद्धावस्था रहती है। यही स्थिति विदेह और प्रकृतिलीन योगियों की है; क्योंकि उनका उत्तरकालिक-बन्ध होता है।[3] साधारण पुरुषों का तो कहना ही क्या? वे बद्ध ही रहते हैं। इन अनन्त पुरुषों में एक विशिष्ट पुरुष भी है। वह बन्धन के कारण से सदा मुक्त रहने के कारण उसके कार्य से भी पूर्णतया असम्पृक्त है।[४] तात्पर्य यह है—यद्यपि सुख-दुःख आदि का वास्तविक भोगशून्यत्व पुरुषमात्र का स्वरूप है तथापि पुरुष-विशेष में औपाधिक भोग भी उपलब्ध नहीं होता है। यही पुरुष-विशेष योगदर्शन में ईश्वर नाम से अभिहित है।

औपाधिक भोगशून्यता एवं त्रैकालिक बन्धशून्यता मात्र पुरुषविशेष का स्वरूप नहीं। वह अप्रतिहत सामर्थ्य (ऐश्वर्य)-सम्पन्न भी है। यह प्रतिबन्धशून्य सामर्थ्य ज्ञान एवं क्रिया (प्रवृत्ति) रूप है।[५] चूंकि ज्ञान तथा क्रिया चित्त (बुद्धि) के धर्म हैं इसलिए ईश्वर को भी चित्तरूप उपाधि धारण करनी पड़ती है। योगदर्शन में सर्वज्ञत्व (अप्रतिहत ज्ञान-

---

[१] (क) ते (अविद्याऽऽदयः) मनसि वर्तमानाः सांसारिके पुरुषे व्यपदिश्यन्ते···बुद्धिस्थेनापि पुरुषमात्रसाधारणेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः—त० वै० पृ० ६५-६६।
(ख) तु०-यो० वा० पृ० ६५।
(ग) तु०—रा० मा० पृ० १०।
(घ) ना० बृ० वृ० पृ० २३८।

[२] तथान्तःकरणैर्योगाज्जीव इत्युच्यते चितिः—सां० सा० पृ० ३३।

[३] कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि······इह तु पूर्वापरकोटिनिषेधः—त० वै० पृ० ६७।

[४] (क) स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः······—त० वै० पृ० ६७।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ६७।
(ग) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २३९।

[५] (क) ज्ञानक्रियाशक्तिसम्पत्—त० वै० पृ० ६७।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ६७।
(ग) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २३९।
(घ) तु०—यो० प्र० पृ० १२।

वत्ता) का वैसा ही स्वरूप कहा गया है जैसा कि न्यायवैशेषिक में वह प्रतिपादित हुआ है। लेकिन दोनों में सूक्ष्म अन्तर यह है कि योगदर्शन में न्यायवैशेषिक की तरह चेतन आत्मा में सर्वज्ञत्व का समर्थन नहीं किया गया, अपितु उसके उपाधिभूत सत्त्वगुणप्रधान-बुद्धि में ही ईश्वरीय सर्वज्ञत्व की कल्पना की गई है।[१]

ईश्वर के उपाधिभूत चित्त का स्वरूप एवं दोनों का संयोग

प्रथम हेतु—ईश्वरोपाधि-चित्त जीवोपाधि-चित्त से भिन्न है। वह रजस् तथा तमस् से रहित विशुद्ध सत्त्वगुणप्रधान है। जीव का उपाधिभूत चित्त त्रिगुणात्मक है। लेकिन दोनों चित्त प्रकृति के कार्य हैं।

जीव (पुरुष) का चित्त के साथ सम्बन्ध अविद्या के कारण है। लेकिन ईश्वर का अपनी उपाधि के साथ सम्बन्ध—ज्ञान तथा धर्म के उपदेश द्वारा तापत्रय से पीड़ित प्राणिमात्र का संसार के आवागमन से उद्धार करूँगा—इस प्रयोजन से होता है, अविद्या के कारण नहीं। ईश्वर में अज्ञान नहीं है।[२] योग के प्रायः सभी व्याख्याकारों की ओर से ईश्वर एवं उसकी उपाधि के संयोग का यह मुख्य समाधान है।

उक्त विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य **वाचस्पति मिश्र** कहते हैं—अविद्या को वास्तविक (तात्त्विक) समझने वाला व्यक्ति ही भ्रान्त कहा जाता है। अविद्या को अवास्तविक समझकर उसका सेवन करने वाला व्यक्ति भ्रमयुक्त नहीं समझा जाता है। जैसे राम, कृष्ण आदि न होता हुआ भी नट अपने में ईश्वरावतार राम-कृष्ण आदि का आरोप कर रङ्गमञ्च पर दर्शकों के समक्ष अभिनय प्रस्तुत करता है। लेकिन कृष्णादि की लीलाओं के प्रदर्शन से वह अपने को उन्मादी नहीं समझता तथा दर्शक भी उसे भ्रान्त नहीं समझते हैं। उसी प्रकार प्रलयकाल के पश्चात् आगामी सृष्टि में ईश्वर का अपने उपाधिभूत चित्त के साथ सम्बन्ध आहार्यज्ञान-पूर्वक होता है। चित्त-ग्रहण करके ईश्वर उसकी सहायता से अनेक प्रकार की लीलाएँ किया करता है। अतः प्रकृष्टसत्त्वप्रधान उपाधि के साथ ईश्वर का सम्बन्ध अविद्यामूलक न होकर जीवों के कल्याणार्थ आहार्यज्ञानपूर्वक है।

प्रकृष्ट-सत्त्व के साथ ईश्वर के संयोग में प्रकृति तथा पुरुष के संयोग के प्रसिद्ध हेतु अविद्या से भिन्न हेतु का उपयोग होता हुआ देखकर पूर्वपक्षी ऊपरिनिर्दिष्ट संयोजक हेतु में अन्योन्याश्रय (इतरेतराश्रय) दोष की उद्भावना करता है।[३] अन्योन्याश्रयदोष का स्वरूप

---

[१] ज्ञानक्रिये हि न चिच्छक्तेरपरिणामिन्याः सम्भवत इति रजस्तमोरहितविशुद्धचित्त-सत्त्वाश्रये वक्तव्ये—त० वै० पृ० ६८।

[२] नेश्वरस्य पृथग्जनस्येवाविद्यानिबन्धनश्चित्तसत्त्वेन स्वस्वामिभावः, किन्तु तापत्रय-परीतान् प्रेत्यभावमहार्णवाज्जन्तूनुद्धरिष्यामि ज्ञानधर्मोपदेशेन। न च ज्ञानक्रिया-सामर्थ्यातिशयसंपत्तिमन्तरेण तदुपदेशः; न चेयमपहतरजस्तमोमलविशुद्धसत्त्वो-पादानं विना—इत्यालोच्य सत्त्वप्रकर्षमुपादत्ते भगवानपरामृष्टोऽप्यविद्यया—त० वै० पृ० ६८-६९।

[३] स्यादेतद् उद्दिधीर्षया भगवता सत्त्वमुपादेयं तदुपादानेन च तदुद्दिधीर्षा अस्या अपि प्राकृतत्वात्—त० वै० पृ० ६९।

इस प्रकार है—इच्छा चित्त का धर्म है। जीवों का उद्धार करने की इच्छा होने पर ही ईश्वर प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त धारण कर सकता है। लेकिन प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त के पूर्व-गृहीत होने पर ही ईश्वर में जीवोद्धार की इच्छा उत्पन्न हो सकती है, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह हुआ—जैसे चित्त-ग्रहण से पूर्व ईश्वरेच्छा अनिवार्य है; वैसे ही ईश्वरेच्छा से पूर्व चित्त का गृहीत होना आवश्यक है। इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष लगता है। अतः प्रकृष्ट-सत्त्वप्रधान चित्त तथा ईश्वर के संयोग का उपर्युक्त हेतु ठीक नहीं है। ईश्वर में आविद्यक संयोग भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि ईश्वर क्लेशादि से शून्य है। अतः ईश्वर का प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त के साथ किस प्रकार संयोग हो सकता है ?

पूर्वपक्षी की उपर्युक्त शङ्का के निरसनार्थ आचार्य **वाचस्पति** कहते हैं—ईश्वर तथा उसके उपाधिभूत चित्त के संयोग में अन्योन्याश्रयदोष की सम्भावना तभी हो सकती थी यदि यह प्रथम सृष्टि होती। लेकिन ऐसा नहीं है। सृष्टि तथा प्रलय का चक्र बीजाङ्कुरन्याय की भाँति अनादिकाल से चला आ रहा है।[1] प्रत्येक सृष्टि के संहारकाल में—जब प्रलय की अवधि समाप्त होगी तब मैं जीवकल्याणार्थ विशुद्धचित्त को पुनः धारण करूँगा—इस प्रकार का सङ्कल्प करता हुआ ईश्वर चित्तसत्त्व को मूलकारण प्रकृति में तिरोहित करता है। इस प्रकार प्रकृति का कार्य प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त भी प्रलय के समय अपने मूल-कारण में सूक्ष्मरूप से अवस्थित हो जाता है। किन्तु जगदुत्पत्ति (अभिव्यक्ति)-काल में पुनरुत्थान की वासना से वासित चित्त पुनः उत्थित होकर ईश्वर के साथ उक्त संकल्प से संयुक्त हो जाता है। फलस्वरूप ईश्वर भी ज्ञान-धर्म के उपदेश के लिए पुनः प्रवृत्त होता है।[2] निश्चित समय में मूलकारण से उत्थित होकर ईश्वरोपाधि प्रकृष्टचित्त का उपधेय के साथ संयुक्त होना उसी प्रकार है जिस प्रकार रात्रि में व्यक्ति अगले दिन प्रातः निश्चित समय पर जागने का दृढ़ संकल्प करके सोता है और उसी समय उसकी निद्रा भङ्ग भी हो जाती है। यह जागृति उसके दृढ संकल्प द्वारा छोड़े गए संस्कार के बल पर होती है।[3] अतः आचार्य **वाचस्पति मिश्र** एवं उनके मतानुयायियों के अनुसार ईश्वर लोक-कल्याणार्थ अपनी उपाधि प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त के साथ आहार्यज्ञानपूर्वक संयुक्त होता है।

द्वितीय हेतु—आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने **वाचस्पति मिश्र** आदि व्याख्याकारों द्वारा ईश्वरो-पाधि के साथ ईश्वर के संयोगार्थ दिए गए उक्त हेतु को गौण कोटि में रखा।[4] उनका वक्तव्य

---

[1] भवेदेतदेवं यदीदंप्रथमता सर्गस्य भवेत्—त० वै० पृ० ६९।

[2] अनादौ तु सर्गसंहारप्रबन्धे सर्गान्तिरसमुत्पन्नसंजिहीर्षाऽवधिसमये पूर्णे मया सत्त्व-प्रकर्ष उपादेय इति प्रणिधानं कृत्वा भगवान् जगत्संजहार। तदा चेश्वरचित्तसत्त्वं प्रणिधानवासितं प्रधानसाम्यमुपगतमपि परिपूर्णे महाप्रलयावधौ प्रणिधानवासना-वशात्तथैवेश्वरचित्तं सत्त्वभावेन परिणमते—त० वै० पृ० ६९।

[3] यथा चैत्रः श्वः प्रातरेवोत्थातव्यं मयेति प्रणिधाय सुप्तस्तदैवोत्तिष्ठते प्रणिधान-संस्कारात्—त० वै० पृ० ६९।

[4] प्रौढ्या प्रकारान्तरेणापि समाधानमाह···तस्य ईश्वरस्य स्वोपकाराभावेऽपि भक्तान् पुरुषानुद्धरिष्यामीत्याशयेन ज्ञानधर्मयोरुपदेशतो भक्तभूतानुग्रहः प्रयो-जनम्···आसुरये तत्त्वं प्रोवाचेत्यर्थः—यो० वा० पृ० ७७-७९।

है—प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—नित्य-प्रवृत्ति एवं अनित्य-प्रवृत्ति। अनित्य (लौकिक) प्रवृत्ति निर्निमित्तिक नहीं हुआ करती, वह निमित्त-सापेक्ष ही होती है। दूसरी तरफ नित्य (अलौकिक) प्रवृत्ति के लिए हेतु की आवश्यकता नहीं रहती, वह स्वाभाविक है। ईश्वर की प्रवृत्ति नित्य है। इसलिए लौकिक प्रवृत्ति के हेतु (इष्टसाधनता-ज्ञान आदि) की भाँति—आत्मकाम ईश्वर की प्रवृत्ति क्यों और कैसे होती है ?—इस प्रकार की शङ्का ही नहीं उठती है।[1] **विज्ञानभिक्षु** के परवर्ती व्याख्याकार **भावागणेश** एवं **नागेश भट्ट**[2] आदि पर भी **विज्ञानभिक्षु** के उक्त मत का प्रभाव पड़ा। उन लोगों ने भी ईश्वर की नित्य-प्रवृत्ति को सहेतुक नहीं माना है।

महाप्रलय में ईश्वरोपाधि का लय होता है अथवा नहीं

ऊपर वर्णित दो विरोधी विचारधाराओं के आधार पर ही महाप्रलय के समय ईश्वरोपाधि का लय होता है अथवा नहीं ?—इस अंश में भी योग के व्याख्याकारों का मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

प्रथम मत—आचार्य **वाचस्पति मिश्र, रामानन्दयति** तथा संक्षिप्त योगसूत्रवृत्तिकार **नागेशभट्ट** ने—ईश्वरोपाधि प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त महाप्रलय में अपने उपधेय ईश्वर से पृथक् होकर मूलकारण प्रकृति में तिरोहित होता है—ऐसा माना है। हेतु उपन्यस्त करते हुए आचार्य **वाचस्पति मिश्र** लिखते हैं—जो जिसका कार्य होता है, कालान्तर में उसका अपने कारण में लय होना स्वाभाविक है। एक पदार्थ से तत्सजातीय द्वितीय पदार्थ की उत्पत्ति और उसी में उसके लय के आधार पर उन दोनों पदार्थों के कार्य-कारणभावसम्बन्ध का निश्चय किया जाता है। यदि महाप्रलय के समय प्रकृति में सत्त्वप्रधान विशुद्ध-चित्त का लय न माना जाए; तो वह प्रकृति का कार्य नहीं कहा जा सकेगा।[3] दूसरी तरफ सांख्ययोगशास्त्र में प्रकृति तथा पुरुष के अतिरिक्त दूसरा पदार्थ स्वीकृत न होने से ईश्वरोपाधि को अर्थान्तर भी नहीं कह सकते हैं।[4] सारांश यह हुआ कि प्रकृष्ट-सत्त्वप्रधान चित्तसत्त्व प्रकृति का कार्य है। यह महाप्रलय के समय अपने मूलकारण में लय को प्राप्त होता हैं।

आचार्य **हरिहरानन्द आरण्यक** ने महाप्रलय में ईश्वरोपाधि का लय होता है—इसका खुलकर समर्थन नहीं किया है। फिर भी **'प्रकृष्टसत्त्वोपादानात्'**—का अर्थ करते समय उन्होंने सार्वज्ञ्ययुक्त बुद्धि (ईश्वरोपाधि) का ईश्वर के साथ संयोग जिस प्रकार बतलाया है[5] वह वियोग पूर्वक ही हो सकता है। क्योंकि संयोग वियोग-सापेक्ष होता है। ईश्वर का अपनी उपाधि से

---

[1] नित्यमुक्तश्चेदीश्वरस्तर्हि···तत्र निमित्तापेक्षा नास्तीति मुख्यसमाधाने····—यो० वा० पृ० ७७।

[2] तत्प्रवृत्तेर्नित्यतया निमित्तानपेक्षत्वात्—ना० बृ० वृ० पृ० २४२।

[3] यस्य हि न कदाचिदपि प्रधानसाम्यं न तत्प्राधानिकम्—त० वै० पृ० ६९।

[4] प्रकृतिपुरुषव्यतिरेकेणार्थान्तराभावात्—त० वै० पृ० ६९।

[5] प्रकृष्टसत्त्वोपादानात्=प्रकृष्टं सार्वज्ञ्ययुक्तं सत्त्वं=बुद्धिः, तस्योपादानात्=तद्रूपाद्युपाधेर्योगात्—भा० पृ० ६८-६९।

वियोग महाप्रलय में ही हो सकता है। इससे प्रतीत होता है कि उपाधि के साथ ईश्वर का संयोग-वियोग बतलाते हुए हरिहरानन्द आरण्यक वाचस्पति मिश्र के साथ हैं। दूसरा हेतु यह है कि वाचस्पति की भाँति हरिहरानन्द आरण्यक ने भी जीवोद्धार को ही ईश्वर की प्रवृत्ति का मुख्य हेतु माना है।[१] उनका कहना है—जगत् की उत्पत्ति और संहार करना ईश्वर का काम नहीं, क्योंकि नित्यमुक्त तथा असङ्ग ईश्वर में जगत् की क्रियाओं का व्यपदेश नहीं किया जा सकता है।[२] शास्त्रों ने नित्यमुक्त ईश्वर में सृष्टयुत्पत्ति आदि कार्यों का निषेध भी किया है।[३] जगत् के आविर्भाव एवं तिरोभाव का काम ईश्वर ने अक्षर ब्रह्म हिरण्यगर्भ को सौंपा है।[४] श्रुतियाँ भी हिरण्यगर्भ को जगत् का पति (स्वामी), कर्त्ता एवं रक्षक सिद्ध करती हैं।[५] हिरण्यगर्भ ईश्वर के समान अनादि मुक्त नहीं है। उसकी भी मुक्ति सुनी जाती है।[६] ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्रस्वरूप भगवान् हिरण्यगर्भ जगत् का अधिष्ठाता है। वह पूर्व सर्ग में सास्मित-समाधि तक पहुँचने के कारण वर्तमान सृष्टि में सर्वज्ञ (सबका अधिष्ठाता) होकर प्रादुर्भूत होता है। इस सर्वज्ञता के बल पर ही वह जगत् को प्रवृत्त करता है। अविप्लुतविवेकख्याति के उदय होने पर जब वह मोक्ष (मुक्तावस्था) पद पर अवस्थित होता है, तब मूलकारण प्रकृति से उत्पन्न सृष्टि (ब्रह्माण्ड) के महाभूत, तन्मात्र, इन्द्रिय आदि सभी पदार्थ अपने-अपने तन्मात्र आदि कारणों में क्रमशः लीन होते हुए परम्परया मूलकारण प्रकृति में सूक्ष्मरूप से स्थित (लय) हो जाते हैं। सांख्य तथा योग का यही सिद्धान्त है।[७] तात्पर्य यह है कि अपरोक्षज्ञानवान् होने से हिरण्यगर्भ जीवन्मुक्त ही है; किन्तु सकल ब्रह्माण्डात्मक जगत् के चलाने का (उसका नियमन करने का) प्रारब्धकर्म उसका अवशिष्ट रहने से उसे तत्काल विदेहमुक्ति नहीं मिलती है। प्रारब्धकर्म का भोग द्वारा क्षय एवं अविप्लुतविवेकज्ञान होने पर वह विदेहमुक्त होता है। फलस्वरूप (सृष्टि का सञ्चालन-कार्य समाप्त होते ही) सृष्टि का भी लय हो जाता है। हरिहरानन्द

---

१ ईश्वराणां कार्यं ज्ञानधर्मोपदेशेन संसारिणां पुरुषाणामुद्धरणम्—भा० पृ० ७७।

२ स च भगवान् परमेश्वरो जगद्व्यापारालिप्तो नित्यमुक्तत्वाद्; मुक्तपुरुषस्य जगत्सर्जनमनुपपन्नम्—भा० पृ० ७५।

३ शास्त्रव्याकोपकञ्च—भा० पृ० ७५।

४ जगत्सर्जनपालनादिकार्यमक्षरब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य···भा० पृ० ७५।

५ हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे विश्वस्य जातः पतिरेक आसीद् इति; ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता—भा० पृ० ७५।

६ न हि जगतः स्रष्टा ब्रह्मा मुक्तपुरुषः, तस्यापि मुक्तिस्मरणात्। उक्तञ्च—ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्—भा० पृ० ७५।

७ ब्रह्मविष्णुरुद्रस्वरूपो भगवान् हिरण्यगर्भः। स हि पूर्वसर्गे सास्मितसमाधिसिद्धेरिह सर्गे सर्वज्ञः सर्वाधिष्ठाता भूत्वा प्रादुर्भूतः। तस्यैशसंस्कारादेव सृष्टिः प्रवर्त्तते। विवेकबलाद् यदा स परं पदं प्रविशति तदा ब्रह्माण्डस्य लय इत्येव श्रुतिस्मृतिसाङ्ख्ययोगानां समीचीनो राद्धान्तः—भा० पृ० ७५।

आरण्यक के उक्त मन्तव्य से स्पष्ट है कि उन्होंने **वाचस्पति मिश्र** द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की प्रवृत्ति तथा ईश्वरोपाधि के लय के सिद्धान्त का ही समर्थन किया है।

द्वितीय मत—आचार्य **भोजदेव, विज्ञानभिक्षु, भावागणेश** एवं बृहद्योगसूत्रवृत्तिकार **नागेश भट्ट** का विचार दूसरा है। ये महाप्रलय में ईश्वरोपाधि का लय नहीं स्वीकार करते हैं। इनका कहना है—ईश्वर का उपाधिभूत विशुद्ध चित्त नित्य है। उस चित्त के ज्ञान, इच्छा आदि धर्म भी नित्य हैं।[१] महाप्रलय में ईश्वर की ज्ञानात्मिका वृत्ति—जो चित्त का धर्म है—बनी रहती है।[२] ईश्वर के लिए महाप्रलय की अवस्था ही नहीं है। श्रुति भी ईश्वर के दिन तथा रात्रि का निषेध करती है।[३] ईश्वर के उपाधि-भूत चित्त का लय मानने पर महाप्रलय में ईश्वर का ज्ञातृत्व नहीं बन पायगा; क्योंकि वृत्ति चित्त का ही धर्म है। महाप्रलय में उपाधिभूत चित्त के बिना ही ईश्वर में ज्ञातृत्व-धर्म मानना प्रमाण के विरुद्ध है।[४]

दूसरा तर्क यह है—ईश्वरेच्छा से ही साम्यावस्थ-प्रकृति (जिसमें गुणों का केवल सदृश-परिणाम चलता रहता है) पुनः वैषम्यावस्था में (जिसमें उत्पत्ति होती है) परिणत होती है। इच्छा प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त का ही धर्म है। यदि महाप्रलय में ईश्वरोपाधि का लय माना जाए तो उपाधि के बिना ईश्वरेच्छा उदित न होने से पुनः सृष्टि नहीं हो सकेगी। अतः प्रकृति की साम्यावस्था में भी ईश्वर के उपाधिभूत चित्त की ज्ञान, इच्छा आदि वृत्तियाँ मानना अपरिहार्य है।[५]

आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट, वाचस्पति मिश्र** के—प्रलयावस्था में ईश्वर संकल्प-पूर्वक उपाधि को अपने से अलग करके शयन करते हैं एवं अग्रिम सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर से अलग हुई उपाधि पूर्वसर्गीय संकल्प के संस्कार से पुनः ईश्वर के समीप आ जाती है—इस मत से सहमत नहीं हैं। महर्षि **पतञ्जलि** ने कहा है कि पुरुष के साथ चित्त के संयोग का मूल है - अविद्या। इस स्थिति के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति में लीन हुए विशुद्ध चित्त के साथ पुरुष-विशेषात्मक ईश्वर के संयोग के लिए ईश्वर को भी अविद्या का

---

१ ईश्वरसत्त्वस्य नित्यमेव ज्ञानेच्छाऽऽदिकम्—यो० वा० पृ० ६८।

२ (क) ईश्वरोपाधेर्ज्ञानलक्षणा वृत्तिः प्रलयेऽप्यस्ति—यो० वा० पृ० ६८।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २३९।

३ नैवाहस्तस्य न निशा नित्यस्य परमात्मनः—यो० वा० पृ० ६८।

४ न चोपाधिवृत्तिं विनैवेशस्य ज्ञातृत्वमेष्टव्यं, बाधकं विना दृष्टानुसारत्यागानौचित्यात्—यो० वा० पृ० ६८।

५ एतत्तमो वा इदमेकमास तत्परे स्यात् तत्परेणेरितं विषयत्वं प्रयाति इत्यादिश्रुतिष्वेव परमेश्वरप्रयत्नेनैव गुणवैषम्यं श्रूयते। तथा

प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ॥

इत्यादिना प्रकृतेर्वैषम्यहेतुः क्षोभोऽपीश्वरेच्छात एव। स्मर्यते च–अतः साम्यावस्थायामप्यगत्येश्वरोपाधेर्ज्ञानादि स्वीकार्यम्—यो० वा० पृ० ६८।

आश्रय लेना पड़ेगा। तद्वशात् ईश्वर भी अविद्या-ग्रस्त हो जायगा।[१] यदि कहा जाय कि ईश्वर को तत्त्वज्ञान रहते हुए भी ईश्वर-चित्तसंयोग अविद्या का एक विलास है तो उक्त विलास से—विद्या से अविद्या बलवत्तर है—यही प्रमाणित हो जायगा। इससे विद्या से अविद्या का नाश होता है—इस प्रकार सौत्र-सिद्धान्त भंग हो जायगा।[२] अतः महाप्रलय में एक बार ईश्वर से वियुक्त हुई उपाधि का ईश्वर के साथ पुनः संयोग—संयोजक हेतु के न रहने से—नहीं हो सकेगा। अतः ईश्वर के साथ प्रकृष्ट-चित्त का अनादि एवं नित्य संयोग है।

द्वितीय हेतु यह है—ईश्वरीय संकल्प को भी दोनों के संयोग का हेतु नहीं माना जा सकता। क्योंकि योगी **याज्ञवल्क्य** आदि ने ईश्वरोपाधि में संस्कार (संकल्पात्मक वासना) आदि का निषेध किया है।[3]

तृतीय हेतु यह है—यदि ईश्वरोपाधि में संस्कार आदि का अस्तित्व स्वीकार करके उपाधि का लय माना भी जाए तो यह ईश्वर की कालातीतता के सिद्धान्त का घातक होगा।[४] क्योंकि श्रुति, स्मृति तथा पातञ्जल-योगशास्त्र में ईश्वर काल की परिधि से परे कहा गया है। इसलिए ईश्वर में अप्रतिहत इच्छा शक्ति कही गई है।[५] अतः ईश्वर के साथ प्रकृष्ट-चित्त का अनादि एवं नित्य सम्बन्ध है।

चतुर्थ हेतु यह है—**वाचस्पति मिश्र** द्वारा प्रतिपादित उपाधि के लय का सिद्धान्त वस्तुतः दैनन्दिन प्रलय में योगनिद्रा से शयन करने वाले स्वयम्भू की उपाधि के विषय में चरितार्थ होता है।[६] उसे ईश्वरोपाधिपरक मानने पर अनेक प्रकार की अनुपपत्तियाँ प्रसक्त होंगी। यह ऊपर कही जा चुकी हैं। अतः महाप्रलय में ईश्वरोपाधि का लय नहीं होता है—ऐसा कहना चाहिए।

आचार्य **सदाशिवेन्द्र सरस्वती** एवं **अनन्तदेव पण्डित** ने ईश्वरोपाधि के लय अथवा अलय के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट नहीं किया है।

मूल्यांकन—द्वितीय पक्ष के समर्थकों ने प्रथम पक्ष को दोषपूर्ण बतलाते हुए अपने पक्ष को प्रामाणिक सिद्ध करने का भरसक प्रयास किया है। लेकिन वैसा मानने पर

---

[१] तस्य हेतुरविद्येत्यागामिसूत्रेणाविद्याया बुद्धिपुरुषसंयोगहेतुत्ववचनेनेश्वरस्याप्यविद्व-स्वापत्तेः—यो० वा० पृ० ६८।

[२] न चाहार्यज्ञानरूपोऽविद्यया संयोगः स्यात्···संयोगहेत्वविद्याया विवेकख्यातिनाश्यत्व-बोधकसूत्रविरोधात्—यो० वा० पृ० ६८।

[३] सूत्रकारेण "क्लेशकर्मविपाकाद्यैर्वासनाभिस्तथैव च। अपरामृष्टमेवाहु पुरुषं हीश्वरं श्रुतिः॥" इति योगियाज्ञवल्क्यादिभिश्चेश्वरोपाधौ संस्कारस्य प्रतिषिद्ध-त्वात्—यो० वा० पृ० ६८।

[४] तथाऽऽगामिसूत्रप्रतिषिद्धं कालावच्छिन्नत्वं चेशे स्यात्—यो० वा० पृ० ६८।

[५] सदैवाप्रतिहतेच्छया युक्तः—यो० वा० पृ० ६७।

[६] तस्मात् प्रलये निरुद्धोऽप्युपाधिः पूर्वसर्गीयसंकल्पवासनाभ्यां स्वयं व्युत्थितो भवतीति यच्छास्त्रं तद् दैनंदिनप्रलये योगनिद्रया शयानस्य स्वयंभुव उपाधिपरमेव, न परमे-श्वरोपाधिपरम्—यो० वा० पृ० ६८।

सांख्ययोगदर्शन का मूलसिद्धान्त व्याहत होता है। सांख्ययोगशास्त्र में प्रकृति एवं पुरुष के अतिरिक्त कोई तीसरा स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकृत नहीं है; जो प्रलय में भी रह सके। **विज्ञानभिक्षु** आदि के अनुसार ईश्वरोपाधि को नित्य मानने पर उसे स्वतन्त्र पदार्थ मानना पड़ेगा। किन्तु यह सांख्ययोगशास्त्र की तत्त्वमीमांसा के विरुद्ध है। अतः ईश्वरोपाधि को स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना जा सकता है। उसे प्रकृति का कार्य मानना अपरिहार्य है। सत्कार्यवाद के अनुसार जो जिसका कार्य है उसका कारण में लय होना आवश्यक है। अतः महाप्रलय में ईश्वरोपाधि का अपने मूलकारण में लय होता है। इस प्रकार ईश्वरोपाधि के सम्बन्ध में **वाचस्पति मिश्र** आदि व्याख्याकारों का मत योगशास्त्र के अनुकूल प्रतीत होता है।

ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष में शास्त्र-प्रमाण

वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु आदि का मन्तव्य है कि ईश्वर के सर्वज्ञत्व आदि नित्य ऐश्वर्यात्मक उत्कर्ष में श्रुति, स्मृति, इतिहास तथा पुराण आदि शास्त्र प्रमाण हैं।

निगम को प्रमाणाभास समझने वाले बौद्ध, जैन आदि दार्शनिक शङ्का करते हैं—जब शास्त्र का ही स्वतः प्रामाण्य नहीं है, तब वह अपने द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की प्रामाणिकता कैसे सिद्ध कर सकता है? प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से ज्ञात पदार्थों के प्रतिपादक वाक्यविशेषों का समुदाय शास्त्र कहलाता है। ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता किसी के द्वारा नहीं देखी गई है और अनुमापक लिङ्ग न होने से उसका अनुमित्यात्मक-ज्ञान भी किसी को नहीं हो सका है। यदि कहा जाए कि ईश्वर ने आत्मैश्वर्य के लिए स्वयं शास्त्र का निर्माण किया—तो यह भी सम्भव नहीं है। अतः शास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध न होने से उसके आधार पर ईश्वर को नित्य ऐश्वर्यवान् कहना उचित नहीं है।[1]

आचार्य **वाचस्पति मिश्र** एवं **नागेश भट्ट** पूर्वपक्षी के उक्त तर्क का खण्डन करते हुए कहते हैं—वेद आदि शास्त्र के प्रामाण्य में ईश्वर की विशुद्धचित्तरूप उपाधि ही प्रमाण है। वेद, आयुर्वेद आदि शास्त्र असन्दिग्ध तथा यथार्थ वस्तु के प्रतिपादक हैं। उनमें कथित विधियों के प्रयोग से सभी प्रयोजन अवश्य सिद्ध होते हैं। आयुर्वेद-शास्त्र में रोगों की शान्ति के लिए जिस-जिस औषधि का सेवन विहित है वे सभी औषधियाँ तत्-तत् रोगों का समूलोच्छेद करने में नितान्त समर्थ हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न शक्तियों से युक्त वैदिक मन्त्र अपना पूरा प्रभाव दिखलाते हैं।[2] मनुष्य हजारों बार जन्म ग्रहण करके

---

[1] **प्रत्यक्षानुमानपूर्वं हि शास्त्रम्। न चेश्वरस्य सत्त्वप्रकर्षे कस्यचित्प्रत्यक्षमनुमानं वाऽस्ति। न चेश्वरप्रत्यक्षप्रभवं शास्त्रमिति युक्तम्। कल्पयित्वापि ह्ययं ब्रूयादात्मैश्वर्यप्रकाशनायेति भावः—त० वै० पृ० ७०।**

[2] **(क) मन्त्रायुर्वेदेषु तावदीश्वरप्रणीतेषु प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थाव्यभिचारविनिश्चयात् प्रामाण्यं सिद्धम्—त० वै० पृ० ७०।**

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २४०।

इस प्रकार अबाधित शास्त्रों का निर्माण नहीं कर सकता है।[१] अतः वेदादि शास्त्रों के रचयिता ईश्वर होने से उन शास्त्रों का प्रामाण्य है। आगमप्रतिपादित ईश्वर की सर्वज्ञता एवं तन्निर्मित शास्त्र की प्रामाणिकता में बाधक तर्क नहीं है। ईश्वर में सर्वज्ञता आदि धर्मों के सिद्ध होने से उसके उपाधिभूत चित्त की रजस् एवं तमस् रूप मल से रहित विशुद्ध सत्त्वावस्था भी सिद्ध होती है। ईश्वर प्रणीत अभ्युदय तथा निःश्रेयसपरक वेदराशि ईश्वर के उपाधिभूत बुद्धिसत्त्व के प्रकर्ष का ही फल है। अतः कहा जाता है कि ईश्वर सदैव ऐश्वर्यशाली है।

अनुमान-प्रमाण से ईश्वर के निरतिशय सामर्थ्य की सिद्धि

ईश्वर और उसका निरतिशय ज्ञान आगमप्रमाण से ही नहीं, अपितु अनुमानप्रमाण से भी सिद्ध है। संसार के जितने भी पदार्थ हैं, उनमें न्यूनाधिकभाव है। जिस वस्तु की न्यूनाधिक महत्ता रहती है उसकी एक अल्पतम तथा एक अधिकतम सीमा भी हुआ करती है। जैसे—संसार के छोटे-बड़े परिमाण के पदार्थों में अणु का अल्पतम परिमाण है तथा प्रकाश का अधिकतम परिमाण है। इसी प्रकार ज्ञान एवं क्रिया की भी एक अधिकतम सीमा है। जैसे—संसार के अतीत, वर्तमान तथा अनागतकालिक स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थों में से किसी को वर्तमानकालिक किञ्चित् पदार्थों का, किसी को वर्तमान-कालिक तथा भूतकालिक किञ्चित् पदार्थों का एवं किसी को त्रैकालिक किञ्चित् पदार्थों का ज्ञान रहता है। त्रैकालिक पदार्थों में से भी किसी को बहुत कम पदार्थों का और किसी को बहुत अधिक पदार्थों का ज्ञान रहता है।[२] इसके अतिरिक्त मनुष्यों को होने वाला पदार्थविषयकज्ञान यथार्थ ही हो, यह भी अनिवार्य नहीं है। क्योंकि रजस् एवं तमस् से आवृत्त प्राणियों की बुद्धि भ्रामक होती है। किन्तु ईश्वर को संसार के यावत् पदार्थों का सर्वदा यथार्थज्ञान (प्रत्यक्षप्रमा) ही रहता है। इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होता हुआ ज्ञान जिसमें निरतिशयरूप काष्ठा (चरम सीमा) प्राप्त करता है, वह सर्वज्ञ है।[३] इस प्रकार की सर्वज्ञता ईश्वर में ही है। ईश्वर के निरतिशय ज्ञान का साधक अनुमानप्रयोग इस प्रकार है[४]—सर्वज्ञ का बीज कहीं चरमावधि को प्राप्त होता है, सातिशय होने से, परिमाण के समान।

---

१ (क) न चौषधिभेदानां तत्तत्संयोगविशेषाणां च मन्त्राणां च तत्तद्वर्णावापोद्धारेण सहस्रेणापि पुरुषायुषैर्लौकिकप्रमाणव्यवहारी शक्तः कर्तुमन्वयव्यतिरेकौ—त० वै० पृ० ७०।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २४०।

२ बुद्धिसत्त्वावरकतमोऽपगमतारतम्येन यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नानां प्रत्येकं च समुच्चयेन च वर्तमानानामतीन्द्रियाणां ग्रहणं तस्य विशेषणमल्पं बहु—त० वै० पृ० ७४।

३ एतद्धि वर्द्धमानं यत्र निष्क्रान्तमतिशयात् स सर्वज्ञः—त० वै० पृ० ७४।

४ अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य, सातिशयत्वात् परिमाणवत्—व्या० भा० पृ० ७५।

उदाहरण को स्पष्ट करते हुए **वाचस्पति मिश्र** कहते हैं[1]—जो सातिशय होता है, वह निरतिशयता को अवश्य प्राप्त होता है। जैसे—कुबेर, आमलक, बिल्व आदि में रहने वाला परिमित परिमाण बढ़ता हुआ आत्मा में निरतिशयता को प्राप्त होता है। आत्मा का परममहत् परिमाण स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार ज्ञान की निरतिशयता एकमात्र ईश्वर में ही है।

ईश्वर की अद्वितीयता

ईश्वर के अप्रतिहत ऐश्वर्य का सिद्धान्त देखकर कहीं पूर्वपक्षी अणिमा आदि ऐश्वर्य-सम्पन्न योगियों के समकक्ष ईश्वर को न लाने लगे, इसलिए **वाचस्पति** आदि व्याख्याकारों ने सिद्धिप्राप्त योगियों से भी ईश्वर को पृथक् किया है। उनका कहना है कि ईश्वर में निरतिशय ऐश्वर्य है। यह एकमात्र ईश्वर में है, अन्य में नहीं। सिद्धि-प्राप्त योगियों में न्यूनाधिक परिमाण का ऐश्वर्य है तथा कभी-कभी दो योगियों में तुल्य परिमाण का ऐश्वर्य भी उपलब्ध होता है। अतः सिद्धिप्राप्त योगियों के ऐश्वर्यादि निरतिशय नहीं हैं।

यदि ईश्वर जैसी अप्रतिहत इच्छा अन्य पुरुष में भी स्वीकार की जाए तो सुव्यवस्थित ढंग से जगत् का संचालन नहीं हो सकेगा।[2] क्योंकि एक ही पदार्थ की उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति के विषय में दो समान ऐश्वर्य के ईश्वरों की भिन्न-भिन्न इच्छा हो सकती है। तव एक की इच्छानुसार कार्य उत्पन्न होने लगे तो दूसरे की इच्छा को क्षति पहुँचेगी। यदि दूसरे के संकल्प के अनुसार उस पदार्थ की उत्पत्ति न हो तो वह पदार्थ कभी उत्पन्न (अभिव्यक्त) ही नहीं हो सकेगा। दोनों की इच्छा के अनुसार समान काल में एक ही पदार्थ उत्पन्न एवं अनुत्पन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि उत्पत्ति और अनुत्पत्ति प्रकाश एवं अन्धकार की भाँति परस्पर विरोधी हैं। जैसे प्रकाशाभाव काल में प्रकाश नहीं रह सकता, वैसे ही अन्धकाराभाव काल में उसका विरोधी (प्रतियोगी) अन्धकार (तमस्) नहीं रह सकता है।

यदि पूर्वपक्षी अप्रतिहत इच्छासम्पन्न दो व्यक्तियों में एक ही प्रकार के संकल्प की कल्पना करके जगत् के सञ्चालन की उपर्युक्त अव्यवस्था को रोके तो यह पक्ष गौरवग्रस्त होने से त्याज्य है। क्योंकि जब एक ही ईश्वर के सत्यसंकल्प से सब काम हो सकते हैं, तो अनेक ईश्वरों की कल्पना व्यर्थ है।[3]

यदि पूर्वपक्षी—सभी ईश्वर मिलकर कार्य करते हैं—ऐसा कहकर उपर्युक्त दोष को दूर करने का प्रयास करे तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि तब तो सभी में तुल्य शक्ति रहने

---

[1] यत् यत् सातिशयं तत् तत् सर्वं निरतिशयं यथा कुबेरामलकबिल्वेषु सातिशयं महत्त्वमात्मनि निरतिशयम्—त० वै० पृ० ७५।

[2] अनूनत्वे वा द्वयोरपि प्राकाम्यविघातः, कार्यानुत्पत्तेः। उत्पत्तौ वा विरुद्धधर्म-समालिङ्गितमेकदा कार्यमुपलभ्येत—त० वै० पृ० ७२।

[3] अविरुद्धाभिप्रायित्वे च प्रत्येकमीश्वरत्वे कृतमन्यैरेकेनैवेशनायाः कृतत्वात्—त० वै० पृ० ७२।

से किसी को भी ईश्वर नहीं कह सकेंगे । जैसे परिषद् के सभी सदस्यों में तुल्य सामर्थ्य होने से किसी को भी प्रधान नहीं समझा जाता है ।[१] अतः एक ही ईश्वर है ।

बुद्ध आदि ईश्वर नहीं

यदि पूर्वपक्षी उपर्युक्त अनुमान-प्रयोग के आधार पर शास्त्र-प्रणेता बुद्ध, अर्हत् आदि को ही 'ईश्वर' पदवाच्य कहने लगे तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि इन शास्त्रप्रणेताओं के ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं हैं । वे आगमाभास हैं ।[२] इसलिए उनमें बुद्ध आदि का वर्णन पाया जाने से उन्हें ईश्वर नहीं कह सकते हैं । योग द्वारा सिद्धान्तित उपर्युक्त ईश्वर से निर्मित श्रुति आदि शास्त्र ही निगम कहे जाते हैं । क्योंकि उनमें मानवमात्र के अभ्युदय तथा निःश्रेयसपरक सिद्धान्त संकलित हैं ।[३] बुद्ध आदि प्रणीत शास्त्र क्षणिकवाद तथा नैरात्म्यवाद के प्रतिपादक होने से भ्रमपूर्ण हैं ।[४] इसलिए श्रुति, पुराण आदि में कथित पुरुषविशेष ही ईश्वर है । यही ईश्वर श्रुति आदियों में 'शिव' आदि नाम से अभिहित है । वायु-पुराण[५] में ईश्वर के छः अङ्ग तथा दस अव्यय का निम्नाङ्कित प्रकार से संग्रह किया गया है ।

ईश्वर के सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, नित्य, अलुप्तशक्ति और अनन्तशक्ति—ये छः अङ्ग हैं तथा ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तपस्, सत्य, क्षमा, धृति, स्रष्टृत्व, आतमसम्बोध तथा अधिष्ठातृत्व—ये दस अव्यय हैं ।

ईश्वर की अनादिगुरुता[६]

ईश्वर अनादि, नित्य, सर्वज्ञ एवं सर्वैश्वर्य-सम्पन्न है । उसका काल से परिच्छेद नहीं है । वह प्राणियों को ज्ञान एवं धर्म का उपदेश देता है । इसलिए वह सृष्टि के आदि में उत्पन्न ब्रह्मादि का भी गुरु कहा जाता है । ईश्वर की गुरुता त्रैकालिक है । वर्तमान सर्ग के समान उसने अतीत सर्गों में भी प्राणियों को उपदेश दिया था और आगामी

---

१ (क) संभूय कारित्वे वा न कश्चिद्धीश्वरः परिषद्वत्—त० वै० पृ० ७२ ।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २४० ।

२ बुद्धादिप्रणीत आगमाभासो न त्वागमः—त० वै० पृ० ७६ ।

३ अस्मादभ्युदयनिःश्रेयसोपाया इति आगमः—त० वै० पृ० ७६ ।

४ सर्वप्रमाणबाधितक्षणिकनैरात्म्यादिमार्गोपदेशकत्वेन विप्रलम्भकत्वात्—त० वै० पृ० ७६ ।

५ सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥ वा० पु० १२।३३ ।
ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।
स्रष्टृत्वमात्मसंबोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च ॥
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे ।—वा० पु० १०।६५-६६ ।

६ स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्—यो० सू० १।२६ की तत्त्व-वैशारदी व्याख्या द्रष्टव्य ।

असंख्य सर्गों में भी वह इसी प्रकार उपदेश देता रहेगा। ब्रह्मा, अङ्गिरस् आदि को ज्ञान, धर्म आदि का पूर्ण उपदेशक नहीं कह सकते। क्योंकि वे सृष्टि और प्रलय में आविर्भूत एवं तिरोभूत होते हैं।

ईश्वर की प्रवृत्ति में हेतु

सुखोपभोग के लिए मनुष्य गृह, धन, शय्या, पुत्र आदि साधन जुटाता है। लेकिन सर्वसमर्थ ईश्वर आत्मसुख के प्रयोजनार्थ सृष्टि-रचना में प्रवृत्त नहीं हो सकता। ईश्वर आप्तकाम एवं निरतिशय वैराग्यसम्पन्न है। उसमें तृष्णा नहीं हो सकती। अन्यथा उसकी आप्तकामता असिद्ध होगी।[1] यदि कहा जाए कि ईश्वर दुःखी व्यक्तियों के दुःख से द्रवीभूत होकर उन्हें दुःख से मुक्त कराने के लिए सृष्टचर्थ प्रवृत्त होता है, तो ऐसा कहना भी—दुःखबहुल जीवलोक की उत्पत्ति होते देख कर—असङ्गत प्रतीत होता है। क्योंकि कृपालु व्यक्ति की प्रवृत्ति परदुःखप्रहाण के लिए हुआ करती है।[2] यदि कोई हेतु के न रहने से ईश्वर की प्रवृत्ति को निरुद्देश्य मानने का आग्रह किया जाए तो **'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'**—इस न्याय के अनुसार आग्रह दुराग्रह मात्र प्रतीत होने लगेगा।[3]

पूर्वपक्षी के उपर्युक्त द्वितीय विकल्प को संशोधित कर आचार्य **वाचस्पति मिश्र** ने उसे ईश्वर की प्रवृत्ति के हेतु रूप से सिद्ध किया है। उनका कहना है कि स्वार्थपरायण होकर ईश्वर सृष्टि-रचना करता है—ऐसी बात नहीं। करुणा का आगार प्रभु प्रकृति का विकास—पुरुष को कैवल्य प्राप्त हो—इस उद्देश्य से करता है। अर्थात् कृपा-परवश होकर ईश्वर सृष्टि में प्रवृत्त होता है।[4] पुरुष को शब्दादि विषयों के उपभोग के पश्चात् प्रकृति-पुरुष का यथार्थ भेदज्ञान होने पर कैवल्य प्राप्त होता है।[5] प्रकृति से अपने को पूर्णतया पृथक् समझने वाले व्यक्ति की बुद्धि आदि उपाधियाँ चरिताधिकारा होकर अपने मूलकारण में लीन हो जाती हैं। इससे पुरुष अपने औपाधिक जीवत्व को त्यागकर ज्ञानस्वरूप में स्थित हो जाता है। इस प्रकार पुरुष को उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराना ही ईश्वर की प्रवृत्ति का प्रयोजन है। किन्तु जीव को मोक्षदशापन्न कराने में वह स्वतन्त्र नहीं, अपितु परतन्त्र है। यह परतन्त्रता मनुष्यों द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्मों के कारण है।[6]

---

[1] नित्यतृप्तस्य भगवतो वैराग्यातिशयसम्पन्नस्य स्वार्थे तृष्णाऽसम्भवात्—त० वै० पृ० ७६।

[2] कारुणिकस्य च सुखैकतानजनसर्जनपरस्य दुःखबहुलजीवलोकजननानुपपत्तेः—त० वै० पृ० ७६।

[3] अप्रयोजनस्य च प्रेक्षावतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः—त० वै० पृ० ७६-७७।

[4] तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि प्राणिनामनुग्रहः प्रयोजनम्—त० वै० पृ० ७७।

[5] शब्दाद्युपभोगविवेकख्यातिरूपकार्यकरणात्किल चित्तं निवर्त्तते। ततः पुरुषः केवली भवति—त० वै० पृ० ७७।

[6] तेनाचरितार्थत्वाच्चित्तस्य जन्तूनीश्वरः पुण्यापुण्यसहायः सुखदुःखे भावयन्नपि नाकारुणिकः—त० वै० पृ० ७७।

ईश्वर के न्यायालय में किए गए अच्छे-बुरे कर्मों का फलोपभोग करना अपरिहार्य है। यदि एक जन्म में कर्मनिमित्तक दण्डभोग पूरा न हो सके तो उसके लिए भावी जन्म भी धारण करने पड़ते हैं। अतः महाप्रलय के पश्चात् सुख-दुःख से मिश्रित सृष्टि होती है तो इसमें ईश्वर की कर्मापेक्षा है। अतः ईश्वर कारुणिक भाव से सृष्टि-रचना में प्रवृत्त होता है।

पुरुष-विशेष का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने योगवार्त्तिक में अनेक नवीन विचारों की भी उद्भावना की है। वे उनके पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के योग-ग्रंथों में उपलब्ध नहीं हैं। उनके मौलिक सिद्धान्तों की प्रामाणिकता एवं उपादेयता उनके परवर्ती योगाचार्यों द्वारा उनके नवीन सिद्धान्तों की स्वीकृति से स्पष्ट है। उन्होंने सांख्य, योग वेदान्त में समन्वय स्थापित करने का भरसक प्रयास किया है।

जीवात्म-साक्षात्कार की अपेक्षा परमात्म-साक्षात्कार का वैशिष्ट्य

पातञ्जल-योग में असम्प्रज्ञातयोग-प्राप्ति के परिगणित उपायों में ईश्वरप्रणिधान वैकल्पिक साधन है।[1] तत्त्ववैशारदी, राजमार्तण्ड आदि ग्रन्थों में यही मान्यता समर्थित है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने परमेश्वरयोग (परमात्मसाक्षात्कार) को जीवयोग (जीव-साक्षात्कार) की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया है। उन्होंने परमात्मसाक्षात्कार को मुख्यकल्प एवं जीवसाक्षात्कार को अनुकल्प (गौणकल्प) के अन्तर्गत रखा है।[2] दोनों तत्त्वों के साक्षात्कार के लिए ध्येयविषयक धारणा, ध्यान एवं समाधि आवश्यक है।[3] लेकिन परमात्मतत्त्व के साक्षात्कारी को असम्प्रज्ञातयोग तक पहुँचने के लिए श्रद्धादि उपायों के करने में सावधान न रह पाने के कारण व्याकुल नही रहना पड़ता। क्योंकि भक्त की शारीरिक दुर्बलता देखकर ईश्वर उस पर कृपा की वर्षा कर देता है।[4] परन्तु जीवात्मतत्त्व के साक्षात्कारी को असम्प्रज्ञातयोग अत्यन्तशीघ्र प्राप्न हो इस इच्छा

---

[1] ईश्वरप्रणिधानाद्वा—यो० सू० १।२३।

[2] (क) एवं च सति मुख्यकल्पानुकल्पभेदेन परमात्मजीवात्मप्रज्ञयोर्योगमोक्षहेतुत्वं बोध्यम्—यो० वा० पृ० ६३।

(ख) अतः परमेश्वरे संयमः सम्प्रज्ञातपर्यन्तयोगे मोक्षे च मुख्यकल्पः, आसन्नतरतासंपादनात; जीवात्मसंयमस्तु तत्रानुकल्प इति सिद्धम्—यो० सा० सं० पृ० ३२।

[3] तदेवं श्रद्धामूलकाद्धारणाद्यन्तरङ्गत्रयात्संप्रज्ञातयोगे जायमाने प्रज्ञा जीवब्रह्मान्यतरात्मतत्त्वसाक्षात्काररूपो विवेक उपावर्त्तते—यो० वा० पृ० ६०।

[4] (क) अतितीव्राभ्यासं विनाऽपि परमात्मप्रज्ञाया आसन्नतमयोगहेतुतया श्रैष्ठ्यात्··· ब्रह्मात्मना चिन्तनरूपतया प्रेमलक्षणभक्तिरूपाद्वक्ष्यमाणात्प्रणिधानादावर्जितोऽभिमुखीकृतः—यो० वा० पृ० ६३-६४।

(ख) परमात्मप्रज्ञाऽन्तस्योपायस्य त्वधिमात्रतीव्रसंवेगत्वाभावेऽप्यासन्नतमोऽसम्प्रज्ञातो भवति—यो० वा० पृ० ६३।

से पूर्ण तत्परता के साथ उपायों का अभ्यास करते रहना पड़ता है। अन्यथा योग (असम्प्रज्ञात)-प्राप्ति में विलम्ब अवश्यम्भावी है।[१] इसलिए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** का व्यक्तिगत झुकाव ईश्वरभक्ति की ओर अधिक दिखलाई पड़ता है। इसके मूल में उनका स्वयं का अनुभव है। योगसारसंग्रह में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि सांख्ययोग से सम्बन्धित उपदेशों में मैंने व्यक्तिगत अनुभवों का उपयोग किया है।[२] इसलिए श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि में प्रायः सर्वत्र ब्रह्मज्ञान को ही मोक्ष का हेतु कहा गया है। उनमें जीवतत्त्वविषयक ज्ञान की चर्चा प्रसङ्गतः हुई है। उनका कहना है—यदि ब्रह्मविषयकज्ञान तथा जीवविषयकज्ञान दोनों को समानरूप से मोक्ष का हेतु माना जायगा तो ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने वाली श्रुति, स्मृतियाँ व्यर्थ एवं अप्रामाणिक सिद्ध होंगी।[३]

इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में आचार्य **विज्ञानभिक्षु** पर वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। क्योंकि अपने वेदान्त के ग्रन्थ विज्ञानामृतभाष्य[४] में उन्होंने ब्रह्मज्ञानजन्य मुक्ति वाले पथ को श्रेयस्कर बतलाया है। उसे मुख्यकल्प कहा। केवल जीवतत्त्वज्ञान वाले मार्ग को गौणकल्प में रखा है। जैसे केवल गोदान गौणकल्प एवं स्वर्णशृङ्गयुक्त गोदान मुख्य-कल्प समझा जाता है।

जीव में आत्मत्व-प्रयोग गौण

आत्मा के व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दो रूप हैं।[५] परमात्मा में आत्मत्व-व्यवहार वास्तविक है। किन्तु जीव में आत्मत्व-प्रयोग गौण है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने संघात के अध्यक्ष एवं क्षेत्रज्ञ को आत्मा कहा है।[६] आत्मत्व का यह स्वरूप (लक्षण) एक मात्र ईश्वर में माना है। क्योंकि ईश्वर में ही ऐश्वर्य की यथार्थता है।[७] ऐश्वर्य का अर्थ

---

१ तत्र जीवात्मप्रज्ञाऽन्तस्योपायस्याधिमात्रतीव्रसंवेगत्वे सत्येवासन्नतमोऽसम्प्रज्ञातो भवति—यो० वा० पृ० ६३।

२ सांख्ययोगयोः रहस्यं स्वानुभवसिद्धमुपदिष्टम्—यो० सा० सं० पृ० ९१।

३ यदि चोभयोरेव तुल्यवद्विकल्पः स्यात्तर्हि—"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।", "तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ", "अमृतस्यैष सेतुः"—इत्यादिश्रुतयः व्याकुप्येरन्। तथा—"स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो व्यक्तस्वरूपो ऽप्रकटस्वरूपः। सर्वेश्वरः सर्वविशेषवेत्ता समस्तशक्तिः परमेश्वरात्मा॥ प्रज्ञायते येन उदस्तदोषं शुद्धं परं निर्मलमेकरूपम्। संदृश्यते वाऽप्यवगम्यते वा तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्॥"—इत्यादि स्मृतयोऽपि व्याकुप्येरन्—यो० वा० पृ० ६३।

४ यथा प्रकृष्टं दानं स्वर्णभृङ्गादियुक्तगोदानं मुख्यः कल्पः केवलगोदानं चाधमः कल्पः, एवमेव ब्रह्मज्ञानं मुख्यः कल्पः केवलजीवतत्त्वज्ञानं चाधमः कल्प इत्यर्थः, ब्रह्मज्ञाने जीवज्ञानस्याप्यन्तर्भावाद् दृष्टान्तसाम्यात्—वि० मृ० भा० पृ० ५११।

५ व्यावहारिकपारमार्थिकभेदेनात्मद्वयाभ्युपगमात्—यो० वा० पृ० ८४।

६ आत्मत्वं हि संघाताध्यक्षत्वं क्षेत्रज्ञत्वं च—यो० वा० पृ० ८४।

७ तच्चेश्वरस्यैवास्ति ईश्वरत्ववत्—यो० वा० पृ० ८४।

अप्रतिहत (असीम) ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति है। यद्यपि जीव में भी ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति है तथापि वह अनेक विघ्न-बाधाओं से युक्त है। यही कारण है कि जीवात्मा को परतन्त्र एवं धर्माधर्म आदि के ज्ञान से शून्य कहा जाता है।[१] इसलिए जीवात्मतत्त्व के साक्षात्कार से साधक का बुद्धिपर्यन्त (महाभूत से लेकर प्रकृतिपर्यन्त) पदार्थों में होने वाला आत्मत्वाभिमान निवृत्त हो जाता है। किन्तु चरमतत्त्व परमात्मा का साक्षात्कार करके साधक जीव को भी अनात्म (निम्न) कोटि में रखने लगता है।[२]

जीव को आत्मा कहने के कई कारण हैं। जिस प्रकार ईश्वर में स्वरूपभूत चेतनत्व (ज्ञान) है उसी प्रकार जीव में भी है। किन्तु चेतनत्व के सामर्थ्य (सर्वज्ञत्व, अल्पज्ञत्व) में न्यूनाधिकभाव है। ज्ञत्व का सादृश्य होने के कारण जीव में आत्मत्व-व्यवहार गौण-रूप से किया जाता है।[३] शास्त्रों में मुक्त होने के कारण हिरण्यगर्भ आदि ईश्वर कहे जाते हैं।[४] लेकिन अनादि मुक्त न होने से ये वास्तविक ईश्वर नहीं। अथवा यह कहा जा सकता है कि पञ्चविंशति पदार्थों में से चौबीस पदार्थ जड़ होने से अनात्मरूप हैं, उनसे भिन्न होने से चेतन जीव में आत्मत्व-व्यवहार किया जाता है।[५]

इसी प्रकार **'अहं'** तथा **'त्वम्'** शब्द का भी मुख्यार्थ परमात्मा है, जीव नहीं।[६] अपने मत की पुष्टि में आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने श्रुति से प्रमाण दिया है।[७]

इस प्रकार योगदर्शन में उपर्युक्त नवीन विचारों की प्रतिष्ठापना कर आचार्य **विज्ञान-भिक्षु** योगदर्शन को वेदान्तदर्शन के समीप ले आए हैं। इससे श्रुतिस्मृति-प्रतिपादित एकात्मवाद तथा नानात्मवाद सिद्ध होता है।[८] अर्थात् परमात्मा में आत्मा के मुख्य प्रयोग द्वारा एकात्मवाद तथा जीव में आत्मत्व के गौण प्रयोग द्वारा नानात्मवाद सिद्ध होता है।

जीव और ईश्वर में अंशांशिभावसम्बन्ध

विज्ञानभिक्षु के पूर्ववर्ती आचार्य **वाचस्पति, भोजदेव** आदि एवं परवर्ती विद्वान् **सदाशिवेन्द्रसरस्वती** आदि ने जीव तथा ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार नहीं किया है। जिनका (**नागेश भट्ट** एवं **नारायणतीर्थ** का) इस ओर ध्यान गया भी है,

---

[१] जीवात्मनां परतन्त्रत्वाद् धर्माधर्माद्यज्ञातृत्वाच्च—यो० वा० पृ० ८१।

[२] जीवात्मतत्त्वज्ञानाद् बुद्धिपर्यन्तमभिमाननिवृत्तिवत् परमात्मज्ञानात् जीवपर्यन्तेष्वभिमानो निवर्त्तते—यो० वा० पृ० ८४।

[३] जीवानां च चितिशक्तिमत्तामात्रेणैवात्मत्वं गौणम्—यो० वा० पृ० ८४।

[४] यथा हिरण्यगर्भादीनामीश्वरत्वम्—यो० वा० पृ० ८४।

[५] बुद्ध्याद्यापेक्षिकं च—यो० वा० पृ० ८४।

[६] एवमेवाहंत्वंशब्दोऽपि परमात्मन्येव मुख्यो न तु जीवे—यो० वा० पृ० ८४।

[७] त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहो ज्ञजनताऽज्ञता॥ यो० वा० पृ० ८५।

[८] एतेन व्यवहारपरमार्थभेदादैकात्म्यनानाऽऽत्मतावादौ श्रुतिस्मृतिदर्शनेष्वविरुद्धौ—यो० वा० पृ० ८५।

उन्होंने अपने विचारों को **विज्ञानभिक्षु** के विचारों के सांचे में ही ढाला है। वस्तुतः योग-दर्शन में जीवेश्वरसम्बन्ध को प्रकाश में लाने का सर्वप्रथम प्रयास आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने किया है। उन्होंने पातञ्जल-योगसूत्र में ही इस सम्बन्ध का बीज भी ढूंढा है।

आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने **स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**[1]—इस सूत्र में प्रयुक्त **'गुरुः'** पद का अर्थ पिता किया है।[2] उनके मत में प्रत्येक नवीन सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि को उत्पन्न करता है, क्योंकि वह उनका पिता है[3]। तीनों कालों में विद्यमान रहने के कारण एकमात्र वही ईश्वर उनका जनक है, भिन्न-भिन्न ईश्वर नहीं। इससे एकेश्वरवाद भी सिद्ध होता है। श्रुतियाँ भी जीव एवं ईश्वर के जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध का प्रतिपादन करती हैं।[4] अतः स्पष्ट है कि ईश्वर अंशी है और जीव उसके अंश हैं। इन अनन्त जीवांशों का अंशी ईश्वर के साथ अविभाज्यसम्बन्ध है। जैसे पिता तथा पुत्र; अग्नि तथा विस्फुलिङ्ग का सम्बन्ध अविभाज्य है।[5] क्योंकि उनमें कार्यकारण-भावसम्बन्ध है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने स्मृति से वचन भी उद्धृत किया है। उसका अर्थ है—'जैसे एक दीप सहस्र दीपों को प्रज्वलित करता है, वैसे ही एक ईश्वर असंख्य जीवों को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार जल में बर्फ एवं अग्नि में दीप तन्मय (अविभक्त) होकर रहता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण अपने को ब्रह्म से पृथक् (भिन्न) समझने वाला जीव अपने स्वरूपज्ञान के पश्चात् ब्रह्मरूप हो जाता है।'[6]

जीव तथा ईश्वर का उपर्युक्त अभेदसम्बन्ध अखण्डात्मक (आत्यन्तिक-अभेद) नहीं अपितु अविभागात्मक (भेदाभेदरूप) है।[7] क्योंकि अविभाज्यसम्बन्ध के कारण—दूध जल हो गया—इत्याकारक प्रतीति होती है।[8] जीव को तद्रूप कहने में यही अभिप्राय छिपा हुआ है। वेदान्तसूत्र में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है।[9] जीव तथा

---

[1] यो० सू० १।२६।

[2] (क) गुरुः=पिताऽन्तर्यामी विद्यया ज्ञानचक्षुःप्रदश्च—यो० वा० पृ० ७९।
(ख) अत्रेश्वरस्य सर्वजीवपितृत्ववचनात्—यो० वा० पृ० ८०।

[3] पूर्वपूर्वसर्गाद्युत्पन्नानां ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीनामपि गुरुः=पिता—यो० वा० पृ० ७९।

[4] यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै—श्वे० उप० ६।१८।

[5] श्रुत्युक्ताग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तानुसारेण च जीवब्रह्मणोरंशांशिभावस्तयोरभेदश्च पितापुत्रवदेव इति भावः—यो० वा० पृ० ८०।

[6] यथा दीपसहस्राणि दीप एक प्रसूयते।
तथा जीवसहस्राणि स एवैकः प्रसूयते॥
सलिले करकाऽऽश्मेव दीपोऽग्नाविव तन्मयः।
जीवो मौढ्यात् पृथग् बुद्धो युक्तो ब्रह्मणि लीयते॥—यो० वा० पृ० ८०।

[7] अयं चाभेदो नाखण्डता, अपित्वविभाग एव—यो० वा० पृ० ८०।

[8] अविभागश्च दुग्धं जलमभूदित्यादिप्रत्ययनियामकः—यो० वा० पृ० ८०।

[9] अविभागो वचनात्—वे० सू० ४।२।१६।

ईश्वर में अधिष्ठातृ-अधिष्ठेयभाव सम्बन्ध भी कहा जाता है। क्योंकि अधिष्ठान कारण से अधिष्ठेय कार्य का स्वरूपभेद रहने पर भी उनमें अत्यन्त सम्मिश्रण रहता है। दूसरेशब्दों में अधिष्ठान (अंशी), अधिष्ठेय (अंश) रूप ही होता है। जैसे चक्षु का अधिष्ठाता सूर्य चक्षुस्स्वरूप है।[१] शब्दान्तर से कहा जा सकता है कि जीव तथा ईश्वर का स्वरूपसम्बन्ध है। क्योंकि विकारिकारण से यदि उसका कार्य स्वरूप से सम्बन्धित हो तो उन दोनों कारण और कार्य में अविभाज्य-सम्बन्ध माना जाता है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** द्वारा कहे उक्त विचारों को एकत्रित करके इस प्रकार कह सकते हैं—जीवेश्वर का मध्यवर्ती अविभाज्य सम्बन्ध आधारता-सम्बन्ध की भाँति एक स्वरूप सम्बन्ध विशेष है, जिसमें अत्यन्त सम्मिश्रण रहता है। इस प्रकार आचार्य **विज्ञानभिक्षु** जीव तथा ईश्वर में भेदाभेद मानते हैं।

दो पदार्थों का सम्बन्ध भेदरूप तथा अभेदरूप होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि परस्पर विरोधी—भेद और अभेद दो वस्तुओं में एक साथ सम्भव नहीं हैं। लेकिन आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने कालभेद से जीव और ईश्वर में पारस्परिक भेद और अभेद की स्थिति मानी है। यह युक्तिसङ्गत है। उनका कहना है कि सृष्टि से पूर्व और मुक्ति के पश्चात् जीव ब्रह्म से अविभक्त रहता है। यह अविभक्तता अंशांशिभाव सम्बन्ध के कारण है। अतः जीव तथा ईश्वर में आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक अभेदसम्बन्ध है। तथा यह वास्तविक है क्योंकि यह सार्वकालिक है। परन्तु दोनों का भेद औपाधिक न होने पर भी सार्वकालिक नहीं है। अपने उपर्युक्त सिद्धान्त के पुष्टचर्थ आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने जीव तथा ईश्वर के अखण्डवाद, (सर्वथा भेदशून्य सार्वकालिक-अभेद) अवच्छेदवाद और बिम्बप्रतिबिम्बवाद का कड़ा विरोध किया है।

विज्ञानभिक्षु के परवर्ती व्याख्याकार आचार्य **नागेशभट्ट** पर **विज्ञानभिक्षु** के उपर्युक्त विचारों का प्रभाव पड़ा। जीवात्म-साक्षात्कार की अपेक्षा परमात्म-साक्षात्कार की श्रेयस्त्व[२], जीव में आत्मत्व-प्रयोग की गौणत्व[३] तथा जीवेश्वर के अशांशिभाव सम्बन्ध[४] के विषय में **नागेशभट्ट** की पंक्तियाँ प्रमाण हैं।

अवतारवाद

पातञ्जल-योग के व्याख्याग्रन्थों में अवतारवाद के सम्बन्ध में दो विरोधी विचारधाराएँ उपलब्ध होती हैं। आचार्य **वाचस्पति मिश्र, भोजदेव, रामानन्दयति, हरिहरानन्द आरण्यक,**

---

[१] स्वरूपसम्बन्ध आधारताऽऽदिवत्।···यो हि यस्यांशी अधिष्ठाता वा भवति स तस्यात्मेति दृष्टम्, यथा सूर्यश्चक्षुषः—यो० वा० पृ० ८०।

[२] तेन जीवात्मसंप्रज्ञातवतः पुरुषस्य पूर्वोपायेनैवासंप्रज्ञात आसन्नतमः। परमात्मविषयकसंप्रज्ञातस्तु तदभावेऽप्यासन्नतमः स इति तात्पर्यम्। एवं चातितीव्राभ्यासनैरपेक्ष्येणायं श्रेष्ठ आद्योऽनुकल्प इति बोध्यम्—ना० बृ० वृ० पृ० २३७।

[३] एवं च जीवानां व्यावहारिकमात्मत्वम्। पारमार्थिकं तु क्षेत्रज्ञत्वरूपमीश्वरस्यैव—ना० बृ० वृ० पृ० २४५।

[४] एवं सर्वजीवपितृत्वेन पितापुत्रवज्जीवब्रह्मणोरंशांशिभावोऽपि सूचितः—ना० बृ० वृ० पृ० २४३।

बलदेव मिश्र तथा अनन्तदेव पण्डित ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। आचार्य विज्ञानभिक्षु एवं उनके परवर्ती व्याख्याकार नागेशभट्ट[१] ने ईश्वर के साक्षात् लीलाविग्रह का निषेध किया है। किन्तु नारायणतीर्थ ने इसका समर्थन किया है।

अवतारवाद के विरोध में विज्ञानभिक्षु का मत—ईश्वर का साक्षात् लीलावतार नहीं होता। क्योंकि **'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते'**--इस श्रुतिवाक्य एवं **'अनादिमत्परं ब्रह्म सर्वदेह-विवर्जितम्**—इस स्मृतिवाक्य से परमेश्वर के कार्यकारणाख्य शरीरद्वय का निषेध किया गया है। विष्णु आदि देवताओं के ही अवतार होते हैं। ये ईश्वर की कृपा से प्रथमतः सृष्ट हुए हैं। लेकिन विष्णु आदि की ईश्वररूप से उपासना करने के कारण श्रुति, स्मृति आदि ग्रन्थों में विष्णु आदि के अवतार ही परमेश्वर के अवतार कहे गए हैं। आधुनिक वेदान्ती लोग परब्रह्म का साक्षात् लीलाविग्रह भी मानते हैं—वह अप्रामाणिक है।[२]

अवतारवाद के समर्थन में आचार्य नारायणतीर्थ का मत—आचार्य नारायणतीर्थ ईश्वर का लीलावतार मानते हैं। योगसिद्धान्तचन्द्रिका में उन्होंने ईश्वरावतारवाद के आलोचक **विज्ञानभिक्षु** आदि के पूर्वपक्ष को इस प्रकार उपन्यस्त किया है—

पूर्वपक्ष—श्रुति, स्मृति तथा पुराण में कथित ब्रह्मा, विष्णु आदि संज्ञाएँ केवल निरुपाधिक (निर्गुण) ईश्वर की वाचक हैं। सत्यलोक आदि के श्रुत ब्रह्मादि देव जीव-विशेष हैं। वे ईश्वर के साक्षात् अवतार नहीं। ईश्वर का ब्रह्मादिरूप से अवतार नहीं हो सकता। क्योंकि—'अशरीरी ब्रह्म के वायु, आदित्य, काल, जल, प्राण, अन्न, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि शरीर हैं, इनमें से कोई (भक्त) एक रूप का ध्यान करता है और दूसरा दूसरे रूप का'—इस मैत्रायणी श्रुति[३] से ईश्वर के मायिक देह का निषेध किया गया है। 'अग्न्यादिदेहा एव देहाः'—इस प्रकार के निर्देश द्वारा ईश्वर के मायिकलीला- विग्रह का

---

[१] सत्यलोकादिस्थहरिहरब्रह्मादिमूर्तयस्तु शक्तिशक्तिमदभेदेनोपासनार्थमेव परमेश्वरस्योच्यन्ते न तु साक्षात्।
'ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन्प्रधाना ब्रह्मशक्तयः। ततो न्यूनाश्च मैत्रेय देवा दक्षादयस्ततः॥ ब्रह्मविष्णुशिवादीनां यः परः स महेश्वरः।' इत्यादि स्मृतेः कृष्णरामाद्यवतारा अपि सत्यादिलोकस्थविष्ण्वादीनामेव। तेषां च परमात्मन्येवाहंभावात्तदवतारा-णामपीश्वरावतारत्वं श्रुत्यादिषूच्यते। तेषामपि ते लीलावतारा एव। अतएव 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इत्यादिश्रुत्या, 'अनादिमत्परं ब्रह्म सर्वदेहविवर्जितम्।' इति स्मृत्या चेश्वरस्य कार्यकारणाख्यशरीरद्वयप्रतिषेधोपपत्तिरिति दिक्—ना० बृ० वृ० पृ० २४१-२४१।

[२] यत्त्वाधुनिकाः केचन परस्य साक्षादपि लीलाविग्रहं कल्पयन्ति तदप्रामाणिकम्; विष्ण्वादीनामेव लीलाऽवतारश्रवणाद् विष्ण्वादीनां च परमात्मन्येवाहंभावा-त्तेषामवतारा एव परमेश्वरावतारतया श्रुतिस्मृतिषूच्यन्ते। तेन तु ते भ्रान्ताः ····· —यो० वा० पृ० ७६-७७।

[३] अथाशरीरस्य ब्रह्मण एतास्तनवो—वायुरादित्यः कालोऽपः प्राणोऽन्नं ब्रह्मा विष्णू रुद्र इत्येके अन्यमभिध्यायन्त्येके अन्यम्—मै० उप० ४।५।

भी खण्डन किया गया है। अतः अशरीरी, मायिकलीलादेहशून्य ईश्वर का ब्रह्मादिरूप से अवतार नहीं हो सकता। श्रुति, स्मृति द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की देहशून्यता ही ब्रह्मादि को ईश्वरावतार मानने की प्रतिबन्धिका है। अपितु पुराण आदि में आई ब्रह्मादि-सम्बन्धी आख्यायिकाओं के आधार पर भी ब्रह्मादि का जीवविशेषत्व ही सिद्ध होता है, न कि ईश्वरावतारत्व। कालीपुराण में नृसिंह, वराह एवं शरभ का परस्पर एक दूसरे के द्वारा पराजित होना सुना जाता है। दूसरे पुराण में शिव के प्रति नारायण का उपदेश, नारायण के प्रति शिव का उपदेश और दोनों के प्रति चतुर्भुज ब्रह्मा के उपदेश की कथा मिलती है। यदि ये वस्तुतः ईश्वर के अवतार होते तो कभी भी इनमें शारीरिक एवं बौद्धिक शक्ति के तारतम्य का प्रतिपादन नहीं किया जाता। अपितु वे सब ब्रह्मादि ईश्वर की अप्रतिहत ज्ञानक्रियाशक्ति से सम्पन्न होते। लेकिन ब्रह्मादि इस प्रकार के नहीं हैं। अतः पुराणों में आई कथाओं के आधार पर ब्रह्मादि में ईश्वरावतारत्व का निषेध किया जा सकता है। तीसरा प्रमाण यह है—जिस ईश्वर ने सृष्टचुत्पत्तिकाल में सर्वप्रथम ब्रह्मा को बनाया, तदनन्तर ईश्वर ने ब्रह्मा के लिए वेदों का निर्माण किया[१]—इस श्रुति के द्वारा चतुर्मुख ब्रह्मा का जीवत्व स्फुट है। अतः ब्रह्मादि ईश्वर के लीलावतार नहीं; अपितु जीव-विशेष हैं। वैसे ब्रह्मादि जीवविशेषों की उपासना की जाने से उन्हें गौणरूप से ईश्वर कहा जाता है; तथा ब्रह्मादि के अवतार ही ईश्वरावतार समझे जाते हैं।

उक्त पूर्वपक्ष का खण्डन किसी अन्य के द्वारा प्रकारान्तर से—योगसिद्धान्तचन्द्रिका के अनुसार ईश्वर-अवतारवाद की अस्वीकृति शास्त्रसम्मत नहीं है। क्योंकि रामपूर्वतापिन्युपनिषद्, रामोत्तरतापिन्युपनिषद्, गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्, गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्, कैवल्योपनिषद् आदि श्रुति-ग्रन्थों में भक्तानुग्राहक ब्रह्मादि ईश्वर के लीलाविग्रह का वर्णन उपलब्ध है। अतः ईश्वर-अवतारवाद को स्वीकार न करने पर अनेक श्रुतिस्मृति वाक्यों की संगति नहीं बैठ पायगी। दूसरी तरफ ऐसी भी श्रुतियाँ मिलती हैं, जिनमें परमात्मा द्वारा सत्यादि लोक के नानाविध ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि सृष्ट माने गए हैं।[२] इससे ब्रह्मादि के ईश्वरावतार होने का प्रतिषेध प्रतीत होता है। अतः अपरवादी ब्रह्मादि देवताओं को ही दो कोटियों में विभक्त करके श्रुतिस्मृतियों में सामञ्जस्य स्थापित करता है। उस (अपरवादी) का कहना है—ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र दो प्रकार के हैं—श्रौत (श्रुतिप्रतिपादित) ब्रह्मादि तथा पौराणिक ब्रह्मादि।[३] श्रौत ब्रह्मादि परमेश्वर के साक्षात् अवतार हैं। क्योंकि उनका पाप-राहित्य सुना जाता है। ये किसी अदृष्ट की प्रेरणा से बाध्य होकर जन्म नहीं लेते हैं। ईश्वर के जन्म (अवतार) एवं कर्म (कल्याणार्थ प्रयुक्त क्रियाएँ) दिव्य हैं। भगवान् के इस दिव्य जन्म एवं कर्म को जो तत्त्वतः जान लेता है उसके लिए स्वयं भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन मेरा जन्म एवं कर्म दिव्य है—इस बात को जो पुरुष तत्त्वतः जान लेता है, वह शरीर छोड़ने के पश्चात् पुनः जन्म नहीं ग्रहण करता है, वह मुझ को प्राप्त हो जाता

---

[१] यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै—श्वे० उप० ६।१८।

[२] भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा—श्वे० उप० ५।३।

[३] ब्रह्माविष्णुरुद्रा द्विविधाः—श्रौताः पौराणाश्चेति—यो० सि० चं० पृ० २३।

है।[1] अतः क्लेशकर्माशय से अपरामृष्ट ईश्वर के दिव्य देह (लीलाविग्रह-अवतार) में क्लेशादिपरामर्शशून्यता स्वाभाविक है। पौराणिक ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि ईश्वर के साक्षात् अवतार नहीं, किन्तु श्रौत अवतारों की अनुकृति मात्र हैं। क्योंकि अविद्या के बन्धन से मुक्त होने के कारण वे अदृष्ट की प्रेरणा से जगन्नियन्ता के नियमानुसार निश्चित योनि में जन्म धारण करते हैं और कर्मजन्य अदृष्ट के अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं। ये राग, द्वेष, मोह आदि से लिप्त रहते हैं। इसलिए ये सांसारिक पुरुष ही हैं। लेकिन अन्य सांसारिक पुरुषों की अपेक्षा उत्कृष्ट कार्य करने से ये जीवविशेष कहलाते हैं। इनमें ईश्वर की कतिपय शक्तियाँ निहित रहती हैं। यह बात स्मृतिवाक्य से भी स्पष्ट है[2]—'हे मैत्रेयि ! ब्रह्मा, विष्णु और शिव ब्रह्म की प्रधान शक्तियाँ हैं। यक्ष, किन्नर आदि देव ब्रह्मादि की अपेक्षा अल्पशक्तिसम्पन्न हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि से जो श्रेष्ठ है। वह शक्तिमान् ईश्वर है।' इस प्रकार ब्रह्मादि में ईश्वर की शक्तियाँ दिखलाई पड़ने से साधकगण भ्रमवशात् इन्हें ही परमेश्वर का अवतार समझने लगते हैं। वस्तुतः ये पौराणिक ब्रह्मादि परमेश्वर के साक्षात् अवतार नहीं हैं। इसी प्रकार पौराणिक रामादि और उनके अवतार सभी जीवविशेष ही हैं, न कि परमेश्वर के साक्षात् अवतार हैं। किन्तु ईश्वर की प्रायः सभी शक्तियों से पूर्ण होने के कारण अनेक प्रकार से संसार में आविर्भूत एवं तिरोभूत होते रहते हैं। इस प्रकार जीवविशेष होने पर भी परमात्मरूप से उपासना किए जाने से ये ईश्वर के अवतार समझे जाते हैं। वास्तव में ये ईश्वर के अवतार नहीं हैं। **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**—इस योगसूत्र से भी ब्रह्मादि की अल्पज्ञता प्रतिपादित होने से ब्रह्मादि का जीव होना सिद्ध होता है। ईश्वरावतार तो केवल श्रौत ब्रह्मादि हैं। उक्त प्रकार से ब्रह्मादि का द्विविध प्रकार से विभाजन करने से सभी प्रकार की श्रुतिस्मृतियों की सङ्गति लग जाती है। इस प्रकार किसी अपरवादी द्वारा आचार्य **विज्ञानभिक्षु** के मत का खण्डन करने के पश्चात् आचार्य **नारायणतीर्थ** निम्नाङ्कित प्रकार से दोनों के मतों को अनुचित बतलाते हैं।

आचार्य नारायणतीर्थ का मत—प्रथम वादी के मत का खण्डन करने के लिए प्रवृत्त हुए द्वितीय वादी के मतानुसार ईश्वर के लीलाविग्रह के सिद्धान्त को क्षति नहीं पहुँचती। किन्तु ब्रह्मादि में जीवत्व का प्रतिपादन करने से भक्ति के प्रवर्त्तक तन्त्र, पुराण, इतिहास आदि के आनर्थक्य का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। क्योंकि ब्रह्मादि की अल्पज्ञता समझकर कोई भी व्यक्ति उनकी उपासना के लिए अग्रसर ही नहीं होगा। अतः समस्त संस्कृतवाङ्मय की उपपत्ति लगाने के लिए यह कहना उचित है कि श्रौत एवं पौराणिक रूप से ब्रह्मादि का विभाजन नहीं किया जा सकता। अपितु सभी ईश्वर के साक्षात् अवतार हैं। ब्रह्मादि में कार्य-सम्पादन की अल्प या महत् सामर्थ्य देखकर अल्प सामर्थ्य वालों को जीव तथा

---

[1] जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ गी० ४।९

[2] ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन् ! प्रधाना ब्रह्मशक्तयः।
ततो न्यूनाश्च मैत्रेय ! देवा दक्षादयस्तथा।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां यः परः स महेश्वरः ॥ —वि० पु० १।२२।५८।

पूर्ण सामर्थ्य वालों को ईश्वरावतार मानना भी उचित नहीं है। क्योंकि ईश्वर अनन्त एवं विचित्र प्रकार की शक्तियों से युक्त हैं। वे भक्तानुग्रह, साधुओं के परित्राण पापियों के विनाश एवं धर्म की स्थापना आदि[1] किसी भी छोटे-बड़े कार्य के सम्पादनार्थ अवतीर्ण होते हैं। अपने उस लीलावतार से उसी प्रकार का अल्प या महत् कार्य कराते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवत्तत्त्व एक ही है। किसी भी समय उसकी शक्ति में न्यूनाधिक भाव नहीं रहता है। क्योंकि उसकी शक्ति सदा ही समरस रहती है। लेकिन उसके प्राकट्य के अनेक भेद हैं। जहाँ जिस प्रयोजन से उसका अवतार होता है वहाँ उसी के अनुसार उसकी शक्ति का प्रकाश होता है। जैसे सम्पूर्ण वेद का कण्ठस्थ पाठ करने वाला वेदज्ञ पुरुष जहाँ जिस प्रकार के उच्चारण की और जितने वेदार्थ-प्रकाश की आवश्यकता होती है, उतना ही करता है। इसी प्रकार नित्य पूर्ण असीम शक्ति से सम्पन्न भगवान् भी लीला-प्रयोजन के अनुसार ही शक्ति का प्रकाश करता है। अग्नि के जरा से कण में भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को दहन करने की शक्ति है क्योंकि वह साक्षात् अग्नि ही है। इसी प्रकार भगवान् का किसी भी प्रयोजन से अवतीर्ण लोकदृष्टि में अत्यन्त छोटा सा स्वरूप भी पूर्ण शक्तिसम्पन्न ही है। भगवान् की पूर्णता में कभी विकार नहीं आता है। श्रुति का यह सिद्धान्त सदा सत्य है—**ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥** पूर्ण होने के कारण ही उनमें विचित्र तथा अनन्त प्रकार के कार्य-सम्पादन की शक्तियाँ मानी गई हैं।[2] अतः ईश्वर के अवतारों को छोटा-बड़ा कार्य करते हुए देखकर उनमें उत्कृष्टता एवं अपकृष्टता की कल्पना उचित नहीं है।[3] इसी प्रकार अवतारों का दो प्रकार से विभाजन कर उनमें से श्रौत-अवतार को उत्कृष्ट एवं पौराणिक-अवतार को अपकृष्ट मानकर एक को ब्रह्म का साक्षात् अवतार तथा दूसरे को जीवविशेष कहना उचित नहीं है। इनमें श्रौत एवं पौराणिक भेद[4] न होकर ब्रह्मादि सभी परमेश्वर के साक्षात् अवतार हैं। **स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**—इस सूत्र द्वारा अवतारी ईश्वर का अवतारों की अपेक्षा गुरुत्व-प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्मादि की अल्पज्ञता बतलाकर उनके जीवत्व का प्रतिपादन नहीं किया गया है। क्योंकि अवतारी ईश्वर के कृष्णादि अवतार सुने तथा देखे जाते हैं; किन्तु रामादि अवतारों के अवतार शास्त्रों में नहीं बतलाए गए। मैत्रायणी श्रुति में ईश्वर के कायिक लीलाविग्रह का निषेध किया गया है। उसका तात्पर्य—ईश्वर अपने अदृष्ट के अनुसार प्रारब्धकर्मजन्य फलोपभोग के लिए शरीर-धारण नहीं करते—यह बतलाने में है।[5] क्योंकि

---

[1] **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ —गी० ४।८

[2] **अतो वस्तुतः विचित्रानेकशक्तिमत्त्वेनेश्वरत्वात्···—यो० सि० चं० पृ० २३।**

[3] **सर्वसमर्थस्य भक्तानुग्रहादिनिमित्तं तत्तद्रूपेण स्वेच्छयैव महदल्पकार्यकर्तृत्वमेवोचितम्—यो० सि० चं० पृ० २३।**

[4] **अतो द्वैविध्ये मानाभावात्—यो० सि० चं० पृ० २३।**

[5] **मैत्रायणीयश्रुतौ तु स्वादृष्टारब्धभोगार्हशरीराभावस्यैव विवक्षणान्न कोऽपि दोषः—यो० सि० चं० पृ० २३।**

उनका अदृष्ट ही नहीं है। कर्तृत्वाभिमान न होने से वे कोई नया कर्म नहीं करते हैं। उनकी उत्पत्ति (जन्म) तथा मृत्यु भी नहीं होती है। जीवों के कल्याणार्थ (न कि स्व-अदृष्टजन्यफलभोगार्थ) ईश्वर संसार में दिव्य शरीर धारण करके उसी भाँति अवतीर्ण होता है। चक्रवर्ती सम्राट् अपने सम्राट् पद पर प्रतिष्ठित रहता हुआ भी छोटे बच्चों के साथ खेलने तथा खेल ही खेल में उनके दुःखों को मिटाकर उन्हें सुख पहुँचाने तथा सन्मार्ग बतलाने के लिए उन बच्चों के साथ जमीन पर आकर बैठ जाता है और उन्हीं की भाषा में उनसे बातचीत, हास्यविनोद, खेलकूद करता है। बच्चों की भाँति सब कुछ करते हुए भी वह जिस प्रकार अपने सम्राट् पद पर भी कायम रहता है उसी प्रकार ईश्वर भी स्वमहिमा में पूर्णतया प्रतिष्ठित रहता हुआ भी लोगों में अवतीर्ण होता है। **नारायणतीर्थ** लिखते हैं कि गीता में स्वयं ईश्वर का कथन है—'अज, अविनाशी, तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर रहता हुआ ही मैं प्रकृति को अधीन करके अपनी माया (योगमाया, ह्लादिनी शक्ति) से प्रकट होता हूँ।[१] पूर्वपक्षी कह सकता है—**एकमेवाद्वितीयम्, एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा**—इत्यादि श्रुतियों में प्रतिपादित ब्रह्म का एकत्व एवं निर्गुणत्व उसके अवताररूप का बाधक है। उत्तर में आचार्य **नारायणतीर्थ** का कहना है—**एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति, अजायमानो बहुधा विराजते**—इत्यादि श्रुतियाँ भी हैं।[२] इनसे ईश्वरावतारवाद सिद्ध होता है।

ईश्वरावतार के भेद[३]—आचार्य **नारायणतीर्थ** का कथन है—ईश्वर के दो रूप हैं—एक अन्तर्यामिरूप तथा दूसरा बहिर्यामिरूप। ईश्वर का अन्तर्यामिरूप जीव के हृदय में रहकर जीव की प्रवृत्ति तथा चेष्टाओं का नियमन करता है। इसमें कई श्रुति तथा स्मृतिवाक्य प्रमाण हैं—'यह ईश्वर ही अन्तर्यामी तथा अमृत (अविनाशी) है'। 'हे अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में निवास करता है'।[४] 'अन्तर्यामी ईश्वर केवल चेतन' का प्रेरक नहीं है। वह जड़ पदार्थों को भी अपनी अद्भुत शक्ति के द्वारा अनुप्राणित करता है। अतः परमेश्वर के चित्-अन्तर्यामी तथा अचित्-अन्तर्यामी दो रूप हैं। इससे उसकी सर्वव्यापकता द्योतक होती है। अन्तर्यामि परमेश्वर सगुण तथा निर्गुण भी है। प्रत्येक युग के अनेक अवसरों पर अनन्त भक्तों (सनातनी भक्तों) के सम्मुख एकान्त में उन्हें कृतार्थ करने के लिए भगवान् का सविग्रह प्राकट्य होता है। निर्गुण परमेश्वर को मानने वाले चिद्रूप से ही उसका अनुभव करते हैं। परमेश्वर का बहिर्यामिरूप ही लोक तथा शास्त्र में अवतार नाम से प्रसिद्ध है। अतः बहिर्यामी परमेश्वर हृदयदेश से बाहर शरीर (अवतार)

---

[१] अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ —गी० ४।६

[२] यो० सि० चं० पृ० २३-२३।

[३] स च चिदचितोः प्रेरकत्वाच्चिदन्तर्यामी, अचिदन्तर्यामी चेति द्विविधः······सोऽपि गृहायतनभेदाद् द्विविधः—यो० सि० चं० पृ० २४।

[४] एष एवात्माऽन्तर्याम्यमृत इति श्रुतेः। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठतीति स्मृतेश्च—यो० सि० चं० पृ० २३-२४।

धारण करके अपनी अद्‌भुत् शक्ति से पदार्थों का नियमन करता है। श्रुति, स्मृति, पुराण एवं इतिहास में परमेश्वर का बहिर्यामिरूप अनेक भेद-प्रभेदों के साथ विवेचित हुआ है। सर्वप्रथम परमेश्वरावतार के दो रूप हैं—नित्यविभूतिनिलय तथा लीलाविभूतिनिलय। लीलाविभूतिनिलयरूप दो प्रकार का है—व्यूहरूप तथा अवताररूप। परमेश्वर का व्यूह तथा अवतार रूप नित्यविभूति से बाहर लीलाविभूति में है। परमेश्वर के व्यूहावतार के दो प्रयोजन हैं—(१) जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार करना तथा (२) जीवधारियों के लिए वेदादि शास्त्रों का उपदेश करना। लीलाविभूतिनिलयव्यूह ईश्वर ब्रह्मादिरूप से सर्वदेहों में व्याप्त होकर स्थित है। सर्ग, स्थिति तथा प्रलय के कारण स्वयं ब्रह्मादि हैं। स्मृतिग्रन्थों में व्यूहावतार का वर्णन इस प्रकार उपलब्ध है—'छः गुणों (ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेजस्) से परिपूर्ण वासुदेव (परमेश्वर) सनातन है। यह अपने रूप को तीन प्रकार का करके जगत् को चार प्रकार का करता है। यह अपने अन्तर्यामी स्वरूप को पाकर सृष्टि अच्छी प्रकार से करता है'।[१] भक्त की असीम एवं अविचल भक्ति से प्रसन्न हुआ परमेश्वर लीलाविभूतिनिलय अवतार धारण करके भक्त को अनुगृहीत करता है। परमेश्वर के ये अवतार भक्तों से अत्यधिक वात्सल्य रखते हैं। भक्त के जीवन-मार्ग की बाधाओं को दूर करते हैं तथा उन्हें साक्षात् दर्शन देते हैं। स्वयं भगवान् ने कहा है—'निश्चय से यह माया मेरे द्वारा निर्मित है। हे नारद ! जो तुम मुझको देख रहे हो वह तो सब भूतगुणों (ईश्वरभक्ति आदि गुणों) से युक्त होने के कारण ही है। अन्यथा तुम मुझे नहीं देख सकते थे। अर्थात् भक्ति के आकर्षण से मैं तुम्हारे समक्ष शरीर धारणकर प्रकट हुआ हूँ।[२]' परमेश्वर के लीलाविभूतिनिलय अवतार का द्वितीय भेद अवतार दो प्रकार का है—विभव-अवतार तथा अर्चा-अवतार। विभवावतार के दो प्रभेद हैं—स्वरूपविभव-अवतार तथा आवेशविभव-अवतार। सर्वगुणसम्पन्न परमेश्वर स्वरूप-अवतार में अपने दिव्यरूप को अन्य प्राणियों की आकृति के रूप से प्रस्तुत करता है। आकृतिभेद से परमेश्वर का स्वरूप-अवतार दो प्रकार का है—मनुजरूप-अवतार तथा अमनुजरूप-अवतार। बाल्मीकि तथा श्रीमद्‌भागवत आदि धार्मिक ग्रन्थों के प्रमुख पात्र राम,[३] कृष्ण[४] आदि परमेश्वर के मनुजरूप-अवतार कोटि के हैं। 'मनुष्य की आकृति में परब्रह्म छिपा हुआ है'—ऐसा श्रुतिवाक्य मिलता है।[५] देव, तिर्यक् आदि रूप में परमेश्वर

---

[१] षाड्‌गुण्यपरिपूर्णोऽसौ वासुदेवः सनातनः।
त्रिधा कृत्वात्मनो रूपं चतुर्धा कुरुते जगत् ॥
अन्तर्यामित्वमापन्नः सर्गं सम्यक् करोति हि ॥ स्मृतिवाक्य यो० सि० चं० पृ० २४।

[२] माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ॥ यो० सि० चं० पृ० २४।

[३] (क) अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य।
सम्राडेको विराजति—यजु० १२।११७।
(ख) इन्द्रः सीता निगृह्णातु तां पूषानुयच्छतु—ऋ० ४।५७।७।

[४] यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदुद्दूतः—ऋ० ४।७।९।

[५] गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्—श्रुतिवाक्य यो० सि० चं० पृ० २४।

शरीर धारण करके अलौकिक कार्य करता है। उसके ये लीलाविग्रह अमनुजस्वरूप-अवतार कहे जाते हैं। जैसे—उपेन्द्रावतार, कूर्मावतार,[१] मत्स्यावतार,[२] वराहावतार[३] नृसिंहावतार[४] आदि। परमेश्वर के आवेश-अवतार के दो प्रभेद हैं—एक स्वरूपावेश-अवतार तथा दूसरा शक्त्यावेश-अवतार। परमेश्वर का स्वरूपावेश-अवतार विशिष्ट चेतन-प्राणियों में अपने स्वरूप से सन्निहित है। कपिल, अनन्तशेषनाग, व्यासमुनि परशुराम आदि परमेश्वर के स्वरूपावेश-अवतार कहे जाते हैं। पृथु, धन्वन्तरि आदि अवतारों की गणना परमेश्वर के शक्त्यावेश-अवतार के अन्तर्गत की जाती है। आचार्य नारायणतीर्थ का कहना है—किसी जीव में किसी विशेष विभूति या ऐश्वर्य को देखकर उसे ईश्वर का अंश (अवतार) समझ लेना अनुचित नहीं है। श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा भी है।[५] इसी तरह भगवान् का अर्चा-अवतार है। ईश्वर का यह अर्चा-अवतार परमेश्वर के लीलाविभूतिनिलय-अवतार का द्वितीय भेद है। श्रद्धासम्पन्न भक्त जिस अर्चामूर्ति में भगवान् का आविर्भाव चाहता है उसी अर्चाविग्रह में दयामय परमेश्वर अपने भक्त की प्रसन्नता के लिए उस पर अनुग्रह करके आविर्भूत होता है। इसमें देश, काल का नियम नहीं है। अधिकारी का भी नियम नहीं है। अधिकारी वही है जो पूर्ण श्रद्धासम्पन्न है तथा अर्चामूर्ति में भगवान् का पूर्णस्वरूप समझता है। इसमें अवतार का स्वरूप वही होता है जैसा भक्त चाहता है। भगवान् अपने भक्त के अधीन होता है। यह जिस विधि से जिस समय उसके स्नान, भोजन, शयन, पूजन, शृङ्गार आदि की व्यवस्था करता है, उसी रूप में भगवान् स्वीकार करता है। अर्चक की कल्पना के अनुसार परमेश्वर विग्रह धारण करता है। इसलिए परमेश्वर का यह अवतार अर्चा-अवतार कहा जाता है। यह अर्चावतार दो प्रकार का है—गृहार्चावतार तथा आयतनार्चावतार। ईश्वर के भक्त अपने गृहालयों तथा देवालयों (मन्दिरों) में अत्यन्त पूज्यभाव से वेद-मन्त्रादि के द्वारा अभिसंस्कृत मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करते हैं। ये मूर्तियाँ ही परमेश्वर की अर्चा-अवतार कही जाती हैं। क्योंकि मन्त्रादि के प्रभाव से अभिसंस्कृत जड़ मूर्तियों में परमेश्वर निगूढ रहता है। परमेश्वर के आयतनार्चावतार शालग्राम आदि पत्थरविशेषों में प्रसिद्ध हैं।[६]

---

१ अन्तरतः कूर्मं भूतं…तमब्रवीत्, मम वै त्वङ्‌ मांसासमभूत, नेत्यब्रवीत्, पूर्वमेवाहमिहाऽऽसमिति। तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्। स सहस्रशीर्षा पुरुषः। सहस्राक्षः सहस्रपाद् भूत्वोदतिष्ठत्। तै० आ० १।२३।३।

२ मनवे ह वै प्रातः…मत्स्यः पाणी आपदे ॥१॥ स हास्मै वाचमुवाद बिभृहि मा, पारयिष्यामि त्वेति। कस्मान्मा पारयिष्यसि—इति औघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा; स्ततस्त्वा पारयितास्मि—श० ब्रा० १।८।१।१—२।

३ वराहेण पृथिवी संविदाना—अथर्व० १२।१।४८।

४ वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि तन्नो नारसिंहः प्रचोदयात्—तै० आ० १०।१।६। पृ० ४१६।

५ यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥—यो० सि० चं० पृ० २४।

६ आयतनार्चावतारस्तु शालग्रामादिषु स्वसंकल्पादिना सन्निधीभूय स्थितः—यो० सि० चं० पृ० २४–२५।

इसलिए शालग्राम आदि की परमात्मरूप से आराधना करके भक्त अभीष्ट फल प्राप्त करता है—ऐसा शास्त्रों में वर्णन मिलता है ।

संसार के सभी पदार्थों को परमेश्वरावतार मानने का प्रतिषेध—आचार्य **नारायण-तीर्थ** का कथन है—सर्वव्यापक परमात्मा संसार के सभी पदार्थों में स्वशक्ति से निहित है । इसलिए सभी पदार्थ परमात्मस्वरूप हैं । विष्णुपुराण में भी कहा है[1] 'इस संसार में समस्तरूप से अथवा व्यस्तरूप से जो कुछ है, वह सब अच्युत (भगवत्) स्वरूप ही है । उससे अधिक उत्कृष्ट कोई पदार्थ नहीं है । वह परमेश्वर मद्रूप, त्वद्रूप तथा सर्वरूप है । यही परमात्मा का स्वरूप है । इसलिए भेदबुद्धि त्याग दे'—इत्यादि स्मृति के आधार पर सभी पदार्थ ईश्वर के अवतार सिद्ध होते हैं । लेकिन संसार के जिन जड़ तथा चेतन पदार्थों में अद्भुत प्रकार का कार्य करने की शक्ति निगूढ है तथा जो अपनी शक्ति का प्रदर्शन भी करते हैं वे ही ईश्वरावतार शब्द से कहे जाते हैं । समस्त जीव (देहधारी) अवतार कोटि में नहीं आ सकते । क्योंकि सब में विचित्र कार्यानुकूल शक्ति निहित नहीं हैं । पृथु, धन्वन्तरि आदि अन्य लोगों के समान देहधारी अवश्य हैं । लेकिन अलौकिकशक्तिविशिष्ट होने के कारण वे अवताररूप से शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं । इसी प्रकार **'सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपदं वृन्दावनभूरुहतलासीनम्'**—इत्यादि श्रुतियों के द्वारा कृष्ण, रामादि को भी स्वरूपविभव अवतार कहा गया है चाहे वे आपाततः जीव प्रतीत होते हैं । शास्त्रों में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादि को भी ईश्वरावतार माना गया है । इस प्रकार जब रामादि का अवतारत्व शास्त्रविहित है तो उन्हें जीवत्व हेतु के आधार पर जीव कोटि में रखना उचित नहीं है । क्योंकि हेत्वाभास आदि से ग्रस्त अनुमानप्रमाण की अपेक्षा आगमप्रमाण श्रेयान् है । चूंकि ये रामादि ईश्वर की अद्भुत शक्ति से सम्पन्न हैं अतः **'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'**—न्याय के अनुसार यदि वे मनुष्यादि रूप (आकृति) धारण करके सामान्य जीवों की भाँति बालक्रीड़ाएँ तथा वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि का गुरुत्व स्वीकार करते हैं तो इसमें हानि नहीं है ।[2] क्योंकि वे सर्वभवनसमर्थ हैं । वस्तुतः अवतारों के शरीर एवं उनकी क्रीड़ाएँ भौतिक नहीं हैं । योग-माया से समावृत होने के कारण हम लोगों को भगवान् का देह मायिक अथवा भौतिक प्रतीत होता है । भगवान् के किसी एक रूपमाधुर्य (कृष्णादि अवतार) पर मुग्ध होकर शास्त्र में कहे हुए अन्य अवतारों की निन्दा करने वालों की दुर्गति बतलाई गई है ।[3] आचार्य **नारायणतीर्थ** का वक्तव्य है कि इसी अभिप्राय से विष्णु-पुराण में लिखा है—'तपस् से सन्तुष्ट होकर पिता महेश्वर रुद्र ने प्रथम कल्प में ब्रह्मा और नारायण को उत्पन्न किया । अग्रिम कल्प (सृष्टि) में फिर ब्रह्मा ने विष्णु तथा रुद्र को उत्पन्न किया ।

---

[1] एकः समस्तं यदिहाऽस्ति किञ्चित् तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत् ।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम् ।। वि० पु० का श्लोक यो० सि० चं० पृ० २५ ।

[2] स्वीयमैश्वर्यं प्रकटयितुं मनुष्यादिलिङ्गैर्व्यवहरणेऽपि शिष्यत्वेऽपि च न हानिः—यो० सि० चं० पृ० २५ ।

[3] अत एव तत्रैकतरालम्बनेनान्यतरस्यापकर्षं वर्णयतां दुर्गतिरपि—यो० सि० चं० पृ० २५ ।

जिस प्रकार ब्रह्मा ने विष्णु को उत्पन्न किया उसी प्रकार पुनः अग्रिम सृष्टि में भगवान् विष्णु ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया। नारायण को फिर ब्रह्मा ने, ब्रह्मा को फिर नारायण ने उत्पन्न किया। इस प्रकार कल्प-कल्पान्तरों में ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वर उत्पन्न हुए। इस प्रकार ये सब एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं तथा एक दूसरे को जीतने की इच्छा रखते हैं। कल्पकल्पान्तर के वृत्तान्त को जानने वाले महर्षि लोग उनका परस्पर समुद्भव जानकर ही इनके समान उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। जो अज्ञ हठात् यह श्रेष्ठ अवतार है, यह निकृष्ट अवतार है, इस प्रकार किसी एक अवतार में अभिनिविष्ट होते हैं, वे राक्षस तथा पिशाच बनते हैं। इसमें जरा भी संदेह नहीं है।'[1] गीता में भी कृष्ण, रामादि के अपकर्ष का प्रतिपादन करने वाले को मूढ बतलाया गया है। जैसा कि स्वयं भगवान् कृष्ण कहते हैं—'मूढ लोग मुझे मानुष शरीर वाला जानकर मेरा तिरस्कार करते हैं।'[2] यदि ये रामादि अवतार सांसारिक पुरुष (जीव) होते तो शास्त्र—जीवों (मनुष्यों) के उत्कर्ष तथा अपकर्ष का कथन करने वाले—निन्दकों की दुर्गति न बतलाता।[3] क्योंकि चोर को चोर कहना अन्याय नहीं है। वस्तुतः जीवतुल्य प्रतीत होते हुए रामकृष्णादि—परमेश्वर के साक्षात् अवतार होने से सभी प्रकार के कार्य करने की स्वरूपशक्ति से युक्त हैं। अतः अवतारों की निन्दा करने वाले मायिक की दुर्गति होती है। साधारण जीवों से पृथक् रामादि परमेश्वर के साक्षात् अवतार हैं। सभी में समान रूप से समस्त शक्तियाँ निगूढ हैं।

इस प्रकार अवतारवाद का प्रतिपादन करके आचार्य नारायणतीर्थ परमेश्वर को भूस्थानीय बनाकर लौकिक उदाहरण द्वारा उक्त विषय को स्पष्ट करते हैं[4]—भूमि में बीज, अङ्कुर तथा वृक्ष होते हैं एवं वृक्ष में पक्वफल तथा अपक्वफल होते हैं। उसी

---

[1] तपसा तोषयित्वा तु पितरं परमेश्वरम्।
ब्रह्मनारायणौ पूर्वं रुद्रः कल्पान्तरेऽसृजत्॥
कल्पान्तरे पुरा ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ जजान ह।
विष्णुश्च भगवाँस्तद्वद् ब्रह्माणमसृजत् पुनः॥
नारायणं पुनर्ब्रह्मा ब्रह्माणं च पुनर्भवः।
एवं कल्पेषु कल्पेषु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥
परस्परस्माज्जायन्ते परस्परजयैषिणः।
तत्तत्कल्पान्तवृत्तान्तमधिकृत्य महर्षिभिः॥
प्रभावः कथ्यते तेषां परस्परसमुद्भवात्।
अयं परस्त्वयं नेति संरम्भाभिनिवेशिनः॥
यातुधाना भविष्यन्ति पिशाचाश्च न संशयः।—वायुपुराण के श्लोक यो० सि० चं० पृ० २५।

[2] अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्—भ० गी० ९।११।

[3] एवं गीतायां रामकृष्णादीनामपकर्षप्रतिपादने श्रूयते निन्दा—यो० सि० चं० पृ० २५।

[4] एतेन यथा भूमौ······सूत्रादिभावम् यो० सि० चं० पृ० २५-२६।

प्रकार भूस्थानीय शुद्धचैतन्य परमात्मा में ईश, सूत्र तथा विराट् हैं (परमेश्वर के ये तीन भेद जीव की सुषुप्ति, स्वप्न और जागरित अवस्था के भेद से हैं)। द्रुमस्थानीय विराट् में मत्स्य, कूर्म, कृष्णादि (अवतार) तथा सब लोग हैं। पक्वफल में रहने वाले बीज में वृक्ष को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है। किन्तु अपक्वफलान्तवर्ती बीज में वृक्षोत्पत्ति की शक्ति नहीं है। उसी प्रकार कृष्णादि अवतारों में जगदुत्पत्ति का सामर्थ्य है, सांसारिक जीवों में नहीं। पृथ्वी की सहायता से मूलकारणरूप बीजादि (**जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्**--सिद्धान्त के अनुसार) अङ्कुरादिभाव को प्राप्त होते हैं अर्थात् अङ्कुरादि को उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार चिन्मात्र ईशादि भी माया-विशिष्ट शक्ति के योग से चिदापूरित होकर सूत्रादिभाव को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार शुद्ध परमेश्वर या उनके कृष्णादि अवतार का चिन्तन करते हुए साधक की चंचल चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध होने लगती हैं। कृष्णादि की भावना करते हुए चित्त उसी प्रकार ध्येयाकार हो जाता है जिस प्रकार कीट—'मैं भ्रमरस्वरूप को प्राप्त होऊँ'—इस कामना से भ्रमर का चिन्तन करते हुए तद्रूप हो जाता है। पहले कहा गया है कि परमेश्वर या उसके सगुणरूप (कृष्णादि अवतार) का चिन्तन समाधिप्राप्ति का अन्यतम साधन है। अतः **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'**—इस सूत्र के प्रसङ्ग में आचार्य **नारायणतीर्थ** अवतारवाद पर युक्तिपूर्वक विचार करके प्रत्येक भक्त को उसके द्वारा कल्पित ईश्वर के मनोरम रूप का ध्यान करने की ओर आकृष्ट किया है। इस प्रकार योगशास्त्र में अवतारवाद की स्थापना करने का श्रेयस् आचार्य **नारायणतीर्थ** को है।

ईश्वर-चिन्तन की विधि

योगशास्त्र में ईश्वर-चिन्तन की सरल विधि बतलाई गई है। यह द्रव्यसाध्य नहीं, अपितु जप-साध्य है। ओंकार का मानस-जप किया जाता है। ओंकार शब्द का वाच्य ईश्वर है। अतः ओंकार के जपकाल में ईश्वर को ध्यान का विषय बनाया जाता है।[1] प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में ईश्वर का स्मरण अपेक्षित रहता है।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका में ईश्वर के वाचक प्रणव (ओंकार) की उत्पत्ति, उसके अर्थ एवं महत्ता का जैसा विस्तृत विवेचन उपलब्ध है पातञ्जल-योग के अन्य व्याख्याग्रन्थों में वैसा वर्णन नहीं है। अन्य व्याख्याकारों ने वाच्य ईश्वर तथा वाचक प्रणव के सम्बन्धविशेष पर मुख्यरूप से विचार किया है। उनके द्वारा प्रणव पद के स्वरूप एवं प्रणव से द्योत्य भिन्न-भिन्न अर्थों पर विचार नहीं किया गया। अतः प्रणव की विस्तृत व्याख्या करने में **नारायणतीर्थ** का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

'प्रणव' पद का अर्थ—आचार्य **नारायणतीर्थ** का कहना है कि योगशास्त्र में प्रणव को ईश्वर का वाचक कहा गया है। यह श्रुति-स्मृति-सिद्ध है। योगियाज्ञवल्क्य[2] में उक्त है—'ईश्वर का शरीर न सुना गया है और न देखा गया है। वह भक्ति के द्वारा

[1] तज्जपस्तदर्थभावनम्—यो० सू० १।२८ की तत्त्ववैशारदी व्याख्या द्रष्टव्य पृ० ८३।

[2] अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः।
तस्योङ्कारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति ।। —यो० सि० चं० पृ० २६।

भक्तों को प्राप्त होता है। ईश्वर साधक की मानस-कल्पना के अनुरूप भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है। इस प्रकार का ईश्वर ओंकार नाम से जाना जाता है। भक्त जब ओंकार नाम से ईश्वर को पुकारता है तब वह भक्तवत्सल ईश्वर अपने भक्त पर अत्यन्त प्रसन्न होता है'। इससे प्रतीत होता है कि ईश्वर को अपना ओंकार नाम सर्वाधिक प्रिय है। श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता[१] में कहा है—'ब्रह्म (ईश्वर) का स्मरण ॐ, तत् तथा सत्—इन तीन पदों के द्वारा किया जाता है'। अतः प्रणव पद का वाच्य है—ईश्वर। यह प्रणव शब्द का सामान्य अर्थ है। प्रणव शब्द समुदायशक्ति के द्वारा उपाधिशून्य निर्गुण ईश्वर का वाचक है।[२] अवयवशक्ति के द्वारा प्रणव की अ, उ तथा म—ये तीन मात्राएँ ब्रह्मा, विष्णु तथा रूद्र-संज्ञक तीन मूर्त्तियों को अपनी इच्छा से धारण करने वाले ईश्वर की वाचक हैं।[३] इस प्रकार ओंकार पद तीन मात्राओं से निष्पन्न है।[४] अ उ और म्—इन तीन मात्राओं की क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र में शक्ति है। यह बात श्रुतिस्मृति से सिद्ध है।[५]

ओंकार के सखण्डार्थपक्ष में भी ईश्वर ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्रात्मक रूप से एक ही सिद्ध होता है। द्वन्द्वसमास पदार्थों का भेद होने पर होता है। यह सत्य है कि अ, उ, म् की शक्ति ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र में मानकर पदार्थतावच्छेदक—ब्रह्मत्व, विष्णुत्व, रुद्रत्व—के भेद से **अश्च, उश्च, मश्च इत्याकारात्मा सखण्डोंकारः**—ऐसा द्वन्द्वसमास किया गया है। तथापि जैसे राहु और सिर के एक होने पर भी **राहोः शिरः**—ऐसा प्रातिभासिक (काल्पनिक) वाग्व्यवहार होता है उसी प्रकार यहाँ ईश्वर के एक होने पर भी उसका ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र रूप से प्रातिभासिक भेद प्रतीत होता है। इस प्रकार ईश्वर और ब्रह्मादि का भेदाभेद श्रुतियों को भी मान्य है।[६]

जीव और परमात्मा के अभेदपक्ष में अवयवशक्ति के द्वारा बोध कराने वाला सखण्ड यौगिक पद ओंकार जीव और परमातमा के अभेदरूप अखण्ड परमात्मा का वाचक है। ओंकारगत अ-मात्रा की शक्ति जीव में उ-मात्रा की शक्ति ब्रह्म में और म्-मात्रा की शक्ति दोनों के अभेद में है। चूंकि यहाँ अवयवों के द्वारा पदार्थ का बोध हो रहा है इसलिए ओंकार यौगिक पद हुआ। श्रुति और स्मृतियाँ भी जीव और ब्रह्म के अभेद का

---

[१] ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

[२] तस्य निरुपाधिकस्येश्वरस्य प्रणवः अखण्डौङ्कारः वाचकः, रूढया बोधकं नाम संज्ञारूपकम् – यो० सि० चं० पृ० २६।

[३] तस्य स्वेच्छयाङ्गीकृतविग्रहावच्छिन्नस्य ब्रह्मादिमूर्त्तित्रयात्मकत्वेन श्रुतस्येश्वरस्य प्रणवः; अश्च उश्च मश्चत्याकारात्मा सखण्डौङ्कारः—यो० सि० चं० पृ० २६।

[४] अकारं च उकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयात् समुद्धृत्य ॐङ्कारं निर्ममे पुरा॥—यो० सि० चं० पृ० २६।

[५] अकारं ब्रह्माणम् उकारं विष्णुं मकारं रुद्रम्—यो० सि० चं० पृ० २६।

[६] ब्रह्माणमेव विष्णुमेव रुद्रमेवं विभक्तांस्त्रीणि वाऽविभक्तानि—यो० सि० चं० पृ० २६।

प्रतिपादन करती हैं।[1] इस प्रकार **नारायणतीर्थ** द्वारा कथित उपर्युक्त विवेचन से उद्घाटित हुआ कि प्रणव शब्द पदजाति के भेद से निर्गुण ईश्वर, सगुण ईश्वर एवं जीव तथा परमात्मा के अभेद का बोधक है। **नारायणतीर्थ** के अनुसार प्रणव के उपर्युक्त तीन प्रकार के अर्थों में से जीव और परमात्मा के अभेद का प्रतिपादन करने वाला सखण्ड ओंकार ही श्रेष्ठ है। क्योंकि **'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि'**—इत्यादि महावाक्यों एवं तापिनी आदि उपनिषदों में जीव तथा परमात्मा का अभेद ही प्रतिपादित हुआ है। जीव, परमात्मा एवं उनके अभेद की सिद्धि प्रणवगत अ, उ, म् की शक्ति जीव, परमात्मा एवं उनका अभेद मानने पर ही सम्भव हो सकती है। इसलिए भगवान् मनु भी अखण्ड ओंकार की अपेक्षा सखण्ड ओंकार को अधिक आदर की दृष्टि से देखते हैं। जीव तथा परमात्मा के अभेदपक्ष के अनुसार सखण्ड ओंकार का **'अश्च असौ उश्च असौ मश्च असौ इति ओंकारः'**—ऐसा कर्मधारयसमास बनता है। कर्मधारयसमास पदार्थों का अभेद होने पर होता है। प्रणव में द्वन्द्वसमास नहीं है। क्योंकि उससे भेद की प्रतीति होती है। पुराण में अजपा-जप के ध्यान से साधक को जीव तथा परमात्मा के एकत्व का ज्ञान होता है—ऐसा कहा गया है।[2]

प्रणव पद का स्वरूप—आचार्य **नारायणतीर्थ** के अनुसार प्रणव किस प्रकार का शब्द है—इसके प्रतिपादन से पूर्व सामान्यतया पदजाति पर विचार कर लेना आवश्यक है। शक्त पद चार प्रकार के हैं—यौगिक, रूढ, योगरूढ और यौगिकरूढ। जहाँ पदगत अवयवों के द्वारा अर्थ का बोध होता है उसे यौगिक पद कहते हैं। जैसे पाचक, पाठक इत्यादि पद। पाचक शब्द अपने अवयव (पच्धात्वर्थ) पाक और अक् (ण्वुल्) प्रत्ययार्थ (कर्त्ता) द्वारा 'पाककर्त्ता' अर्थ का बोधन करता है। अतः यह यौगिक पद है। जहाँ शब्द अवयव-शक्ति की अपेक्षा न रखकर समुदायशक्तिमात्र से अर्थ का बोधन करता है, वह रूढ कहलाता है; जैसे गो, मण्डल आदि पद। यहाँ गो पद समुदायशक्ति के द्वारा सास्नादि-विशिष्ट 'गो' व्यक्तिरूप अर्थ में ही रूढ (प्रसिद्ध) है, न कि **गच्छतीति गौः**—इस प्रकार अवयवशक्ति के द्वारा गमनशील किसी भी प्राणी के अर्थ में प्रसिद्ध है। जो पद अवयव और समुदायरूप उभयशक्तियों के द्वारा स्वार्थ का बोधन करते हैं, वे योगरूढ कहलाते हैं; जैसे पङ्कज आदि पद। पङ्कज पद के द्वारा पङ्क से उत्पन्न होने वाले अनेक पदार्थों में से केवल कमल का बोध पङ्कज पद को योगरूढ मानने पर ही हो सकता है। पङ्कज पद को केवल यौगिक मानने पर पङ्क से उत्पन्न होने वाले मेढक आदि का भी संग्रह होने लगेगा। केवल रूढ मानने पर पङ्कजन्यकमल के समान स्थलकमल का भी बोध होने लगेगा। अतः यहाँ समुदायशक्ति और अवयवशक्ति दोनों मिलकर पङ्क से उत्पन्न होने वाले केवल कमल का बोध कराती हैं। इसलिये पङ्कज पद योगरूढ है। जिस पद से अवयवार्थ (यौगिकार्थ) तथा रूढचर्थ (समुदायार्थ) का स्वतन्त्ररूप से बोध होता है, वह पद यौगिकरूढ कहलाता है; जैसे उद्भित् पद। **'ऊर्ध्वं भिनत्ति'**—इस अवयवशक्ति के द्वारा 'उद्भित्' पद उद्भेदनकर्त्ता

---

[1] **अकारेण ममात्मानमन्विष्य मकारेण ब्रह्मणा अनुसंदध्यादुकारेणाविचिकित्सन्निति··· समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणाम्योमिति पदमिति—यो० सि० चं० पृ० २६।**

[2] **हंस इत्यजपां नित्यं श्वासप्रश्वासगां बुधः।**
विपरीतां तु तां कृत्वा सोऽहमेकत्वसिद्धये॥ —यो० सि० चं० पृ० २७।

तरु (वृक्ष), लता आदि का बोध कराता है और समुदायशक्ति के द्वारा 'उद्भित्'—पद यागविशेष का बोध कराता हैं। अतः 'उद्भित्'—पद यौगिकरूढ है।

इन चार प्रकार की पदजातियों में से प्रणव किस प्रकार का पद है ? इसे कसौटी में कसते हुए आचार्य **नारायणतीर्थ** प्रणव के पदजाति का निर्धारण निम्नाङ्कित प्रकार से करते हैं :—

(१) जिस प्रकार गवादि शब्द सास्नादिविशिष्ट व्यक्ति में रूढ माने जाते हैं उसी प्रकार प्रणव को भी रूढ मानकर उसे केवल निरुपाधिक ईश्वर का वाचक नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रणवार्थविवेचन के प्रसङ्ग में यह प्रतिपादित हुआ है कि प्रणव शब्द अवयवशक्ति के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का भी वाचक होता है। अतः अवयवार्थ का ग्रहण हो सकने से 'प्रणव' शब्द को केवल रूढ नहीं कहा जा सकता है।

(२) पाचक आदि पद की तरह प्रणव को केवल अवयवार्थक यौगिक पद भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि समुदायशक्ति के द्वारा प्रणव शब्द अखण्ड ईश्वर अर्थ में भी रूढ है।

(३) पङ्कज आदि पद की तरह प्रणव को केवल योगरूढ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्रणव (ओंकार) पद यौगिक अर्थ से अन्वित (युक्त) रूढचर्थ से अवच्छिन्न किसी एक ही अर्थ का बोध नहीं कराता है। अर्थात् अवयवशक्ति और समुदायशक्ति दोनों मिलकर प्रणव पद से किसी एक ही पद का बोध नहीं कराती हैं। समुदायशक्ति के द्वारा प्रणव पद का निरुपाधिक-ईश्वर अर्थ मान्य है और अवयवशक्ति के द्वारा उसका ब्रह्मादि अर्थ मान्य है। अतः अवयवार्थ (यौगिकार्थ) और रूढचर्थ (समुदायार्थ) दोनों का स्वतन्त्र रूप से बोध कराने वाले प्रणव को योगरूढ पदजाति में भी नहीं रखा जा सकता है।

(४) चैत्र, मैत्र आदि पदों की शक्ति जैसे शरीरविशेष में है उसी प्रकार प्रणवगत अकारादि की—विष्णु आदि अकारादि के पर्याय हैं—शक्ति शरीरविशेष में मानकर आत्मा अर्थ में अकारादि (विष्णु आदि) को लाक्षणिक भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि **'सर्वं वेत्ति विष्णुः'** अर्थात् विष्णु सब कुछ जानते हैं—इत्यादि प्रयोग के आधार पर ज्ञान का आश्रय शरीर को नहीं माना जाता; अपितु आत्मा को ज्ञानाधिकरण माना जाता है। इसलिएं विष्णु आदि पदों की शक्ति शरीर में न होकर आत्मा में स्वीकार की गई है। अतः विष्णु आदि के पर्याय प्रणवगत अकारादि मात्राओं की शक्ति आत्मा में ही मानी की गई है। सुतरां अकारादि पदों को लक्ष्य नहीं माना जा सकता है। दूसरी बात यह है कि लक्षणा जघन्यवृत्ति है। लक्षणावृत्ति का वहीं आश्रय किया जाता है जहाँ शक्यार्थ की अनुपपत्ति होती है। ओंकार में निविष्ट अकारादि मात्राएँ शास्त्रगृहीत संकेत के द्वारा विशिष्ट विशिष्ट शक्यार्थ में निश्चित हैं। इनका कहीं बाध नहीं होता है। अतः ओंकार को लक्ष्य पद भी नहीं कहा जा सकता है।

सिद्धान्तपक्ष - ओंकार (प्रणव) पद उद्भिद्, मण्डप आदि पदों की तरह यौगिक-रूढ है। समुदायशक्ति और अवयवशक्ति दोनों के द्वारा स्वतन्त्ररूप से रुढचर्थ और अवयवार्थ का बोध कराता है। **'मण्डपे शेते'**—इस वाक्य में 'मण्डप' पद समुदायशक्ति के द्वारा भूमि (मण्डप) का बोध कराता है; क्योंकि भूमि पर शयन किया जाता है।

यहाँ मण्डप शब्द अवयवशक्ति द्वारा माँड़ पीने वाले का बोध नहीं कराता। क्योंकि शयन क्रिया का मण्डपायी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। **मण्डपं भोजय**—इस स्थल में 'मण्डप' शब्द अवयवशक्ति के द्वारा मण्डपायी का ही बोध कराता है। क्योंकि यहाँ मण्डपायी अर्थात् माँड पीने वाले व्यक्ति को ही भोजन कराने की आज्ञा दी गयी है। यहाँ मण्डपपद से शामयाना का ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि शामयाना के साथ भोजनक्रिया का सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार प्रणव (ओंकार) पद भी समुदायशक्ति के द्वारा निरुपाधिक (निर्गुण उपाधिशून्य) ईश्वर का बोध कराता है। अवयवशक्ति के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु रुद्र-रूप सगुण ईश्वर का बोध कराता है एवं उनके अभेद सम्बन्ध का बोध कराता है।[1] अतः प्रणव पद यौगिक-रूढ़ है।

ईश्वर का वाचक प्रणव ही क्यों ?—तस्य वाचकः प्रणवः—इस पातञ्जलीय सूत्र में ईश्वर के बोधक के रूप में प्रणव पद को ही क्यों लिया गया ?—इसका स्वारस्य समझाने के लिए आचार्य **नारायणतीर्थ** पूर्वपक्षी के **तस्य वाचकः मन्त्रः**—ऐसा क्यों नहीं कहा गया ?—इस पूर्वपक्ष को उपस्थापित करते हैं। पूर्वपक्षी का कहना है कि महर्षि **पतञ्जलि** का ईश्वर के वाचक अनेक शब्दों में से 'प्रणव' की ओर विशेष आदर एवं झुकाव क्यों है ? ईश्वर के वाचक अनेक मन्त्र हैं। कहा जा सकता है कि 'प्रणव' ईश्वर का विशेष मन्त्र है। अतः ईश्वर के वाचक सामान्य मन्त्रों की अपेक्षा विशेष मन्त्र की ओर बुद्धि का पक्षपातिनी होना स्वाभाविक है। यह उचित नहीं है। क्योंकि ईश्वर के रूप से उपास्य सगुण शिव, राम आदि की आराधना के साधनभूत प्रणवमन्त्र के अतिरिक्त मन्त्रों के चिन्तन द्वारा भी साधक उपास्य का साक्षात्कार करके अभीष्ट फल प्राप्त करता है—ऐसा 'तापिनी' आदि उपनिषदों में वर्णित है; तथा प्रणवभिन्न मन्त्र परमात्ममन्त्र कहे गए हैं। अतः सूत्रकार को **तद्वाचकस्तन्मन्त्रः**—ऐसा ही सूत्र बनाना चाहिए था। क्योंकि इस प्रकार की सामान्य उक्ति से ईश्वर के वाचक समस्त मन्त्र संग्रहीत हो सकते थे। इस शङ्का के समाधानार्थ आचार्य **नारायणतीर्थ** का कहना है कि आपका कथन किसी सीमा तक अवश्य ठीक है; फिर भी **तद्वा-चकस्तन्मन्त्रः**—न कहकर **तस्य वाचकः प्रणवः**—ऐसा कहने में महर्षि **पतञ्जलि** का गम्भीर तात्पर्य छिपा हुआ है। यह श्रुति-स्मृतियों के पर्यालोचन से स्पष्ट हो जाता है—'जिस प्रकार शङ्कु=पत्ते की नसों से वृक्ष के सम्पूर्ण पत्ते—पत्तों के अवयवसमूह—व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा के प्रतीकभूत ओङ्काररूप ब्रह्म से सम्पूर्ण वाक्=शब्दसमुदाय व्याप्त है'।[2] यह **ओंकारो वै सर्वा वाक्** अर्थात् ओंकार ही सम्पूर्ण वाक् है—इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है। जितना नामधेय है सब परमात्मा का ही विकार है। अतः सब ओङ्कार-स्वरूप है। **अग्नि-मीळे**—इस प्रकार अकार से प्रारम्भ होने वाला ऋग्वेद, दधातु—इस प्रकार उकार से अन्त होने वाला सामवेद तथा अहम्—इस प्रकार मकार से अन्त होने वाला यजुर्वेद—समस्त संस्कृत

---

[1] **एवं प्रणवोऽपि समुदायशक्त्या निरुपाधिकमेवेश्वरं बोधयति, प्रत्येकशक्त्या ब्रह्मादीन् अभेदञ्च बोधयति—यो० सि० चं० पृ० २७।**

[2] **शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृणात्येवमेवोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णाः—यो० सि० चं० पृ० २८।**

वाङ्मय का संग्रह करने वाला यह ओङ्कार है।'[१] तात्पर्य यह है कि अ, उ, म्—रूप ओंकार (प्रणव) के अन्तर्गत समस्त शब्दवाङ्मय है। 'शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द—ये षडङ्ग, न्याय, मीमांसा, अष्टादश पुराण, स्मृति आदि सब वेद के अन्तर्गत हैं तथा समस्त वेद तार (प्रणव) के अन्तर्गत हैं।[२] **'अइउण्'**—सूत्र के अ से लेकर **'हल्'**- सूत्र के हकार के मध्य समस्त वर्ण हैं। यहाँ शङ्का होती है कि **'अइउण्'**—से लेकर **'हल्'**—तक जितने वर्ण हैं उनमें ळ और क्ष—ये दो वर्ण श्रुत नहीं होते हैं। अर्थात् ये दो वर्ण सब वर्णों से अतिरिक्त प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में कैसे कहा जा सकता है कि अ और ह के मध्य समस्त वर्ण आ जाते हैं? इसका समाधान है कि 'क्ष' कोई अलग वर्ण नहीं है, वह तो क और ष का संयोगमात्र है। एवं ळ भी ल का सवर्ण होने से तद्रूप ही माना जाता है। अतः इन दो वर्णों को अतिरिक्त वर्ण स्वीकार करना निराधार है। इसलिए अ और ह के मध्य समस्त वर्ण समा जाते हैं यह ठीक है।[3] अर्थात् अल् प्रत्याहार में समस्त वर्ण आ जाते हैं।

'अ' पुरुषरूप है तथा हकार प्रकृतिरूप है।[४] **'अइउण्'**—के 'अ' के साथ **'हल्'**—सूत्र के संयुक्त हुए विना 'अल्' प्रत्याहार नहीं बन सकता है। **'हल्'**—सूत्र को संयुक्त करने पर ही समस्त वर्णों की प्रतीति हो पाती है। इसलिए हकार को प्रकृतिरूप माना गया है। **'अइउण्'**—सूत्र का 'अ' प्रतीयमान समस्त वर्णों का निर्देश करता रहता है। इसलिए उसे पुरुषरूप माना गया है। इसी प्रकार आनुपूर्वीविशिष्ट वर्णरूप मन्त्रों का प्रणव में अन्तर्भाव होता है। क्योंकि प्रणव के चिन्तन से ही सभी मन्त्रों का चिन्तन तथा तत्-तत् मन्त्र से प्राप्त होने वाला फल प्राप्त होता है। अतः श्रुति-स्मृतियों में मुमुक्षु के लिए ईश्वरोपासना का सर्वश्रेष्ठ साधन प्रणव (ओंकार) बतलाया गया है। इस प्रकार सभी मन्त्र प्रणवमन्त्र के व्याख्यानरूप हैं।

सूत्र में 'तस्य' पद के प्रयोग का प्रयोजन—नारायणतीर्थ का कथन है कि महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र में **'तस्य'**—पद का प्रयोग परमात्मा के एकत्व—प्रतिपादन के लिए किया है। क्योंकि रामकृष्णादि शरीरावच्छिन्न उपाधिभेद से उपास्य ईश्वर का व्यावहारिक भेद सिद्ध नहीं होता है। वेदान्तमत में जैसे संसार की व्यावहारिक सत्ता मानी गई है उसी प्रकार उपाधिभेद से उपास्यभेद की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। श्रुति का यही सिद्धान्त है।[५] यदि **तद्वाचकः प्रणवः**—ऐसा सूत्र होता तो उपाधिशून्य निर्गुण तथा सौपाधिक सगुण ईश्वर के आराधक तत्—पद का **'तेषां'** अर्थ करके ईश्वर का नानात्व सिद्ध

---

[१] ऋग्वेदः स्यादकाराद्य उकारान्तं यजुर्मतम्।
सामवेदो मकारान्तः सर्वग्राही ततो ध्रुवः॥ यो० सि० चं० पृ० २८।

[२] षडङ्गन्यायमीमांसा पुराणं स्मृतिपूर्वकम्।
वेदेऽन्तर्भूतमेव स्यात् सर्ववेदाश्च तारगाः॥ यो० सि० चं० पृ० २८।

[३] अहयोर्मध्यगा वर्णा लक्षौ कषलगौ यतः। यो० सि० चं० पृ० २८।

[४] अकारः पुरुषस्तत्र हकारः प्रकृतिर्मता॥ यो० सि० चं० पृ० २८।

[५] नात्र काचन भिदास्ति, नैवात्र काचन भिदाऽस्ति।—यो० सि० चं० पृ० २८।

किया जा सकता था। यह अभीष्ट नहीं है। अतः सूत्र में व्यस्तरूप से 'तस्य' पद का प्रयोग किया गया है।

सूत्र में 'प्रणव' पद के प्रयोग का प्रयोजन—**नारायणतीर्थ** का कहना है कि 'ॐ' यह अत्यन्त रहस्यपूर्ण पद है। इसके रहस्य को छिपाए रखने के लिए सूत्र में ओं पद के स्थान पर प्रणव पद का प्रयोग किया गया है। ओंकार को प्रणव इसलिए कहते हैं कि लोक में प्रणव का जप करने वाले ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण के समक्ष ऋग्वेदादि के अध्येता झुक जाते हैं। इसमें श्रुतिवाक्य भी प्रमाण है।[१] यह प्रणव सभी मन्त्रों का राजा होने से अहर्निश जपने योग्य है।

इस प्रकार ईश्वर के वाचक प्रणव तथा प्रणव के प्रतिपादक तस्य वाचकः प्रणवः—इस सूत्र के भिन्न-भिन्न पक्षों पर आचार्य **नारायणतीर्थ** ने विचार किया है।

शब्दार्थसम्बन्धविवेचन—

पूर्वपक्ष (नैयायिक की ओर से)—ईश्वर और प्रणव का वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध सङ्केतकृत है। क्योंकि शब्द एवं अर्थ का नित्य-सम्बन्ध नहीं, अपितु अनित्य-सम्बन्ध है। जो लोग (मीमांसक, योगाचार्य) शब्द तथा अर्थ का नित्य-सम्बन्ध मानकर—'अमुक पद से अमुक अर्थ का बोध हो'—इस प्रकार के सङ्केत द्वारा सम्बन्ध का अभिव्यक्त होना स्वीकार करते हैं, उनकी यह स्वीकृति उचित नहीं है। पद-पदार्थों (पदार्थों) में वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध नहीं है; उनके सम्बन्ध की अभिव्यक्ति सैकड़ों बार सङ्केत करने से भी नहीं हो सकती है।[२] घट एवं प्रदीप में अभिव्यङग्य-अभिव्यञ्जकभाव सम्बन्ध है। किन्तु घट के विद्यमान रहने पर ही प्रदीप से घट प्रकाशित होता है। अन्यथा सहस्र दीप भी घट को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं होते हैं। संकेत के द्वारा ही 'करभ'—शब्द हाथी अर्थ का वाचक है। अतः शब्दार्थसम्बन्ध अनित्य एवं संकेतजन्य है।[३]

उत्तरपक्ष—शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता सिद्ध करते हुए **व्यासदेव**, **वाचस्पति** आदि व्याख्याकारों ने पूर्वपक्षी के मत का खण्डन निम्नाङ्कित प्रकार से किया है—सभी शब्द सभी अर्थों का अभिधान करने में समर्थ हैं—ऐसा निश्चित होने से निखिल शब्दों का निखिल अर्थों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध माना जाता है। ईश्वर-संकेत शब्दार्थसम्बन्ध का प्रकाशक एवं नियामक मात्र होता है।[४] पिता-पुत्र का मध्यवर्ती पितृत्व-पुत्रत्व-सम्बन्ध नित्य है। दोनों व्यक्तियों को अपने मध्यवर्ती सम्बन्ध का बोध रहता है—'ये मेरे पिता

---

१ यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुःसामाऽथर्वाङ्गिरसः ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणमयति नमयति च तस्मादुच्यते प्रणवः इति।—यो० सि० चं० पृ० २९।

२ परे हि पश्यन्ति यदि स्वाभाविकः शब्दार्थयोः सम्बन्धः सङ्केतेनास्माच्छब्दादयमर्थः प्रत्येतव्य इत्येवमात्मकेनाभिव्यज्यते—त० वै० पृ० ८१।

३ ततः सङ्केतकृतमेव वाचकत्वम्—त० वै० पृ० ८१।

४ सर्व एव शब्दाः सर्वाकारार्थाभिधानसमर्था इति स्थित एवैषां सर्वाकारैरर्थैः स्वाभाविकः सम्बन्धः। ईश्वरसङ्केतस्तु प्रकाशको नियामकश्च—त० वै० पृ० ८१-८२।

हैं, मैं इनका पुत्र हूँ' तथा 'मैं इसका पिता हूँ, यह मेरा पुत्र है'। लेकिन दूसरे व्यक्ति को इस सम्बन्ध का ज्ञान शब्द-प्रयोग द्वारा ही कराया जाता है 'ये इसके पिता हैं, यह इनका पुत्र है'। इस प्रकार के शब्द-प्रयोग से सम्बन्ध की उत्पत्ति नहीं, अपितु अभिव्यक्ति होती है। अतः शब्दार्थसम्बन्ध नित्य, किन्तु सङ्केतद्योत्य है।

पूर्वपक्ष—सम्बन्ध की नित्यता सम्बन्धी की नित्यता पर अवलम्बित है। योग-मत के अनुसार महाप्रलय में जब प्रधानजात शब्द (वस्तुतः बुद्धि के कार्य अहंकार से उत्पन्न शब्दतन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मशब्द एवं तज्जन्य आकाशभूतगुणक स्थूलशब्द) अपने मूलकारण प्रकृति में लीन हो जाता है तब सम्बन्धी (वाच्य-वाचक) के न रहने से तदाश्रित सम्बन्ध (शक्ति) का भी नाश हो जाना स्वाभाविक है। अन्यथा सम्बन्ध की नित्यता के लिए शब्द को नित्य मानने पर स्ववचोव्याघात उपस्थित होगा। अतः महाप्रलय में नाश को प्राप्त हुए वाच्य-वाचक एवं उनका सम्बन्ध सृष्टिकाल में पुनः उत्पन्न होता है। सुतरां ईश्वर के सङ्केत से शब्दार्थसम्बन्ध का निर्माण होता है—यह कहना उचित है।

उत्तरपक्ष—वाचस्पति मिश्र आदि व्याख्याकारों का कहना है—योगसम्मत सत्कार्यवाद के तिरस्कार से ही श दार्थसम्बन्ध में उपर्युक्त अनुपपत्तियाँ आ सकती हैं, अन्यथा नहीं। सांख्ययोगशास्त्र में पदार्थ का आविर्भाव और तिरोभाव माना गया है, उत्पत्ति और नाश नहीं। महाप्रलय में जैसे शब्द का अपने कारण में लौटना होता है, वैसे शब्दनिष्ठ शक्ति का भी प्रत्यावर्तन होता है। उसका नाश नहीं होता है। सृष्टिकाल में शक्तिसहित पद का आविर्भाव होता है।[1] अतः पूर्वसर्गीय शब्दार्थसम्बन्ध के अनुसार ईश्वर वर्तमान एवं अग्रिम सभी सृष्टियों में पहले से विद्यमान वाच्य, वाचक एवं उनके सम्बन्ध का द्योतनमात्र करता है। पूर्व सर्ग में जो शब्द जिस अर्थ का अभिधायक था, वर्तमानकाल में भी वह उसी अर्थ का वाचक होता है।[2] शब्दार्थसम्बन्ध में परिवर्तन नहीं आता है। वर्षाकाल में आविर्भूत हुए मेढक वर्षा के व्यतीत हो जाने पर मृद्भाव को प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु आगामी वर्षाऋतु में उनका पुनरुद्भव देखा जाता है। इस प्रकार शब्दार्थ-सम्बन्ध नित्य है।

ईश्वर-चिन्तन के भेद—सर्वप्रथम आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने ईश्वर-चिन्तन के भेद का प्रतिपादन किया। ईश्वरविषयक चिन्तन के सन्दर्भ में आचार्य **विज्ञानभिक्षु** भेदाभेद की नीति अपनाते हैं।

आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने अवयवशक्ति के आधार पर **प्रणव** शब्द का व्यापक अर्थ किया है। वे समुदायशक्ति द्वारा बोधित सीमित अर्थ तक उसे नहीं बाँधना चाहते हैं। प्रणव की साढ़े तीन मात्राएँ क्रमशः व्यक्त (प्रकृति के कार्य), अव्यक्त (प्रकृति), पुरुष (जीव) एवं ईश्वर (पुरुषविशेष) की अविधायक हैं। इसमें स्मृतिवाक्य प्रमाण है।[3] प्रणवार्थ

---

[1] यद्यपि सह शक्त्या प्रधानसाम्यमुपगतः शब्दस्तथापि पुनराविर्भवंस्तच्छक्तियुक्त एवाविर्भवति—त० वै० पृ० ८२।

[2] तेन पूर्वसम्बन्धानुसारेण सङ्केतः क्रियते भगवतेति त० वै० पृ० ८२।

[3] प्रणवार्थश्चावान्तरभेदैः श्रुत्यादिषु बहुधोक्तः यथा गारुडे—
व्यक्ताव्यक्ते च पुरुषस्तिस्रो मात्राः प्रकीर्तिताः।
अर्धमात्रा परं ब्रह्म ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः॥—यो० वा० पृ० ८३।

के क्षेत्र में जगत् के सभी पदार्थ समाविष्ट हैं। उनमें से सर्वश्रेष्ठ ईश्वरतत्त्व का चिन्तन करते हुए उसका अन्य पदार्थों के साथ कैसा सम्बन्ध है ?—इसका चिन्तन भी भक्त के लिए अपेक्षणीय है। अन्यथा प्रणवार्थ-चिन्तन अपूर्ण रहता है।

योगवार्तिक में प्रणवार्थ-चिन्तन की दो प्रणालियाँ बतलाई गई हैं[१] :—

अभेदात्मक-चिन्तक (सकलवस्तु में ईश्वररूपता)—जीव और ईश्वर में कार्य-कारण अंश-अंशी अथवा शक्ति-शक्तिमत् सम्बन्ध है। इस प्रकार के सम्बन्ध में अविभागरूप तद्रूपता रहती है। जीव की ब्रह्मरूपता उसी प्रकार की है जिस प्रकार की तप्तलोहपिण्ड में अग्नि की तद्रूपता देखी जाती है। अतः जीव और ईश्वर में अभेदसम्बन्ध तथा सकल पदार्थों में ईश्वर के विद्यमान रहने से, 'मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म सर्वरूप है'—इस प्रकार का चिन्तन साधक को ऊँकार जप के साथ सर्वदा करते रहना चाहिए।[२] श्रुतिस्मृतियों[३] द्वारा भी ईश्वर-ध्यान का उपर्युक्त प्रकार प्रशस्त हुआ है। श्रुतियों का आदेश है कि भेदबुद्धि छोड़कर जगत् के व्यस्त एवं समस्त सभी पदार्थों को ईश्वररूप समझे और उनका अभेदाकारात्मक चिन्तन करे।

भेदात्मक-चिन्तन (जीव आदि सकल वस्तु से ईश्वर की भिन्नरूपता)—द्वितीय प्रणवार्थचिन्तन प्रथम प्रणवार्थचिन्तन से पूर्णतया भिन्न है। इसमें प्रकृति, प्रकृति के कार्य महत् आदि तथा जीवों से ईश्वर को भिन्न समझकर ऊँकार-जप के साथ चिद्रूप ईश्वर का आत्मत्वेन चिन्तन करने का विधान है।[४] श्रुति-स्मृतियों के द्वारा उक्त विषय स्पष्ट हुआ है।[५]

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने प्रथम चिन्तन को उपासनापरक तथा द्वितीय चिन्तन को तत्त्वज्ञानपरक माना है।[६]

नारायणतीर्थ[७] तथा नागेश भट्ट[८] ने विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रवर्तित उपर्युक्त ईश्वर-चिन्तन की प्रणाली उसी रूप में स्वीकार की।

---

१ प्रणवार्थचिन्तणं च मुख्यतो द्विविधम्—यो० वा० पृ० ८३।

२ तत्रैकमंशांशिकार्यकारणशक्तिशक्तिमद्याद्यभेदेन तप्तायःपिण्डवदविभागलक्षणैकीभावादहं ब्रह्म सर्वं खलु ब्रह्मेत्यादिरूपं भवति।—यो० वा० पृ० ८३।

३ एकः समस्तं यदिहास्ति किंचित्तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्॥···वि० पु० २।१६।३३
तमेतमात्मानमोमिति ब्रह्मणैकीकृत्य ब्रह्म चात्मनौमित्येकीकृत्य···
सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत – छा० उप० ३।१४।१

४ अपरं प्रकृतितत्कार्यपुरुषेभ्यो विवेकेन केवले ब्रह्मचिन्मात्र आत्मत्वचिन्तनम्—यो० वा० पृ० ८३।

५ ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्—यो० वा० पृ० ८३।

६ चिन्तनयोर्मध्ये प्रथमचिन्तनमुपासना द्वितीयं तत्त्वज्ञानम्—यो० वा० पृ० ८४।

७ तज्जपः···चिन्तनमित्यर्थः—यो० सि० चं० पृ० २९।

८ प्रणवार्थचिन्तनं च द्विधा···ना० बृ० वृ० पृ० २४४।

ईश्वर के स्वरूप-प्रतिपादन का उद्देश्य—

क्लेश, कर्म आदि से असम्पृक्त ईश्वर का ध्यान करने वाले साधक का विक्षिप्त चित्त धीरे-धीरे एकाग्र होने लगता है तथा व्याधि आदि अन्तराय—जो चित्त की एकाग्रता के शत्रु हैं—नष्ट (कार्योत्पादन की सामर्थ्य से रहित) हो जाते हैं। इससे साधक का ईश्वर-चिन्तन की ओर अधिक झुकाव होने लगता है। एक समय ऐसा आता है जब अन्य विषयों से अपने को विमुख किए बिना साधक का चित्त स्वभावतः ईश्वर-चिन्तन में तल्लीन रहने लगता है और साधक अपने को ईश्वर-भक्ति के साम्राज्य में पाता है। ईश्वर-ध्यान का अभ्यास करते रहने से जब चित्त एकाग्रता की उत्कृष्टावस्था को प्राप्त करता है तब उसे स्वरूपानुभूति होती है। उसे अनुभव होने लगता है कि—मैं अभी तक अविद्या में पड़ा हुआ था; बुद्धि के सुख-दुःख आदि धर्मों को अपना समझता हुआ व्यर्थ में सुखी-दुःखी होता रहा; आज मुझे अपने वास्तविक स्वरूप का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हुआ है; अब अविद्याकृत बन्धन मुझे नहीं जकड़ सकता है। ईश्वर-चिन्तन की विधि के अतिरिक्त स्थूलादि पदार्थों में क्रमशः संयम करते हुए साधक को सम्प्रज्ञातसमाधि की चतुर्थ कोटि अस्मितानुगतसमापत्ति में इस प्रकार का बोध होता है। किन्तु ईश्वर का कृपापात्र भक्त सम्प्रज्ञात की पूर्व अवस्थाओं का अतिक्रमण कर अन्तिम अवस्था प्राप्त करता है। भक्ति के अत्यन्त प्रगाढ़ होने पर वह मोक्ष की अव्यवहित पूर्ववर्ती अवस्था असम्प्रज्ञातयोग को भी—'मेरे भक्त को असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हो'—ईश्वर के इस संकल्पमात्र से प्राप्त करता है।[1]

कार्यकारणभाव सम्बन्ध में सजातीयता रहने से प्रश्न उत्पन्न होता है कि ईश्वर-ध्यान का फल ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार होना चाहिए। अतः ईश्वरविषयक चिन्तन से साधक को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है—यह अनुभवविरुद्ध है।

आपाततः प्रतीयमान उक्त विरोध का परिहार आचार्य **वाचस्पति मिश्र** निम्नाङ्कित प्रकार से करते हैं—जीव एवं ईश्वर में अत्यन्त सादृश्य है। जीव एवं ईश्वर दोनों शुभाशुभ कर्म, कर्मजन्यभोग आदि से रहित (अकर्ता, अभोक्ता, असङ्ग), ज्ञानस्वरूप, एवं नित्य कूटस्थ हैं।[2] लेकिन अविद्या के बन्धन में फँसकर जीव को आत्मविस्मृति हो जाती है। आत्मविस्मृति के उद्बोध के लिए जीव को साधना करनी पड़ती है। अविद्यामुक्त ईश्वर को अपने स्वरूप का सर्वदा ज्ञान रहता है। अतः दोनों के स्वरूप में सजातीयता रहने से (जीव और ईश्वर में वास्तविक सादृश्य रहने से) ईश्वरविषयक भावना से जीव-विषयक प्रत्यक्षज्ञान होना अनुभवविरुद्ध नहीं है। समान आकृति वाले व्यक्तियों में से एक व्यक्ति का दर्शन तत्सजातीय दूसरे व्यक्ति का स्मारक होता है। अथवा एक

---

[1] **भक्तिविशेषान्मानसाद्वाचिकात् कायिकाद्वाऽऽवर्जितः···तमनुगृह्णाति,···अनागतेऽर्थं इच्छा—इदमस्याभिमतमस्त्विति। तन्मात्रेण न व्यापारान्तरेण—त० वै० पृ०६३-६४।**

[2] **कूटस्थनित्यतयोदयव्ययरहितः; प्रसन्नः=क्लेशवर्जितः; केवलः=धर्माधर्मपेतः; अतएवानुपसर्गः···त० वै० पृ० ८७।**

शास्त्र का पूर्ण अभ्यास अपने सदृश अन्य शास्त्रों का ज्ञान कराने में सहायक होता है।[१] लेकिन अत्यन्त विसदृश धर्म वाले दो पदार्थों में से किसी एक पदार्थ का चिन्तन अपने से भिन्न पदार्थ का साक्षात्कार कराने में समर्थ नहीं होता है।[२] अतः ईश्वरविषयक चिन्तन ईश्वर के समानजातीय जीव का स्वरूपज्ञान कराने में पूर्णरूप से समर्थ है। पातञ्जल-योगशास्त्र में इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर ईश्वर का स्वरूप प्रतिपादित हुआ है।

अन्तराय—अन्तरायाः=अन्तर्मध्ये आयान्तीत्यन्तरायाः योगविघ्नाः—इस व्युत्पत्ति के अनुसार योग के अभ्यासकाल में जो बीच-बीच में आ खड़े होते हैं, वे विघ्नस्वरूप तत्त्व योगान्तराय कहे जाते हैं। अथवा **अन्तरं विवरं विच्छेदं कुर्वन्त आयान्तीत्यन्तरायाः**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो चित्त की ध्येयाकारता में विच्छेदरूप विघ्न को उत्पन्न करते हैं, वे अन्तराय कहे जाते हैं। महर्षि पतंजलि ने **चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः**—इस सूत्रांश द्वारा अन्तराय का जो लक्षण किया है, उससे प्रतीत होता है—जो साक्षात् चित्त को विक्षिप्त करते हैं वे ही विघ्न 'अन्तराय' शब्द से यहाँ कहे गए हैं। अतः चित्त को परम्परया विक्षिप्त करने वाले विषयादि यहाँ गृहीत नहीं है।

योगान्तराय नौ हैं[३]—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व तथा अनवस्थितत्व।

व्याधि—शरीर-धारक धातु, रस एवं कफ की विषमता से शरीरगठन में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसे व्याधि कहते हैं।[४] वात, पित्त एवं कफ के परिमाणों में अनावश्यक वृद्धि या ह्रास होना धातुवैषम्य है। भुक्त एवं पीत अन्न, जलादि का ठीक से परिपाक न होना (पाचन में गड़बड़ी आना) रस-वैषम्य है। चक्षुरादि की शक्ति क्षीण होना करण-वैषम्य है। तीनों की संतुलित अवस्था में शरीर नीरोग एवं स्वस्थ रहता है। शरीर के अस्वस्थ रहने पर मन व्याधि के नाशार्थ चिन्तित रहता है तथा साधक को रुग्ण शरीर से योग-साधना करने में बाधा भी पहुँचती है। अतः व्याधि योग के लिए विघ्नरूप है।

स्त्यान—शरीर के अस्वस्थ रहने पर भी यदि साधक में दृढ़ इच्छाशक्ति हो तो वह यथाकथञ्चित् योग-साधना में लगा रह सकता है। लेकिन जब चित्त ही योगानुष्ठान में अक्षम हो जाए तो वह किसी भी तरह योग-साधना नहीं कर सकता है। कार्य न करने की यही मानसिक असमर्थता स्त्यान है।

---

१ सदृशार्थानुचिन्तनं तु सदृशान्तरसाक्षात्कारोपयोगितामनुभवति, एकशास्त्राभ्यास इव तत्सदृशार्थशास्त्रान्तरज्ञानोपयोगिताम्—त० वै० पृ० ८७।

२ अत्यन्तविधर्मिणोरन्यतरार्थानुचिन्तनं न तदितरस्य साक्षात्काराय कल्पते—त० वै० पृ० ८७।

३ व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः—यो० सू० १।३०।

४ व्याधिः=धातुरसकरणवैषम्यम्—व्या० भा० पृ० ८९।

संशय—यदि साधक को गुरु द्वारा उपदिष्ट साधनमार्ग—'यह मार्ग सही है अथवा दोषपूर्ण है'—में संशय होता है अथवा 'मैं योग-साधना कर सकूँगा अथवा नहीं, योगमार्ग अनुकरणीय है अथवा नहीं'—इस प्रकार की संशयात्मक-वृत्ति होती है, तो वह शङ्काग्रस्त एकाग्रचित से योग-साधना नहीं कर सकता। अतः अन्तर्द्वन्द्वप्रधान संशयबुद्धि योग का अन्तराय कही गई है।

प्रमाद—उत्साहपूर्वक योगाभ्यास न करना प्रमाद है। प्रमाद योग का अन्तराय है। योग प्रयत्नसाध्य है किन्तु अनुत्साही (प्रमादी) व्यक्ति प्रयत्नशील नहीं हो पाता है।

आलस्य—जब शरीर में कफ की अधिकता होती है तथा काम-भावनाओं से चित्त का तमोगुण बढ़ता है, तब व्यक्ति को अपने में भारीपन की अनुभूति होती है। इस भारीपन से व्यक्ति में आलस्य का संचार होता है। वह अकर्मण्य हो जाता है। अतः अकर्मण्यता प्रदान करने वाला आलस्य योग का प्रतिपक्षी कहा गया है।

अविरति—योग-साधना के प्रति साधक के चित्त में पूर्ण अनुरक्ति तभी हो सकती है जब उसका चित्त अन्य समस्त विषयों की ओर से भली-भाँति पराङमुख (विरक्त) हो जाए। अन्यथा विषयों का दास बना हुआ (अविरक्त) चित्त योग-साधना के लिए सर्वदा प्रयत्नशील नहीं रह पाता है। अतः अविरति योग का शत्रु है।

भ्रान्तिदर्शन—योग समाधि का साधक नहीं—इस प्रकार के विपरीतज्ञान को भ्रान्तिदर्शन कहते हैं। इस प्रकार की भ्रमात्मिका बुद्धि साधक को योगमार्ग से प्रच्युत करती है। अतः भ्रान्तिदर्शन विघ्न है।

अलब्धभूमिकत्व—योगशास्त्र के अनुसार समाधि की चार अवस्थाएँ हैं। ये योगभूमि के नाम से प्रसिद्ध हैं—मधुमती, मधुप्रतीका, प्रज्ञाज्योतिः एवं अतिक्रान्तभवनीय। निरन्तर योगाभ्यास करते रहने पर भी यदि अभ्यासी समाधि की प्रथम मधुमती भूमि को प्राप्त नहीं कर पाता, तो यह असफलता उसमें उत्साहहीनता को जन्म देती है। वह योगाभ्यास से ऊबकर उस मार्ग को छोड़ बैठता है। अतः अलब्धभूमिकत्व योग का अन्तराय है।

अनवस्थितत्व—उक्त मधुमती आदि भूमियों में से किसी एक भूमि की यथा-कथञ्चित् प्राप्ति हो जाए, तो उसमें ही अपने को कृतकृत्य मानने वाले को समाधि प्राप्त नहीं होती है; और प्राप्त भूमि भी नष्ट हो जाती है। क्योंकि प्राप्त भूमि की सुरक्षा एवं अग्रिम योगभूमि की प्राप्ति के लिए चित्त का एकाग्र रहना आवश्यक है। अतः अनव-स्थितत्व (मनश्चाञ्चल्य) योग का प्रतिपक्षी है।

ऊपर योग के नौ प्रमुख अन्तरायों का वर्णन किया गया। योग के अभ्यासकाल में इनके साथ-साथ अन्य भी कई प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होती हैं। इन्हें सूत्रकार ने **'दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः विक्षेपसहभुवः'**[१]—सूत्र द्वारा बतलाया है। पीड़ा का

---

[१] यो० सू० १।३१

अनुभव करता हुआ प्राणी जिसे त्यागने के लिए प्रयत्नशील रहता है वह दुःख कहलाता है। दुःख तीन प्रकार का है—आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक। इनमें से आध्यात्मिक दुःख शरीर एवं मानस भेद से दो प्रकार का है। वात, पित्त एवं कफ की विषमता से उत्पन्न होने वाले दुःख को शारीरिक तथा काम, क्रोध, मोह, भय, ईर्ष्या आदि से उत्पन्न होने वाले दुःख को मानसिक दुःख कहते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प तथा वृक्षादि स्थावरों से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिभौतिक तथा यक्ष, राक्षस, विनायक तथा ग्रह इत्यादि के दुष्ट प्रभाव से होने वाला दुःख आधिदैविक कहलाता है। अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति न होने से चित्त में खिन्नता का संचार होता है। यही दौर्मनस्य है। यह शिथिलता के कारण होता है। शरीर के कम्पायमान रहने पर आसन सिद्ध नहीं होता है। यह आसन का विरोधी है। अनावश्यक एवं अनियन्त्रित श्वास-प्रश्वास की क्रियाएँ समाधि के अङ्गभूत प्राणायाम की विरोधिनी हैं।

उपर्युक्त पाँच दुःखादि को **'विक्षेप-सहभू'**—कहा गया है। क्योंकि व्याधि आदि से विक्षिप्त चित्त में ही दुःख आदि होते हैं, समाहित चित्त में नहीं।[१] अतः ये व्याध्यादि के सहकारी अन्तराय कहे गए हैं।

———

[१] विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति, समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति—व्या० भा० पृ० ९०।

अध्याय—५

शरीर-विज्ञान

शरीर में तीर्थ-भावना
शरीर में देव-भावना
शरीर में लोक-भावना
शरीर में वर्ण-भावना
तत्त्व के वहन की परीक्षा
श्वास-प्रश्वास द्वारा जीव का परिभ्रमण
जीव के श्वासों की संख्या

अध्याय—९

चित्रपट्ट सं० 1

शरीर में तीर्थ-भावना

चित्रपट्ट सं० २

शरीर में देव-भावना

चित्रपट्ट सं० ३

शरीर में लोक-भावना

चित्रपट्ट सं० ४

शरीर में षट्चक्र

अध्याय—५

शरीर-विज्ञान

यह जगत् पुरुषार्थ-चतुष्टय-समन्वित है। वे चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। इन चारों में मोक्ष चरम पुरुषार्थ है। क्योंकि जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है। इस अन्तिम लक्ष्य की उपलब्धि के लिए वैदिक एवं अवैदिक भिन्न-भिन्न चिन्तन-धाराओं का विकास हुआ। इन चिन्तन-धाराओं में से एक धारा है—योग-साधना।

योगशास्त्र में मोक्ष-प्राप्ति के अनेक साधन बतलाए गए हैं क्रियायोग, चर्यायोग, ब्रह्मयोग, शिवयोग, सिद्धियोग, कर्मयोग, हठयोग, लययोग, ध्यानयोग, भक्तियोग। इन समस्त योग-साधनों का सामान्य-विशेषभाव से अष्टाङ्गयोग में अन्तर्भाव होता है। तथा अष्टाङ्गयोग का पदार्थविज्ञान, जपविज्ञान एवं शरीरविज्ञान—इन तीन में समावेश होता है। सूत्रोपनिबद्ध पातञ्जल-योगदर्शन में ये तीनों वैकल्पिक साधन के रूप में प्रतिपादित हुए हैं।

वाचस्पति, भोजदेव, रामानन्दयति, विज्ञानभिक्षु आदि व्याख्याकारों ने उक्त त्रिविध विज्ञानों में से पदार्थविज्ञान एवं जपविज्ञान का विवरण दिया है। एकमात्र **नारायणतीर्थ** ने स्वकीय योगसिद्धान्तचन्द्रिका के प्रथमपाद के उन्तालिसवें सूत्र **यथाऽभिमतध्यानाद्वा**— की व्याख्या के सन्दर्भ में शरीरविज्ञान का प्रतिपादन किया है।

शरीरविज्ञान का अर्थ है—स्वशरीरान्तर्वर्त्ती तीर्थ, देव, लोक, वर्ण, तत्त्व आदियों का ध्यान के द्वारा साक्षात्कार करना। यह मानव-पिण्ड विशाल ब्रह्माण्ड की प्रतिमूर्त्ति है। जितनी शक्तियाँ इस विश्व का परिचालन करती हैं, वे समस्त शक्तियाँ नरदेह में निहित हैं। यह देह चतुर्दश भुवन, काशी आदि तीर्थ स्थान, ब्रह्मा आदि देवता, क, ख आदि मात्रिकाओं (वर्णो) एवं आकाश आदि तत्त्वों का अधिष्ठान है। साधक चतुर्दश भुवन का परिभ्रमण, पवित्र नदियों में स्नान, देवादि का दर्शन एवं आकाश आदि तत्त्वों पर विजय—शरीर के आभ्यन्तर-प्रदेश में स्थित पदार्थों के चिन्तन से ही कर सकता है। उसे इन समस्त पदार्थों की उपलब्धि के लिए बाह्य-जगत् में भ्रमण नहीं करना होगा। आचार्य **नारायणतीर्थ** ने तीर्थादि के स्थान एवं तद्विषयक चिन्तन का स्वरूप निम्नाङ्कित प्रकार से प्रस्तुत किया है :—

शरीर में तीर्थ-भावना

'तीर्थ' पद का अर्थ है—पवित्र प्रदेश। यह नदी, ग्राम, अरण्य, ऊषर आदि का उपलक्षक है। शरीर के भिन्न-भिन्न केन्द्रों में अनेक तीर्थ स्थान हैं। मूर्द्धस्थ सहस्रार में अयोध्या, भ्रूमध्यस्थ आज्ञाचक्र में काशी, नासाग्र में प्रयाग, कण्ठस्थ विशुद्धाचक्र में द्वारका, हृदयस्थ अनाहतचक्र में मथुरा, नाभिस्थ मणिपूरचक्र में अवन्ती, लिङ्गमूलस्थ स्वाधिष्ठान-चक्र में काञ्ची तथा गुदा-स्थित मूलाधारचक्र में माया तीर्थ स्थान है।[१]

---

[१] तद्यथा मूर्द्धनि सहस्रारे अयोध्या······नासाग्रे प्रयागः—यो० सि० चं० पृ० ३७।

शरीर असंख्य नाड़ियों से परिव्याप्त है। इनमें इडा, पिङ्गला एवं सुषुम्ना—ये तीन नाड़ियाँ प्रमुख हैं। इन तीनों नाड़ियों में क्रमशः गङ्गा, यमुना तथा सरस्वती की स्थिति मानी गई है।[१] नर्मदा आदि नदियाँ अन्य नाड़ियों में रहती हैं।[२] युक्त एवं युञ्जान योगी को जब तीर्थादि के परिभ्रमण की इच्छा जाग्रत् होती है, तब वह तत्-तत् स्थान में स्थित तत्-तत् तीर्थ का आधार-आधेयभाव सम्बन्ध से अथवा अभेद सम्बन्ध से चिन्तन करता है।[३] चिन्तन की पराकाष्ठा में उक्त तीर्थों के साक्षात्कार से उसे आत्मानन्दानुभूति होती है।

शरीर के सिर, कण्ठ से नीचे नाभिपर्यन्त तथा नाभि से नीचे चरणपर्यन्त—इन तीन भागों में क्रमशः शालग्राम, हरिमन्दिर तथा नन्दिग्राम नाम का एक-एक ग्राम है। वराह-पुराण में भी शरीर में तीन ग्रामों का वर्णन उपलब्ध है।[४] शरीर में चौदह अरण्य हैं;[५] जैसे—दण्डक, सैन्धव, जम्बुमार्ग, पुष्कर, उत्पलावर्तक, नैमिष, कुरुक्षेत्र, सुनन्दर्क्ष, कुरुमण्डल, अर्बुद, हिमालय इत्यादि। यह शरीर नौ ऊषर तथा चौदह गुह्य-स्थानों की आवास भूमि है। नौ ऊषर हैं[६]—ललाट पर कालञ्जर, भ्रूमध्य में काशी, भ्रूमध्य के नीचे नन्दकानन, नासिका में शूकर, कण्ठकूप में रेणुका, नाभि में महाकाल, दाएँ पैर के तल पर कालेश, बाएँ पैर के तल पर काशाली तथा दोनों पैरों के मध्य में वटेश ऊषर है। इसी प्रकार गयाक्षेत्र, बदरीक्षेत्र आदि चतुर्दश गुह्य-स्थान भी शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में है।[७] ऊपर वर्णित ग्राम, अरण्य, ऊषर, गुह्य आदि मुक्ति के द्वार हैं।[८] इस प्रकार शरीर में तीर्थ-भावना का विधान किया गया है।

शरीर में देव-भावना

प्रकाशस्वरूप, चैतन्यस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप पुरुष शिव है तथा त्रिगुणात्मिका प्रकृति शक्ति है। शिव और शक्ति जगत् के उपादानकारण है; इसलिए समस्त वस्तुएँ तद्रूप हैं।[९] शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय का एक-एक अधिष्ठाता देवता है। चित्त का वासुदेव,

---

१ ईडायां गङ्गा, पिङ्गलायां यमुना, सुषुम्नायां सरस्वती—यो० सि० चं० पृ० ३७।

२ अन्यासु नाडीषु नर्मदाद्याः सर्वा अपि सरितः सन्ति—यो० सि० चं० पृ० ३७।

३ तत्र तत्राधाराधेयभावेनाभेदेन वा तत्तत्तीर्थं भाव्यं तत्तत्तीर्थयात्रार्थम्—यो० सि० चं० पृ० ३७।

४ आकण्ठात् कटिपर्यन्तं......नन्दिग्रामं प्रचक्षते—वराह पु०, यो० सि० चं० पृ ३८।

५ चतुर्दशारण्यानि—यो० सि० चं० पृ० ३८।

६ रेणुका कण्ठकूपे...ऊषरा नवकीर्तिता—वराह पु०, यो० सि० चं० पृ० ३८।

७ ......ब्रह्मखं बदरीक्षेत्रं गुह्यान्येवं चतुर्दश—वराह पु०, यो० सि० चं० पृ० ३९।

८ सप्त पुर्यस्त्रयो ग्रामा नवारण्योषरास्तथा।
चतुर्दशैव गुह्यानि मुक्तिद्वाराणि भूतले॥—वराह पु०, यो० सि० चं० पृ० ३९।

९ तत्र स्वप्रकाशचैतन्यानन्दरूपः पुरुषः। सत्त्वादिगुणका प्रकृतिः शक्तिः। तदुभयोपादानकत्वात् तन्मयं सर्ववस्तु—यो० सि० चं० पृ० ३९।

बुद्धि का चतुर्मुख, अहङ्कार का शङ्कर, मनस् का चन्द्रमस्, श्रोत्र का दिक्, त्वक् का वायु, चक्षु का सूर्य, रसना का वरुण, घ्राण का अश्विनीकुमार, वाक् का अग्नि, हस्त का इन्द्र, पाद का उपेन्द्र, पायु का यम तथा उपस्थ का प्रजापति देवता है। चक्षुरिन्द्रिय के अधिष्ठातृ देवता के बारे में कहा जाता है कि दाईं आँख में इन्द्र तथा बाईं आँख में उनकी पत्नी इन्द्राणी हैं। ईश्वर और ईश्वरीरूप इन दोनों के सम्मिलन का स्थान है—नेत्र का मध्य भाग। ऊपर वर्णित देवताओं के साथ शरीर का आधार-आधेयभाव सम्बन्ध, अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव सम्बन्ध अथवा अभेद सम्बन्ध है। इन त्रिविध सम्बन्धों में से किसी एक सम्बन्ध के अनुसार शरीर में देवताओं की परिकल्पना कर उनकी आराधना (उपासना, चिन्तन) की जाती है।[१] फलस्वरूप इन्द्रियों की सामर्थ्य बढ़ती है।

शरीर में लोक-भावना

जिस प्रकार ब्रह्माण्ड चतुर्दश-भुवनात्मक है उसी प्रकार शरीर भी चतुर्दश-भुवनात्मक हैं। चौदह लोक हैं[२]—पादतल में पाताल, पार्ष्णिप्रपद में रसातल, गुल्फों में महातल, जङ्घाओं में तलातल, जानुद्वय में सुतल, ऊरुद्वय में वितल, जघन में अतललोक, पैरों में भूलोक, नाभि में भुवर्लोक, वक्षःस्थल में स्वर्लोक, ग्रीवा में महर्लोक, मुख में जनलोक, ललाट में तपोलोक तथा मूर्द्धा में सत्यलोक। ऊपर वर्णित चतुर्दश लोकों में प्रथम सात अधोलोक तथा अन्तिम सात ऊर्ध्वलोक हैं। इस प्रकार समस्त लोकों के आधारस्वरूप देह का ईश्वरीय देह के रूप से चिन्तन किया जाता है।[३] ईश्वरीय देह के चिन्तन से साधक का चित्त समाहित होने लगता है। वह बाह्य-दर्शी न होकर आन्तर-दर्शी होने लगता है। फलस्वरूप बाह्य वृत्तियाँ निरुद्ध होती हैं।

शरीर में वर्ण-भावना

शरीर में अनेक वर्ण (अक्षर) हैं। इन्हें योग-पदावली में मात्रा कहा जाता है।[४] शरीरस्थ कमलाकार चक्रों पर वर्णों की स्थिति है। यहीं वर्णों की उत्पादिका शक्ति कुण्डलिनी है। **नारायणतीर्थ** के अनुसार छः चक्र हैं—(१) मूलाधार-चक्र (Sacro-Coccygeal Plexus), (२) स्वाधिष्ठान-चक्र (Sacral Plexus), (३) मणिपूर-चक्र (Epigastric Plexus), (४) अनाहत-चक्र (Cardiac Plexus), (५) विशुद्धा-चक्र (Laryngeal and Phasyngeal Plexus) तथा (६) आज्ञा-चक्र (Cavernous Plexus)।

मूलाधार-चक्र—गुदा से दो अंगुल ऊपर तथा मेढ्र (लिङ्ग) से दो अंगुल नीचे कन्द स्थान है।[५] चार अंगुल विस्तृत इस कन्द के ऊपर त्रिकोणाकार, तप्त सुवर्ण की भाँति

---

[१] तत्र तत्राधाराधेयभावेनानुग्राह्यानुग्राहकभावेनाऽभेदेन वा सा सा देवता भाव्या—योo सिo चंo पृo ३९।

[२] पादमूले पातालं······मूर्द्धनि सत्यलोकम्—योo सिo चंo पृo ३९।

[३] तत्तल्लोकांश्चेश्वरीयशरीरतया भावयेत्—योo सिo चंo पृo ३९।

[४] अथ वर्णभावना। सा च मातृकान्यासरीत्या—योo सिo चंo पृo ३९।

[५] तत्र गुदाद् द्व्यङ्गुलोपरि मेढ्राद् द्व्यङ्गुलादधः कन्दस्थानम्—योoसिoचंoपृo३९।

कान्तियुक्त स्थान है। यह कामरूप (योनि) कहलाता है।[१] इस त्रिकोणाकार कामरूप के दाएँ-बाएँ इडा तथा पिङ्गला नाड़ी हैं। इन दोनों नाड़ियों के मध्य सुषुम्ना नाड़ी है।[२] सुषुम्ना नाड़ी के मध्य वर्णमयी चित्रिणी नाड़ी है। इस प्रकार नाड़ी इत्यादि से आक्रान्त उक्त कामरूप प्रदेश में मूलाधार-चक्र की निष्पत्ति होती है।[३] इसे कमलाकार-चक्र भी कहते हैं। यह रक्त वर्ण के चतुर्दलात्मक कमल के आकार का चक्र है। इन चारों दलों पर एक-एक वँ, शँ, षँ तथा सँ--ये मात्रिकाएँ सुवर्णाङ्कित हैं।[४] चक्र के मध्य-भाग में सुवर्ण की भाँति कान्तियुक्त लँ वीज है।[५] यह सावित्रीसहित ब्रह्मा तथा सरस्वतीसहित गणेश का अधिष्ठानभूत चक्र है।[६] चतुर्दलात्मक मूलाधार-चक्र चतुष्कोण तथा पृथ्वीतत्त्व-प्रधान है।[७] इस चक्र के मध्य भाग में कुण्डलिनी रहती है। कुण्डलिनी शक्ति निर्मल तेजस् प्रभास्वरूप है। यह स्वयम्भू लिङ्ग के ऊपरी भाग में सर्पाकार से आवेष्टित शिवलिङ्ग के द्वार को अपने मुख से ढके हुए है।[८] यह परमेश्वर की चिद्रूपा परमा शक्ति है। यह प्रत्येक जीव में प्रसुप्त रहती है। दीर्घकालीन तपस्या के प्रभाव से इसका जागरण होता है। अपने जागरणकाल में यह सुप्तावस्था के कुण्डलभाव को त्यागकर सुषुम्ना-नाड़ी की सहायता से ऊपर की ओर उठती हुई षट्चक्र का भेदन कर सहस्रार-दलात्मक-कमल में रहने वाले चिद्रूप सदाशिव से जा मिलती है। इस सहस्रार-कमल को प्रज्वलित करना कुण्डलिनी-साधना की अन्तिम सीमा है। अन्य शास्त्रों में हृदय, नाभि आदि प्रदेशों को कुण्डलिनी का अधिष्ठान कहा गया है। यह मूलाधार से उत्थित कुण्डलिनी के तत्-तत् प्रदेशों में अभिव्यक्ति के अभिप्राय से है।[९] वस्तुतः कुण्डलिनी का मूलस्थान मूलाधार है।

उक्त मूलाधार-चक्र का ध्यान करने से अणिमा आदि सभी योगज सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। पृथ्वीतत्त्व साधक के अधीन होता है तथा चक्र के अधिष्ठातृ-देवता ब्रह्मा, गणेश आदि दर्शन देकर साधक को कृतार्थ करते हैं।[१०]

---

१ तदुपरि तप्तचामीकरप्रभं त्रिकोणं कामरूपम्—यो० सि० चं० पृ० ३९।

२ तत् त्रिकोणस्य वामकोणे ईडा, दक्षिणे पिङ्गला मध्ये सुषुम्ना—यो० सि० चं० पृ० ३९।

३ कामरूपोपरि मूलाधारनामकं चक्रम्—यो० सि० चं० पृ० ३९।

४ भूषितं व-श-ष-सामेकं चतुर्द्दलम् —यो० सि० चं० पृ० ४०।

५ तच्च सुवर्णाभं लंबीजान्वितेन—यो० सि० चं० पृ० ४०।

६ सावित्रीसहितब्रह्मसरस्वतीसहितगणेशाद्यधिष्ठितेन—यो० सि० चं० पृ० ४०।

७ ······चतुष्कोणेन पृथिवीस्वरूपेण—यो० सि० चं० पृ० ४०।

८ तन्मध्ये भास्वराकारम् अधोमुखं चित्स्वरूपिण्या सार्द्धत्रिवयवाकारेण स्थितया विद्युतप्रभया कुण्डलिन्या स्वमुखेन तन्मुखे मुद्रयित्वा वेष्टितं स्वयम्भूनामकं शिवलिङ्गम्—यो० सि० चं० पृ० ४०।

९ यच्च हृदयनाभिप्रदेशादिकं कुण्डलिन्या अधिष्ठानमुक्तं तन्मूलाधारादुत्थिताया-यास्तस्या हृदयादौ प्रकटीभावाभिप्रायेण—यो० सि० चं० पृ० ४०।

१० एतच्च भावितं सकलयोगसिद्धीः पृथिवीजयादिकं ब्रह्मगणेशादिप्रतीतिञ्च वितरति—यो० सि० चं० प० ४०।

स्वाधिष्ठान-चक्र—मूलाधार-चक्र के ऊपर लिङ्गमूल में स्वाधिष्ठान-चक्र है।[१] इस चक्र की माणिक्य सदृश कान्ति है। यह षड्दलात्मक चक्र है। इन दलों के ऊपर एक-एक वँ, भँ मँ यँ रँ तथा लँ—अक्षर अङ्कित है।[२] इसका तत्त्ववीज वँ है।[३] इस चक्र के मध्य श्वेत अर्द्धचन्द्र स्थित है। अर्द्धचन्द्र के मध्य विष्णु लक्ष्मी के साथ रहते हैं।[४] इस चक्र का तत्त्व है—जल।[५]

उपर्युक्त स्वाधिष्ठान-चक्र का ध्यान करने से साधक विष्णु की प्रसन्नता प्राप्त करता है तथा चक्र का तत्त्व जल उसके अधीन हो जाता है। इसी प्रकार चक्र-सम्बन्धी अन्य सफलताएँ भी साधक को प्राप्त होती हैं।[६]

मणिपूर-चक्र—मणिपूर-चक्र का स्थान है—नाभि। नाभि में इस चक्र की निष्पत्ति होने से यह नाभि-चक्र भी कहा जाता है। विद्युत्-कान्तिविशिष्ट, दशदलात्मक यह चक्र डँ, ढँ, णँ, तँ, थँ, दँ, धँ, नँ, पँ तथा फँ—वर्णों से अङ्कित है। चक्र का वीज वँ (रँ), यन्त्र त्रिकोण एवं तत्त्व तेजस् है। यह चक्र पार्वतीसहित शंकर का अधिष्ठानभूत है।[७]

इस चक्र के ध्यान का फल है—शङ्कर की प्रीति एवं तेजस् तत्त्व की विजय।[८]

अनाहत-चक्र—मणिपूर-चक्र से ऊपर हृदय में चतुर्थ अनाहत-चक्र की अभिव्यक्ति होती है।[९] धूम्रकान्तिविशिष्ट, द्वादशदलात्मक यह चक्र कँ, खँ, गँ घँ, ङ, चँ, छँ, जँ, झँ, ञँ, टँ तथा ठँ—वर्णों से अङ्कित है। चक्र का वीज यँ, यन्त्र षट्कोण एवं तत्त्व वायु है। यह चक्र प्रकृतिसहित ईश्वर से अधिष्ठित है।

ध्यान द्वारा अनाहत-चक्र का साक्षात्कार होने पर चक्र के अधिष्ठातृ-देवता साधक को आनन्द प्रदान करते हैं तथा चक्र का तत्त्व वायु योगी की इच्छानुसार प्रवाहित होता है।

विशुद्धाचक्र—पाँचवा शक्तिकेन्द्र विशुद्धा-चक्र कण्ठ में है। श्वेत वर्णात्मक. षोडश दलात्मक विशुद्धा-चक्र के प्रत्येक दल में एक एक स्वर-वर्ण अंकित है। स्वर इस प्रकार

---

१ तदुपरि लिङ्गमूले स्वाधिष्ठाननामकं चक्रम्—यो० सि० चं० पृ० ४०।

२ तच्च सन्माणिक्यसमप्रभं······ब-भ-म-य-र-लात्मकषड्दलम्—यो० सि० चं० पृ० ४०।

३ ······वंबीजान्वितेन······—यो० सि० चं० पृ० ४०।

४ लक्ष्मीसहितविष्ण्वधिष्ठितेन······—यो० सि० चं० पृ० ४०।

५ जलस्वरूपेण···—यो० सि० चं० पृ० ४०।

६ विष्णुप्रीतिजलजयादिकारकम्—यो० सि० चं० पृ० ४०।

७ अथ नाभौ मणिपूरनामकं चक्रम्। तच्च विद्युत्प्रभं वंबीजान्वितेन पार्वतीसहितशङ्कराधिष्ठितेन···डादिफान्तवर्णात्मकदशदलम्—यो० सि० चं० पृ० ४०।

८ शंकरप्रीतितेजोजयादिकारकम्—यो० सि० चं० पृ०।

९ अथ हृदये अनाहतचक्रम्। तच्च धूम्रवर्णं यंबीजान्वितेन प्रकृतिसहितेनेश्वराधिष्ठितेन·····वायुस्वरूपेण······कादिठान्तवर्णात्मकद्वादशदलम्—यो० सि० चं० पृ० ४०।

हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं तथा अः। यह चक्र शून्य-यन्त्र, आकाश-तत्त्व तथा हँ-बीज से युक्त है। यन्त्र के देव अर्द्धनारीश्वररूप सदाशिव हैं।[1]

इस शक्तिकेन्द्र पर ध्यान लगाने से चक्र के देवता साधक से स्नेह करते हैं तथा चक्र का तत्त्व आकाश साधक के नियन्त्रण में आ जाता है। साधक अनवकाशात्मक प्रदेश को भी अवकाश की भाँति चीरता हुआ निकल जाता है।

आज्ञा-चक्र—षष्ठ आज्ञा-चक्र शरीर के भ्रमध्य में अभिव्यक्त होता है। यह मुक्ताकार, ॐ बीज से अन्वित, अविद्यावान् जीव से अधिष्ठित, चतुष्कोण, हँ तथा लँ वर्ण से मुद्रित द्विदलात्मक है। यह भैरवानन्द नाम के शिवलिङ्ग से युक्त है।[2]

इस चक्र के ध्यान से आत्म-प्रीति तथा मनोजय आदि होते हैं।

ऊपर वर्णित छः चक्रों के अतिरिक्त कमल नाम से प्रसिद्ध दो अन्य शक्ति-केन्द्र भी शरीर में हैं। प्रथम सहस्रदलात्मक कमल मूर्द्धा में है।[3] यह चन्द्रमा की भाँति कान्तियुक्त परमात्मा का निवास-स्थान है।[4] योग के ग्रन्थों में विवेचित है कि ललाट के मध्य अहंकार, अहङ्कार के ऊपर बुद्धि, बुद्धि के ऊपर प्रकृति तथा सबसे ऊपर सहस्रदल में पुरुष का स्थान है।[5]

हृदय-स्थित अनाहत-चक्र के समीप कन्दस्थान में बारह अङ्गुल लम्बी एक नाडी है। इस पर आठ कर्णिकाओं वाला द्वितीय दहर-नामक कमल है। यह नीचे मुख किए रहता है। रेचक प्राणायाम के द्वारा इसे ऊर्ध्वमुख तथा विकसित किया जाता है। यह जीव के रहने का स्थान है। ज्ञानस्वरूप जीव कर्मवासनानुविद्ध होने के कारण श्वास-प्रश्वास के साथ यहीं परिभ्रमण करता है।[6]

इस प्रकार शरीरस्थ छः चक्र तथा दो कमल के प्रतिपादन के पश्चात् आचार्य **नारायणतीर्थ** ने जीव के परिभ्रमण पर विचार किया है।

श्वास-प्रश्वास द्वारा जीव का परिभ्रमण

अष्ट-दलात्मक कमल में परिभ्रमण करते समय जीव को एक पत्र के नीचे के भाग से ऊपर का आधा भाग पार करने में कुल पचास श्वास लेने पड़ते हैं।[7] उनमें भी तीस

---

१ कण्ठे विशुद्धनामकं चक्रम्। तच्च श्वेतं हंबीजान्वितेन, अर्द्धनारीश्वरस्वरूपसदाशिवाद्यधिष्ठितेन ··स्वरीयवर्णाऽऽत्मकषोडषदलं भावितम्—यो० सि० चं० पृ० ४०।

२ भ्रूमध्ये आज्ञानामकं चक्रम्। तच्च मुक्ताकारं ॐबीजान्वितेनाविद्यासहित-जीवाधिष्ठितेन···हकारलकारात्मकवर्णद्वयदलं भैरवानन्दनाम्ना इतरेण शिवलिङ्गे-नोपलक्षितम्—यो० सि० चं० पृ० ४०।

३ मूर्द्धनि सहस्रदलं कमलम्—यो० सि० चं० पृ० ४१।

४ तच्च शशिप्रभस्य पुरोः परमात्मनः स्थानम्—यो० सि० चं० पृ० ४१।

५ ललाटमध्येऽहंकारस्य ललाटोपरि बुद्धितत्त्वस्य तदुपरि प्रकृतेः सहस्रदले पुरुषस्य स्थानमिति प्रपञ्चितं योगग्रन्थेषु—यो० सि० चं० पृ० ४१।

६ अथानाहतसविधे···दिवानिशं भ्रमति—यो० सि० चं० पृ० ४१।

७ एवमेकैकस्मिन् पत्रार्द्धे सार्द्धचतुःशतश्वासा भवन्ति—यो० सि० चं० पृ० ४१।

श्वासपर्यन्त आकाशतत्त्व, साठ श्वासपर्यन्त वायुतत्त्व, नव्वे श्वासपर्यन्त तेजस्तत्त्व, एक सौ बीस श्वासपर्यन्त जलतत्त्व तथा एक सौ पचास श्वासपर्यन्त पृथ्वी का आश्रय लेकर जीव परिभ्रमण करता है।[१] तात्पर्य यह है कि चार सौ पचास श्वास लेने में जितना समय व्यतीत होता है, उतने ही समय तक जीव पत्रार्द्ध के भिन्न-भिन्न तत्त्वों में घूमता है। शेष अर्द्ध पत्र में भी जीव इसी क्रम से परिभ्रमण करता है। जीव को पृथ्वी आदि तत्त्वों पर क्रमशः परिभ्रमण करना पड़ता है। जीव अष्टदलात्मक कमल के एक पत्र में चक्कर काट लेता है, तब उसी पद्धति से वह अन्य सात पत्रों के भिन्न-भिन्न तत्त्वों पर पूर्व निर्दिष्ट श्वासावधि तक परिभ्रमण करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण अष्टदलात्मक कमल के पार करने में जीव सात हजार दो सौ (७२००) श्वास लेता है।[२] अहोरात्र को मिलाकर वह तीन बार कमल पर परिभ्रमण करता है।[३] इस प्रकार पूरे दिन में जीव इक्कीस हजार छः सौ (२१६००) श्वास लेता है। उक्त सिद्धान्त के पुष्टचर्थ आचार्य **नारायणतीर्थ** ने गोरक्षनाथ का वचन उद्धृत किया है। **गोरक्षनाथ** का कहना है[४]—'जीव दिन तथा रात्रि में इक्कीस हजार छः सौ बार हंस हंस (व्युत्क्रम से सोऽहं) इस मन्त्र को सर्वदा जपा करता है। हकार के द्वारा (प्रश्वास-क्रिया से) वह (जीव) बाहर आता है तथा सकार के द्वारा (श्वास-क्रिया से) पुन अन्तःप्रविष्ट होता है।' जीव के परिभ्रमण का यही प्रकार है।

जीव के श्वासों की संख्या

ऊपर निर्दिष्ट इक्कीस हजार छः सौ बार श्वास लेने में साठ घटिकाएँ व्यतीत होती हैं।[५] इससे एक घटिका में जीव द्वारा कितने श्वास लिए जाते हैं, यह इस प्रकार निकल आता है—दस दीर्घ अक्षर के उच्चारणकाल में मनुष्य का एक श्वास व्यतीत होता है। अथवा एक श्वासकाल में मनुष्य प्रायः दस दीर्घ अक्षरों का उच्चारण किया करता है। साठ श्वासों का एक पल होता है। इसलिए एक पल में मनुष्य छः सौ दीर्घ अक्षरों का उच्चारण किया करता है। छः पल की एक घटिका होती है। अर्थात् एक घटिका में तीन सौ साठ श्वासें ली जाती हैं। साठ घटिकाओं का दिन-रात होता है।[६] इससे स्पष्ट

---

[१] **पत्राग्रपर्यन्तं त्रिंशच्छ्वासपर्यन्तमाकाशतत्त्वमाश्रित्य जीवो भ्रमति। अथ षष्ठि-श्वासपर्यन्तं वायुतत्त्वम्, नवतिश्वासान्तं तेजस्तत्त्वम्, विंशत्यधिकशतश्वासान्तं वारितत्त्वम्, पञ्चाशदधिकशतश्वासान्तं पृथिवीतत्त्वम्—यो० सि० चं पृ० ४१।**

[२] **एवमेव दलाष्टकभ्रमणे शतद्वयाऽधिकसप्तसहस्रसंख्याकाः श्वासा भवन्ति—यो० सि० चं० पृ० ४१।**

[३] **एवंविधभ्रमणेन वारत्रयमहोरात्रेण भ्रमति—यो० सि० चं० पृ० ४१।**

[४] **षट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।**
हंस-हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः—यो० सि० चं० पृ० ४१।

[५] **एतावद्भिः श्वासैः षष्ठिघटिका भवन्ति—यो० सि० चं० पृ० ४१।**

[६] **षष्ठिघटिकाभिरहोरात्रम्—यो० सि० चं० पृ० ४१।**

है कि इक्कीस हजार छः सौ श्वासों में एक दिन-रात व्यतीत होता है। तीन सौ साठ अहोरात्र का एक वर्ष होता है।[१] अर्थात् दो हजार एक सौ साठ घटिकाओं का एक वर्ष होता है। इन घटिकाओं में अर्थात् एक वर्ष में जीव सत्तत्तर लाख छिहत्तर हजार (७७७६०००) श्वास लेता है। इस प्रकार यदि मनुष्य की आयु सौ वर्ष की है तो वह जीवनान्त उपर्युक्त नियम के अनुसार सत्तत्तर करोड़ छिहत्तर लाख (७७७६०००००) श्वास लेता है। कहा जाता है कि हमारा जीवन श्वास-प्रश्वास की निश्चित संख्याओं पर अवलम्बित है। भाग्य में लिखे निश्चित श्वास-प्रश्वासों के पूरा होने पर प्राणी की मृत्यु होती है। योगी प्राणायाम की साधना द्वारा श्वास-प्रश्वास को रोककर जीवनकाल (आयु) की वृद्धि करता है।[२]

ऊपर कहा गया कि जीव अष्टदलात्मक कमल के प्रत्येक पत्र में भ्रमण करते समय आकाश आदि तत्त्वों का आश्रय लेता है। यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि इन कमल-पत्रों पर तत्त्वों की स्थिति सम्भव नहीं; अतः तत्त्व जीव की श्वसनक्रिया का आश्रय कैसे बन सकता है? अथवा कमल-पत्रों पर तत्त्वों की स्थिति मान भी ली जाए तो श्वासवायु किस समय किस तत्त्व के आश्रय से बह रहा है—साधक इसकी परीक्षा किस प्रकार कर सकता है? इस प्रश्न के समाधानार्थ आचार्य **नारायणतीर्थ** ने तत्त्व के वहन की परीक्षण-पद्धति पर निम्नाङ्कित प्रकार से प्रकाश डाला है।

तत्त्व के वहन की परीक्षा

(१) रज्जु में बँधे श्येन पक्षी की भाँति प्राचीनकर्मजन्य वासना से अनुविद्ध जीव आकाशतत्त्व के आश्रय से श्वास लेता हुआ कमल पर भ्रमण करता है। तब नासिका के नथुनों से निःसृत श्वास अनुष्णाशीत स्पर्शवान्, वर्तुलाकार तथा द्वादश अंगुल से भी दीर्घ होता है।[3] अर्थात् नासिका-विवर से बाहर अंगुल दूरी के आगे तक श्वास प्रवाहित होता है। यदि नासिका के अग्रभाग पर हथेली रखा जाए तो हथेली में बहुत दूर तक श्वास का स्पर्श होता है तथा रोहित, शुभ्र एवं कृष्णादि वर्ण से मिश्रित उद्भूत कर्बुर रंग हथेली का हो जाता है। इसी प्रकार यदि नासिका-विवर के समीप स्वच्छ दर्पण रखा जाए तो आकाश-तत्त्व के आश्रय से वहनशील श्वासवायु के सम्पर्क से सर्वप्रथम दर्पण मलिन होता है। तदनन्तर वह मलिन छाया संकुचित होती हुई वर्तुलाकार प्रतीत होती है। अन्त में वर्तुलाकार प्रदेश में कर्बुर वर्ण की अभिव्यक्ति होती है।[४]

---

[१] षष्ठ्यधिकशतत्रयाहोरात्रैर्वत्सरः—यो० सि० चं० पृ० ४१।

[२] अतएव प्राणायामैरायुर्वृद्धिः—यो० सि० चं० पृ० ४२।

[3] यदाकाशतत्त्वमाश्रित्य जीवः श्वसनप्रेरितः······तदा नासाविवरनिर्गतश्वसनः अनुष्णाशीतस्पर्शो वर्त्तुलाकारो द्वादशाङ्गुलादपि दीर्घः—यो० सि० चं० पृ० ४२।

[४] नासाग्रस्थितकरतलादि········कर्बुरः स्फुटमभिव्यज्यते—यो० सि० चं० पृ० ४२-४३।

(२) वायुतत्त्व का आश्रय लेकर जीव श्वास लेता है। तब श्वास अनुष्णाशीत-स्पर्शवान्, षट्कोणाकार तथा नासिका-विवर से नौ अङ्गुल प्रदेशपर्यन्त प्रवहणशील होता है। ऐसे समय नासिकाछिद्र के समीप रखा करतल धूम्रवर्ण से उपरञ्जित हो जाता है, तथा हथेली पर श्वास की तिर्यग्गामिता का स्पार्शन-प्रत्यक्ष होता है।[१]

(३) तेजस्तत्त्व का आश्रय लेकर जीव का प्रवहणशील श्वास ऊष्णस्पर्शवान्, रक्तवर्ण, त्रिकोणाकार तथा नासिका-छिद्र से छः अङ्गुल दूर तक गमनशील होता है। इसकी परीक्षा इस प्रकार की जाती है—जब नासिका के अग्रभाग में स्थित करतल आदि के ऊर्ध्वभाग में स्पर्श हो तथा दर्पण की छाया रक्तवर्ण एवं त्रिकोणाकार हो जाए, तब ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस समय श्वासवायु तेजस्तत्त्व के आश्रय से प्रवाहित हो रहा है।[२]

(४) जलतत्त्व के आश्रय से प्रवहणशील जीव का श्वास शीतस्पर्शवान्, अर्ध-चन्द्राकार, श्वेतवर्ण तथा नासिका-विवर से छः अङ्गुल प्रदेशपर्यन्त भी नहीं पहुँच पाता है। इसमें नासिका के अग्रभाग में स्थित करतल आदि के अधोभाग में स्पर्श होता है तथा नासिकाविवर के समक्ष दर्पण में पड़ी मलिन छाया अर्द्धचन्द्राकार तथा श्वेत वर्ण की हो जाती है।[३]

(५) पृथ्वीतत्त्व के आश्रय से प्रवहणशील जीव का श्वास अल्पगति अनुष्णाशीत-स्पर्शवान्, पीतवर्ण, चतुष्कोण तथा गुरु (भारी) होता है। इस समय नासिका-विवर के समीप रखी हुई हथेली के मध्य भाग में श्वास-वायु का स्पर्श होता है तथा दर्पण की मलिन छाया पर पृथ्वीतत्त्व की चतुष्कोणता तथा पीतवर्ण की अभिव्यक्ति होती है।[४]

इस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में तीर्थ, देव, लोक, वर्ण तथा तत्त्वादि का स्थान एवं तद्विषयक भावना का फल बतलाकर व्याख्याकार **नारायणतीर्थ** ने यह स्पष्ट किया है कि शरीरविज्ञान के अन्तर्गत आए ऊपर वर्णित तत्त्वों के ध्यान से साधक अपनी क्लिष्टात्मक चित्तवृत्तियों को निरुद्ध कर सकता है। तदनन्तर अक्लिष्ट वृत्तियों के निरोधपूर्वक प्रारब्ध-कर्मजन्य फलोपभाग के पश्चात् अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो सकता है।

---

[१] एवं वायुतत्त्ववहने···धूम्रवर्णश्च प्रकटमुपलक्ष्यते—यो० सि० चं० पृ० ४३।

[२] एवं तेजस्तत्त्ववहने···त्रिकोणता चोपलभ्यते—यो० सि० चं० पृ० ४३।

[३] एवं जलतत्त्ववहने···श्वेतवर्णश्चोपलक्ष्यते—यो० सि० चं० पृ० ४३।

[४] एवं पृथिवीतत्त्ववहने श्वसनोऽनुष्णाशीतस्पर्शः, पीतवर्णश्चतुष्कोणो गुरुर्नासाग्रस्थित-करतलादौ मध्येऽभिव्यक्तोऽल्पगतिश्च जायते। दर्पणमलिनच्छायासु चतुष्कोणा-कारतापीतवर्णश्चोपलक्ष्यते—यो० सि० चं० पृ० ४३।

आचार्य नारायणतीर्थ द्वारा प्रतिपादित उक्त शरीरविज्ञान पातञ्जल-योगशास्त्र पर आधारित है। आचार्य नारायणतीर्थ ने पतञ्जलि के एतत्सम्बन्धी मौन सन्देश को वाणी प्रदान की। वे योग-सूत्रों में छिपे शरीरविज्ञान के सिद्धान्त को प्रकाश में लाए। पतञ्जलि-कृत नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्[१], कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्तिः,[२] हृदये चित्तसंवित्,[३] मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्[४]—इन सूत्रों से पतञ्जलि का देहस्थित चक्र-सम्बन्धी दृष्टिकोण झलकता है। नारायणतीर्थ ने महर्षि पतञ्जलि के इस चिन्तन को ध्यान में रखकर शरीर-विज्ञान को व्यापक रूप से प्रस्तुत किया है।

---

[१] यो० सू० ३।२९।
[२] यो० सू० ३।३०।
[३] यो० सू० ३।३४।
[४] यो० सू० ३।३२।

अध्याय—६

भुवन-विज्ञान

योगशास्त्र के अनुसार भुवन का स्वरूप
ज्योतिषशास्त्र के अनुसार भुवन का स्वरूप
परिशीलन

६ : भुवन-विज्ञान

चित्रपट सं० १

चित्रपट्ट सं० २
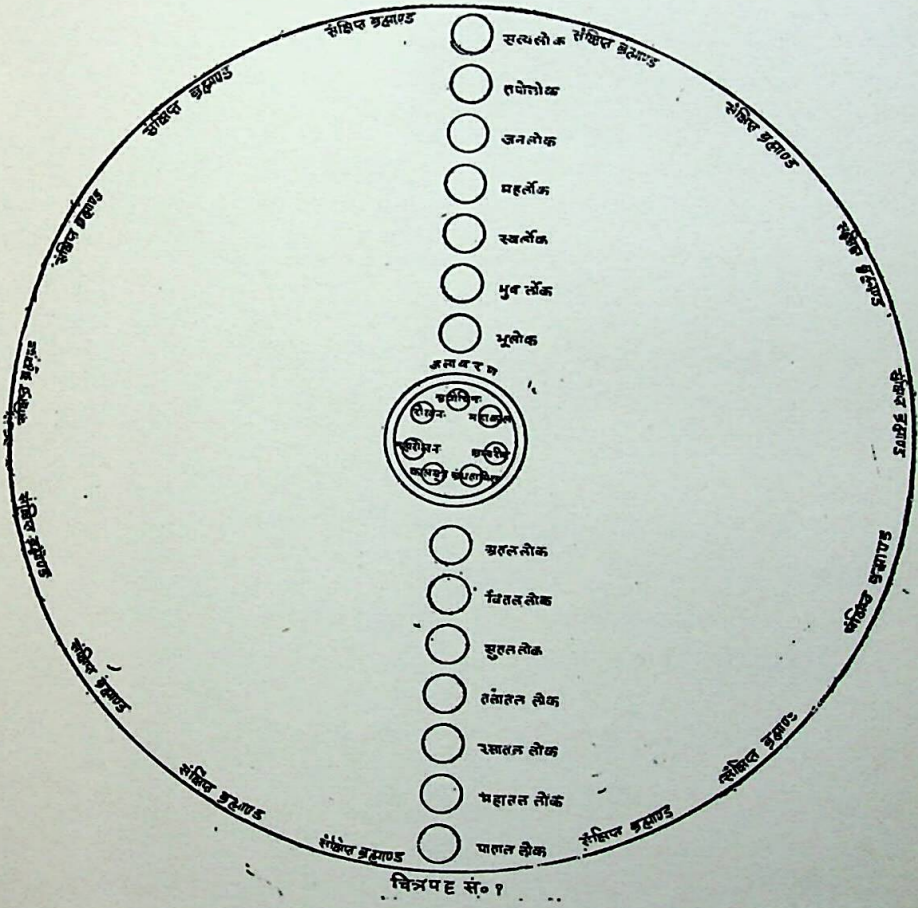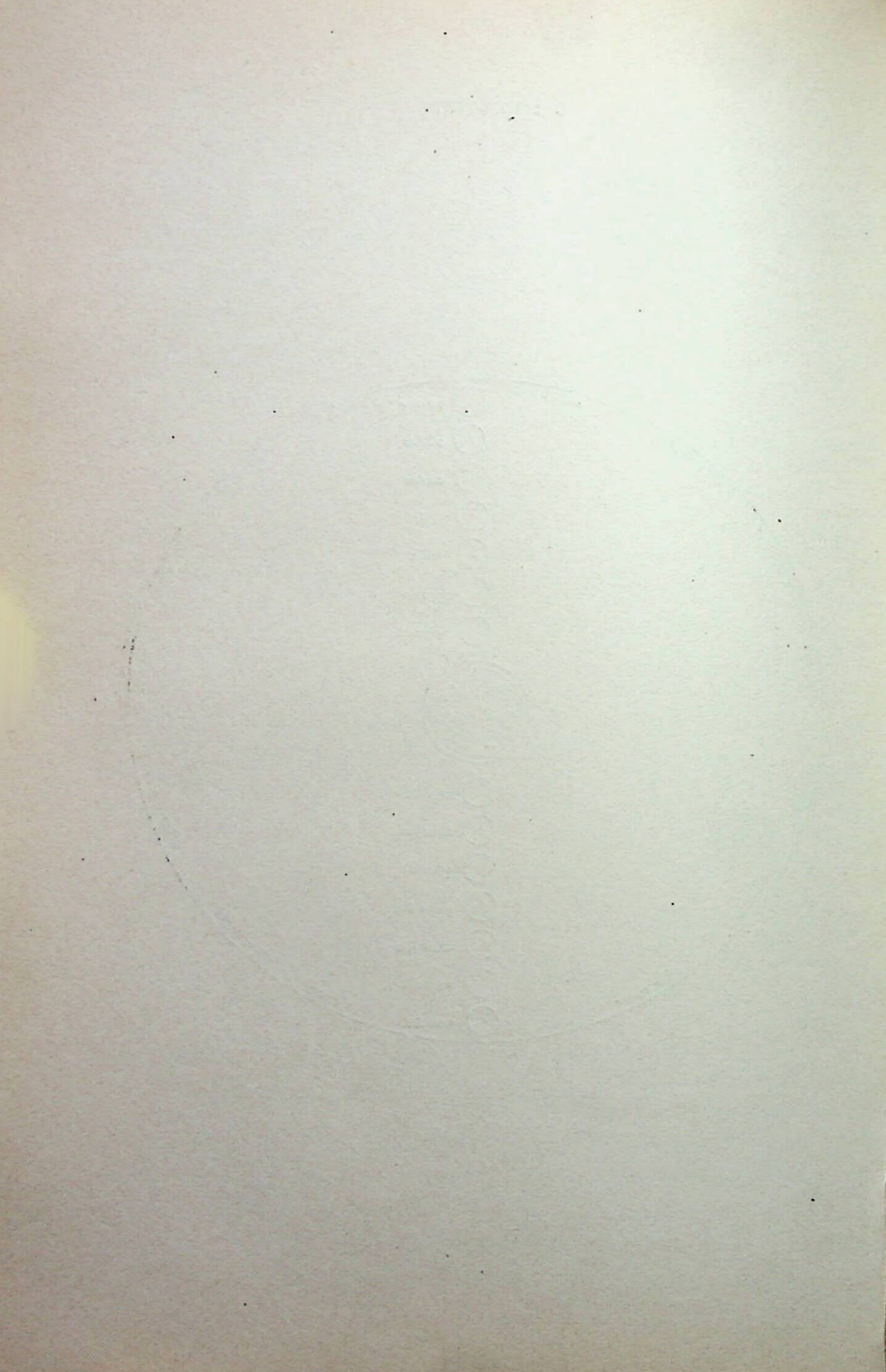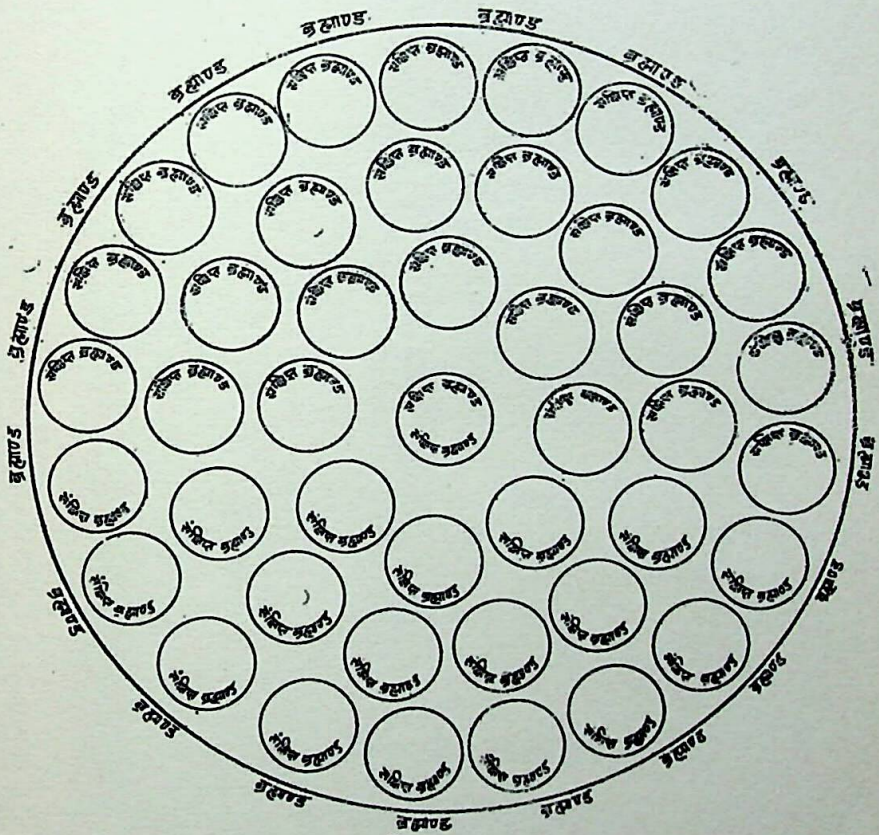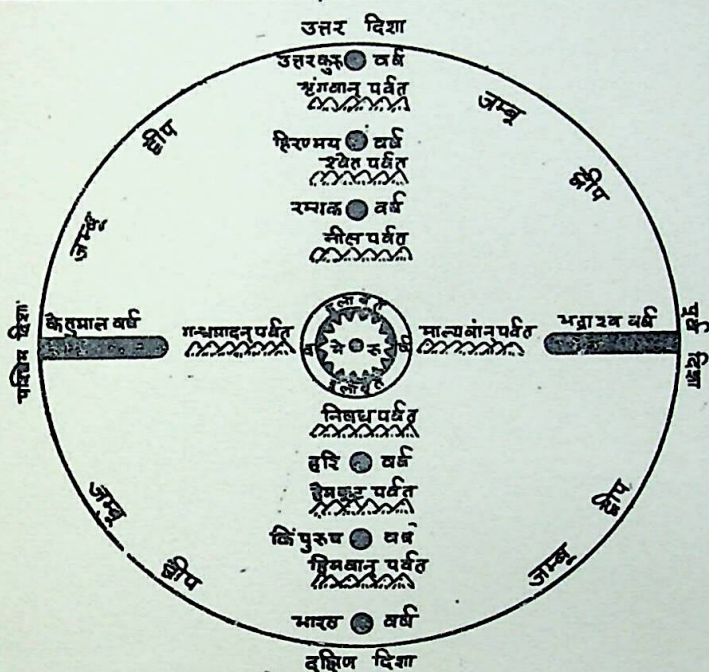
उत्तर दिशा
उत्तरकुरु वर्ष
शृंगवान् पर्वत
हिरण्मय वर्ष
श्वेत पर्वत
रम्यक वर्ष
नील पर्वत
जम्बू
द्वीप
केतुमाल वर्ष
गन्धमादन पर्वत
माल्यवान पर्वत
भद्राश्व वर्ष
पश्चिम दिशा
पूर्व दिशा
मे
निषध पर्वत
हरि वर्ष
हेमकूट पर्वत
किंपुरुष वर्ष
हिमवान् पर्वत
भारत वर्ष
दक्षिण दिशा
उत्तरदिशा से दक्षिण दिशा की ओर अथवा पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा की ओर
जम्बूद्वीप एक लक्ष योजन
जम्बूद्वीप एक लक्ष योजन
= ९००० योजन
= 2000 "
= ९००० "
= 2000 "
= ९००० "
= 2000 "
= १८००० योजन
= १६००० योजन
केन्द्र
= 2000 योजन
= ९००० "
= 2000 "
= ९००० "
= 2000 "
= ९००० "
१००००० कुलयोग
= ३१००० योजन
= 2000 "
= १८००० "
= १६००० "
= 2000 "
= ३१००० "
१००००० कुलयोग

चित्रपट्ट सं० ३

उत्तरार्ध
अलोक भूमि (काञ्चनी भूमि)
आठ करोड़ उन्तालीस लाख
लोकालोक पर्वत
साढ़े बारह करोड़
लोकभूमि
एक करोड़ सत्तावन लाख पचास हजार
स्वादूदक समुद्र
चौंसठ लाख
पुष्कर द्वीप
चौंसठ लाख
दधि समुद्र
बत्तीस लाख
शाक द्वीप
बत्तीस लाख
क्षीर समुद्र
सोलह लाख
क्रौञ्च द्वीप
सोलह लाख
घृत समुद्र
आठ लाख
कुश द्वीप
आठ लाख
सुरा समुद्र
चार लाख
शाल्मलि द्वीप
चार लाख
इक्षुरस समुद्र
दो लाख
प्लक्ष द्वीप
दो लाख
क्षार समुद्र
एक लाख
जम्बूद्वीप पचास हजार
मेरु
पूर्वार्ध
पश्चिमार्ध
दक्षिणार्ध

चित्रपट्ट सं० ४

९०°
१२०°
१५०°
६०°
३०°
०°
पुष्कर
क्रौञ्च
जम्बूद्वीप
प्लाक्ष
शाक
शाल्मलि
कुश
0 1000 2000
मील

जैरिनि के अनुसार

विल्फर्ड के अनुसार

क्रौञ्च द्वीप
प्लक्ष द्वीप
कुश द्वीप
शाल्मलि द्वीप
जम्बू द्वीप
शाक द्वीप
पुष्कर द्वीप
पौराणिक द्वीप
1000 0 1000 2000
मील

अली के अनुसार

कृष्णमाचार्लु के अनुसार

जम्बूद्वीप
उत्तर कुरु
हिरण्यवर्ष
केतुमाल
मेरु
भद्राश्व वर्ष
हरि वर्ष
भारत वर्ष
किंपुरुष वर्ष
० से ६०० फीट
६०० से १२०० फीट
१२०० फीट से अधिक
जल
अर्ली के अनुसार

डा॰ बेचन दूबे के अनुसार

अध्याय—६

भुवन-विज्ञान

महर्षि पतञ्जलि के भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्[1]—सूत्र के व्याख्यानस्वरूप व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, नागेशभट्ट, हरिहरानन्द आरण्यक तथा नारायणतीर्थ भुवन-विज्ञान के प्रतिपादनार्थ प्रवृत्त हुए। भुवनविज्ञान के सम्बन्ध में पातञ्जल-योग के व्याख्याकारों में मतभेद नहीं है। नारायणतीर्थकृत योगसिद्धान्तचन्द्रिका में उक्त विषय विस्तार के साथ विवेचित हुआ है। नारायणतीर्थ ने अपने पूर्ववर्त्ती व्यासदेव, वाचस्पति आदि व्याख्याकारों के भुवनविज्ञान-सम्बन्धी सन्देश को आगे बढ़ाया है; साथ ही ज्योतिषशास्त्र के अनुसार भुवन का स्वरूप चित्रित किया है। नारायणतीर्थ की योगसिद्धान्तचन्द्रिका के अनुसार भुवन का स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है।

योगशास्त्र के अनुसार भुवन का स्वरूप

ब्रह्माण्डावयव का विस्तार—महाब्रह्माण्ड के अन्तर्गत अनेक संक्षिप्त ब्रह्माण्ड हैं। महाब्रह्माण्ड का अवयवभूत एक ब्रह्माण्ड चौदह भुवनों की समष्टि है। भूलोक को केन्द्र मानकर भूलोक के ऊपर छः लोक हैं[2]—भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक। भूलोक के ऊपर स्थित होने के कारण उक्त छः लोक ऊर्ध्वलोक कहे जाते हैं। वस्तुतः प्रथम भूलोक की दृष्टि से द्वितीय भुवर्लोक ऊर्ध्वलोक है, लेकिन तृतीय लोक की दृष्टि से वह अधोलोक है। भूलोक से नीचे क्रमशः सात लोक हैं[3]—अतललोक, वितललोक, सुतललोक, तलातललोक, महातललोक, रसातललोक तथा पाताललोक। ये सातों अधोलोक कहे जाते हैं। इन सप्त पाताललोकों के ऊपर जलावरण है।[4] इनके ऊपर तथा भूमि के नीचे तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, कुम्भीपाक, मूलअसिपत्र, वनसूकर, मुखान्धकूप, क्रिमिभोजन, मदशत, प्रभूमिवज्र, कण्टक, शाल्मलि, वैतरणी, पयोद प्राणरोध, विशसन, लालाभक्षण, सारमेयादन, मदीचिरय, पानक्षार, कर्दम, रक्षोगण, भोजनशूल, प्रोतदन्द, शूकावट, निरोधन, पर्यावर्त्तन, सूचीमुख आदि नरक हैं।[5] यह एक ब्रह्माण्डावयव का स्वरूप है। इसी प्रकार के असंख्य ब्रह्माण्डावयव हैं।[6] महाब्रह्माण्ड

---

[1] यो० सू० ३।२६।

[2] भूरादिसत्यान्तान्युपरितनानि—यो० सि० चं० पृ० १२३।

[3] अतलादिपातालान्तान्यधस्तनानि—यो० सि० चं० पृ० १२३।

[4] एतेषामुपरि जलावरणः—यो० सि० चं० पृ० १२७।

[5] तदुपरि भूमेरधस्तात्…तामिस्रान्धतामिस्ररौरव…सूचिमुखप्रभृतयो नरकाः सन्ति—यो० सि० चं० पृ० १२७।

[6] अण्डानान्तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।
ईदृशानां तथा तत्र कोटिकोटिशतानि चेति॥ वि० पु०, यो० सि० चं० पृ० १२८।

के अवयवभूत उक्त ब्रह्माण्डावयव का स्थान महाब्रह्माण्ड में उतना है जितना आकाश में खद्योत का।[1]

भूलोक—भूलोक में सात द्वीप हैं[2]—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक तथा पुष्कर। प्रत्येक द्वीप एक-एक समुद्र से आवेष्टित है। द्वीप एवं समुद्र दोनों वलयाकारित हैं।

जम्बूद्वीप—वलयाकारित सात द्वीपों में जम्बूद्वीप की कल्पना मध्य में की गई है। जम्बूद्वीप एक लक्षयोजन विस्तृत है।[3] यह दो लक्षयोजन विस्तृत लवणसमुद्र से आवेष्टित है।[4] जम्बूद्वीप के मध्य मेरु पर्वत है। इसकी चौरासी हजार ऊँचाई है। यह मूर्धा से बत्तीस हजार योजन तथा मूल से सोलह हजार योजन विस्तृत है।[5]

सुमेरु की पूर्व दिशा के शिखर रजतमय, दक्षिण के शृङ्ग वैदूर्यमणिमय पश्चिम के शिखर स्फटिकमणिमय तथा उत्तर की चोटियाँ हेममणिमय हैं।[6] सुमेरु की उत्तरदिशा में तीन पर्वत हैं[7]— नील, श्वेत तथा शृङ्गवान्। तीनों पर्वत दो-दो सहस्र योजन विस्तृत हैं।[8] वैदुर्यमणि की कान्ति से युक्त नीलपर्वत पर ब्रह्मर्षि (साधनचतुष्टयसम्पन्न ब्रह्मज्ञानी) निवास करते हैं। रजत की आभा के सदृश दीप्तिमय श्वेतपर्वत देवासुरों की निवासभूमि है। हेमरत्नादिमय शृङ्गवान् पर्वत पर सपत्नीक देवता रहते हैं। उपर्युक्त तीन पर्वतों के मध्य एक-एक वर्ष है[9]—रमणक, हिरण्मय तथा उत्तरकुरु। तीनों वर्षों का विस्तार तुल्य है। प्रत्येक वर्ष नौ-नौ हजार योजन विस्तृत है।[10] उत्तरकुरु वर्ष में सेए दिव्य वृक्ष हैं, जो समस्त कामनाओं को पूर्ण करते हैं। यहाँ की भूमि वालुकामयी है। बालु हेम और सुवर्ण कण की है। यहाँ तेरह हजार वर्ष की आयु वाले देवता लोग अपनी देवाङ्गनाओं

---

[1] ब्रह्माण्डमध्ये संक्षिप्तं ब्रह्माण्डं च प्रधानस्याऽवयवो यथाकाशे खद्योतः—यो० सि० चं० पृ० १२८।

[2] जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्कराख्यैः सप्तद्वीपैर्युक्तो भूर्लोकः—यो० सि० चं० पृ० १२३।

[3] जम्बूद्वीपाख्यं स्थानं शतसहस्रमितम्—यो० सि० चं० पृ० १२५।

[4] तत्र जम्बूद्वीपः पार्श्वद्वयमादाय द्विगुणेन लवणोदधिनाऽऽवेष्टितः—यो० सि० चं० पृ० १२५।

[5] भूर्लोको मेरुपृष्ठपर्यन्तं यस्य चतुराशीतियोजनोच्छ्रायो मूर्ध्नि द्वात्रिंशत्सहस्रयोजन-विस्तारो मूले षोडशसहस्रयोजनविस्तारः सुमेरुः—यो० सि० चं० पृ० १२३।

[6] तस्य पूर्वादिप्रदक्षिणक्रमेण राजतवैदूर्यस्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गानि—यो० सि० चं० पृ० १२३।

[7] तस्य मेरोरुत्तरदिशि नीलश्वेतशृङ्गवन्तस्त्रयः पर्वताः—यो० सि० चं० पृ० १२३।

[8] प्रत्येकं द्विसहस्रयोजनविस्ताराः—यो० सि० चं० पृ० १२३।

[9] तेषां पर्वतानामवकाशेषु रमणकं हिरण्मयम् उत्तराः कुरव इति त्रीणि वर्षाणि—यो० सि० चं० पृ० १२३।

[10] प्रत्येकं नवयोजनसहस्रविस्ताराणि सन्ति—यो० सि० चं० पृ० १२३।

के सहित रहते हैं। हिरण्मयवर्ष के देवताओं की आयु ग्यारह हजार वर्ष की है। माया और यक्ष इनके अधीन रहते हैं। ये प्रसन्नचित्त रहते हैं और स्त्रियों के सहित विहार करते हैं। रमरणवर्ष के मनुष्य स्वकृत पुण्य कर्मों के कारण अनेक प्रकार का सुखोपभोग करते हुए दस हजार वर्षपर्यन्त प्राण-धारण करते हैं। यहाँ के मनुष्यों में सौमनस्य है। यह मनुष्यों की भोगभूमि है।

सुमेरु पर्वत के दक्षिण भाग में तीन पर्वत हैं[१]—निषध, हेमकूट तथा हिमशैल। निषध पर्वत पर सर्प, नाग और गन्धर्व आदि दिव्य योनियाँ निवास करती हैं। हेमकूट पर्वत पर गुह्यजाति के लोग रहते हैं। ये पर्वत भी दो-दो सहस्र योजन विस्तृत हैं।[२] इन पर्वतों के मध्यभाग में एक-एक वर्ष है[३]—हरिवर्ष, किंपुरुषवर्ष तथा भारतवर्ष। प्रत्येक वर्ष नौ-नौ सहस्र योजन विस्तृत है।[४] हरिवर्ष में प्रह्लाद के अनुयायी दैत्य, दानव, नृसिंहादि निवास करते हैं। किंपुरुषवर्ष में किंपुरुष, गन्धर्व आदि के साथ हनुमान् प्रभृति रहते हैं। ये अष्टादश पुराण, इतिहास आदि के द्वारा श्रीराम का गुणगान करते हैं। भारतवर्ष में निवास करने वाले मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्मानुसार स्वर्ग, नरक अथवा मोक्ष के अधिकारी होते हैं। अन्य खण्डों की भाँति यह केवल भोगभूमि नहीं, अपितु कर्मभूमि भी है। यहाँ गंगा, यमुना, सरस्वती, सरयू, नर्मदा, गोदावरी, कावेरी, महानदी, गण्डकी आदि पवित्र नदियाँ प्रवाहित होती हैं। उक्त नदियों में गोता लगाकर यहाँ की पुण्यात्माएँ पापकालुष्य को दूर करती हुई अपने को कृतकृत्य समझती हैं। ये विन्ध्य, चित्रकूट, कालञ्जर, कामगिरि, गोवर्धन, रैवत, श्रीशैल आदि पर्वतों की चोटियों पर चढ़कर भगवान् की भक्ति में निमग्न रहती हैं तथा मोक्ष को भी तुच्छ समझती हुई विचरण करती हैं। दूसरी तरफ नारकीय दुरात्माएँ काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, असूया, मद, मात्सर्य आदि से अपनी आत्मा को मलिन करती हुई व्यभिचारप्रिय होती हैं। ये कभी भी मोक्ष-प्राप्त नहीं करती हैं।

सुमेरु पर्वत की पूर्व दिशा में माल्यवान् पर्वत है।[५] यह दो हजार योजन विस्तृत है। इसके आगे समुद्रपर्यन्त विस्तृत भद्राश्व वर्ष है।[६] यह इकतीस हजार योजन है। यहाँ शक्ति और तेजःसम्पन्न, श्वेतवर्ण और दस सहस्रजीवी मनुष्य सपत्नीक निवास करते हैं। सिद्धचारण इनकी सेवा-शुश्रूषा में संलग्न रहते हैं। ये लोग प्रायः वनादि के विहार में रुचि रखते हैं।

---

[१] तस्य मेरोर्दक्षिणदिशि निषधहेमकूटहिमशैलाः—यो० सि० चं० पृ० १२४।

[२] प्रत्येकं नवयोजनसहस्रविस्ताराः—यो० सि० चं० पृ० १२४।

[३] तेषां पर्वतानामवकाशेषु हरिवर्षं किम्पुरुषं भारतमिति त्रीणि वर्षाणि—यो० सि० चं० पृ० १२४।

[४] प्रत्येकं नवयोजनसहस्रविस्ताराणि—यो० सि० चं० पृ० १२४।

[५] मेरोः पूर्वदिशि माल्यवान् पर्वतः—यो० सि० चं० पृ० १२३।

[६] तमेव सीमानं कृत्वा समुद्रपर्यन्तं भद्राश्वनामका देशास्तन्नामकमेवैकं वर्षम्—यो० सि० चं० पृ० १२३।

सुमेरु की पश्चिम दिशा में दो सहस्र योजन विस्तृत गन्धमादन पर्वत है।[१] इस पर अनेक सेवकों के साथ यक्षराज कुबेर प्रतिदिन सुन्दर ललनाओं के साथ आनन्दप्रमोद मनाते हुए निवास करते हैं। यहाँ इकतीस सहस्र योजन विस्तृत केतुमाल देश है।[२] यह भय और शोकरहित दशसहस्रजीवी मनुष्यों की आवासभूमि है।

सुमेरु के चारों ओर अठारह हजार विस्तृत इलावृत वर्ष है।[३] इस प्रकार जम्बूद्वीप में कुल नौ वर्ष एवं नौ पर्वत हैं। सम्पूर्ण जम्बूद्वीप पूर्व से पश्चिम की ओर अथवा उत्तर से दक्षिण की ओर एक लक्ष योजन विस्तृत है।

प्लक्षद्वीप—जम्बूद्वीप से द्विगुण परिमाण (दो लक्ष योजन) वाला प्लक्षद्वीप है।[४] यह अपने से द्विगुण विस्तार (चार लक्ष योजन) वाले इक्षुरस-समुद्र से आवेष्टित है।[५] प्लक्षद्वीप में सात वर्ष हैं[६]—शिव, वयस, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत तथा अभय। इन वर्षों में सात पर्वत हैं[७]—मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्रसेन, ज्योतिष्मान्, सुपर्ण, हिरण्यष्ठीव तथा मेघमाल। सात नदियाँ हैं[८]—अरुणा, नृम्णा, अङ्गिरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतम्भरा तथा सत्यम्भरा। नदियों का जल अपने स्पर्शमात्र से मनुष्यों के पाप-कालुष्य को दूर करता है। यहाँ के भक्तिप्रवण निवासी सूर्योपासक हैं। ये एक सहस्र वर्षपर्यन्त जीवित रहते हैं। ये प्रजा आदि से परिपूर्ण होते हैं।

शाल्मलद्वीप—प्लक्षद्वीप से द्विगुण विस्तार वाला शाल्मलद्वीप चार लक्ष योजन है।[९] यह अपने से द्विगुण आयाम वाले सुरा-समुद्र से आवेष्टित है। प्लक्षद्वीप की भाँति

---

१ मेरोः पश्चिमदिशि गन्धमादनः पर्वतः—यो० सि० चं० पृ० १२४।

२ आचार्य नारायणतीर्थ ने जम्बूद्वीप के भद्राश्व एवं केतुमाल वर्ष का विस्तार नहीं बतलाया है। श्रीमद्भागवत के आधार पर उनका इकतीस-इकतीस हजार योजन विस्तार सिद्ध होता है। इनकी व्याख्या श्रीमद्भागवत से मिलती है। श्रीमद्भागवत के व्याख्याकार श्रीधरस्वामी ने अपनी भावार्थदीपिका में लिखा है—पूर्वापररेखायामपि स मेरोरिलावृतस्य चतुस्त्रिंशद् गिर्योश्चत्वारि शेषाणि द्विषष्ठिसहस्राणि पूर्वापरवर्षयोरासमुद्रं दैर्घ्यं द्रष्टव्यान्यतो न विरोधः—भा० दी० पृ० ३३५।

३ सुमेरोरधोभागेऽष्टादशसहस्रयोजनविस्तृतं नवममिलावृतं वर्षम्—यो० सि० चं० पृ० १२४।

४ ततो द्विगुणः प्लक्षाख्यो द्वीपः—यो० सि० चं० पृ० १२५।

५ स च पार्श्वद्वयस्वद्विगुणेन इक्षुरसोदधिनावेष्टितः—यो० सि० चं० पृ० १२५।

६ तत्र शिवं वयसं सुभद्रं शान्तं क्षेमम् अमृतम् अभयमिति वर्षाणि—यो० सि० चं० पृ० १२५।

७ तेषु मणिकूटो वज्रकूट इन्द्रसेनो ज्योतिष्मान् सुपर्णो हिरण्यष्ठीवो मेघमाल इति शैलाः—यो० सि० चं० पृ० १२५।

८ अरुणा, नृम्णाऽङ्गिरसी सावित्री सुप्रभाता ऋतम्भरा सत्यम्भरेत्येता नद्यः—यो० सि० चं० पृ० १२५।

९ प्लक्षद्विगुणः शाल्मलः स्वद्विगुणेन सुरोदधिनाऽऽवृतः—यो० सि० चं० पृ० १२५।

इस द्वीप में भी सात वर्ष, सात पर्वत तथा सात नदियाँ हैं। सात वर्ष इस प्रकार हैं—सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देव, पारिभद्र, आप्यायन तथा अविज्ञात। सात पर्वतों के नाम हैं—स्वरसशैल, शतशृङ्गशैल, वामदेवशैल, कुन्दशैल, कुमुदशैल, पुष्पवर्षशैल तथा सहस्रस्तुति शैल। सप्त नदियाँ इस प्रकार हैं—अनुमति, सिनीवाली, सरस्वती, कुरु, रजनी, नन्दा तथा राका। यहाँ के पुरुष सोमोपासक हैं।[1]

कुशद्वीप—शाल्मलद्वीप से द्विगुण आयाम (आठ लक्ष योजन) वाला कुशद्वीप अपने से द्विगुण विस्तार वाले घृतसमुद्र से आवेष्टित है।[2] यहाँ भी वर्ष, पर्वत एवं नदी की संख्या सात-सात है। यहाँ वसु, वसुदान, दृढरुचि, नाभिगुप्त, सत्यकृत, विविक्त तथा नाभदेव ये सात वर्ष हैं। चक्र श्चतुः शृङ्ग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक, ऊर्ध्वरोम तथा द्रविण—ये सात पर्वत हैं। घृतकुल्या, रसकुल्या, मधुकुल्या' मित्रविन्दा, देवगर्भा, घृतच्युता तथा मन्त्रमाला—ये सात नदियाँ हैं। यहाँ के निवासी अग्नि के उपासक हैं।[3]

क्रौञ्चद्वीप—कुशद्वीप से द्विगुण आयाम वाला क्रौञ्चद्वीप अपने से द्विगुणित क्षीरोदधि से आवेष्टित है।[4] क्रौञ्चद्वीप के सात वर्ष इस प्रकार हैं—आभ, मधुरुह, मेघपृष्ठ, सुधामा, भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण तथा वनस्पति। यहाँ के सात पर्वतों के नाम हैं—शुक्र, वर्द्धमान, भोजन, उपवर्हण, नन्द, नन्दन तथा सर्वतोभद्र। यहाँ सात नदियाँ प्रवाहित होती हैं—अभया, अमृतौघा, अर्वका, तीर्थवती, रूपवती, पवित्रवती तथा शुक्ला। यहाँ वरुण देवता की उपासना की जाती है।[5]

शाकद्वीप—क्रौञ्चद्वीप से द्विगुण आयाम वाला शाकद्वीप अपने से द्विगुणित दधि-समुद्र से आवेष्टित है। शाकद्वीप में भी सात वर्ष, सात पर्वत एवं सात नदियाँ हैं। इस द्वीप में पुरोजव, मनोजव, पवमान, धूम्रानीक, चित्ररेक, बहुरूप तथा विश्वधारा—ये सात वर्ष हैं। ईशान, ऊरूशृङ्ग, बलभद्र, शतकेशर, सहस्रस्रोत, देवपाल तथा महानस—ये सात पर्वत हैं। अनघा, आयुर्दा, उभयस्पृष्टि, अपराजिता, पञ्चनदी, सहस्रस्तुति तथा निजधृति—ये सात नदियाँ हैं। यहाँ के प्राणी समाधि लगाकर प्राण की उपासना करते हैं।[6]

पुष्करद्वीप—शाकद्वीप से द्विगुण आयाम वाला पुष्कर द्वीप वलयाकारित अपने से द्विगुण विस्तार वाले स्वादूदक समुद्र से आवेष्टित है।[7] यहाँ मानसोत्तर नाम का केवल

---

१ पुरुषाः…उक्तवीर्याः सोममनुदिनं भजन्ते—यो० सि० चं० पृ० १२५।

२ शाल्मलाद् द्विगुणः कुशद्वीपो घृतोदधिना पार्श्वद्वयमादाय स्वद्विगुणेन वेष्टितः—यो० सि० चं० पृ० १२५।

३ …भगवन्तं जातवेदस्वरूपिणं यजन्ते—यो० सि० चं० पृ० १२६।

४ कुशात् क्रौञ्चद्वीपो द्विगुणः पार्श्वद्वयमादाय स्वद्विगुणेन क्षीरोदधिना वेष्टितः—यो० सि० चं० पृ० १२६।

५ …पुरुषा वरुणमेव भजन्ते—यो० सि० चं० पृ० १२६।

६ प्राणं समाधिना यजन्ते—यो० सि० चं० पृ० १२६।

७ शाकद्वीपाद् द्विगुणः पुष्करद्वीपः पार्श्वद्वयमादाय द्विगुणेन स्वादूदकेन परीतः—यो० सि० चं० पृ० १२६।

एक पर्वत है।[१] इसके चारों ओर इन्द्र आदि लोकपालों के चार पुर हैं। मानसोत्तर पर्वत का उच्छ्राय एक अयुत योजन है।[२] स्वादूदक समुद्र के आगे की भूमि (एक तरफ से) एक करोड़, सत्तावन लाख पचास हजार है।[३] यह भूमि लोकभूमि कही जाती है। लोकभूमि के आगे लोकालोक पर्वत है। लोकालोक पर्वत के बाहर अर्थात् उससे आगे काञ्चनमयी लौकिकी देवभूमि है।[४] इस प्रकार सप्तद्वीपा वसुमती पचास करोड़ योजन परिमित है।[५]

भुवर्लोक—भूलोक के ऊपर भुवर्लोक है। इसका दूसरा नाम अन्तरिक्ष लोक है।[६] यहाँ ग्रह, नक्षत्र एवं तारागण ज्योतिःचक्र में निबद्ध होकर सञ्चरण करते हैं।[७]

स्वर्लोक—अन्तरिक्ष लोक के ऊपर स्वर्लोक है। इसका दूसरा नाम माहेन्द्रलोक है।[८] यहाँ छः प्रकार की देवजातियाँ हैं--त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित वशवर्त्ती तथा परिनिर्मित वशवर्त्ती। ये समस्त देव सिद्धसंकल्प तथा अणिमा आदि अष्टैश्वर्य से सम्पन्न होते हैं। ये शरीर-धारण में स्वतन्त्र हैं। ये एक कल्पपर्यन्त जीवित रहते हैं।[९]

---

१ तस्मिन् द्वीपे मानसोत्तरनामकः एवाचलः—योः सि० चं० पृ० १२६।

२ ···अचलोऽयुतयोजनोच्छ्राया···यो० सि० चं० पृ० १२६।

३ क्षीरोदात् परतः सार्द्धसप्तलक्षोत्तरा सार्द्धकोटिपरिमिता भूः—यो० सि० चं० पृ० १२६।

४ ततो बहिरुर्वरिता काञ्चनमय्यलौकिकी देवक्रीडाभूमिः—यो० सि० चं० पृ० १२६।

५ (क) सेयं वसुमती भूमिः सर्वाऽपि पञ्चाशद्योजनकोटिपरिमिता—यो० सि० चं० पृ० १२६।

(ख) आचार्य नारायणतीर्थ ने लोकालोक पर्वत तथा अलोकभूमि का परिमाण नहीं बतलाया है। नारायणतीर्थ की भूलोकवर्ती द्वीप, समुद्र आदि के परिमाण-विभाजन की पद्धति श्रीमद्भागवत से मिलती है। अतः श्रीमद्भागवत के आधार पर लोकालोकपर्वत तथा अलोक भूमि का परिमाण स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। ऐसा मानने पर नारायणतीर्थ द्वारा कथित भूलोक का पचास करोड़ योजन परिमाण भी पूर्ण हो जाता है। श्रीमद्भागवत के व्याख्याकार श्रीधरस्वामी का मत इस प्रकार है—

सोऽयं तु लोकालोकाचलस्तुरीयभागश्चतुर्थोशः सार्धद्वादशकोट्यः मेरोरेकत इति द्रष्टव्यम्—भा० दी० पृ० ४५८।

ततः काञ्चनी भूमिरन्याऽस्तीत्यर्थः। सा चैकोनचत्वारिंशल्लक्षोत्तरकोट्यष्टक-परिमिता ज्ञेया—भा० दी० पृ० ४५८।

६ एतस्या उपर्यन्तरिक्षाऽपरपर्यायो भुवर्लोकः—यो० सि० चं० पृ० १२७।

७ तत्र गृहनक्षत्रतारका ज्योतिश्चक्रे निबद्धाः सञ्चरन्ति—यो० सि० चं० पृ० १२७।

८ तदुपरि स्वर्लोको माहेन्द्रापरपर्यायः—यो० सि० चं० पृ० १२७।

९ अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः स्वेच्छोपात्तविग्रहाः कल्पायुषः·····निवसन्ति—यो० सि० चं० पृ० १२७।

महर्लोक—स्वर्लोक के ऊपर महर्लोक है। इसका दूसरा नाम है—प्राजापत्य लोक।[१] यह कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अजनाभ, अमिताभ—संज्ञक पाँच प्रकार की देवजातियों की निवासभूमि है। ये महाभूतवशी ध्यानप्रिय तथा कल्प-सहस्र-आयुष् वाले होते हैं।

जनलोक—महर्लोक के ऊपर जनलोक है।[२] यहाँ चार प्रकार के देवसमूह हैं—ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक तथा अमर। ये भूतेन्द्रियवशी हैं। ब्रह्मपुरोहित दो हजार, ब्रह्मकायिक चार हजार, ब्रह्ममहाकायिक आठ हजार तथा अमर-संज्ञक देव सोलह हजार कल्प की आयुष् वाले होते हैं।[३]

तपोलोक—जनलोक के ऊपर तपोलोक है।[४] यहाँ अहंकार को वश में करने वाले अभास्वर, महाभास्वर तथा सत्यमहाभास्वर—ये तीन प्रकार के देव रहते हैं। ये जनलोक के देवताओं की अपेक्षा द्विगुण द्विगुण आयुष् वाले हैं। उक्त समस्त देव ऊर्ध्वरेतस् होते हैं।[५]

सत्यलोक—तपोलोक के ऊपर अर्थात् सबसे ऊपर सत्यलोक है।[६] यह योगियों की निवासभूमि है। यहाँ चार प्रकार के योगी रहते हैं—अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ तथा संज्ञासंज्ञी। ये चारों योगी क्रमशः सवितर्क, सविचार, सानन्द तथा सास्मित समाधि-सिद्ध हैं। प्रणवादि के उपासक उक्त योगिवृन्द सर्गपर्यन्त आयुष् वाले होते हैं।[७]

इस प्रकार सात ऊर्ध्वलोकों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

भूलोक के नीचे अतललोक है। यहाँ मय, पुत्रादि असुर निवास करते हैं।[८] अतललोक के नीचे वितललोक है। यहाँ भगवान् शिव पार्वती के साथ विहार करते हैं। क्योंकि भगवान् शिव हाटकी नाम की नदी के अधिपति मानें जाते हैं तथा हाटकी नदी अतल लोक में प्रवाहित होती है।[९] यहाँ भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मार, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड, विनायक आदि निवास करते हैं। वितललोक से नीचे सुतललोक है। यहाँ भगवान् की अनुकम्पा से अनुगृहीत, आत्मसमर्पण के इच्छुक भगवान् के प्रवरभक्त अपनी भक्तमण्डली के साथ रहते हैं। सुतललोक से नीचे तलातल लोक है। यहाँ मायावी मय और उनके अनुचर रहते हैं। तलातल से नीचे महातल है। यहाँ तक्षक प्रभृति सर्प रहते हैं। महातल से नीचे रसातल है। यहाँ दैत्य, दानव, निवात, कवच प्रभृति रहते हैं।[१०] रसातल से नीचे पाताल-

---

[१] तदुपरि स्वर्लोको प्राजापत्यापरपर्यायः—यो० सि० चं० पृ० १२७।

[२] तदुपरि जनलोकः—यो० सि० चं० पृ० १२७।

[३] द्विगुणद्विगुणोत्तरोत्तरायुषो निवसन्ति—यो० सि० चं० पृ० १२८।

[४] तदुपरि तपोलोकः—यो० सि० चं० पृ० १२८।

[५] एते देवसमूहाः—ऊर्ध्वरेतसो निवसन्ति—यो० सि० चं० पृ० १२८।

[६] तदुपरि सत्यलोकः—यो० सि० चं० पृ० १२८।

[७] अच्युताः···सवितर्कसविचारानन्दास्मितायोगिनः···प्रणवाद्युपासकाः—यो० सि० चं० पृ० १२८।

[८] यत्र मयपुत्रादयोऽसुराः निवसन्ति—यो० सि० चं० पृ० १२७।

[९] यतः प्रवृत्ता हाटकी नाम नदी—यो० सि० चं० पृ० १२७।

[१०] तत्र दैतेयदानवनिवातकवचप्रभृतयो निवसन्ति—यो० सि० चं० पृ० १२६।

लोक है। यहाँ वासुकि आदि सर्पाधिराज सपरिवार रहते हैं।[१] इस प्रकार पातञ्जल-योगशास्त्रानुमोदित भुवन-विज्ञान का स्वरूप है।

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार भुवन का स्वरूप

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार पाञ्चभौतिक भूखण्ड कन्दुकाकार है।[२] यह भूपिण्ड पर्वत, उपवन, ग्राम, चैत्य, देव, मनुष्य दैत्य एवं चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, बृहस्पति, शनि आदि ग्रह तथा नक्षत्रों की कक्षाओं से आवृत है।[३] आकर्षणशक्तिविशिष्ट भूपिण्ड आकाश में निराधार स्थित है।[४] भूपिण्ड का परिमाण है—पञ्चसहस्रयोजन।[५]

बौद्धों का मत है कि आकाश में निराधार-स्थित भूपिण्ड निरन्तर नीचे की ओर खिसक रहा है।[६] आचार्य **नारायणतीर्थ** को बौद्धों का उक्त सिद्धान्त मान्य नहीं है। अन्यथा ऊपर की ओर छोड़ा हुआ वाण पुनः भूमि पर प्रत्यावर्तित नहीं हो सकता है। महत्-परिमाण वाली पृथ्वी का अधःपतन अल्प-परिमाण वाली वस्तु से अधिक दीर्घ गति से होता है। भूमि की मन्दगति एवं शरादि आदि की शीघ्र गति मानकर ऊर्ध्वक्षिप्त वाण आदि की भू-प्राप्ति नहीं मानी जा सकती है।[७] बौद्धों के अनुसार पृथ्वी को समतल भी नहीं कहा जा सकता है। पृथ्वी को समतल मानने पर रात्रि-दिन की व्यवस्था नहीं बन पाएगी, फलस्वरूप देवताओं की भाँति मनुष्यों को भी हमेशा सूर्यभगवान् का दर्शन होने लगेगा।[८] अतः भूपिण्ड को कन्दुकाकार मानना उचित है।[९]

भूगोल को स्थूलरूप से दो भागों में बांटा जा सकता है--उत्तरार्द्ध एवं दक्षिणार्द्ध। भूगोल के उत्तरार्द्ध में जम्बूद्वीप है।[१०] अन्य द्वीप भूगोल के दक्षिणार्द्ध में हैं।

---

[१] भूर्लोकस्य सर्वाधस्तात् पातालम्। तत्र वासुकिप्रभृतयो नागाधिपतयः सपरिवाराः निवसन्ति—यो० सि० चं० पृ० १२६।

[२] ज्योतिःशास्त्रे तु पाञ्चभौतिको वर्त्तुलः कन्दुकाकारः--यो० सि० चं० पृ० १२८।

[३] चन्द्रबुधशुक्र···नक्षत्रकक्षावृतैर्वृतः समन्ताद्देवमनुष्यदैत्यैः समेतः—यो० सि० चं० पृ० १२८।

[४] नान्याधारः स्वशक्त्यैव···आकर्षणशक्तिमान् भूपिण्ड आकाशे नियतं तिष्ठति—यो० सि० चं० पृ० १२८।

[५] पञ्चसहस्रयोजनपरिमितः भूपिण्डः—यो० सि० चं० पृ० १२८।

[६] आकाशे एव वर्त्तमानो भूपिण्डः निरन्तरमधो यातीति बौद्धाः--यो० सि० चं० पृ० १२८।

[७] ऊर्ध्वक्षिप्तशरादेर्भूप्राप्त्यनापत्तिप्रसङ्गात्। न च भूमेर्मन्दा शरादेश्च शीघ्रा गतिरिति वाच्यम्। गुरोः शीघ्रपतनस्य लघोर्मन्दपतनस्यानुभवसिद्धत्वात्—यो० सि० चं० पृ० १२८।

[८] भूसाम्ये देवानामिव मनुष्याणामपि सूर्यदर्शनापत्तिः—यो० सि० चं० पृ० १२९।

[९] ···न कन्दुकाकारेति चेन्न—यो० सि० चं० पृ० १२८।

[१०] अत्र भूगोलस्योत्तरार्द्धं जम्बूद्वीपः—यो० सि० चं० पृ० १२९।

जम्बूद्वीप के दक्षिण में लङ्का, पूर्व में यमकोटि, पश्चिम में रोमक तथा नीचे सिद्धपुर संज्ञक चार पुर हैं।[१] उक्त लङ्का पुर की उत्तर दिशा में हिमवान् पर्वत है। हिमवान् और लङ्का के मध्य का भूभाग भारतखण्ड कहलाता है। भारतखण्ड के नौ खण्ड हैं[२]—ऐन्द्र, कसेरु, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, कुमारिका, नाग, सौम्य, हिमवारण तथा गान्धर्व। भारतवर्ष का नवम कुमारिका खण्ड लङ्का के समीप है।[३] कुमारिका खण्ड में ही वर्णाश्रम व्यवस्था है। भारतखण्ड में सात पर्वत हैं—माहेन्द्र, शुक्ति, मलय, ऋक्ष, पारियात्र, सह्य तथा विन्ध्य। ये सात कुलपर्वत कहे जाते हैं।[४] कुलपर्वत देश के भीतर उसके प्रान्तों की सीमा बनाते हैं। वर्ष पर्वत तत्-तत् वर्षों के सीमागिरि होते हैं। ये एक वर्ष को दूसरे वर्ष से पृथक् करते हैं। हिमवान् गिरि के उत्तर में हेमकूट पर्वत है।[५] इन दोनों पर्वतों के मध्य किन्नरखण्ड है। हेमकूट पर्वत के उत्तर में निषध पर्वत है। निषध पर्वत के मध्य हरिखण्ड है। जम्बूद्वीप के अधःस्थित सिद्धपुर के उत्तर में शृङ्गवान् पर्वत है। शृङ्गवान् एवं सिद्धपुर के मध्य कुरुखण्ड है। शृङ्गवान् पर्वत के उत्तर में श्वेतगिरि है। श्वेतगिरि के मध्य हिरण्यखण्ड है। श्वेतगिरि के उत्तर में नीलगिरि है। नीलगिरि और श्वेतपर्वत के मध्य रम्यकखण्ड है। जम्बूद्वीप के पूर्व में स्थित यमकोटि की उत्तर दिशा में माल्यवान् पर्वत है। इसके मध्य भद्राश्वखण्ड है। जम्बूद्वीप के पश्चिम में स्थित रोमकपुर के उत्तर में विस्तीर्ण गन्धमादन पर्वत के मध्य केतुमाल खण्ड है। निषध, नील, माल्यवान् तथा गन्धमादन इन चार पर्वतों से आवृत नवम इलावृत खण्ड है।[६] इस प्रकार जम्बूद्वीप में नौ खण्ड हैं। लङ्का, यमकोटि, रोमक तथा सिद्धपुर संज्ञक उक्त चार पुरों की उत्तरदिशा में सुमेरु पर्वत है। सुमेरु सुवर्णमय है।[७] सुमेरु के तीन शिखर हैं। इन शिखरों में ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के पुर हैं। सुमेरु की चारों दिशाओं में पर्वत, वृक्ष, वन एवं सरोवर आदि हैं। सुमेरु की पूर्वदिशा में स्थित मन्दरगिरि पर कदम्ब-वृक्ष, चैत्ररथ-वन एवं अरुणोदसरोवर है। दक्षिण के गन्धशैल पर्वत पर जम्बू-वृक्ष, नन्दन-वन तथा मानस-सरोवर है। पश्चिम के विपुल-पर्वत पर वट-वृक्ष, धृति-वन एवं महाह्लद-सरोवर है। सुमेरु की उत्तर दिशा में स्थित सुपार्श्व पर्वत पर पीपल का वृक्ष, वैभ्राज-वन एवं मानस-सरोवर है।[८]

---

१ तत्र भूमध्ये लङ्का, दक्षिणे, पूर्वे यमकोटिः, पश्चिमे रोमकः अधः सिद्धपुरमिति पुरचतुष्टयम्—यो० सि० चं० पृ० १२९।

२ ऐन्द्रः···गान्धर्व इति भारतखण्डेऽपि नव खण्डाः—यो० सि० चं० पृ० १२९।

३ भारतवर्षस्य लङ्कासमीपे कुमारिकाखण्डः—यो० सि० चं० पृ० १२९।

४ सप्तकुलाऽचलाः—यो० सि० चं० पृ० १२९।

५ तदुत्तरे हेमकूटः—यो० सि० चं० पृ० १२९।

६ एवं निषधनीलमाल्यवद्गन्धमादनैरावृतमिलावृतं नाम नवम (भू)-खण्डम्—यो० सि० चं० पृ० १२९।

७ तत्र मेरुः कनकरत्नमयः—यो० सि० चं० पृ० १२९।

८ मेरोः पूर्वं···मानसं सरः—यो० सि० चं० पृ० १२९।

सुमेरु पर्वत के तीन शिखरों में से एक शिखर पर विष्णु निवास करते हैं। विष्णु भगवान् के चरण से निस्सृत गंगा चार धाराओं में विभक्त होकर चतुर्दिशा में प्रवाहित होती है।[१] भद्राश्ववर्ष में सीता, भारतवर्ष में अलकनन्दा, केतुमाल वर्ष में वंक्षु तथा उत्तरकुरु में भद्रा-नदी पहुँची है।[२]

भूगोल के द्वितीय दक्षिणार्द्ध में छः द्वीप एवं छः समुद्र हैं। ये क्रमशः उत्तर से दक्षिण की ओर स्थित हैं। द्वीप एवं समुद्रों का क्रम इस प्रकार है—शाकद्वीप, दुग्धसिन्धु, शाल्मलि द्वीप, दधिसमुद्र, कुशद्वीप, घृतसमुद्र, क्रौञ्चद्वीप, इक्षुरससिन्धु, गोमेधद्वीप, मद्यसिन्धु, पुष्करद्वीप तथा स्वादूदक-समुद्र।[३] स्वादूदक-समुद्र के मध्य वडवानल है।[४] वडवानल के निकट पृथ्वी-पुट के रूप से सात नरक हैं।[५] ज्योतिषशास्त्रसम्मत यही भुवन-संस्था है।[६]

व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु आदि व्याख्याकारों ने अपने-अपने योग-ग्रन्थों में भुवनविज्ञान का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है; वह ज्योतिषशास्त्र समर्थित भुवन-संस्थान से भिन्न है। वह पुराण पर आधारित है। पातञ्जल-योग शास्त्र के व्याख्याकारों ने पुराण-प्रतिपादित भुवन-संस्था स्वीकार की है। आचार्य **नारायणतीर्थ** की ओर से भुवनविज्ञान का स्वरूप भी प्रतिपादित किया गया है।

परिशीलन

कैप्टन विलफर्ड,[७] करनल **जैरिनि,**[८] **वैंकटचिलम अय्यर,**[९] **सी. आर. कृष्णमाचार्लु**[१०] **एस. एम. अली**[११] तथा **डॉ० बेचन दूबे**[१२] ने पौराणिक भुवनविन्यास का विशेषकर भूलोक

---

१ **मेरौ विष्णुपदात्पतिता गङ्गा च चतुर्भिर्नामभिश्चतुर्धा याति—यो० सि० चं० चं० पृ० १२९।**

२ **तत्र सीताख्या···कुरून् अखिलपावनाय याति—यो० सि० चं० पृ० १२९।**

३ **पूर्वार्द्धे च क्षारोदधेर्दक्षिणे शाकद्वीपः···स्वादूदकसिन्धुः—यो० सि० चं० पृ० १२९-१३०।**

४ **तदन्तर्वडवानलः—यो० सि० चं० पृ० १३०।**

५ **तन्निकटे नरकाणि पृथिवीपुटानि सप्त पातालानि—यो० सि० चं० पृ० १३०।**

६ **ज्योतिषशास्त्रे···इति भुवनसंस्था—यो० सि० चं० पृ० १२८-१३०।**

७ Wilford, "The Sacred Isles in the West Etc." Published in Asiatic Researches of Bengal, Vol. VIII, 1908, pp. 245-376.

८ Gerini, "Researches on Ptolemy's Geography of Eastern Asia" pp. 80, 164, 165, 237, 244.

९ Iyer V. V., "The Seven Dvīpas of the Purāṇas", The quarterly Journal of the Mythic Society (Bangalore), Vol. XV, no. 1, October, 1924, p. 62; of vols. XVI and XVII.

१० Krishnamācharlu, C. R. "The Craddle of Indian History", the Adyar Library, 1947.

११ The Geography of the Purāṇas. pp. 26-46

१२ Geographical Concepts in Ancient India—p. 86.

सप्त द्वीप एवं जम्बू द्वीप के वर्ष एवं पर्वतों का आधुनिक प्रदेशों के साथ ऐक्य-स्थापन करने का प्रयास किया है।

अय्यर, अली एवं दूबे के अनुसार पौराणिक 'द्वीप'—शब्द चारों ओर से जल वृत भूभाग का द्योतक नहीं है, जिस अर्थ में 'द्वीप' शब्द आजकल प्रचलित है; अपितु द्वीप—शब्द दो पार्श्वों से जलावृत भू-खण्ड का अभिधायक है।[१]

भूलाक के द्वीप

कुशद्वीप—विल्फर्ड के अनुसार सिन्धु नदी से लेकर पश्चिम में पार्शियन-खाड़ी और कैस्पियन सागर का निकटवर्ती स्थान कुशद्वीप है। **जैरिनि** के अनुसार सुण्डा-आर्की-पैलागो कुशद्वीप है। **अय्यर** के अनुसार ईरान, अरब तथा इथियोपिया कुशद्वीप है। **कृष्णमाचार्लु** के अनुसार ग्रीस् एवं ग्रीस् का निकटवर्ती प्रदेश कुशद्वीप है। **अली** के अनुसार ईरान, अरब एवं इथोपिया कुशद्वीप है। कहा जा सकता है कि अधिकांश व्यक्ति कुशद्वीप को पश्चिमी एशिया में मानते हैं।

क्रौञ्चद्वीप--विल्फर्ड के मत में जर्मनी, फ्रांस और इटली क्रौञ्चद्वीप है। जैरिनि के मत में दक्षिण चीन क्रौञ्चद्वीप है। अय्यर के मत में एशिया माइनर कौञ्चद्वीप है। **कृष्णमाचार्लु** के मत में सामान्यतः आधुनिक योरोप के उत्तरपूर्व तथा दक्षिण पश्चिम के कतिपय प्रदेशों को छोड़कर यूरोप का विस्तृतक्षेत्र क्रौञ्चद्वीप है। अली के मत में यूरोप क्रौञ्चद्वीप है। कहा जा सकता है कि क्रौञ्च द्वीप के ऐक्य-स्थापन में बहुमत यूरोप एवं चीन का है।

---

१. (*a*) A 'Dvīpa' literally means land between two arms of water. It may signify an Island, a 'peninsula' or a 'doab' (between two rivers). In ancient Sanskrit literature it has often been used to mean only a division of land (big or small) and no more—Geography of the Purāṇas, S. M. Ali p. 26.

(*b*) **डॉ० दूबे अपनी पुस्तक** Geographical Concepts in Ancient India **पृ० ८६ पर वी० वी० अय्यर के मत को उपस्थापित करते हैं**— 'According to V. Venkatchellum Iyer, in ancient Sanskrit literature the word Dvīpa was often used to mean only a division of land and no more'—The Seven Dvīpas of the Purāṇas', p. 62.

(*c*) The word 'Dvīpa' does not appear to have been used for continent which is vast elevated platform of the earth surrounded by ocean, with a framework of mountain ranges, plateaus and a network of rivers.

द्विरापत्वात्स्मृता द्वीपाः—Vāyu, 4, 9, 131: Matsya, 123, 35.

द्वयन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्—Paṇini 6/3/97.

—Geographical Concepts in Ancient India p. 81

क्री V, VI टिप्पणियाँ।

जम्बूद्वीप—**विल्फर्ड, जैरिनि** तथा **अय्यर** के अनुसार भारतवर्ष जम्बूद्वीप है। **कृष्णमाचार्लु** के अनुसार भारतवर्ष के उत्तर में स्थित जम्बूप्रदेश जम्बूद्वीप है। लेकिन जम्बूद्वीप का क्षेत्रफल आजकल के जम्बूप्रदेश से अधिक था। **अली** के अनुसार भारतवर्ष एवं मध्य एशिया जम्बूद्वीप है।

पुष्करद्वीप—**विल्फर्ड** के अनुसार आईसलैण्ड, **जैरिनि** के अनुसार उत्तरचीन और मंगोलिया, **अय्यर** के अनुसार तुर्किस्तान, **कृष्णमाचार्लु** के अनुसार बोखारा तथा **अली** के अनुसार पूर्वीय रशिया और उत्तरमंचूरिया पुष्करद्वीप है। कहा जा सकता है कि **विल्फर्ड** के अनुसार यूरोप तथा अन्य विद्वानों के अनुसार पूर्वीय एशिया में क्रौञ्चद्वीप है।

प्लक्षद्वीप—**विल्फर्ड** के अनुसार लेसर एशिया और अरमेनिया, **जैरिनि** के अनुसार अराकन और वर्मा, **अय्यर** के अनुसार ग्रीक, **कृष्णमाचार्लु** के अनुसार पर्शिया तथा **अली** के अनुसार मेडिट्रेनियन समुद्र के चारों ओर आने वाला प्रदेश प्लक्षद्वीप है। इस प्रकार अधिकांश विद्वान् यूरोप के दक्षिण में प्लक्षद्वीप मानते हैं।

शाकद्वीप—**विल्फर्ड** के अनुसार ब्रिटिशद्वीप, **जैरिनि** के अनुसार श्याम और कम्बोज, **अय्यर** के अनुसार यूरेशिया में आने वाला सीथिया, **कृष्णमाचार्लु** के अनुसार यूरेशिया के उत्तर एवं उत्तरपूर्व के प्रान्त तथा आधुनिक साईबेरिया, **अली** के अनुसार ईस्ट इण्डीज़ शाकद्वीप है। इस प्रकार अधिकांश व्यक्ति उत्तरीय यूरोप में शाकद्वीप की स्थिति मानते हैं।

शाल्मलिद्वीप—**विल्फर्ड** के अनुसार अकसिन से लेकर बाल्टिक तथा अड्रीयाटिक समुद्र तक विस्तीर्ण प्रदेश, **जैरिनि** के अनुसार मलाया और पैननशिला, **अय्यर** के अनुसार सरमाटिया, **कृष्णमाचार्लु** एवं **अली** के अनुसार अफ्रीका महादेश के पूर्व में स्थित सोमाली प्रदेश शाल्मलिद्वीप है। इस प्रकार अधिकांश विद्वान् एशिया में शाल्मलिद्वीप मानते हैं।

जम्बूद्वीप के पर्वत

एस० एम० अली[१] तथा **डॉ० बेचन दूबे**[२] जम्बूद्वीप के पर्वतों का समीकरण निम्नाङ्कित प्रकार से करते हैं—

१ On these premises, one can safely come to conclusion that the Meru of the Purāṇas can be identified with the Great Pāmir knot of Asia. If we accept the identification of Meru with the Pamir Plateau, the location of the principal mountain ranges of jambū dvīpa as given in the Purāṇas can be investigated.........

A comparison of this diagram with the accompanying physical map of Central Asia will show that:—Śringavān represents Kara-tau-Kirghiz-Ketamān chain, Sweta represents Nura-Tau-Turkistan-Atbashi chain, Nīla represents Zarafshan-Trans-Alai-Tien Shan chain, Hemakūṭa represents Laddakha—Kailash-Trans-Himalayan chain. Himavān represents the Great Himalayan range.—The Geography of the Purāṇas, pp. 52, 53.

२ As stated earlier, the Jambūdvīpa (the Eurasian landmass) is surrounded

निषधपर्वत—अली के अनुसार हिन्दूकुश-कुन्लुन तथा डॉ० दूबे के अनुसार काराकोरम एवं हिन्दूकुश निषधपर्वत है।

नीलपर्वत—अली के अनुसार जरफशान-ट्रांस-अलाई-ती-एनशान तथा डॉ० दूबे के अनुसार मध्यपश्चिम एशिया में स्थित अलाईताग नीलपर्वत है।

शृङ्गवान् पर्वत—अली के अनुसार कारातउ-किरघिज-केतुमान पर्वतमाला और डॉ० दूबे के अनुसार रूस के दक्षिण में स्थित सायन पर्वत शृङ्गवान् है।

श्वेत पर्वत—अली के अनुसार नूरा-तउ-तुर्किस्तान-अतबाशी तथा डॉ० दूबे के अनुसार मध्य एशिया का ती-एन-शान श्वेत पर्वत है।

सुमेरु पर्वत—अली एवं डॉ० दूबे दोनों के अनुसार पामीर का पठार सुमेरु पर्वत है।

हिमवान् पर्वत—अली एवं डॉ० दूबे दोनों हिमालय को हिमवान् पर्वत स्वीकार करते हैं।

---

by the salt-ocean and lies in the heart of the concentric sequence of the dvīpas. This insular dvīpa is further divided into smaller areas (Khandākār) called Varṣas (realms), the dwelling seat of the riṣis. Ilāvrita (Pamir region) is central Varṣa (realm) around the Meru, west of which is the Ketumāla varṣa and in the east lies the Bhadrāśva varṣa. Bhāratavarṣa, Kimpuruṣa (Tibetan plateau region) where rainfall is scanty and the Harivarṣa (Heart) lie in the south of the Ilāvrita varṣa. The subcontinental ranges वर्षपर्वता: of these realms are named as the Himavān, the Hemakūṭa (Kuenlun) and the Niṣadha (Hindukuś) respectively. ......as the Nīla (Alaitag), the Sveta and the Śriñgavān (Probably Tarbagatai and Sayan rangs) respectively. Bhāratavarṣa and Uttarakuru are bow-shaped with their varṣaparvatas extending up to the western and the eastern oceans.

The Varṣas correspond to the climatic realms as is evident from the descriptions in the Purāṇas. The Jambūdvīpa consists of 7 major realms. From the Pāmirs to the sea an almost uninterrupted suit of mountain-system marks the eastern limit of Eurasia; from the Pāmirs to the 'back bones' (Yome) of Burmā, the Himālayan ranges mark the northern limit of India (then known as Bhāratavarṣa). Tibetan Plateau and the Heart region are rimmed by mountains. They could be treated as separate entities worthy to be considered as a Varṣa (realm). To the east of these barriers, as far as the east coast of Asia, the continental for east has become a separate climatic entity called Bhadrāṣvavarṣa now generally occupied by the Chinese Empire. Ketumāla, the western Asian desert area, is itself separated by a long chain of mountains.

—Geographical Concepts in Ancient India, pp. 81-84.

हेमकूट पर्वत—अली के अनुसार लद्दाख कैलाश-ट्रांस-हिमालय तथा **डॉ० दूबे** के अनुसार चीन और तिब्बत में आने वाला कुन्लुन हेमकूट पर्वत है।

जम्बूद्वीप के वर्ष

डॉ० बेचन दूबे के अनुसार '**वृष् वर्षणे**' धातु से निष्पन्न 'वर्ष'—शब्द वर्षा (जलवायु) अर्थ का वाचक है।[१] आधुनिक प्रदेशों के साथ जम्बूद्वीप के वर्षों के समीकरण में इन्होंने तत्तत् प्रदेशों की जलवायु को आधार बनाया है। **डॉ० बेचन दूबे** का विचार हैं—

इलावृत वर्ष—पश्चिमी एशिया इलावृत वर्ष है।

उत्तरकुरु वर्ष—साइबेरिया उत्तरकुरु वर्ष है।

केतुमाल वर्ष—ईरान केतुमाल वर्ष है।

भद्राश्व वर्ष—मंगोलिया (गोबी का मरुस्थल) भद्राश्व वर्ष है।

रम्यक वर्ष—मध्य एशिया रम्यक वर्ष है।

हिरण्मय वर्ष—जंगारियन का निम्न प्रदेश हिरण्मय वर्ष है।

भुवन-विज्ञान पातञ्जल-योगशास्त्र का महनीय विषय है।

---

१ The word Varṣa is derived from the root vṛṣ and means 'rain', thus Varṣas are trans lated better as climate realm—Geographical Concepts in Ancient India—pp. 82 **की द्वितीय टिप्पणी।**

द्वितीय पटल-संसार

अध्याय ७—चित्त-वृत्तियाँ
अध्याय ८—कर्मवाद
अध्याय ९—क्लेश-मीमांसा
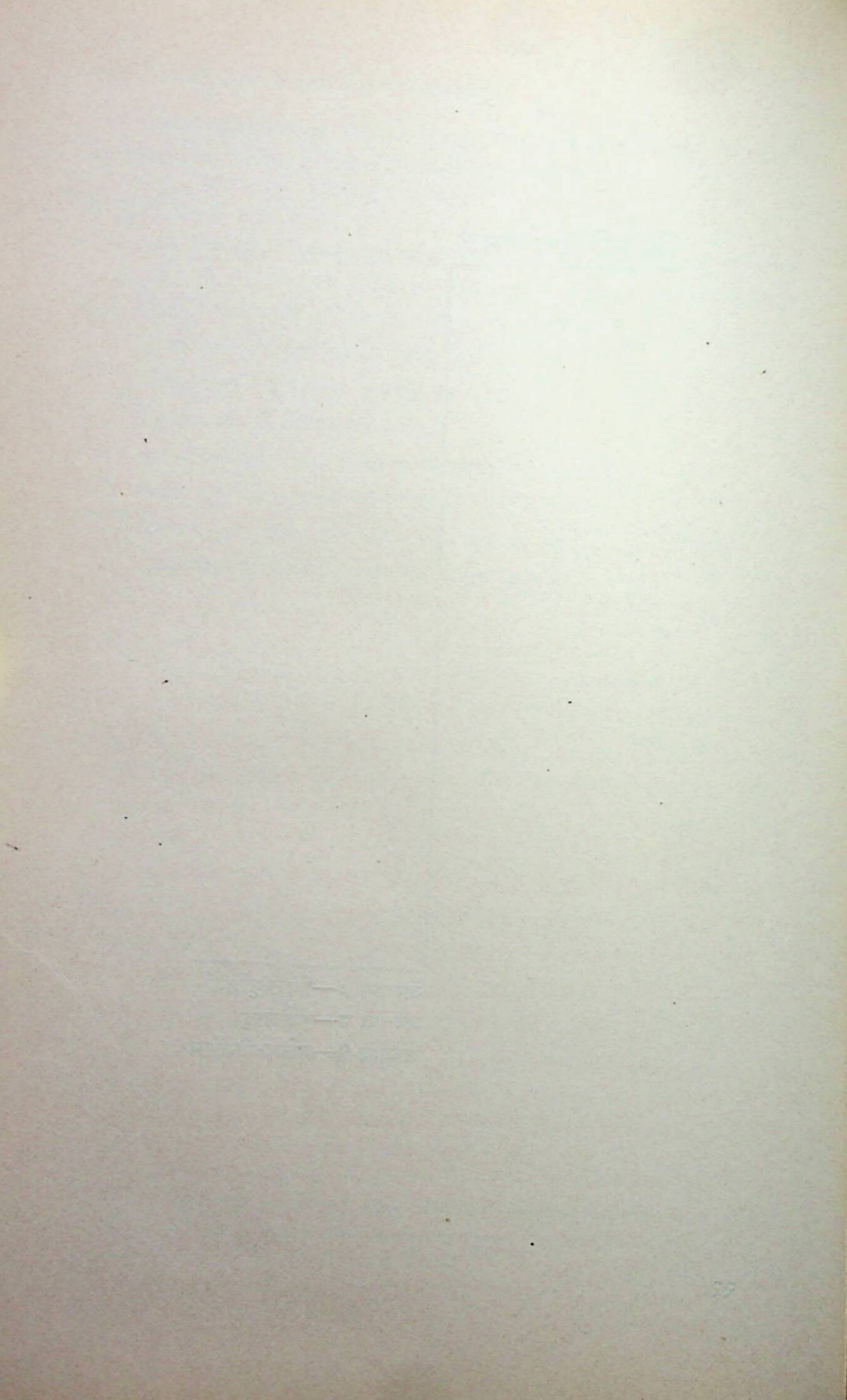
अध्याय—७

चित्त-वृत्तियाँ

चित्त की भूमियाँ
चित्त की वृत्तियाँ
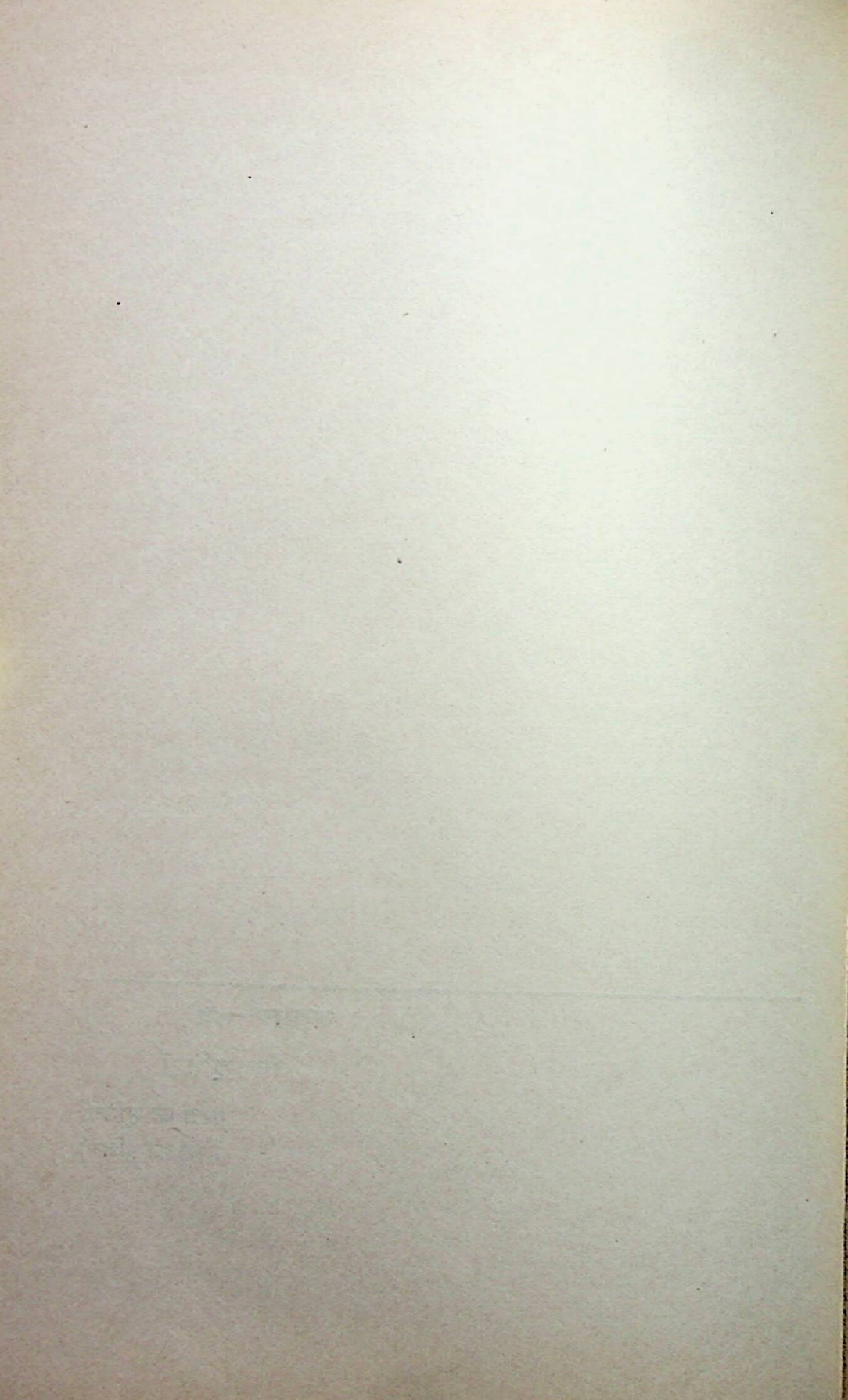
अध्याय—७

चित्रपट्ट सं० १
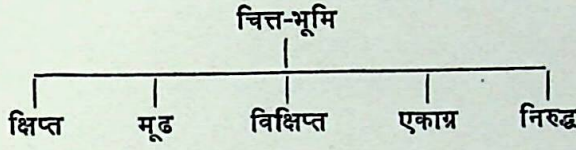
चित्रपट्ट सं० २
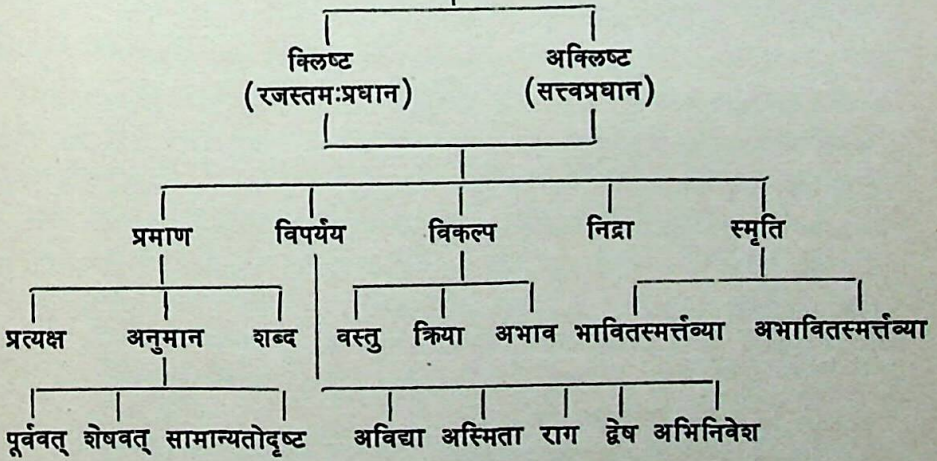
अध्याय—७

चित्तवृत्तियाँ

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'—पंक्ति से स्पष्ट है कि मनस् (चित्त) ही मनुष्यों के बन्ध एवं मोक्ष का कारण है। जिन मनुष्यों का चित्त सांसारिक भोग-विलास में मग्न रहता है, उन मनुष्यों को अपने द्वारा किए कर्मों का उपभोग करने के लिए बारम्बार जन्म धारण करना पड़ता है उनके चित्त में नाना प्रकार की वृत्तियाँ आविर्भूत होती रहती हैं। चित्त की वृत्तियों के अनिरुद्ध रहने से ऐसे व्यक्तियों को मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। पातञ्जलयोग के वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु आदि व्याख्याकारों ने संसार के कारणभूत अविद्याग्रस्त चित्त का स्वरूप बतलाते हुए उसकी भूमियों एवं वृत्तियों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है।

चित्त की भूमियाँ

प्रकृति का प्रथम कार्य चित्त (बुद्धि) सत्त्वगुणप्रधान है। कोई भी गुण अकेला नहीं रह सकता और न ही कोई पदार्थ त्रिगुणरहित होता है। अतः चित्त त्रिगुणात्मक है। गुणों की विषमता के कारण त्रिगुणात्मक[1] चित्त में विभिन्न प्रकार का परिणाम[2] देखा जाता है। चित्त की पाँच प्रकार की अवस्थाएँ मानी गयी हैं। ये अवस्थाएँ चित्त के वृत्तिरूप धर्मों से भिन्न धर्मिरूप हैं। चित्त पाँच स्तरों पर काम करता है—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध।[3]

क्षिप्त—यह चित्त की रजोगुणप्रधान अवस्था है। इस समय सत्त्वगुण एवं तमोगुण अभिभूत रहते हैं। चित्त एक जगह नहीं टिकता है। वह शब्दादि बाह्य विषयों में निरन्तर भटकता रहता है।[4] क्षिप्त-चित्त का मनुष्य अच्छे-बुरे कर्मों का परिणाम नहीं सोच पाता है। जिस समय रजोगुणप्रधान चित्त का सत्त्वगुण तमोगुण को अभिभूत कर देता है, उस समय चित्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य में प्रवृत्त होता है; और जब तमोगुण सत्त्वगुण को दबा लेता है तब चित्त अधर्मादि की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार भौतिक विषयों में निरन्तर भ्रमण करने वाले चित्त की उक्त अवस्था क्षिप्त कहलाती है। दैत्य-दानव[5] आदियों का चित्त प्रायः क्षिप्त अवस्था का होता है।

---

[1] चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात्त्रिगुणम्—यो० प्र० पृ० ३।

[2] एकमपि चित्तं त्रिगुणनिर्मित्ततया गुणानां च वैचित्र्येण परस्परविमर्दवैचित्र्याद्विचित्रपरिणामं सत् पञ्चावस्थमुपपद्यते—यो० प्र० पृ० ३।

[3] क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमपि पञ्च चित्तस्यावस्थाः—ना०बृ०वृ० पृ० २२०।

[4] तत्र सदैव रजसा तेषु तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमत्यन्तमस्थिरं क्षिप्तम्—यो० प्र० पृ० ३।

[5] तच्च दैत्यदानवादीनाम्······—यो० प्र० पृ० ३।

मूढ़—मूढ़ अवस्था वह है जिसमें तमोगुण की प्रबलता रहती है।[१] चित्त की इस अवस्था में आलस्य, दीनता, भ्रम, निद्रा, मोह, भय एवं वैषयिक ज्ञान अस्पष्टरूप से होता है। मनुष्य की बुद्धि किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती है। विचारशून्य चित्त इस काल में सूक्ष्म पदार्थों का चिन्तन करने में समर्थ नहीं रहता है। वह काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के वशीभूत होकर अनुचित कार्यों में संलग्न रहता है। चित्त की यह अवस्था राक्षस, पिशाच आदियों में अधिक उपलब्ध होती है। साधारणजन भी कभी-कभी अत्यन्त मूढ़ अवस्था वाले हो जाया करते हैं।

विक्षिप्त—विक्षिप्त अवस्था में रजोगुणप्रधान चित्त कभी-कभी सत्त्वगुण का उद्रेक होने पर किसी एक विषय में कुछ देर तक केन्द्रीभूत हो जाता है। किन्तु इस अवस्था में वह स्वभावतः चंचल प्रकृति का ही होता है।[२] धार्मिक कार्य में संलग्न चित्त विषय-वासना के झोंके से पुनः अमानवीय कार्य करने लगता है। चित्त की विक्षिप्त अवस्था प्रथम दो अवस्थाओं की भाँति योगोपयोगी नहीं है। क्योंकि सत्त्वगुण की अधिकता के कारण एकाग्र हुआ भी यह चित्त रजोगुण की मात्रा से बीच-बीच में विषयान्तर वृत्ति वाला हो जाया करता है। चित्त की यह अवस्था देवताओं ब्रह्मजिज्ञासुओं एवं विवेकी पुरुषों की कही गई है।[३]

एकाग्र—एकाग्रता का अर्थ है—चित्त का किसी एक बिन्दु पर केन्द्रीभूत होना।[४] एकाग्र चित्त में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है;[५] रजस् और तमस् न्यून मात्रा में रहते हैं। चित्त समस्त विषयों से अपने को हटाकर केवल ध्येय का चिन्तन करता है।[६] उदाहरणस्वरूप वायु-शून्य प्रदेश में रखा दीपक स्थिर रहता है। चित्त की एकाग्र अवस्था से योग-साधना का प्रारम्भ होती है। एकाग्रता की परिपक्व अवस्था में धर्ममेघसमाधि सिद्ध होती है। यह सम्प्रज्ञातयोग का चरम परिणाम है। इस प्रकार चित्त की एकाग्रता अवस्था (भूमि) में होने वाला यथार्थ तत्त्वज्ञान प्रारब्धकर्मफलभोग के क्षयपूर्वक कैवल्य का हेतु बनता है।[७] क्षिप्तादि तीन भूमियाँ योगमार्ग में प्रवृत्त साधक के समक्ष अनेक प्रकार की बाधाएँ उपस्थित करती हैं।

---

[१] तमःसमुद्रेकान्निद्रादिवृत्तिमन्मूढम्—यो० प्र० पृ० ३।

[२] विक्षिप्तं क्षिप्ताद्विशिष्टं विशेषोऽस्थैर्यबहुलस्य कादाचित्कं स्थैर्यम् अस्थैर्यं च स्वाभाविकम्—यो० प्र० पृ० ३।

[३] तच्च देवानां ब्रह्मजिज्ञासूनां विवेकिनां च पुरुषाणां चित्तम्—यो० प्र० पृ० ३।

[४] एकाग्रमेकतानम्—यो० प्र० पृ० ३।

[५] एकाग्रं तु रजसोऽप्यभावेन शुद्धसत्त्वोद्रेकात्—यो० सि० चं० पृ० ५।

[६] एकाग्रत्वं ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः—ना० ल० वृ० पृ० २।

[७] (क) यत्र वर्तमानः समाधिः परमार्थभूतं वस्तु साक्षात्कारयति—ना० बृ० वृ० पृ० २२१।

(ख) अस्य च ध्येयवस्तुपुरुषतत्त्वसाक्षात्कारद्वारा क्लेशाद्युच्छेदकत्वेन मोक्षहेतुता—ना० ल० वृ० पृ० २।

निरुद्ध—चित्त का अन्तिम एवं सर्वोत्कृष्ट स्तर (अवस्था) निरुद्ध है। चित्त की यह अत्यन्त विलक्षण अवस्था है। प्रथम चार अवस्थाओं में चित्त का ज्ञानात्मक (वृत्त्यात्मक) परिणाम चलता है, किन्तु यह ज्ञानशून्य अवस्था है। इस समय चित्त केवल संस्काररूप में रहता है।[१] चित्त की निरुद्ध-अवस्था चित्त की समस्त वृत्तियों के निरुद्ध होने पर होती है। चित्त की एकाग्रता अवस्था में बोया हुआ सम्प्रज्ञातयोग का बीज निरुद्ध-भूमि में असम्प्रज्ञातयोग के रूप में पल्लवित एवं पुष्पित होता है। इससे साधक मोक्ष[२] का रसास्वाद करने में समर्थ होता है।

चित्त की पाँच भूमियों में से अन्तिम दो भूमियाँ ही योग-साधना के लिए उपयुक्त हैं। ऐसा अन्यत्र भी कहा है।[३]

चित्त की वृत्तियाँ—सांख्ययोगशास्त्र में जिस प्रकार प्रकृति का सृष्ट्यात्मक-परिणाम स्वीकृत है, उसी प्रकार चित्त का वृत्त्यात्मक-परिणाम। वृत्तियाँ चित्त के ज्ञान की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। अर्थात् वृत्तियाँ चित्त का ज्ञानात्मक परिणाम हैं। प्रमा तथा अप्रमा भेद से ज्ञान दो प्रकार का है और वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं[४]—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति। यद्यपि विषय-सापेक्ष चित्तवृत्तियाँ विषयों के आनन्त्य से असंख्य प्रकार की हैं तथापि योगसूत्र के निर्माता पतञ्जलि ने उपर्युक्त पाँच वृत्तियों में ही अन्य सभी वृत्तियों का अन्तर्भाव किया है।[५]

वृत्तियों की जातियाँ—ज्ञानात्मक वृत्तियों की दो जातियाँ हैं—क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट[६]। चित्त के रजोगुण एवं तमोगुणबहुल होने पर क्लिष्टात्मक प्रमाण आदि वृत्तियों का उदय (परिणाम) होता है और चित्त की सात्त्विक दशा में अक्लिष्टात्मक प्रमाणादि वृत्तियों का उदय होता है। क्लिष्ट वृत्तियों के समय चित्त चंचल एवं व्यथित रहता है और अक्लिष्ट वृत्तियों के काल में शान्त स्वभाव चित्त सुख का अनुभव करता है। क्लेशमूलक प्रमाणादि क्लिष्ट-वृत्तियाँ कर्माशय को पुष्ट करती हैं। दूसरी तरफ प्रकृति तथा पुरुष के भेदज्ञान को उत्पन्न करने वाली अक्लिष्ट वृत्तियाँ गुणाधिकार की विरोधिनी होने से कर्माशय को शिथिल करती हैं। इसलिए व्यासदेव, वाचस्पति आदि ने अक्लिष्ट-वृत्तियों के द्वारा दुःखदायिनी क्लिष्ट-वृत्तियों के निरोध के लिए कहा है। इन्होंने मुमुक्षुओं के लिए गुणात्मक अक्लिष्ट-वृत्तियों का भी निरोध अपेक्षणीय बतलाया है। अतः योगमार्ग का साधक सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप

---

१ निरुद्धं निरुद्धसकलवृत्तिसंस्कारमात्रशेषम्। अत्र सर्ववृत्तिनिरोधेऽसंप्रज्ञातः—ना० ल० वृ० पृ० २।

२ अस्य चाखिलवृत्तिसंस्कारदाहद्वारा प्रारब्धस्याप्यतिक्रमेण मोक्षहेतुता—ना० ल० वृ० पृ० २।

३ एकाग्रता चेद् ग्राह्यादौ निरोधश्चेच्चिदात्मनि।
क्षिप्तादित्रिभुवस्त्यागात्कस्य मोक्षोऽत्र दूरतः॥ —ना० ल० वृ० पृ० ३।

४ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः—यो० सू० १।६।

५ सर्वेषामेव······वृत्तयः पञ्चतय्य एव, नाधिका—त० वै० पृ० २४।

६ वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः—यो० सू० १।५।

सर्वोत्तम अक्लिष्टवृत्ति का भी परवैराग्य के द्वारा निरोध करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसके भी निरुद्ध होने पर सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञातसमाधि प्राप्त होती है। असम्प्रज्ञातसमाधि के विजित काल में साधक की जीवन्मुक्त अवस्था रहती है और देहपात के पश्चात् वह विदेहमुक्ति पाता है। इस प्रकार सांख्ययोगशास्त्र में क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट दोनों प्रकार की वृत्तियों के निरोध का उपदेश दिया गया है।

प्रमाणवृत्ति—प्रमाणवृत्ति विपर्यय आदि चार वृत्तियों की आधारशिला होने से सर्वश्रेष्ठ है। **'प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम्'**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा प्रमात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसे प्रमाण कहते हैं। तज्जन्य ज्ञान प्रमा कहलाता है। पातञ्जल-योगशास्त्र में प्रमाणों की संख्या तीन निर्धारित की गई है[१]—प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमानप्रमाण तथा शब्दप्रमाण। तीन प्रकार के प्रमाणों से तीन प्रकार की प्रमाएँ—प्रत्यक्षप्रमा, अनुमितिप्रमा, शाब्दप्रमा—यथाक्रम उत्पन्न होती हैं। प्रमाणवृत्ति को छोड़कर विपर्यय आदि किसी भी वृत्ति से प्रमा उत्पन्न नहीं होती है। क्योंकि विपर्यय आदि वृत्तियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में अनधिगत एवं अबाधित अर्थविषयता नहीं रहती है। यदि विपर्यय आदि वृत्तिजन्य ज्ञानों को प्रमा माना जाए तो इनके साधनों को भी प्रमाण कहना पड़ेगा। लेकिन विपर्यय आदि प्रमाणरूप से स्वीकृत नहीं हैं। अतः प्रत्यक्षादि तीन प्रमाणों से ही प्रमा-ज्ञान हो सकता है। सांख्ययोगशास्त्र में प्रमा पुरुषनिष्ठ होने से 'पौरुषेयबोध' नाम से प्रसिद्ध है।

ज्ञानोत्पत्ति के लिए पातञ्जल-योग में अन्य शास्त्रों में प्रचलित विधि से पूर्णतया भिन्न प्रकार अपनाया गया है। पातञ्जल-योगदर्शन की मान्यता के अनुसार इन्द्रियज्ञान, लिङ्गज्ञान एवं पदज्ञान द्वारा परिणमित बुद्धिवृत्तिप्रमाण से पौरुषेयबोध उत्पन्न होता है।

प्रत्यक्षप्रमाण-वृत्ति—विषयाकाराकारित-चित्तवृत्ति (प्रत्यक्ष आदि) पौरुषेयबोध के प्रति कारण है। पातञ्जल-योग के सभी व्याख्याकारों ने चित्त का विषयाकारपरिणाम एक ही पद्धति से सिद्ध किया है। **व्यासदेव** आदि का कहना है[२]—बाँध आदि द्वारा रोका हुआ नदी का जल कृषक द्वारा बनाए गए मार्ग से खेत में प्रविष्ट होकर क्यारियों का आकार धारण करता है। इसी प्रकार सत्त्वगुण-प्रधान तेजोद्रव्य चित्त (जल की तरह) इन्द्रियरूप छिद्र के द्वारा बाहर निकलकर विषय (जहाँ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष सम्भव हो)

---

[१] प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि—यो० सू० १।७।

[२] (क) इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया —व्या० भा० पृ० २७-२८।

(ख) तु०—त० वै० पृ० २७।

(ग) इन्द्रियाण्येव नाडी चित्तसंचरणमार्गः तैः संयुज्य तद्गोलकद्वारा बाह्यवस्तुपूपरक्तस्य चित्तस्येन्द्रिसाहित्येनैवार्थाकारः परिणामो भवति—यो० वा० पृ० २८।

(घ) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २२६-२२७।

देश में जाता है और उसके आकार का हो जाता है। विषय के आकार में होने वाले चित्त के उस परिणाम को चित्त की वृत्ति कहते हैं। यही प्रत्यक्षप्रमाण है।

पौरुषेय-बोध की प्रणाली के सम्बन्ध में मतभेद—विषयाकाराकारित-चित्तवृत्ति से होने वाले पौरुषेय-बोध की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पातञ्जल-योग के व्याख्याकारों में दो प्रकार की प्रक्रिया प्रचलित हैं—विम्बप्रतिविम्बवाद, परस्परबिम्बप्रतिबिम्बवाद। प्रथमवाद के प्रवर्तक आचार्य वाचस्पति मिश्र हैं तथा उनके मतानुयायी रामानन्दयति,[1] नारायणतीर्थ,[2] सदाशिवेन्द्रसरस्वती[3] एवं बलदेव मिश्र[4] आदि हैं। द्वितीय वाद विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रवर्तित हुआ। तथा उनके परवर्ती आचार्य भावागणेश एवं नागेश भट्ट आदि ने भी उसे स्वीकार किया है।

प्रथम मत—बिम्बप्रतिबिम्बवाद[5]—जल में पड़ते हुए चन्द्र के प्रतिविम्ब में ही सलिल के चलत्व, मलिनत्व आदि धर्म आरोपित (प्रतिफलित) होते हैं। गगनवर्ती विम्बभूत चन्द्र में जल-धर्म प्रतिविम्बित नहीं होता है। बिम्बभूत चन्द्र में जल के धर्मों का प्रतिफलन सम्भव भी नहीं है। लेकिन जल में प्रतिविम्बित चन्द्र-सुषमा का अवलोकन करने वाले दर्शकों को 'चन्द्र कम्पित हो रहा है', 'चन्द्र कितना मलिन दिखलाई पड़ रहा है'—इस प्रकार का भ्रम होता है। इसी प्रकार प्रकृति के सत्त्वांश से समुत्पन्न

---

[1] प्रमा चाज्ञातार्थावगाही पौरुषेयो बोधो वृत्तौ प्रतिबिम्बः। तत्रार्थाकारायां वृत्तौ चिदात्मनो यः प्रतिबिम्बः सोऽपि वृत्तिद्वारा अर्थाकारः सन् फलं भवति—म० प्र० पृ० ५।

[2] घटादिवच्च चितेर्बुद्धौ न प्रतिसंक्रमः, अपरिणामित्वात्। किन्तु सूर्यस्य जले प्रतिबिम्बवच्चित्ते बुद्धौ प्रतिबिम्बिते सति बुद्धौ चिदाकारतापत्तौ स्वस्य भोग्याया बुद्धेः संवेदनं भवति। चिच्छायाबाह्यत्वसम्बन्धेन चिदुपरक्तत्वं चित्ते चिद्वेद्यत्वम्—सू० बो० पृ० ५८।

[3] तदाकारवृत्तौ चितिशक्तेः प्रतिबिम्बः प्रत्यक्षप्रमा—यो० सु० पृ० ५।

[4] एवं च प्राप्ते चैतन्यप्रतिबिम्बाया बुद्धिवृत्तेस्तत्प्रतिबिम्बाधारमात्रेण तदविलक्षणा-ज्ञानवृत्तिराख्यायते—यो० प्र० पृ० ९१।

[5] (क) शान्तघोरमूढरूपाया बुद्धेश्चैतन्यबिम्बोद्ग्राहेण चैतन्यस्य शान्ताद्याकारा-ध्यारोपः, चन्द्रमस इव स्वच्छसलिलप्रतिबिम्बितस्य तत्कम्पनात् कम्पनारोपः—त० वै० पृ० ३५१।

(ख) चितेः स्वबुद्धिसंवेदनं बुद्धेस्तदाकारापत्तौ=चितिप्रतिबिम्बाधारतया तद्रूपतापत्तौ सत्याम्, यथा हि चन्द्रमसः क्रियामन्तरेणापि संक्रान्तचन्द्र-प्रतिबिम्बममलं जलमचलं चलमिव चन्द्रमसमवभासयत्येवं विनाऽपि चितिव्यापारमुपसंक्रान्तचितिप्रतिबिम्बं चित्तं स्वगतया क्रियया क्रियावती-मसङ्गतामपि सङ्गतां चितिशक्तिमवभासयद् भोग्यभावमासादयद् भोक्तृभावमापादयति—त० वै० पृ० ४३४-४३५।

(ग) तु०—यो० प्र० पृ० ९१।

प्रतिविम्वग्राहक चित्त में चैतन्य (पुरुष) प्रतिविम्बित होता है। इससे चित्तगत सुख, दुःख आदि धर्म अथवा इन्द्रियप्रणालिका के द्वारा विषयाकाराकारित चित्त के घट, पट आदि विषयों का आकार प्रतिविम्व-पुरुष में प्रतिफलित होता है, विम्व-पुरुष में नहीं तथा प्रतिविम्व- पुरुष में प्रतिफलित बुद्धि-प्रतिविम्व में पुरुष के चैतन्य आदि धर्म प्रतिभासित होते हैं। इस प्रकार चित्त और पुरुष में अभेदाध्यास होने से चित्त अपने को चैतन्यवान् समझता है तथा पुरुष अपने को सुख, दुःख, घट, पट आदि का भोक्ता एवं द्रष्टा (ज्ञाता) समझता है। इस पक्ष के अनुसार विषयाकाराकारित चित्तवृत्तिरूप प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा उत्पन्न होने वाले पौरुषेयबोधरूप प्रमाज्ञान के लिए पुरुष में चित का प्रतिविम्ब मानना निरर्थक एवं निर्युक्तिक है। क्योंकि पुरुष में चित्त का प्रतिविम्ब न मानने पर भी प्रमा-व्यवहार (पौरुषेयबोध) उक्त प्रकार से उपपन्न हो सकता है।

द्वितीय मत—परस्परबिम्बप्रतिबिम्बवाद[1]—परस्परविम्वप्रतिविम्ववाद के समर्थक **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश** आदि वृत्ति एवं पुरुष के अन्योन्यविषयतारूप सम्बन्ध के द्वारा एक दूसरे में प्रतिविम्ब की कल्पना करते हैं। **विज्ञानभिक्षु** का कहना है—जिस प्रकार विषयाकाराकारित चित्त में (संस्कारशेष बुद्धि में नहीं) पुरुष प्रतिविम्बित होता है, उसी प्रकार पुरुष में सुख, दुःख आदि विषयिणी चित्तवृत्ति प्रतिविम्बित होती है। इसी कारण पुरुष सुख, दुःख आदि वृत्ति वाला कहा जाता है। पुरुष की यह विषयाकारता अभिमानरूप (प्रतिविम्वरूप अभ्यवहरणरूप) है; बुद्धि की विषयाकारता परिणामरूप है।[2] पुरुष की अभिमानात्मक अर्थाकारता अर्थग्रहण या वोधरूप है; स्फटिक में प्रतिफलित जपाकुसुम की भाँति उपरक्तरूप नहीं। इस वाद के समर्थकों ने परस्परविम्वप्रतिविम्ववाद की उपादेयता एवं प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं :—

(१) पूर्वपक्षियों का आक्षेप है—पुरुष को घट, पट आदि विषयों का ज्ञान होता है—ऐसा जो कहा जाता है वह चित्तवृत्ति के साथ चेतन का संयोग होने से ही हो सकता है। सूर्य-किरण के साथ घटादि का संयोगसम्वन्ध होते ही घट प्रकाशित होने लगता है। अतः चैतन्य में विषयाकाराकारित चित्त के प्रतिबिम्ब तथा चित्तवृत्ति में चैतन्य के प्रतिविम्ब की कल्पना व्यर्थ है। जिस प्रकार दूरस्थ दो वनस्पतियों में समता रहने के कारण ऐक्यभ्रम हो जाता है उसी प्रकार मैं सुखी हूँ, मैं जानता हूँ—इत्यादि अनुभवों में चित्त

---

[1] (क) व्युत्थाने हि बिम्बप्रतिबिम्बरूपयोर्बुद्धिपुरुषवृत्त्योः सारूप्यम्—यो० वा० पृ० २०।

(ख) निवेदनं च स्ववृत्त्यारूढविषयस्य प्रतिबिम्बरूपेण चितावाधानम्—ना० ल० वृ० पृ० ४।

(ग) वृत्तिद्वारैव हि तदारूढोऽर्थचितौ प्रतिबिम्बते—भा० ग० वृ० पृ० ६।

[2] (क) सा चार्थाकारता बुद्धौ परिणामरूपा····पुरुषे च प्रतिबिम्बरूपा—यो० वा० पृ० २२।

(ख) पुरुषे तु सा परिणामरूपा न संभवतीति प्रतिबिम्बरूपैव—ना० ल० वृ० पृ० ५।

तथा पुरुष की एकता की प्रतीति होती है। यह एक दूसरे में प्रतिबिम्ब माने बिना उपपन्न हो सकती है। अतः परस्परबिम्बप्रतिबिम्बवाद की कल्पना अप्रामाणिक है।[१]

आचार्य विज्ञानभिक्षु एवं नागेश भट्ट ने लौकिक अनुभव के आधार पर उपर्युक्त आक्षेप का खण्डन किया है। उनका कहना है कि—चेतन पुरुष में चित्त का प्रतिबिम्ब मानना अपरिहार्य है। अन्यथा समस्त पदार्थों के साथ विभु पुरुष का सर्वदा संयोगसम्बन्ध बना रहने से उसे सभी वस्तुएँ सर्वदा ज्ञात रहेंगी। इससे वह सर्वज्ञ कहा जाने लगेगा। यह अनुभव विरुद्ध है।[२] दूसरा हेतु यह है कि पुरुष के सर्वज्ञ होने से उसे योग-साधना के लिए उपदेश करना भी व्यर्थ हो जायगा। अतः पुरुष के कादाचित्क अर्थ-बोध के लिए परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त उचित है। पौरुषेयबोध की साधनभूत भिन्न-भिन्न विषयाकाराकारित-चित्तवृत्तियाँ सर्वदा सर्वपदार्थविषयिणी नहीं होती हैं। अतः जब विषयाकाराकारित चित्त पुरुष में प्रतिबिम्बित होगा, तभी पुरुष को घटादि का ज्ञान हो सकेगा। इससे पुरुष की सर्वज्ञता भी नहीं कही जा सकेगी।

कहा जा सकता है कि पुरुष में ज्ञान का प्रतिबन्धक अज्ञान रहने से उसे सर्वदा सभी वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो पाता है। अतः पुरुष सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता। ऐसा कहना ठीक नहीं है।[३] पुरुष नित्यज्ञानस्वरूप है उसमें अज्ञान असम्भव है। दूसरा हेतु यह है कि 'दुःख, अज्ञान आदि चित्त के धर्म हैं; पुरुष के धर्म नहीं'[४]—इत्यादि श्रुति-वाक्यों द्वारा भी आत्मा में अज्ञान का प्रतिषेध किया गया है। अतः पुरुष को कभी-कभी होने वाले पदार्थज्ञान की उपपत्ति के लिए पुरुष का अर्थाकार होना आवश्यक है।[५]

---

१ (क) …अतः किमर्थं चैतन्ये वृत्तिप्रतिबिम्बं वृत्तौ वा वक्ष्यमाणचैतन्यप्रतिबिम्बं कल्प्यते… यो० वा० पृ० २१।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २२४।

२ (क) चेतने तावद् बुद्धिप्रतिबिम्बमवश्यं स्वीकार्यम्, अन्यथा कूटस्थनित्यविभुचैतन्यस्य सर्वसम्बन्धात्सदैव सर्वं वस्तु सर्वैर्ज्ञायेत—यो० वा० पृ० २२।

(ख) विभोश्चैतन्यस्य सूर्यसंबन्धात्सर्वदा सर्ववस्तुभानवारणाय चेतने बुद्धिवृत्तितद्विषयमात्रग्राहकत्वाय च प्रतिबिम्बस्वीकारात्—ना० बृ० वृ० पृ० २२४।

३ (क) न चाज्ञानाख्यं ज्ञानप्रतिबन्धकं चैतन्ये कल्पनीयम्, नित्यज्ञानस्य प्रतिबन्धासंभवात्—यो० वा० पृ० २२।

(ख) न चाज्ञानं ज्ञानप्रतिबन्धकं चैतन्ये कल्पनीयम्—ना० बृ० वृ० पृ० २२४।

४ दुःखाज्ञानमया धर्माः प्रकृतेस्ते तु नात्मनः—वि० पु० ६।७।२२।

५ (क) अतोऽर्थभानस्य कादाचित्कत्वाद्युपपत्तयेऽर्थाकारतैवार्थग्रहणं वाच्यम्—यो० वा० पृ० २२।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २२४।

(२) स्मृतिकारों ने भी पुरुष में चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया है। स्मृतियों का कहना है[1]—'जिस प्रकार तालाब में तट के निकटवर्ती वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं उसी प्रकार अतिस्वच्छ चिद्रूप दर्पण में सभी दृश्य पदार्थ प्रतिफलित होते हैं। जिस प्रकार रक्त जपाकुसुम के समीप पड़ा हुआ स्वच्छ स्फटिक मनुष्यों को लाल दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार अपने में प्रतिबिम्बित चित्तवृत्ति के सन्निधान से पुरुष वृत्तिमान् प्रतीत होता है।'

(३) बुद्धि के साथ पुरुष का अनादि स्वस्वामिभावसम्बन्ध भी चित्त और पुरुष के परस्पर प्रतिबिम्ब का नियामक है।[2]

(४) मनुष्यों को होने वाली 'मैं कर्त्ता हूँ', 'मैं सुखी हूँ', 'मैं जानता हूँ'—इत्याकारक एकता की भ्रमात्मक प्रतीति (ज्ञान) का आधार भी चित्त और पुरुष का प्रातिबिम्बिक अन्योन्यविषयतारूप सम्बन्ध है।[3]

(५) सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने भी 'तस्मात् तत्संयोगात्...'—इस कारिका द्वारा योगसम्मत परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बवाद का समर्थन किया है।[4]

(६) 'पौरुषेय-बोध'[5] शब्द के यथाश्रुत अर्थ की उपपत्ति के लिए भी पुरुष में बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब मानना अनिवार्य है। प्रतिबिम्बित-पुरुष में चित्तवृत्ति का प्रतिफलन मानने से बिम्बभूत पुरुष को अर्थबोध का आधार कहना सम्भव नहीं होगा और पुरुष को अर्थबोध नहीं हो सकेगा। क्योंकि प्रतिबिम्ब मिथ्या होता है तथा प्रतिबिम्ब की प्रकाश आदि अर्थक्रियाकारिता नहीं देखी गई है। अतः बिम्बभूत चैतन्य पुरुष में चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब मानना आवश्यक है।

(७) उपाधि से उपहित चितिशक्ति में फल (प्रमा) मानने पर ही प्रमाता के रूप से पुरुष की सिद्धि हो सकती है।[6] चित्त में ही पुरुष का प्रतिबिम्ब (पुरुष में

---

[1] तस्मिंश्चिद् दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः।
यथा संलक्ष्यते रक्तः केवलः स्फटिको जनैः।
रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत् परमपूरुषः॥ —योगवा० (उपशम) ९१।११३।

[2] अनादिस्वस्वामिभावस्यैव प्रतिबिम्बनियामकतया वक्ष्यमाणत्वात्तु न परबुद्धिवृत्ते-र्भानम्—यो० वा० पृ० २२।

[3] (क) तदेवं बुद्ध्यात्मनोः परस्परप्रतिबिम्बरूपाद्दोषादेवैकताभ्रमोऽहं कर्त्ता सुखी जानामीत्यादिरूपः—यो० वा० पृ० २२।
(ख) अस्मादेव परस्परप्रतिबिम्बरूपाद्दोषादेकताभ्रमोहं कर्त्ता सुखी जानामीत्यादि-रूपः—ना० बृ० वृ० पृ० २२४।

[4] तदेतत्परस्परं प्रतिबिम्बं सांख्यकारिकायामिवशब्दाभ्यामुक्तम्—यो० वा०पृ० २२।

[5] पौरुषेयशब्दस्य ' रूपत्वानुपपत्तेश्च...क्वाप्यदर्शनाच्च...—यो० वा० पृ० ३०।

[6] चितेरेव वृत्तिप्रतिबिम्बोपहितायाः फलत्वं युक्तम्—यो० वा० पृ० ३०।

चित्त का प्रतिविम्ब नहीं) स्वीकार करके चित्त को प्रमाता मानने से पुरुष की सिद्धि नहीं हो सकेगी।[१] इसलिए बिम्बभूत चैतन्य में ज्ञान होना आवश्यक है। यह पुरुष में चित्त के प्रतिबिम्बित होने पर सम्भव हो सकता है।

अतः पुरुष में विषयाकाराकारित चित्त के प्रतिबिम्बित होने पर विम्बभूत पुरुष को होने वाला ज्ञान ही प्रमा है; चित्तगत चैतन्य के प्रतिबिम्ब में स्थित ज्ञान प्रमा नहीं है। इस वाद के समर्थक विज्ञानभिक्षु ने स्वरचित श्लोकों द्वारा प्रमातृ आदि का विभाजन इस प्रकार किया है[२]—

'शुद्धचेतन पुरुष वास्तविक प्रमाता है और चित्तवृत्तियाँ प्रमाण ही हैं। अर्थोपरक्त वृत्तियों का चेतन में प्रतिबिम्बित होना ही प्रमा है। पुरुष में प्रतिबिम्बित होने वाली चित्तवृत्तियों के विषय ही प्रमेय हैं और पुरुषगत चित्तवृत्तिकर्मक साक्षात्-दर्शन ही पुरुष का साक्षित्व है।'

मूल्यांकन—आचार्य वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रवर्तित उपर्युक्त दोनों वादों में से वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रचारित बिम्बप्रतिबिम्बवाद ही निम्नलिखित युक्तियों से उचित प्रतीत होता है :—

(१) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा होने वाला पौरुषेय-बोध (प्रत्यक्षादि प्रमा) यदि लघु-प्रक्रिया से उपपन्न हो सके तो गुरु-मार्ग परिहार्य है। अतः वाचस्पति मिश्र का मत श्रेयान् है। विज्ञानभिक्षु के मतानुसार सभी प्रकार के ज्ञानों के लिए दुहरे-प्रतिबिम्बवाद को मानना अनावश्यक है।

(२) प्रतिबिम्ब बिम्ब का कार्य है। सांख्ययोगशास्त्र में कार्य-कारण का अभेद स्वीकार किया गया है। अतः बिम्ब-प्रतिबिम्ब में अभेद मानकर प्रतिबिम्बित पुरुष में प्रतिफलित सुख-दुःख आदि के आकार वाली चित्तवृत्तियों का अनुभविता पुरुष को मानना कोई नवीन कल्पना नहीं है। अपितु पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब मानना नवीन कल्पना है।

(३) पुरुष चित्त के प्रतिबिम्ब का आधार भी नहीं हो सकता। क्योंकि जो प्रतिबिम्ब का आधार होता है, उसे दृश्य होना चाहिए। पुरुष दृश्य नहीं, अपितु द्रष्टा

---

१ बुद्धेरेव प्रमातृत्वे पुरुषो न सिध्येत्—यो० वा० पृ० ३०।

२ (क) प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च।
प्रमाऽर्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते।
वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः करणस्यानपेक्षणात्॥
साक्षाद् दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्यसूत्रितम्।
अविकारेण द्रष्टृत्वं साक्षित्वं चापरे जगुः॥—यो० वा० पृ० ३०।

(ख) विज्ञानभिक्षु कृत उपर्युक्त श्लोकों को आचार्य नागेश भट्ट एवं भावागणेश ने भी उद्धृत किया है, तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २२७, तु०—भा० ग० वृ० पृ० ६।

है। पुरुष का द्रष्टृत्व परस्परबिम्बप्रतिबिम्बवादी आचार्य **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश** तथा **नागेश भट्ट** आदि को भी मान्य है।

(४) पुरुष में चित्त का प्रतिबिम्ब मानकर आचार्य **विज्ञानभिक्षु नागेशभट्ट** आदि ने शुद्ध चेतन पुरुष को जो वास्तविक प्रमाता कहा है—वह भी श्रुति-विरुद्ध होने से अस्पृहणीय है। **'असङ्गो ह्ययं पुरुषः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'**—इत्यादि श्रुतिवाक्यों से पुरुष की असङ्गता प्रतिपादित हुई है। अतः शुद्ध पुरुष में प्रमारूप धर्म का सङ्ग मानने पर उसकी असङ्गता, केवलता तथा निर्गुणता को व्याघात पहुँचेगा।[1]

(५) शुद्ध पुरुष को प्रमाता कहने से पुरुष की शुद्धता खण्डित होगी अथवा यथाश्रुत अर्थ के त्याग की आपत्ति आयगी। जिसमें कोई धर्म नहीं रहता है, उसे ही शुद्ध कहते हैं। 'प्रमाता' शब्द से प्रमारूप धर्मविशिष्ट व्यक्ति का बोध होता है। अतः समस्त धर्मरहित शुद्ध पुरुष में प्रमारूप धर्म की कल्पना उचित नहीं है। इसलिए श्रुतिवाक्यों में ज्ञान को आत्मा का धर्म अथवा गुण नहीं कहा गया है।[2]

(६) परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बवादियों ने—शुद्ध पुरुष को प्रमाता न मानने पर उसे (पुरुष को) सिद्ध करना ही असम्भव हो जायगा ऐसा आक्षेप चित्त को वास्तविक प्रमाता मानने वाले **वाचस्पति मिश्र** आदि पर लगाया है। यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि चित्त में प्रतिबिम्बित चेतन को प्रमातारूप से **वाचस्पति मिश्र** आदि आचार्यों ने स्वीकार किया है। इससे पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** का उक्त आक्षेप यथार्थ कहा जा सकता था यदि प्रतिबिम्बवादियों के यहाँ प्रतिबिम्बित पुरुष की प्रमातृत्वेन कल्पना न करके एकमात्र चित्त की प्रमाता के रूप से कल्पना की जाती। अतः शुद्ध पुरुष को प्रमाता न मानने पर भी पुरुष की सिद्धि हो सकती है। जिस प्रकार चेतन के विना व्यवहार उपपन्न न हो सकने से चेतनभूत प्रमाता को मानकर **विज्ञानभिक्षु** आदि पुरुष को सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार साक्षीभूत चेतन के विना व्यवहार अनुपपन्न रहने से साक्षीरूप से पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है।

(७) **विज्ञानभिक्षु** आदि ने **वाचस्पति मिश्र** के 'प्रतिबिम्बवाद' पर 'पौरुषेय-बोध' शब्द के यथाश्रुत अर्थ के त्याग का आक्षेप लगाया है। यह भी उचित नहीं है।[3] 'पुरुष में वास्तविकरूप से बोध (ज्ञान) रहना'—पौरुषेय-बोध शब्द का यथाश्रुत अर्थ नहीं है। अपितु

---

[1] पूर्वोक्तयुक्त्युपेतवचनेभ्यो बुद्धितत्त्वप्रतिबिम्बितस्य पुंसः कथंचित्प्रमातृत्वेऽपि शुद्धस्य तदयोगात् 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः', 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादिश्रुतिविरोधाच्च—योगदर्शनम्—बालरामोदासीनकृत टिप्पणी, पृ० २२।

[2] ज्ञानं नैवाऽऽत्मनो धर्मो न गुणो वा कथंचन।
ज्ञानस्वरूप एवाऽऽत्मा नित्यः सर्वगतः शिवः॥—सौर पु० ११।२५।

[3] न हि पारमार्थिकत्वघटितं पुरुषनिष्ठत्वमेव यथाश्रुतः पौरुषेयशब्दस्यार्थः। किन्तर्हि? पुरुषस्वत्वं तन्निष्ठत्वमात्रं वा। तच्च पारमार्थिकं औपचारिकं वेति नाऽऽग्रहः। प्रकृते च मुख्यस्यासम्भवादौपचारिकं तन्निष्ठत्वमाश्रीयतेऽतो न यथाश्रुतार्थत्यागापत्तिः—योगदर्शनम्—बालरामोदासीनकृत टिप्पणी पृ० २४।

'पुरुष का स्वत्व जिस पर हो' अर्थात् पुरुष की स्वामिता अथवा अधिकार जिस पर हो—यह 'पौरुषेय' शब्द का अर्थ है। अथवा 'पुरुष में रहना'—यह 'पौरुषेय' शब्द का अर्थ है। पुरुष में बोध आदि का रहना वास्तविक रूप से है अथवा औपचारिक रूप से है? इसका ज्ञान 'पौरुषेय' शब्द से नहीं होता है। योगशास्त्र के अनुसार पुरुष में बुद्धिगत सुख, दुःख आदि का वास्तविक प्रमातृत्व सम्भव न होने से उसे औपचारिक (औपाधिक) ही माना जायगा। अतः चित्तवृत्ति में प्रतिविम्वित पुरुष को प्रमाता कहने पर भी 'पौरुषेय-बोध' शब्द का यथाश्रुत अर्थ उपपन्न हो जाता है।

(८) आचार्य **विज्ञानभिक्षु** का कहना है कि—प्रतिबिम्ब में अर्थक्रियाकारित्व शक्ति निहित नहीं है। यह भी उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा नियम नहीं है। जड़ पदार्थों के (अन्य में पड़ते हुए) प्रतिबिम्ब में अर्थक्रियाकारित्व शक्ति नहीं है; चेतन के प्रतिबिम्ब में अर्थक्रियाकारित्व शक्ति है।[१] यही जड़ और चेतन पदार्थों के प्रतिबिम्ब में अन्तर है। अतः चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बत पुरुष के प्रतिबिम्ब की अर्थक्रियाकारिता से बिम्बभूत पुरुष का औपाधिक भोग उपपन्न हो जाता है।

(९) चित्त एवं पुरुष का परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बवाद सिद्ध करने के लिए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने **तस्मिंश्चिद्दर्पणे**······इत्यादि स्मृति-वाक्यों का अर्थ अपनी इच्छानुसार किया है। यह भी यौक्तिक नहीं है।[२] **द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययाऽनुपश्यः, चितेरप्रतिसङ्क्रमायास्तदाऽऽकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्'**—इन पातञ्जल-सूत्रों एवं **पंचशिखाचार्य** के **प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते**—इस वचन के अनुसार उपर्युक्त स्मृतिवाक्य का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—बुद्धिरूप दर्पण में प्रतिबिम्बित होने से बुद्धिवृत्त्याकार से अभिन्न हुए पुरुष में—जो दर्पण के समान स्वच्छ है—बुद्धि के धर्मभूत ज्ञानादि अज्ञान के कारण प्रतिभासित होते हैं। अर्थात् अज्ञानवशात् पुरुष बुद्धि के धर्मों को अपना समझता हुआ सुखी-दुःखी होता है। अतः '**तस्मिंश्चिद्दर्पणे**···—' इत्यादि स्मृतिवाक्यों से बुद्धि तथा पुरुष का पारस्परिक प्रतिबिम्ब सिद्ध नहीं होता है।

(१०) इसी प्रकार **'उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्', तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्'**—इत्यादि सांख्यसूत्र एवं सांख्यकारिका से भी चित्तवृत्ति में उपसंक्रमित चित् के प्रतिबिम्ब में ही चित्तवृत्ति की प्रमातृता सिद्ध होती है।[३]

---

[१] **जडप्रतिबिम्बस्याऽर्थक्रियाकारित्वाऽभावेऽपि चेतनप्रतिबिम्बस्याऽर्थक्रियाकारित्वसम्भवात्—योगदर्शनम्—बालरामोदासीनकृत टिप्पणी पृ० २४।**

[२] **यास्तु 'तस्मिंश्चिद्दर्पणे···' इत्यादयः स्मृतयस्ता अपि सूत्राद्याऽनुगुण्येन बुद्धिदर्पणप्रतिबिम्बितत्वेन तत्तादात्म्यापन्ने दर्पणवत्स्वच्छे (स्वच्छायां?) चिति इमा वस्तुदृष्टयः=बुद्धेर्धर्मभूतानि ज्ञानान्यविवेकात् प्रतिभासन्त इत्येवमर्थपरतया नेयाः—योगदर्शनम्—बालरामोदासीनकृत टिप्पणी पृ० २४।**

[३] **'उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्याद्', 'तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्' इत्यादिसांख्यस्मृतिभ्य उपसङ्क्रान्तचितिप्रतिबिम्बमेव तत्प्रमातृ इति—योगदर्शनम्—बालरामोदासीनकृत टिप्पणी पृ० २३।**

(११) **'द्रष्टा दृशिमात्रः···'**—सूत्र की व्याख्या करते हुए स्वयं **विज्ञानभिक्षु** ने ऐसा माना है कि प्रतिबिम्बरूप से आरोपित क्रिया से पुरुष में दर्शनकर्तृता कल्पित है तथा पुरुष का बुद्धिवृत्ति का साक्षी बनना वास्तविक है। अर्थात् उन्होंने पुरुष में प्रमातृत्व को कल्पित और साक्षित्व को वास्तविक माना है। अतः यहाँ शुद्ध पुरुष को प्रमाता कहकर उसमें चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब मानना आपने वचन के विरुद्ध सिद्ध होता है।[1]

(१२) शुद्ध पुरुष को प्रमाता कहने पर कारण और कार्य का सामानाधिकरण्य नहीं बन पायगा। **विज्ञानभिक्षु** के अनुसार चित्त का वृत्तिरूप व्यापार चित्त में और चित्त के वृत्तिरूप व्यापार का फल पुरुष में मानना पड़ेगा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अधिकरण में व्यापार और फल कहना पड़ेगा। करण के व्यापार-क्षेत्र में ही क्रियाजन्य फल होता देखा गया है। **वाचस्पति मिश्र** के अनुसार वृत्ति (व्यापार) और फल का सामानाधिकरण्य सिद्ध होता है। क्योंकि चित्त का ही विषयाकार व्यापार होता है और चित्त को ही विषयबोध (विषयज्ञान) होता है। चित्त के साथ पुरुष का तादात्म्य रहने से पुरुष में विषयबोध की प्रतीति होती है।

(१३) पुरुष को होने वाली 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ'—इस प्रकार एकता की भ्रमात्मिका प्रतीति का आधार **विज्ञानभिक्षु** ने बुद्धि और पुरुष का पारस्परिक-प्रातिबिम्बिक-सम्बन्ध बतलाया है। यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब मानकर उपर्युक्त प्रकार से ऐक्य-भ्रम उपपन्न हो सकता है। दर्पणगत मलिनता दर्पण में प्रतिबिम्बित मुखाकृति में ही प्रतिफलित होती है। किन्तु बिम्बरूप पुरुष अपने में मलिनता का आरोप करके 'मेरा मुख मलिन हो रहा है'—इस प्रकार शोक करता है। इसी प्रकार चित्त में प्रतिबिम्बित पुरुष में ही चित्त के सुख-दुःख आदि धर्म प्रतिफलित होते हैं। किन्तु बिम्ब का कार्यभूत प्रतिबिम्ब बिम्ब से सर्वथा अभिन्न रहने के कारण बिम्बभूत पुरुष को चित्त के घट, पट आदि विषयों अथवा सुख, दुःख आदि धर्मों का 'मैं घट जान रहा हूँ', 'मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ'—इत्यादि रूप से अनुभव होने लगता है।

प्रमेयस्वरूप—पातञ्जल-योग के व्याख्याकारों के अनुसार प्रत्यक्षप्रमाणवृत्ति के विषयभूत घट, पट आदि पदार्थ वास्तविक हैं। वे वेदान्तियों के समान अनिर्वचनीय अथवा बौद्धाचार्यों के अनुसार क्षणिक विज्ञानरूप नहीं हैं। इस सिद्धान्त को प्रकाश में लाने के लिए **व्यासदेव** ने प्रत्यक्षप्रमाणवृत्ति के लक्षण में **'विषय'** पद दिया है तथा **'अर्थस्य'** पद के प्रयोग द्वारा प्रत्यक्षप्रमाणवृत्ति के विषय की अबाध्यता बतलाई है।[2] इससे प्रत्यक्ष एवं विपर्यय में चक्षुरिन्द्रिय एवं विषयसम्बन्ध की समानता रहने पर भी प्रत्यक्ष का लक्षण विपर्ययवृत्ति में अतिव्याप्त नहीं होता है। प्रत्यक्ष के समान अनुमान एवं शब्दवृत्ति से उत्पन्न यथार्थज्ञान

---

[1] प्रतिबिम्बरूपयाऽऽरोपितक्रियया कल्पितं दर्शनकर्तृत्वम्। वस्तुतस्तु बुद्धेः साक्ष्येव पुरुष इति—'द्रष्टा दृशिमात्र' इति सूत्रस्थस्वोक्त्या विरोधाद् अश्रद्धेयमेतद् व्याख्यानम्—योगदर्शनम्—बालरामोदासीनकृत टिप्पणी पृ० २४।

[2] तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्—व्या० भा० पृ० २७-२८।

का विषय भी बाधित नहीं होता है। लेकिन इन वृत्तियों से सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ के सामान्यरूप का ही मुख्यतया ग्रहण होता है। प्रत्यक्ष-वृत्ति से पदार्थ के विशेषरूप की प्रतीति होती है। अतः प्रमाणवृत्तित्व एवं अबाधितविषयत्व की दृष्टि से प्रत्यक्ष आदि तीनों में समता रहने पर भी पदार्थ के सामान्यांश को विषय करने वाली अनुमान एवं शब्दवृत्ति से—विशेषांश की ग्राहक प्रत्यक्षात्मक प्रमाणवृत्ति का भेद किया गया है। इसलिए प्रत्यक्ष को सामान्यविशेषात्मक पदार्थ की विशेषावधारणप्रधाना वृत्ति कहते हैं।

अनुमानप्रमाणवृत्ति—अनुमान व्याप्तिमूलक होता है। व्याप्ति दो वस्तुओं के नियत सम्बन्ध को कहते हैं। जैसे धूम के साथ अग्नि का व्याप्तिसम्बन्ध है। पाकशाला में धूम के रहने पर अग्नि का न रहना नहीं देखा गया है। अतः धूम एवं अग्नि के व्याप्तिसम्बन्ध को जानने वाला व्यक्ति जब दूर से पर्वत आदि पर धूमरेखा को उठता हुआ देखता है तब उसकी **'अयं पर्वतो वह्निमान्'**—इस प्रकार की चित्तवृत्ति बनती है। इसे अनुमानप्रमाण कहते हैं। तदनन्तर उक्त चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बित पुरुष को **'अहं वह्निमनुमिनोमि'**—इत्याकारक ज्ञान होता है। इसे अनुमिति-प्रमा कहते हैं। अनुमानप्रमाण से पर्वत आदि पक्ष में रहने वाले अग्नि आदि साध्य के सामान्यरूप का ही ज्ञान होता है। इसलिए अनुमान को सामान्यावधारणप्रधाना वृत्ति कहते हैं।[१]

व्याप्ति दो प्रकार की है—अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति। अन्वयव्याप्ति के द्वारा तारों की गतिशीलता—मनुष्य के समान उनके दूसरे देश में दिखलाई पड़ने से—अनुमित होती है। व्यतिरेकव्याप्ति के द्वारा विन्ध्यपर्वत का स्थानान्तरण न होते देखकर उसकी गतिशून्यता अनुमित होती है।

आचार्य **नारायणतीर्थ** का कहना है कि अनुमान तीन प्रकार का है—पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट।[२] पूर्ववत् अनुमान में केवलान्वयी हेतु होता है। उदाहरणस्वरूप शब्द अभिधेय है, प्रमेय होने से, घट के समान। यहाँ पर 'अभिधेयत्व' साध्य है, 'प्रमेयत्व' हेतु है और वह केवलान्वयी है। क्योंकि 'जो अभिधेय नहीं होता है; वह प्रमेय भी नहीं होता'—इस व्यतिरेक व्याप्ति में 'अमुक पदार्थ'—इस प्रकार का व्यतिरेकी दृष्टान्त नहीं मिलता है। क्योंकि संसार के पदार्थों में प्रमेयत्व हेतु अवश्य रहता है। शेषानुमान में केवल-व्यतिरेकी हेतु होता है। उदाहरणस्वरूप पृथ्वी अन्य पदार्थों से भिन्न है, गन्धवती होने से। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं—'जहाँ गन्धवत्त्व है; वहाँ पृथ्वीत्व है। जहाँ पृथ्वीत्व ऐसा व्यवहार नहीं होता है वहाँ गन्धवत्त्व नहीं रहता है, जैसे जल। परन्तु सभी पार्थिव

---

[१] **अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः संबन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्—व्या० भा० पृ० ३०-३१।**

[२] **तच्चानुमानं त्रिविधमुक्तं न्याये—पूर्ववत्, शेषवत् सामान्यतोदृष्टं चेति। पूर्ववत् पूर्वम् अन्वयस्तद्वत् केवलान्वयीत्यर्थः। यथा—इदमभिधेयम्, प्रमेयत्वात्, सम्मतवदित्यादि। केवलव्यतिरेकी यथा—पृथ्वी इतरेभ्यो भिद्यते, गन्धवत्त्वाद् व्यतिरेके जलादिवदित्यादि। सामान्यतोदृष्टम्—अन्वयेन व्यतिरेकेण च गृहीतव्याप्तिकम्। यथा वह्निमान् धूमात्—यो० सि० चं० पृ० ९।**

पदार्थ पक्षकोटि में आते हैं। अतः अन्वयव्याप्ति में उदाहरण न मिलने से शेषानुमान में केवलव्यतिरेकी हेतु होता है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान में अन्वयव्यतिरेकी हेतु होता है। जैसे जो धूमवान् होता है वह वह्निमान् भी होता है। यहाँ धूमवत्त्व हेतु अन्वयव्यतिरेकी है। क्योंकि अन्वयव्याप्ति में महानस एवं व्यतिरेकव्याप्ति में महाह्रद दोनों प्रकार के उदाहरण मिल जाते हैं। पूर्ववत् एवं सामान्यतोदृष्ट अनुमान की सामूहिक संज्ञा वीत तथा शेषानुमान का दूसरा नाम अवीत है।

शब्दप्रमाणवृत्ति—भ्रम, प्रमाद, प्रवञ्चना, इन्द्रियों का असामर्थ्य आदि दोषों से रहित आप्तपुरुष अपने ज्ञान को शब्दोपदेश (शब्दोच्चारण) द्वारा दूसरे में संक्रमित करता है। तदनन्तर वक्ता के शब्द को सुनकर श्रोता की शब्दार्थविषयिणी चित्तवृत्ति बनती है। इसे आगमप्रमाण (शब्दप्रमाण) कहते हैं। तदनन्तर शब्दाकाराकारित-वृत्ति से अविशिष्ट हुए प्रतिबिम्बित पुरुष को शाब्दबोध (शाब्दप्रमा=पौरुषेयबोध) होता है। योगशास्त्र में अविश्वस्त व्यक्ति के शब्दों को प्रमाण नहीं माना गया है, क्योंकि उसका कथन प्रत्यक्ष एवं अनुमान से बाधित होता है। वे ही वाक्य प्रामाणिक माने जाते हैं, जिनका वक्ता ईश्वर है।

योगाभिमत उपर्युक्त तीन प्रमाणों में प्रमाणान्तरों का कैसे अन्तर्भाव हो सकता है—इस पर एकमात्र **नारायणतीर्थ** का ध्यान गया है। सम्प्रति अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाणों की गिनती कराते हुए ऊपरिनिर्दिष्ट प्रमाणत्रय में ही उनके अन्तर्भाव को **नारायणतीर्थ** के अनुसार प्रस्तुत किया जा रहा है :—

प्रमाणान्तर निरास प्रत्यक्षवादी चार्वाक के मत में प्रत्यक्ष—एक प्रमाण है। वैशेषिक तथा बौद्ध के मत में प्रत्यक्ष और अनुमान—दो प्रमाण हैं। सांख्ययोग के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द—तीन प्रमाण हैं।[१] नैयायिक के मत में प्रत्यक्षादि तीन और उपमान—चार प्रमाण हैं। प्रभाकर मीमांसक के मत में पूर्वोक्त चार और अर्थापत्ति—पाँच प्रमाण हैं। भाट्टमीमांसक तथा वेदान्तमत में पूर्वोक्त पाँच और अनुपलब्धि—छः प्रमाण हैं। पौराणिकों के मत में अनुपलब्धि को छोड़कर पूर्वोक्त पाँच, सम्भव तथा ऐतिह्य—सात प्रमाण हैं। तान्त्रिकों के यहाँ पूर्वोक्त आठ तथा चेष्टा—नौ प्रमाण हैं।

उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव—नैयायिकों का कहना है कि किसी नागरिक पुरुष ने गवय पद का अर्थ जानने की इच्छा से ग्रामीण से पूछा कि—**गवयः कीदृशो भवति ?**—अर्थात् गवय कैसा होता है ? उसे उपदेश हुआ कि—**गोसदृशो गवयपदवाच्यो भवति**—अर्थात् गो के समान जो पिण्ड होता है, वही गवय पद का वाच्य होता है। एतावता नागरिक को सर्वप्रथम उक्त अतिदेशवाक्यार्थ (गो के सादृश्य को गवय में अतिदेश करने वाले वाक्य के अर्थ) का शाब्दबोध होता है। पश्चात् किसी समय अरण्य में गए नागरिक के सामने गोसदृश

---

[१] (क) प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि—यो० सू० १।७।
(ख) त्रिविधं प्रमाणम्—त० स० सू० २३।
(ग) दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥—सां० का० ४।

जीव आया। इससे गवय में गोसादृश्य-प्रत्यक्ष होता है। तदनन्तर **गोसदृशो गवयपदवाच्यः**— इस अतिदेशवाक्यार्थ का स्मरण होता है। तदनन्तर गवय में **गवयो गवयपदवाच्यः**—इत्याकारक ज्ञान (शक्तिज्ञान) होता है। उक्त-अतिदेश शक्तिज्ञान उपमिति प्रमा है। गवय में गोसादृश्य का प्रत्यक्ष उपमिति-प्रमाण है। तथा उक्त वाक्यार्थस्मृति व्यापार है।[1] इस प्रकार उपमान पृथक् प्रमाण है। उसका किसी अन्य प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है।

आचार्य **नारायणतीर्थ** का मत है कि—उपमान से सिद्ध होने वाली **गवयशब्दः गोसदृशस्य वाचकः**—इस प्रकार की प्रमा (प्रमातमक ज्ञान) अनुमान से ही निष्पन्न हो सकती है। अनुमान का आकार इस प्रकार है—**गवयपदं गवयवाचकम्**—प्रतिज्ञा, **असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्**—हेतु, **यथा गोशब्दादिः**—उदाहरण। इस अनुमान के मूल में जो व्याप्ति लक्षित हो रही है, उसका स्वरूप इस प्रकार है—**यत्र यत्र यः शब्दः पदार्थाभिव्यक्तये वृद्धैः प्रयुज्यते तत्र तत्र स असति वृत्त्यन्तरे तदर्थस्य वाचको भवति**। अतः उपमान को पृथक् प्रमाण मानना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। उसका अनुमान में अन्तर्भाव होता है;[2] अन्यथा शरीर-कृतगौरवदोष उपस्थित होगा।

अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव—मीमांसक तथा वेदान्ती अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानते हैं। इनके अनुसार अर्थापत्ति का स्वरूप इस प्रकार है—रात्रि-भोजन के बिना दिन में भोजन न करने वाले का पीनत्व अनुपपन्न (असम्भव) है। जिसके बिना (रात्रि-भोजन के बिना) जो (पीनत्व) अनुपपन्न होता है, वह (पीनत्व) उपपाद्य (फल) होता है, और जिसके (रात्रिभोजन के) अभाव में जिसकी (पीनत्व की) अनुपपत्ति होती है, वह (रात्रिभोजन) उपपादक (कारण) होता है। उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना की जाती है। उपपाद्य की अनुपपत्ति का ज्ञान—अर्थापत्ति-प्रमाण है तथा उपपादक का ज्ञान अर्थापत्ति-प्रमा है।

पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते—इस स्थल में **दिवाऽभुञ्जानस्य रात्रिभोजनं विना पीनत्वम् अनुपपन्नम्**—इत्याकारक ज्ञान से रात्रिभोजन रूप फल की कल्पना की जाती है। यही रात्रिभोजन की कल्पना अर्थापत्ति-प्रमा है। देवदत्त का रात्रिभोजन प्रत्यक्षादि प्रमाणों

---

[1] यत्रारण्यकेन केनचिद् ग्रामीणायोक्तं गोसदृशो गवयपदवाच्य इति पश्चात् ग्रामीणेन क्वचिदरण्यादौ गवयो दृष्टः तत्र गोसादृश्यदर्शनं यज्जातं तदुपमितिकरणं तदनन्तरं गोसदृशो गवयपदवाच्य इत्यतिदेशवाक्यार्थस्मरणं यज्जायते तदेव व्यापारः। तदनन्तरं गवयो गवयपदवाच्य इति ज्ञानं यज्जायते तदुपमितिः—सि० मु० पृ० १०२-१०४।

[2] तत्रोपमानस्य—गवयपदं गवयवाचकम् असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्। योऽसति वृत्त्यन्तरे वृद्धैर्यत्र प्रयुज्यते स तद्वाचकः। यथा गोशब्दादिः। गवयो गवयपदवाच्यो गोसदृशत्वात् व्यतिरेके घटवदित्याद्यनुमाने- यो० सि० चं० पृ० ८।

से सिद्ध नहीं होता है। अतः देवदत्त के रात्रिभोजन की सिद्धि के लिए अर्थापत्ति प्रमाण प्रशस्त होता है। एतावता अर्थापत्ति पृथक् प्रमाण है।[१]

आचार्य **नारायणतीर्थ** का मत है कि अर्थापत्ति पृथक् प्रमाण नहीं है। उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव होता है क्योंकि पीनत्व हेतु के आधार पर देवदत्त का रात्रि-भोजन अनुमित होता है। जैसे धूम देखकर वह्नि का अनुमान किया जाता है। अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है—यह (देवदत्त) रात्रि में भोजन करता है, दिन में भोजन न करने पर भी स्थूल होने से। अतः अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं है।[२]

अनुपलब्धि का प्रत्यक्षप्रमाण में अन्तर्भाव—भाट्टमीमांसक तथा वेदान्तियों ने अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण माना है। उनका कहना है—यदि यहाँ घट होता तो अवश्य उपलब्ध होता, चूँकि उपलब्ध नहीं हो रहा है, अतः वह नहीं है—इस प्रकार प्रत्यक्षयोग्य वस्तु की उपलब्धि न होने से 'यहाँ घड़ा नहीं है'—इत्याकारक घटाभावविषयक ज्ञान होता है। यह अनुपलब्धिप्रमाण का फल (कार्य) है। अतः अनुपलब्धि भी स्वतन्त्र प्रमाण है। शब्दान्तर से जिस पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है, उस पदार्थ का अभावज्ञान होता है और उस अभावज्ञान का नाम अनुपलब्धि-प्रमा है। उदाहरणस्वरूप घटादि की अप्रतीति से घटादि का अभाव निश्चित होता है। पदार्थ के अभाव का निश्चय कराने वाला अनुपलब्धि-प्रमाण होता है। अतः अनुपलब्धि स्वतन्त्र प्रमाण है।

आचार्य **नारायणतीर्थ** का मत है कि अभावज्ञान का उत्पादक अनुपलब्धि-प्रमाण प्रत्यक्षप्रमाण के अन्तर्गत है। वह प्रत्यक्षप्रमाण से भिन्न नहीं है।[३]

पूर्वपक्षी का प्रश्न है—प्रत्यक्षलक्षण के अनुसार पदार्थ के प्रत्यक्षज्ञान के लिए पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होना अनिवार्य होता है। लेकिन अभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं हो सकता है। अतः इन्द्रिय अभाव की ग्राहक कैसे कही जा सकती है?

सांख्ययोगाभिमत परिणामवाद के आधार पर **वाचस्पति मिश्र** सांख्यतत्त्वकौमुदी में[४] लिखते हैं कि अभाव-पदार्थ अन्य कुछ न होकर भूतलस्वरूप ही है।[५] सांख्य-योग में प्रकृति से लेकर घट, पटादि भूतपर्यन्त सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक होने से प्रतिक्षण परिणामी हैं। चूँकि भूतल त्रिगुणात्मक है इसलिए वह भी प्रतिक्षण परिणामी है। अतः घटवत्तादशा में

---

[१] तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः। तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम्। उपपादकज्ञानं फलम् - वे० प० पृ० २४६।

[२] अर्थापत्तेरपि—अयं रात्रिभोजी, दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वादित्यनुमाने—यो० सि० चं० पृ० ८।

[३] अनुपलब्धेस्तु यदि स्यादुपलभ्येतेत्यादिप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोग्युपलब्ध्यभावरूपायाः प्रत्यक्षसहकारित्वेन प्रत्यक्षे—यो० सि० चं० पृ० ८।

[४] इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणम्—व्या० भा० पृ० २७-२८।

[५] न हि भूतलस्य परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावो नाम—सां० त० कौ० पृ० ७४।

भूतल सद्वितीयत्वधर्म वाला होता है। घटाभावदशा में **केवल भूतल**—इत्याकारक कैवल्य (केवलत्व)-रूप धर्मान्तर वाला होता है। अभावज्ञान के लिए अभाव के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि परिणामी भूतल के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष रहने से भूतल के परिणामविशेष अभाव के साथ भी इन्द्रियसन्निकर्ष हो जाता है। अभाव नाम का स्वतन्त्र पदार्थ ही नहीं है।

ऐतिह्य का आगमप्रमाण में अन्तर्भाव—परम्परागत जनश्रुति अर्थात् लोकप्रसिद्धि को ऐतिह्य कहते हैं।[1] 'इस वृक्ष पर यक्ष रहता है'—इत्यादि किंवदन्तियों को पौराणिकों ने स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है।

आचार्य **नारायणतीर्थ** का मत है कि ऐतिह्य यदि आप्तपुरुष के द्वारा कहे गए हैं तो उनका आगमप्रमाण में अन्तर्भाव होगा।[2]

वस्तुतः प्रवादपरम्परारूप ऐतिह्यवाक्य के उच्चारयिता में आप्तत्व का निश्चय न न रहने पर सन्देह बना रहेगा। इस स्थिति में ऐतिह्य को प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

सम्भव का अनुमानप्रमाण में अन्तर्भाव—पौराणिक लोग सम्भव को स्वतन्त्रप्रमाण मानते हैं। व्याप्य पदार्थ की सता के ज्ञान से जहाँ व्यापक की सत्ता का ज्ञान होता है, वहाँ सम्भवप्रमाण होता है।[3] उदाहरणस्वरुप खारी में द्रोण, आढक, प्रस्थ, कुडव और मुष्टि— इन अल्पपरिमाणों का समावेश होता है, इसलिए खारी में द्रोण का सम्भव है। अतः सम्भव पृथक् प्रमाण है। खारी के ज्ञान से द्रोण आदि का ज्ञान होना सम्भवप्रमाण का फल है।

आचार्य **नारायणतीर्थ** पौराणिकों के उक्त सम्भवप्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव करते हैं।[4] जहाँ खारीत्व है, वहाँ द्रोणादि का होना स्वाभाविक है। इस प्रकार द्रोणादि का व्याप्य बनकर प्रतीत होने वाला खारीत्व द्रोणादि की सत्ता का अनुमित्यात्मक ज्ञान करा देता है। अतः सम्भव को पृथक् प्रमाण नहीं मानना चाहिए।

चेष्टा का अनुमान या शब्दप्रमाण में अन्तर्भाव—चेष्टा हस्तादि की क्रिया है। हस्त, नेत्र आदि की चेष्टाओं द्वारा व्यक्ति अपना अभिप्राय दूसरे को समझाता है। जैसे 'घर में कितने घट हैं'?—ऐसा प्रश्न पूछने पर दूसरा व्यक्ति दस अँगुलियों के संकेत द्वारा वक्ता की जिज्ञासा शान्त करता है। अतः चेष्टा पृथक् प्रमाण है। आचार्य **नारायणतीर्थ** ने चेष्टा को अनुमानप्रमाण या शब्दप्रमाण के अन्तर्गत रखा है।[5]

---

[1] पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमितिहाव्ययम् —अ० को० २।७।१२।

[2] इति होचुरित्यैतिह्यस्य तु शब्दे—यो० सि० चं० पृ० ८।

[3] अविनाभाविनः अर्थस्य सत्ताग्रहणात् अन्यस्य सत्ताग्रहणं सम्भवः—न्या० भा० २।२।१।

[4] सम्भवस्य तु खार्यां द्रोणादिपरिमाणसम्भावनारूपस्यानुमाने—यो० सि० चं० पृ० ८।

[5] चेष्टाया अपि—गेहे कति घटाः सन्तीति प्रश्ने, दशाङ्गुलीप्रदर्शनरूपाया अनुमाने, दशादिपदस्मरणे तु शब्द एव अन्तर्भावात्—यो० सि० चं० पृ० ८।

इस प्रकार अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत उपमानादि प्रमाणों का सांख्ययोगाभिमत तीन प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीन ही प्रमाण हैं।[१]

विपर्ययवृत्ति

विपर्यय मिथ्याज्ञान को कहते हैं।[२] इसमें वस्तु के वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति न होने से वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता है। नेत्र-सम्बन्धी काच-कामलादि रोग-ग्रस्त व्यक्ति को सूर्यकिरण के सम्पर्क से चमचमाती हुई शुक्ति (सीप) दूर से रजत दिखलाई पड़ती है और उसकी 'यह रजत है' इस प्रकार की वृत्ति बनती है। इस बुद्धिवृत्ति में प्रतिविम्बित पुरुष को 'मैं रजत जान रहा हूँ'—इस प्रकार बोध होता है। उक्त ज्ञान में जिस विशेषण तथा विशेष्य वाला रूप प्रतिभासित होता है, उसका उत्तरकालिक यथार्थ ज्ञान से बाध हो जाता है।[३] विपर्ययज्ञान की अतद्रूपप्रतिष्ठितता जैसे एकवस्तुविषयक (एककोटिक) होती है वैसे ही दो वस्तुविषयक (द्विकोटिक) भी हो सकती है। उदाहरणस्वरूप समान आकृति वाले दो पदार्थों के विषय में जायमान संशयवृत्ति—अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा—विपर्यय कही जाती है।[४]

'अतद्रूपप्रतिष्ठ' के नञर्थ पर विचार—पातञ्जल-योग के व्यासदेव, विज्ञानभिक्षु आदि व्याख्याकारों ने विपर्यय का स्वरूप अतद्रूपप्रतिष्ठ बतलाया है। वाचस्पति मिश्र ने नञ्-घटित उक्त समस्त पद के नञ् का स्वरूप बतलाने का प्रयास किया है। वाचस्पति का कहना है—मीमांसाशास्त्र में ब्राह्मणों के लिए श्राद्धान्नभक्षण के निषेधपूर्वक अश्राद्धभोजन को व्रत बतलाया गया है। अतः व्रतभंग न हो सके, इसलिए 'अश्राद्धभोजी'—इस समस्त पद में नञ् का, व्याकरण की दृष्टि से नामपद जो 'श्राद्ध' है, उसके साथ अन्वय करने का विधान नहीं है अपितु 'न भुङ्क्ते श्राद्धं यः'—इस विग्रह के अनुसार नञ् का क्रिया के साथ अन्वय किया जाता है।[५] इसी प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में नञ् प्रसज्यप्रतिषेधार्थक (अभावार्थक)

---

[१] त्रीण्येव प्रमाणानीति भावः—यो० सि० चं० पृ० ८।

[२] विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्—यो० सू० १।८।

[३] (क) यज्ज्ञानप्रतिभासि रूपं तद्रूपाप्रतिष्ठम्—त० वै० पृ० ३३।
(ख) यत्प्रकारकं यद्विशेष्यकं रूपं ज्ञानेन प्रतिभासते तस्मिन् रूपे यज्ज्ञानं न प्रतिष्ठते किन्तूत्तरकालिकज्ञानेन बाध्यते तज्ज्ञानमेककोटिकं द्विकोटिकं वा सर्वं तद्रूपाप्रतिष्ठत्वेनातद्रूपप्रतिष्ठमुच्यते—यो० प्र० पृ० ६।

[४] (क) संशयोऽपि संगृहीतः—त० वै० पृ० ३३।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ३३।
(ग) तु०—यो० सु० पृ० ५।
(घ) तु०—ना० ल० वृ० पृ० ८।

[५] यथाऽश्राद्धभोजीत्यत्र नाऽश्राद्धं भुङ्क्त इति विग्रहस्तथात्वेऽश्राद्धभोजनाऽभावकाले व्रतलोपप्रसङ्गात् ······किन्तु न भुङ्क्ते श्राद्धं य इत्येवन्नञः क्रियाऽन्वयित्वेनाऽसमर्थसमासः—योगदर्शनम्—बालरामोदासीनकृत टिप्पणी पृ० २८।

अतः नञ् का अन्वय (सम्बन्ध) क्रियापद के साथ करके उसे तद्रूपाप्रतिष्ठत्व समझना उचित है।[१] क्योंकि शुक्तिसाक्षात्कार से शुक्ति में होने वाले रजतज्ञान का पूर्णतया बाध हो जाता है। नञ् को पर्युदासार्थक न मान कर निषेधार्थक इसलिए कहा गया है, जिससे विपर्ययवृत्ति की उत्तरकालिक यथार्थज्ञान से बाध्यता हो सके। नञ् को पर्युदासार्थक मानने पर भ्रमज्ञान का बाध सभी को समान रूप से नहीं हो सकेगा और विपर्ययवृत्ति विकल्प कोटि में आ जायगी। अतः **वाचस्पति** ने विपर्यय के लक्षणगत नञ् को प्रसज्यप्रतिषेधार्थक स्वीकार किया है। आगे चलकर **बलदेव मिश्र** ने आचार्य **वाचस्पति मिश्र** के अनुसार अतद्रूपप्रतिष्ठ की व्याख्या की तथा **नागेश भट्ट** आदि ने भी अपनी बृहद्योगसूत्रवृत्ति में **वाचस्पति मिश्र** के नामोल्लेखपूर्वक उनके उपर्युक्त मत को उद्धृत किया है।[२]

विपर्यय और प्रमाण में बाध्यबाधकभाव सम्बन्ध—

प्रमा-ज्ञान से अप्रमा-ज्ञान का बाध होता है। जैसे उत्तरकालभावी **नेदं रजतम्**—इस प्रमा-ज्ञान से पूर्वकालभावी **इदं रजतम्**—इत्याकारक भ्रमात्मक ज्ञान का बाध होता है—यह सिद्धान्तपक्ष है। इसके विरोध में पूर्वपक्षी मीमांसकसम्मत असंजातविरोधित्वन्याय को अपनाते हुए दावा करते हैं कि **इदं रजतम्**—इत्याकारक पूर्ववर्ती ज्ञान से ही **नेदं रजतम्**—इत्याकारक उत्तरवर्ती ज्ञान का बाध होना चाहिए।[३] पूर्वपक्षी का आशय इस प्रकार है :—

जिस क्षण में **इदं रजतम्**—इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न होता है, तत्काल **नेदं रजतम्**—इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हुआ तो यह ज्ञान तत्काल **इदं रजतम्**—इत्याकारक ज्ञान का बाधक हो ही नहीं सकता। इसलिए तत्काल **इदं रजतम्**—इत्याकारक ज्ञान निर्बाध, निर्विरोध उत्पन्न होता है। किन्तु **नेदं रजतम्**—इत्याकारक ज्ञान अपने उत्पत्तिकाल में निर्विरोध नहीं है। क्योंकि इस ज्ञान के उत्पत्तिक्षण के पूर्व ही **इदं रजतम्**—इत्याकारक इस ज्ञान का विरोधी ज्ञान विद्यमान है। उक्त विरोधी ज्ञान की विद्यमानता के कारण **नेदं रजतम्**—इत्याकारक ज्ञान प्रसक्तकाल में उत्पन्न ही नहीं हो पायगा। अर्थात् **इदं रजतम्**—इत्याकारक पूर्ववर्ती ज्ञान से ही **नेदं रजतम्**—इत्याकारक उत्तरवर्ती ज्ञान का बाध हो गया। इसलिए सिद्धान्ती का उक्त पक्ष के विपरीतपक्ष ही युक्तिबलात् सिद्ध हो गया।

इसके उत्तर में आचार्य **वाचस्पति मिश्र** तथा **नागेशभट्ट** का कहना है कि—बाध्य-बाधकभाव के सन्दर्भ में दो स्थितियाँ हैं। जहाँ उत्तरवर्ती पूर्ववर्ती पर आधारित होता है वहाँ पूर्ववर्ती के बलवत्तर होने से उत्तरवर्ती ही पूर्ववर्ती के द्वारा बाधित होता है;[४] अन्यथा उपजीव्यविरोध होगा। उदाहरणस्वरूप—ज्योतिष्टोम याग में मण्डप के बीच

---

[१] **तथा अत्रापि तद्रूपे न प्रतिष्ठत इत्यतद्रूपप्रतिष्ठमित्येवं विग्रह इति भावः—योगदर्शनम् बालरामोदासीनकृत टिप्पणी पृ० २८।**

[२] **मिश्रास्त्वश्राद्धभोजिवदतद्रूपप्रतिष्ठमित्यस्य तद्रूपाप्रतिष्ठम्—ना०बृ०वृ० पृ० २२८।**

[३] **नोत्तरेणोपजातविरोधिना ज्ञानेन पूर्वं बाधनीयमपितु पूर्वेणैव प्रथममुपजातेनानुपजातविरोधिना परम्—त० वै० पृ० ३३-३४।**

[४] **यत्र हि पूर्वापेक्षा परोत्पत्तिस्तत्रैवम्—त० वै० पृ० ३४।**

२५

उदुम्बर वृक्ष की एक शाखा गाढ़ी जाती है। इस शाखा के बारे में दो विधान प्राप्त हैं—'**औदुम्बरीं स्पृष्टवोद्गायेत्**' 'तथा' **औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या**'। इनमें प्रथम वचन श्रुति तथा द्वितीय वचन स्मृति है। इन दोनों के यथाक्रम प्रतिपाद्य स्पर्श और सर्ववेष्टन में विरोध है। इसलिए इन वचनों में से एक के द्वारा दूसरे का बाध होना चाहिए। किसका बाध होना है ?—इस प्रश्न पर **जैमिनि** का सिद्धान्त है[१] कि—यहाँ स्मृति-प्रतिपादित सर्ववेष्टन का ही बाध होगा, अन्यथा श्रुति का बाध करने से उपजीव्यविरोध हो जायगा। क्योंकि स्मृति का उपजीव्य श्रुति ही है। इसलिए उपजीव्यविरोध परिहारार्थ यहाँ श्रुति से स्मृति बाधित हो रही है।

लेकिन **इदं रजतम्** और **नेदं रजतम्**—इत्यादि स्थलों में उपजीव्यविरोध का कोई प्रश्न नहीं है। क्योंकि **नेदं रजतम्**—इत्यकारक प्रमाज्ञान **इदं रजतम्**—इत्याकारक भ्रमज्ञान पर आधारित ही नहीं है। **इदं रजतम्**—इत्याकारक भ्रमोत्पत्ति की सामग्री दूसरी है और **नेदं रजतम्**—इत्याकारक प्रमोत्पत्ति की सामग्री दूसरी है। उदाहरणस्वरूप भ्रम-सामग्री दोषघटित है किन्तु प्रमोत्पत्ति सामग्री दोषाघटित है। इसलिए **नेदं रजतम्**—इत्याकारक प्रमा अपनी स्वतन्त्र सामग्री के बल पर **इदं रजतम्**—इत्याकारक पूर्वज्ञान का उपमर्दन करते हुए ही उदित होगा। अतः **नेदं रजतम्**—इत्याकारक उत्तरवर्ती ज्ञान (प्रमा) से ही **इदं रजतम्**—इत्याकारक ज्ञान (भ्रम) बाधित हो जायगा।[२]

आरोपित वस्तु का स्वरूप—भ्रमस्थल में वस्तु के अविद्यमान रहने पर भी शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प, स्थाणु में पुरुष आदि की जो प्रतीति होती है। उसका आधार क्या है ? क्या नवीन (अनिर्वचनीय) पदार्थ उत्पन्न होता है अथवा दूरस्थ पदार्थ दिखलाई पड़ता है अथवा प्रतीयमान पदार्थ अलीक होता है ?—इत्यादि शङ्काएँ उत्पन्न होती हैं। इस विषय में दार्शनिकों में भिन्न-भिन्न विचार उपलब्ध होते हैं। ये भिन्न-भिन्न मत ख्यातिवाद के नाम से प्रचलित हैं। न्यायवैशेषिक तथा भाट्टमीमांसकसम्प्रदाय में अन्यथाख्यातिवाद, वेदान्त-दर्शन में अनिर्वचनीयख्यातिवाद, माध्यमिक-बौद्धसम्प्रदाय में असत्ख्यातिवाद, योगाचार-बौद्धसम्प्रदाय में आत्मख्यातिवाद, प्रभाकर-मीमांसकसम्प्रदाय में अख्यातिवाद है। योग-दर्शन में इस सम्बन्ध में दो वाद प्रचलित हैं। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं उनके परवर्ती आचार्य **भावागणेश** एवं **नागेशभट्ट** ने भ्रम-ज्ञान के स्थल में अन्यथाख्यातिवाद स्वीकार किया है।[३]

---

[१] जै० न्या० मा० वि० १।३।२।

[२] **इह तु स्वस्वकारणादन्योऽन्यानपेक्षे ज्ञाने जायेते, तेनोत्तरस्य पूर्वमनुपमृद्योदयमनासादयतस्तद्बाधात्मैवोदयो, न तु पूर्वस्योत्तरबाधात्मोदयस्तस्य तदानीमप्रसक्तेः। तस्मादनुपजातविरोधिता बाध्यत्वे हेतुरुपजातविरोधिता च बाधकत्वे। तस्मात् भूतार्थविषयत्वात्प्रमाणेनाप्रमाणस्य बाधनं सिद्धम्** —त० वै० पृ० ३४।

[३] (क) **अत्र च शास्त्रेऽन्यथाख्यातिः सिद्धान्तः**—यो० वा० पृ० ३३।

(ख) **अतद्रूपप्रतिष्ठत्ववचनादन्यथाख्यातिरत्र दर्शने सिद्धा**—भा० ग० वृ० पृ० ८।

(ग) तु०—ना० ल० वृ० पृ० ८।

आचार्य नारायणतीर्थ आरोपित वस्तु को सदसद्रूप मानकर सदसत्ख्यातिवाद का समर्थन करते हैं।[१]

अन्यथाख्यातिवाद—आचार्य विज्ञानभिक्षु आदि का वक्तव्य है कि—भ्रमस्थल में ज्ञानाकार का ही विषय में आरोप होता है।[२] आन्तरिक रजत का ही शुक्ति में आरोप होता है। नैयायिकों के समान अन्य प्रदेश हट्ट आदि) में पहले से विद्यमान रजत भ्रमात्मक ज्ञान का विषय नहीं होता है। क्योंकि विषय-प्रत्यक्ष के लिए विषय का सन्निकृष्ट रहना आवश्यक है। अतः भ्रमज्ञान का विषय सन्निकृष्ट होना चाहिए। अपि च सन्निकृष्ट शुक्त्यादि को छोड़कर दूरस्थ रजत आदि की कल्पना में गौरव है। किञ्च अन्यत्र विद्यमान वस्तु को भ्रमज्ञान का विषय मानने पर 'स्वप्न में देखे हुए रजत को इस समय नहीं देख रहा हूँ'—इस प्रकार की स्वरूपतः वाधबुद्धि नहीं बन पायगी। क्योंकि जाग्रत् अवस्था में रजत का स्वरूपतः बाध नहीं होता है। लेकिन ज्ञानाकार को भ्रम का विषय मानने पर उसका स्वरूपतः बाध होना सम्भव होगा। नैयायिकसम्मत अन्यथाख्यातिवाद से योगसम्मत अन्यथाख्यातिवाद में यही सूक्ष्म अन्तर है।[३]

सदसत्ख्यातिवाद—आचार्य नारायणतीर्थ का कहना है—जपाकुसुम का लौहित्य बिम्बरूप से सत् तथा स्फटिक में प्रतिबिम्बरूप से असत् होता है। इसी प्रकार सुवर्णकार की दुकान में स्थित रजत सत् है, किन्तु शुक्ति में अध्यस्त रजत असत् है।[४] इस प्रकार पदार्थ के सदसद्रूप होने से सदसद्ख्यातिवाद सिद्ध होता है। शुक्ति में अध्यस्त रजत यदि सर्वथा अलीक (सन्) होता तो असत् नृश्रृङ्ग, खपुष्प, वन्ध्यापुत्र आदि के समान उसका कभी भी प्रत्यक्ष न होता। लेकिन उसकी वास्तविकरूप से अन्यत्र प्रतीति हुआ करती है। अतः शुक्ति में अध्यस्त रजत को केवल असत् नहीं कह सकते हैं। उसे केवल सत् भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि 'नेदं रजतम्'—इस उत्तरकालिक ज्ञान से

---

१ स्वप्नशुक्तिरजतादयोऽपि चित्तपरिणामा एव बाधाबाधाभ्यां सदसद्रूपा इति सदसत्ख्यातिः······—यो० सि० चं० पृ० ८।

२ (क) भ्रमस्थले ज्ञानाकारस्यैव विषये समारोपः—यो० वा० पृ० ३३।

(ख) भ्रमस्थले बुद्धिरूपचित्तवृत्त्याकारस्यैव विषये आरोपः—ना० ल० वृ० पृ० ८।

३ (क) वैशेषिकाच्चात्रायं विशेषो यद्बाह्यरजतादेर्नारोपः किन्त्वान्तरस्यैवेति; ज्ञानाकारमनुभवसिद्धं शुक्त्यादिकं सन्निकृष्टं विहाय दूरस्थरजतादिविषयकत्वकल्पने गौरवात्, स्वप्ने दृष्टमिदानीं नास्तीति स्वरूपतो बाधानुपपत्तेश्च—यो० वा० पृ० ३३।

(ख) तु०—ना० ल० वृ० पृ० ८।

४ यथा हि लौहित्यं बिम्बरूपेण सत् स्फटिकगतप्रतिबिम्बरूपेण चाऽसदिति दृष्टम्, एवं रजताद्यापणस्थत्वादिरूपेण सत्, शुक्त्याद्यध्यस्तत्वादिरूपेण चासत्।···अतः सर्वजगद्भानं सदसत्ख्यातिरेव—यो० सि० चं० पृ० ५४।

कल्पित रजत का बाध होता है। अतः पदार्थ सदसद्-उभयरूप सिद्ध होता है।[१] आचार्य **नारायणतीर्थ** ने अपने मत के समर्थन में सांख्यसूत्र भी उद्धृत किया है।[२]

विपर्यय के भेद--विपर्यय का अपर पर्याय अविद्या है। अविद्या (तमस्), अस्मिता (मोह), राग (महामोह), द्वेष (तामिस्र) तथा अभिनिवेश (अन्धतामिस्र)—भेद से विपर्यय पाँच प्रकार का है।[३] 'क्लेशमीमांसा' के अध्याय में विपर्यय के भेदों पर विचार किया जायगा।

संसार-हेतुक-विपर्यय का स्वरूप—विपर्यय संसार का मूल कारण है। लेकिन शुक्ति में रजतविषयक, रस्सी में सर्पविषयक, एक चन्द्र में द्विचन्द्रविषयक भ्रम संसार का कारण नहीं है।[४] क्योंकि उत्तरकालिक यथार्थज्ञान से इस प्रकार का दैनन्दिन भ्रम दूर हो जाता है। शरीरात्माभिमान आदियों में ही संसार-हेतुता है। क्योंकि 'शरीर आत्मा नहीं है'—ऐसा परोक्षात्मक शाब्दज्ञान रहने पर भी शरीर के प्रति अनुराग बना रहता है। उसी के पुष्ट्यर्थ अनेक प्रकार के कृष्णकर्म किए जाते हैं। फलस्वरूप कर्माशय की वृद्धिपूर्वक संसारागमन का मार्ग प्रशस्त रहता है।

विपर्यय आदि को अविद्या-वृत्ति मानने का खण्डन—ऊपर पातञ्जल-योगशास्त्र के अनुसार ज्ञानसामान्य (प्रमा एवं अप्रमा दोनों) के प्रति चित्त कारण कहा गया। प्रमा-रूप एवं अप्रमा-रूप दोनों प्रकार का ज्ञान चित्त का ही माना गया है। वेदान्तियों की मान्यता इससे भिन्न है। प्रस्तुत सन्दर्भ में एकमात्र आचार्य नारायणतीर्थ ने अप्रमा-ज्ञान के सम्बन्ध में वेदान्तियों की निम्नाङ्कित मान्यता का खण्डन करने का प्रयास किया है।

वेदान्तियों के यहाँ प्रमा-ज्ञान चित्त (अन्तःकरण) का कार्य है।[५] शुक्ति में होने वाला शुक्तित्वप्रकारक शुक्तिविशेष्यक **'इयं शुक्तिः'**—इस प्रकार का प्रमात्मक ज्ञान चित्त का परिणाम है। अप्रमात्मक ज्ञान का मुख्य कारण अविद्यावृत्ति है। अविद्या साक्षी में अधिष्ठित है।[६]

---

१ शुक्तिरजतस्वप्नमनोरथादयोऽपि मनःपरिणामा एव बाधाबाधाभ्यां सदसद्रूपाः। तथाहि ते नात्यन्तसन्तः, प्रतिपन्नधर्मिणि निषेधधीरूपबाधदर्शनात्। नाप्यत्यन्ता-सन्तः, प्रतीयमानत्वात्। अत्यन्तासतो नृश्रृङ्गादेरभावात्। अतः सदसदात्मकाः—यो० सि० चं० पृ० ५४।

२ सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधाभ्याम्—सां० सू० ५।५६।

३ सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या—व्या० भा० पृ० ३४।

४ शुक्तिरजतादिविपर्ययाणां तु संसाराहेतुतया नात्र गणना—यो० वा० पृ० ३५।

५ तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान्प्रविश्य, तद्वदेव चतुष्कोणाद्या-कारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते···—वे० प० प्रत्यक्षपरिच्छेद पृ० ३७।

६ प्रकृते तु प्रातिभासिकरजतस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नेदमंशावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठाविद्या-कार्यत्वेऽपि इदं रजतमिति सत्यस्थलीयेदमंशाकारानुभवाहितसंस्कारजन्यत्वादिद-माकारानुभवविषयता, न त्वहं रजतमित्यहमाकारानुभवविषयतेत्यनुसन्धेयम्—वे० प० प्रत्यक्षपरिच्छेद पृ० १०७।

वेदान्तियों की ओर से आक्षेप—वेदान्तियों का कहना है कि योगदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम तीन प्रमाणों को चित्त की वृत्ति मानने का सिद्धान्त हमारे मत के अनुकूल है; लेकिन विपर्यय, विकल्प आदि वृत्तियाँ (जो 'यह सर्प है', 'यह रजत है', 'राहु का सिर' 'पुरुष का चैतन्य स्वरूप है' —इस प्रकार की अप्रमा को उत्पन्न करती हैं वे) अविद्या की हैं, चित्त (अन्तःकरण) की नहीं। अतः भ्रमरूप विपर्यय आदि सभी वृत्तियों के प्रति एकमात्र अविद्या को कारण मानकर उन्हें अविद्या की वृत्ति मानने में लाघव है। दूसरा हेतु यह है कि भ्रम-ज्ञान वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न रहने पर ही उत्पन्न होता है। जैसे 'पुरोदृश्यमान पदार्थ रजत नहीं है'—ऐसा ज्ञान न रहने पर ही चाकचिक्य आदि सादृश्य के कारण व्यक्ति को शुक्ति में रजत-भ्रम होता है। अतः लाघवतर्क तथा अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर योगाचार्यों को यह मानना चाहिए कि अप्रमाज्ञान-सामान्य के प्रति साक्षी (चैतन्य) के आश्रय में रहने वाली अविद्या-वृत्ति कारण है; चित्त-वृत्ति नहीं।[१]

आक्षेप का खण्डन—उक्त आक्षेप का खण्डन करते हुए आचार्य **नारायणतीर्थ** का कहना है—वेदान्तियों का उपर्युक्त मत तभी मान्य हो सकता था यदि योगसाम्प्रदायिकों को अनिर्वचनीयख्यातिवाद स्वीकृत हो। लेकिन योगसम्प्रदाय में सदसत्ख्यातिवाद प्रचलित है। अनिर्वचनीय अज्ञान (अविद्या) प्रामाणिक नहीं है। अतः प्रमारूप (प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम तीन) एवं अप्रमारूप (विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति) सभी वृत्तियाँ चित्त (अन्तःकरण) का ही परिणाम हैं[२] और चित्त के द्वारा ही प्रत्यक्ष आदि ज्ञान के विषय गृहीत होते हैं। अप्रमा-ज्ञान साक्षी में रहने वाली अविद्या (तूलाविद्या) का परिणाम नहीं है।

विकल्पवृत्ति

विकल्पात्मिका वृत्ति शब्दज्ञानानुपातिनी तथा वस्तुशून्यविषयिणी होती है।[३] **गगनकुसुमम्**—इत्यादि शब्दों के श्रावणप्रत्यक्ष से जायमान अलीक पदार्थविषयक ज्ञान विकल्पवृत्ति है। विकल्प शब्द का लौकिक अर्थ है—कल्पना।

विकल्पवृत्तिजन्य ज्ञान विपरीत बुद्धि से बाधित नहीं होता है। विपरीत-बुद्धि के पश्चात् भी विकल्पात्मक व्यवहार चलता रहता है। अर्थात् **गगनकुसुमम् अलीकम्**—ऐसी

---

१ लाघवतर्कानुगृहीतान्वयव्यतिरेकाभ्यां विशेषांशाज्ञानस्याऽप्रमात्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वाऽवधारणाद् विपर्ययादीनां साक्ष्याश्रिताऽविद्यावृत्तित्वपक्षस्य वेदान्तिभिरङ्गीकृतस्य युक्तत्वान्न चित्तवृत्तित्वकथनं युक्तम्—यो० सि० चं० पृ० ८।

२ स्वमतेऽनिर्वचनीयाऽनाद्यज्ञानस्य मानाभावेनानङ्गीकारान्मनःपरिणामत्वमेव विपर्ययादीनाम्—यो० सि० चं० पृ० ८।

३ (क) शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः—यो० सू० १।९।

(ख) शब्दजनितं ज्ञानं शब्दज्ञानं; तदनुपतितुं शीलं यस्य सः शब्दज्ञानानुपाती। वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणोऽध्यवसायः स विकल्प इत्युच्यते—रा० मा० पृ० ५।

(ग) 'राहोः शिरः' इति शब्दश्रवणानन्तरं जायमाना वस्तुशून्या वृत्तिर्विकल्पः —यो० सु० पृ० ५-६।

विपरीत-बुद्धि रहने पर भी **गगनकुसुमम्** इत्याकारक शब्दों के श्रावण-प्रत्यक्ष से तद्विषयक विकल्पात्मक ज्ञान होता है।

विकल्पात्मिका वृत्ति विपरीत-ज्ञान से बाध्य नहीं है—इस सिद्धान्त को अपनाने के लिए आचार्य **नारायणतीर्थ** ने निम्नाङ्कित प्रकार प्रस्तुत किया है :—तीन स्थितियाँ हैं; जिनमें विपरीत-ज्ञान बाधक नहीं होता है। प्रथम स्थिति है—लौकिक-सन्निकर्षजन्य प्रत्यक्षात्मक ज्ञान की। जैसे **भूतलं घटवत् न वा**—इत्याकारक विकल्प में घटाभाव-प्रकारक संशयात्मक ज्ञान रहने पर भी लौकिकसन्निकर्ष से **भूतलं घटवत्**—इत्याकारक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। दूसरी स्थिति है—दोषजन्य प्रत्यक्षात्मक ज्ञान की। जैसे **शंखः शुक्लः**—इत्याकारक विपरीत-निश्चय रहने पर भी काच-कामलादि इन्द्रियदोष-वशात् **शंखः पीतः**—इत्याकारक प्रत्यक्ष हो सकता है। तीसरी स्थिति है—शाब्दबोध की। जैसे **धूमस्तोकं तमश्शङ्के राधाविरहशुष्मणाम्**—इस स्थल में उक्त वाक्य के आधार पर धूम अंधकार रूप से शाब्दबुद्धिगोचर होता है। यद्यपि धूम अंधकार नहीं है—यह विपरीत बुद्धि उक्त शाब्दबोध के पूर्व ही विद्यमान है।[1]

विकल्पात्मक ज्ञान तीसरी स्थिति अर्थात् शाब्दबोधात्मक ज्ञान का स्थल है।[2] इसलिए उक्त विचार के अनुसार विकल्पात्मक ज्ञान भी विपरीतज्ञान से बाधित नहीं हुआ। इसी कारण ऊपर कहा गया है कि विकल्प विपर्ययात्मक ज्ञान (जो विपरीत-ज्ञान का बाध्य है) से भिन्न है।[3]

प्रमाणवृत्ति में विकल्पवृत्ति का अन्तर्भाव नहीं—उक्त विकल्पवृत्ति का प्रमाणवृत्ति में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है। प्रमाणवृत्ति यथार्थविषयिणी; विकल्पवृत्ति अयथार्थ-विषयिणी है। प्रमाणवृत्ति का विषय सत्य है; विकल्पवृत्ति का विषय अलीक (तुच्छ) है। विषय की अत्यन्त विजातीयता के कारण प्रमाणवृत्ति से विकल्पवृत्ति को पृथक् किया गया है।[4]

सुतरां प्रमाणादि अन्य वृत्तियों के समान विकल्प चित्त की एक स्वतन्त्र वृत्ति है।

---

१ ......लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यविशिष्टबुद्धेर्बाधप्रतिबध्यत्वात्......... सत्यपि बाधनिश्चये 'धूमस्तोकं तमश्शङ्के राधाविरहशुष्मणाम्' इत्याद्युत्प्रेक्षादि-वाक्यतः शाब्दबोधस्यानुभवसिद्धत्वेन..... —यो० सि० चं० पृ० १०।

२ शाब्दातिरिक्तत्वेनापि तादृशधियो विशेषणीयत्वात्—यो० सि० चं० पृ० १०।

३ विकल्पस्तु प्रत्यक्षप्रमावद् बाधाऽप्रतिबध्य एव...बाधाप्रतिबध्यत्वाच्च न विपर्ययः—यो० सि० चं० पृ० ९-१०।

४ (क) प्रमाणकोट्यनन्तर्भावे हेतुर्वस्तुशून्यत्वे—यो० वा० पृ० ३६।

(ख) अतो वाक्यार्थगोचरवृत्तौ नातिव्याप्तिः, तस्या वस्तुशून्यत्वाभावात्—यो० सु० पृ० ६।

(ग) वस्तुशून्योऽर्थशून्यः। तेन प्रमाणवृत्तेर्भेद उक्तः—ना० ल० वृ० पृ० ९।

(घ) अयं विकल्पो वस्तुशून्यत्वान्न प्रमाणम्—म० प्र० पृ० ६।

विपर्ययवृत्ति में विकल्पवृत्ति का अन्तर्भाव नहीं—अयथार्थज्ञान की जनक होने के कारण शब्दवृत्ति में विलीन होने से बची विकल्पवृत्ति पर विपर्ययवृत्ति में विलीन होने का पुनः संकट उत्पन्न होता है क्योंकि यह विपर्यय के तुल्य फल (अप्रमाज्ञान) को उत्पन्न करती है अर्थात् विलक्षणफलोत्पादन नहीं करती है। इस प्रकार विकल्पवृत्ति की स्वतन्त्रता में सन्देह होने लगता है।[1] परन्तु विकल्प के स्वरूप आकलन से **पतञ्जलि** द्वारा किए गए वृत्ति-विभाजन के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई उपर्युक्त संशयवुद्धि शतप्रतिशत निवृत्त हो जाती है।

विपर्यय तथा विकल्प दोनों वृत्तियों में प्रमा-ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। अतः अप्रमाज्ञान की जनकता उभयवृत्तियों में तुल्य है, किन्तु निम्नलिखित कारणों से दोनों वृत्तियों में अन्तर है :—

(१) विपर्ययवृत्ति के प्रसङ्ग में अध्यारोपित वस्तु एवं अधिष्ठान वस्तु दोनों की वास्तविक सत्ता रहती है केवल चक्षुरिन्द्रिय और विषय का ठीक-ठीक सम्बन्ध न होने के कारण संस्थानसादृश्य (सूक्ष्मता तथा दीर्घता) के आधार पर पुरोदृश्यमान वस्तु (रज्जु) दूसरी (सर्प) दिखलाई पड़ने लगती है। लेकिन विकल्पवृति के विषयों (जैसे वन्ध्यापुत्र, शशश्रृङ्ग, खपुष्प, मृगमरीचिका आदि) का अस्तित्व ही नहीं है। (२) विपर्यय में ज्ञान का मिथ्यात्व है; विकल्प में विषय का अलीकत्व है। अर्थात् विपर्यय में ज्ञान की अप्रतिष्ठा है और विकल्प में विषय की अप्रतिष्ठा है। (३) विपर्ययवृत्ति शब्दज्ञानानुपातिनी नहीं होती है; विकल्पवृत्ति शब्दज्ञानानुपातिनी होती है। अर्थात् विपर्यय के मूल में प्रत्यक्षवृत्ति है और विकल्प के मूल में शब्दवृत्ति है। (४) विपर्यय का वाधक ज्ञान होता है; विकल्प का नहीं होता है। (५) विपर्ययवृत्ति केवल करणदोष से ग्रसित व्यक्ति की बनती है, सबकी नहीं। किन्तु राहोः शिरः, वन्ध्यायाः पुत्रः—इत्यादि शब्दों को सुनने पर शास्त्रज्ञ एवं अशास्त्रज्ञ सभी को विकल्पात्मक ज्ञान होता है।

उपर्युक्त हेतुओं के आधार पर विकल्पवृत्ति का विपर्ययवृत्ति में अन्तर्भाव नहीं हो सकता; वह स्वतन्त्रवृत्ति है।[2]

व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र आदि व्याख्याकारों के अनुसार विकल्प मनस् की एक विशिष्ट क्रिया (वृत्ति) है। इसमें अत्यन्त अभिन्न पदार्थ में विशेषण-विशेष्यभाव संबन्ध

---

[1] (क) निर्वस्तुकत्वे वा विपर्ययः स्यात् ?—त० वै० पृ० ३६।
(ख) निर्वस्तुकत्वे तु विपर्ययेऽन्तर्भावः ?—यो० वा० पृ० ३६।

[2] (क) नापि विपर्यये, तस्य शब्दज्ञानाननुपातित्वात्—यो० सु० पृ० ६।
(ख) बाधेऽप्यवश्यभावित्वाद् व्यवहारहेतुत्वाच्च न विपर्ययः—म० प्र० पृ० ६।
(ग) बाधाप्रतिबध्यत्वाच्च न विपर्ययः—यो० सि० चं० पृ० १०।
(घ) व्यवहारहेतुत्वाच्च न विपर्ययः—सू० बो० पृ० ४।
(ङ) तथा च यथार्थशब्देन······शब्दज्ञानाननुपातित्वं विशेषणं देयमिति भावः—यो० वा० पृ० ३६।

की कल्पना करके शब्द के द्वारा उसका व्यपदेश (भेद) किया जाता है अथवा परस्पर भिन्नों में अभेद स्थापित किया जाता है।[१]

विकल्पवृत्ति के भेद—हरिहरानन्द आरण्यक ने व्यासभाष्य की बंगला टीका में विकल्पवृत्ति का विभाजन तीन प्रकार से किया है[२]—वस्तुविकल्प, क्रियाविकल्प एवं अभाव-विकल्प।[२]

वस्तुविकल्प—वस्तुओं की एकता में भेद एवं परस्पर भिन्न वस्तुओं में अभेद का आरोप करने पर वस्तुविकल्प होता है। 'चैत्र की गाय', 'राजा का सेवक', 'देवदत्त का कम्बल'—इत्यादि शब्दजनित ज्ञानों में षष्ठी विभक्ति के द्वारा चैत्र एवं गाय, राजा एवं सेवक तथा देवदत्त एवं कम्बल के मध्य जैसा वास्तविक भेद है। वैसा वास्तविक भेद 'पुरुष का चैतन्य स्वरूप है' 'राहु का सिर है'—इत्यादि उदाहरणों में उपलब्ध नहीं होता है।[३] क्योंकि पुरुष से चैतन्य एवं राहु से सिर पृथक् नहीं है।[४] एक ही पदार्थ का षष्ठी विभक्ति के द्वारा भेद प्रदर्शित किया जा रहा है। इस प्रकार के शब्दश्रवण के पश्चात् होने वाली तदाकारा अलीकविषयिका वृत्ति वस्तुविकल्प कही जाती है।

भेद में अभेद का आरोप होना भी वस्तुविकल्प है। उदाहरणस्वरूप **'अयो दहति'** अर्थात् लोहा जला रहा है। यहाँ लोहपिण्ड एवं अग्नि भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। अग्नि में ही दाहकत्वशक्ति रहती है। लोहपिण्ड में उसका अत्यन्त अभाव है,। लेकिन उपर्युक्त विकल्प बुद्धि में लोह एवं अग्नि का संयोग होने से अग्नि की दाहक-शक्ति लोहधर्म के रूप से कही जाती है। लोह एवं दाहक-शक्ति दोनों वास्तविक पदार्थ हैं। उनकी वास्तविक जगत् में सत्ता है। फिर भी लोह के साथ दाहक-शक्ति का सम्बन्ध अलीक है। इस प्रकार के अलीक-सम्बन्ध को विषय करने वाली शब्दज्ञाननिबन्धन-चित्तवृत्ति भी वस्तु-विकल्प कही जाती है।[६] अहंकार तथा आत्मा—इन दो भिन्न-भिन्न पदार्थों में अभेद का आरोप करने वाली वस्तुशून्य 'मैं हूँ'—इत्याकारक चित्तवृत्ति भी वस्तुविकल्प है।

---

१ क्वचिद् अभेदे भेदमारोपयति, क्वचित् पुनर्भिन्नानामभेदम्, ततो भेदस्याभेदस्य च वस्तुतोऽभावात्तदाभासः—त० वै० पृ० ३७।

२ বিকল্প কে তিন ভাগে বিভক্ত করা যাইতে পারে—বস্তু-বিকল্প, ক্রিয়া-বিকল্প ও অভাব-বিকল্প (পৃঃ সং ৩৩, কপিলাশ্রমীয় যোগদর্শন)।

३ यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति। अत्र देवदत्तस्य कम्बल इति शब्दजनिते ज्ञाने षष्ठ्या योऽध्यवसितो भेदः तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽध्यवसायः। वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुषः—रा० मा० पृ० ५।

४ नाभेदे विशेष्यविशेषणभावो—त० वै० पृ० ३७।

५ यदा यतश्चितिरेव पुरुषस्ततश्चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमित्यत्र भेदवचनमवास्तवत्वात्—भा० पृ० ३६।

६ 'अयःपिण्डं दग्धृ इत्यत्र भिन्नेऽभेदम्। यतो वह्निनिष्ठं दग्धृत्वं न तु लोहपिण्ड-निष्ठमिति--यो० प्र० पृ० ६।

क्रियाविकल्प—'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्'—व्याकरण के इस सिद्धान्त के अनुसार जैसे क्रिया का आश्रय कर्त्ता होता है अर्थात् क्रिया कर्त्ता के अधीन रहती है वैसे ही योगमत में क्रिया का अभाव भी भावरूप (क्रियारूप) होने से प्रयत्नसापेक्ष है। क्रियाविकल्प का उदाहरण है—**'वाणः तिष्ठति'**। **'स्था गतिनिवृत्तौ'**—धातु से निष्पन्न लट् लकार प्रथमपुरुष एक वचन के **'तिष्ठति'**—क्रियापद का अर्थ 'गतिनिवृत्ति' है। यहाँ गतिनिवृत्तिरूप क्रिया की कर्तृता वाण में कल्पित (अध्यारोपित) है। वस्तुतः जड़ वाण में गतिनिवृत्त्यनुकूल-कृतिमत्ता का अभाव है लेकिन **'बाणः तिष्ठति'**—इत्याकारक शाब्दज्ञान के माहात्म्य से श्रोता की विकल्पात्मिका चित्तवृत्ति बनती है।

अभावविकल्प—अमुक-अमुक पदार्थ में अमुक-अमुक धर्म का अभाव है—इस प्रकार अभाव को पदार्थ (अधिकरण) से भिन्न प्रदर्शित करने वाले पद या वाक्य से जनित वृत्ति 'अभावविकल्प' है। **'प्रतिषिद्धवस्तुधर्मो निष्क्रियः पुरुषः'**, **'सुखदुःखाभाववान् पुरुषः' 'अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः'**—इत्यादि अभावविकल्प के उदाहरण हैं। उपर्युक्त उदाहरणों में जड़वर्ग के उत्पत्ति, सुख, दुःख आदि धर्मों का पुरुष में अभाव बतलाया गया है। योगमत में भावपदार्थ से अतिरिक्त अभाव नाम का स्वतन्त्र पदार्थ ही नहीं है, जिसका अधिकरण से भिन्न व्यवहार किया जा सके।[1] लेकिन अभावविकल्प के उपर्युक्त उदाहरणों में उत्पत्त्याद्यभावरूप धर्म पुरुष में भिन्न रूप से आरोपित हुए हैं। इस प्रकार अधिकरणस्वरूप अभाव को अधिकरण से भिन्न बतलाने वाली उपर्युक्त वस्तुशून्य कल्पित वृत्तियाँ 'अभावविकल्प' हैं।

विकल्पवृत्ति का प्रकारान्तर से भेद—अन्य वृत्तियों के समान विकल्पवृत्ति भी दो प्रकार की है—क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट। ऊपर दिए हुए सभी उदाहरण क्लिष्टात्मक विकल्प के हैं क्योंकि उन वृत्तियों के द्वारा चंचल चित्त विषयोपभोग की तरफ अभिमुख होता है। फलस्वरूप विवेकज्ञान का मार्ग अवरुद्ध रहता है। अदृष्ट, अश्रुत, अमत तथा अशरीरी ईश्वर का मनःकल्पित (वस्तूशून्य) मूर्त्याकार चिन्तन अक्लिष्टात्मक विकल्प है। क्योंकि इस प्रकार ईश्वर के आकार का ध्यान करने में लगा चित्त विषयोन्मुख नहीं होता है, अपितु चित्त की एकाग्रता बढ़ती है, जिससे चित्त में विवेकज्ञान का उदय होता है। इस प्रकार विवेकज्ञान प्राप्त करवाने में सहायक ईश्वरविषयक विकल्पात्मक ज्ञान अक्लिष्ट भी सिद्ध होता है।

विकल्पवृत्ति के सम्बन्ध में न्यायवैशेषिक मत का खण्डन—न्याय-वैशेषिकदर्शन के आचार्यों को विकल्पज्ञान स्वीकृत नहीं है। उन्होंने विकल्पात्मक अनुभव के स्थान पर आहार्यज्ञान को मान्यता दी है और इस प्रकार के ज्ञान को विपर्यय (भ्रम) बतलाया है।[2]

---

[1] (क) **न खलु साङ्ख्यीये राद्धान्तेऽभावो नाम कश्चिदस्ति वस्तुधर्मो, येन पुरुषो विशेष्येतेत्यर्थः—त० वै० पृ० ३७।**

(ख) **अभावस्याधिकरणमात्ररूपत्वेनाधाराधेयभावविरहात्—यो० वा० पृ० ३७।**

[2] (क) **विकल्पप्रत्ययास्तु वैशेषिकैराहार्यज्ञानविशेषतयैष्टव्या एव विशेषस्तु तैर्मिथ्याज्ञानमध्ये प्रवेश्यन्ते—यो० वा० पृ० ३८।**

(ख) **अन्यैरेतान्याहार्यज्ञानानीत्युच्यन्ते—ना० ल० वृ० पृ० ९।**

लेकिन विपर्यय और विकल्प के ऊपरिनिर्दिष्ट अन्तर को देखने से उनका मत उचित नहीं प्रतीत होता है।

निद्रा

चित्त अथवा जीव की तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति। जाग्रत् एवं स्वप्नकाल में होने वाली प्रमाण, विपर्यय तथा विकल्प संज्ञक तीन वृत्तियों का स्वरूप बतलाने के पश्चात् **पतञ्जलि** ने सुषुप्तिकालिक निद्रा वृत्ति पर विचार किया है। सत्त्वादि गुणों के कारण चित्त में ज्ञान, प्रवृत्ति एवं जड़ता का आविर्भाव होता है।[1] यहाँ जड़ता अज्ञान है। चित्त के रजोगुण से युक्त सत्त्वगुण-प्राधान्य में जाग्रत् एवं स्वप्नकाल की प्रमाणादि वृत्तियाँ होती हैं।[2] इनके घट, पट आदि वास्तविक तथा शशशृङ्गादि अलीक पदार्थ विषय होते हैं। लेकिन निद्रावृत्ति प्रमाणादि वृत्तियों के निरोध के हेतुभूत अज्ञान को विषय करती है।[3] इस समय चित्त के विषयाकार होने में द्वारभूत चक्षुरादि इन्द्रियाँ तमोगुण से आवृत रहती हैं। चित्त एवं बाह्य विषय का सम्बन्ध न होने के कारण चित्त का बाह्यविषयाकार परिणाम नहीं होता है।[4]

सुषुप्ति अवस्था में तीन प्रकार के अनुभव—निद्रावस्था में चित्त के सत्त्वादि गुणों में तरतमभाव देखा जाता है। तमोमयी निद्रावस्था में जिस समय जिस गुण का प्राधान्य रहता है, उस समय उसी के अनुरूप चित्त की सुखाकारा, दुःखाकारा अथवा मोहाकारा वृत्ति बनती है। **वाचस्पति**, **रामानन्दयति** आदि व्याख्याकारों ने निद्रावृत्ति के तीन भेद किए हैं—सात्त्विकी निद्रा, राजसी निद्रा एवं तामसी निद्रा। सुषुप्तिकालिक चित्त में यदि सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है तो उस समय चित्त में आनन्द (सुख) का स्फुरण (ज्ञान) होता है

---

[1] चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्—व्या० भा० पृ० १२-१३।

[2] सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वापमादिशेत्।
प्रस्वापनं तु तमसा तुरीयं त्रिषु संततम्॥ श्रीमद्भागवत ११।२५।२०।

[3] (क) जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामभावस्तस्य प्रत्ययः=कारणं बुद्धिसत्त्वाच्छादकं तमस्तदेवालम्बनं=विषयो यस्याः सा तथोक्ता वृत्तिर्निद्रा त० वै० पृ० ३८-३९।
(ख) मलिनस्य चित्तसत्त्वस्य तमआकारैव वृत्तिः स्वपिमीत्याकारा जायते, स्वापश्चात्र जाग्रत्स्वप्नवृत्त्यभावः- यो० वा० पृ० ३८-३९।
(ग) वस्त्वभावः प्रतीयते यस्मिन्नावरके तमसि सति, तत्तमोऽभावप्रत्ययः। तं विषयीकुर्वंती वृत्तिर्निद्रा—यो० सु० पृ० ६।
(घ) तु०—म० प्र० पृ० ६।
(ङ) तु०—सू० बो० पृ० ४।
(च) तु०—यो० प्र० पृ० ६।
(छ) या सन्ततम् उद्रिक्तत्वात्तमसः समस्तविषयपरित्यागेन प्रवर्त्तते वृत्तिः सा निद्रा रा० मा० पृ० ५।

[4] (क) बुद्धिसत्त्वे हि ''परिणामाभावात्'''—त० वै० पृ० ३९।
(ख) तु०—यो० प्र० पृ० ७।

क्योंकि सत्त्वगुण सुखस्वरूप है। इसलिए सात्त्विकी निद्रा से प्रबुद्ध व्यक्ति अपने आनन्दपूर्वक सोने का स्मरण—सुखमहमस्वाप्सम्—इस प्रकार करता है।[1] यदि सुषुप्ति में सत्त्वगुण के स्थान पर रजोगुण का आविर्भाव होता है; तो सुषुप्त व्यक्ति को कष्ट सहन (दुखानुभव) करना पड़ता है। इसलिए प्रातःकाल उठकर वह अपनी वृथा कथा याद करता है। अर्थात् सुषुप्ति में अनुभूत दुःख का स्मरण—दुःखमहमस्वाप्सम्—इस प्रकार करता है।[2] सात्त्विकी-निद्रा एवं राजसी निद्रा से भिन्न तामसी-निद्रा में चित्त पर तमोगुण का ही प्रभुत्व छाया रहता है। इस समय सत्त्वगुण अथवा रजोगुण सिर उठाने का साहस नहीं कर पाते हैं। वे अभिभूत रहते हैं। इस काल में चित्त की मूढाकारा वृत्ति बनती है। इसलिए ऐसी निद्रा से उठे व्यक्ति को सुषुप्ति में हुए मूढाकारज्ञान का स्मरण—गाढमूढमहमस्वाप्सम्—इस प्रकार होता है।[3]

चित्त का स्वाकाराकारित परिणाम मानने में कर्तृकर्मविरोध नहीं—यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है यदि सुषुप्ति में चित्त अपने सत्त्वादि धर्मों को ही ग्रहण करता है तो एक ही चित्त को ग्राहक एवं ग्राह्य मानने पर कर्तृकर्मविरोध आता है।[4] वस्तुतः कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न होने चाहिए। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने एक वृत्ति को अपर वृत्ति से ग्राह्य मानकर इस शङ्का का परिहार किया है। उनका कहना है[5] कि—सामान्य नियम के अनुसार एक वृत्ति से अपर वृत्ति का ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि इस पक्ष में अनवस्था-दोष आता है (जिसका स्वरूप आगे बतलाया जायगा); तथा श्रुतिस्मृति-प्रतिपादित पुरुष की कल्पना व्यर्थ प्रतीत होती है। लेकिन निद्रावृत्ति के स्थल में वृत्तिविषयकवृत्ति बनती है अर्थात् वृत्ति के द्वारा चित्त का ग्रहण होता है। इस प्रकार कर्ता और कर्म का भेद सिद्ध होता है। अतः चित्त का स्वाकाराकारित परिणाम मानने में कर्तृकर्मविरोध (कर्ता और कर्म की एकता) नहीं आता है।

निद्रा योग की अवस्था नहीं—पूर्वपक्षी का कहना है कि चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहते हैं। भिन्न-भिन्न विषय वाली वृत्तियों के निरोधपूर्वक चित्त का ध्येयाकारपरिणाम सम्प्रज्ञात-योग है; और केवल तमोविषयिणी चित्तवृत्ति निद्रा है। चित्त की एकाग्र अवस्था में निद्रा-वृत्ति का उदय होता है क्योंकि इस समय चित्त एकमात्र तमोरूप ध्येय पदार्थ के आकार में ही परिणत होता है। अतः एकाग्र चित्त की तमस् के आकार वाली निद्रा को भी सम्प्रज्ञातयोग

---

[1] तथा हि उत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति स्मरणं बुद्धिसत्त्वसचिवतमोविषयं तदनुभवं कल्पयति—म० प्र० पृ० ६।

[2] दुःखमहमस्वाप्समिति स्मरणं रजस्तमोविषयं तदनुभवं कल्पयति—म० प्र० पृ० ६।

[3] गाढमूढमहमस्वाप्समिति केवलतमोविषयं स्मरणं तदनुभवं कल्पयति—म० प्र० पृ० ६।

[4] चित्तेन चित्तग्रहणे कर्मकर्तृविरोधः—यो० वा० पृ० ३९।

[5] वृत्त्या चित्तस्य ग्रहणेन कर्मकर्त्रोर्भेदात्। न चैवमेकया वृत्त्या वृत्यन्तरग्रहणसंभवे पुरुषकल्पनावैयर्थ्यम्? नियमेन वृत्तिगोचरवृत्तिकल्पनेऽनवस्थायाः सूत्रेण वक्ष्यमाणत्वात्—यो० वा० पृ० ३९।

कहना चाहिए। समाधान यह है कि—सम्प्रज्ञातयोगकालिक चित्त की ध्येयाकारता एवं निद्राकालिक चित्त की ध्येयाकारता तुल्य नहीं है। योग में ध्येयाकारता प्रयत्न-सापेक्ष है किन्तु निद्रा में ध्येयाकारता प्रयत्न-निरपेक्ष है। प्रथम ध्येयाकारता में चित्त सत्त्वगुणप्रधान होता है, द्वितीय ध्येयाकारता में चित्त तमोगुणप्रधान होता है। आचार्य हरिहरानन्द आरण्यक ने दोनों के अन्तर को निम्नाङ्कित प्रकार से स्पष्ट किया है—निद्रा में तमसाच्छन्न होने के कारण चित्त की क्रियाशीलता रुक जाती है। इस कारण वह भी एक प्रकार की स्थिरता है, परन्तु चित्त की यह स्थिरता समाधिकाल की स्थिरता से कुछ भिन्न है। निद्रा अवश तथा अस्वच्छ स्थिरता है; समाधि स्ववश तथा स्वच्छ स्थिरता है। स्थिर किन्तु अस्वच्छ जल के समान निद्रा होती है तथा अत्यन्त निर्मल एवं स्थिर जल के समान समाधि होती है। अतः चित्त की मूढावस्था में होने वाली चित्तवृत्ति एकाग्रकालिक चित्तवृत्ति के समकक्ष नहीं है। फिर जब निद्राकालिक चित्त में एकाग्रता ही नहीं है तो तत्कालिक चित्त में योगसाधनत्व कैसे हो सकता है? निद्रा तामसी होने के कारण सम्प्रज्ञातसमाधि के विरुद्ध है।[1] इसलिए योगशास्त्र में अन्य वृत्तियों के समान निद्रावृत्ति को भी निरुद्ध करने के लिए उपदेश दिया गया है।[2]

निद्रा का चित्तवृत्तित्व-स्थापन—जीव की सुषुप्ति-अवस्था समस्त दार्शनिकों को मान्य है। सुषुप्ति में ज्ञान होता है अथवा नहीं? यदि ज्ञान होता है तो वह चित्त का परिणाम है अथवा साक्ष्याश्रित अविद्या का?—इस विषय में मतभेद है।

योगमत—पुरुष जिस समय सुषुप्ति में रहता है उस समय भी चित्त का परिणाम (वृत्ति) चलता रहता है। क्योंकि निद्रा से उत्थित व्यक्ति 'मैं सुखपूर्वक सोया', 'मैंने कुछ भी नहीं जाना'—इत्याकारक स्मरण करता है। इसके आधार पर सुषुप्तिकाल की सुख, स्वाप और मैं विषय वाली **'सुखमहमस्वाप्सम्'**—इस प्रकार की अनुभववृत्ति अनुमित होती है। यही वृत्ति योगदर्शन में निद्रा कही गई है।

वेदान्तियों के मत की उपस्थापना और उसका खण्डन

प्रथम पूर्वपक्ष—पतञ्जलि की भाँति वेदान्ती सुषुप्ति में वृत्ति स्वीकार करते हैं। लेकिन वेदान्ती के अनुसार वह साक्ष्याश्रित अविद्या की वृत्ति है, चित्त की नहीं। क्योंकि सुषुप्ति में चित्त का अपने उपादानकारण अविद्या में लय हो जाता है। अतः निद्रा चित्त की वृत्ति न होकर अविद्या की वृत्ति है।

प्रथम पूर्वपक्ष का खण्डन—योगाचार्य नारायणतीर्थ का कहना है कि सुषुप्ति में होने वाले सुखादिविषयक अनुभव को चित्त का परिणाम न मानकर उसे साक्ष्याश्रित अविद्या

---

[1] (क) एकाग्रतुल्याऽपि तामसत्वेन निद्रा सबीज··समाधिप्रतिपक्षा—त० वै० पृ० ४०।

(ख) यद्यपि एकाग्रतुल्यापि निद्रा तथापि तामसत्वेन सबीज···समाधिप्रतिपक्षा—यो० प्र० पृ० ७।

[2] सा चैकाग्रवृत्तिकल्पाऽपि तामसत्वाद्योगार्थिना निरोद्धव्या—म० प्र० पृ० ६।

का परिणाम स्वीकार करना उचित नहीं है; अन्यथा जागरित अवस्था में चित्त सुख, दुःख आदि विषयों का स्मरण नहीं कर सकेगा। क्योंकि अनुभव तथा स्मरण का सामानाधिकरण्य प्रसिद्ध है। सुषुप्ति में साक्षी द्वारा अनुभूत सुख, दुःख आदि विषयों का जाग्रत्-अवस्था में चित्त के द्वारा स्मरण नहीं हो सकता है। स्मरण चित्त का ही धर्म है[१]; और उसके कार्य हर्ष, विषाद आदि भी चित्त के ही धर्म हैं। अतः जाग्रत् आदि अवस्थाओं के समान सुषुप्ति में भी चित्त की ही सुखाद्याकारा वृत्ति माननी चाहिए। ऐसा अङ्गीकार करने से एक ही अधिकरण में अनुभव तथा स्मरण रहता है—यह सिद्धान्त सुरक्षित होता है।

वेदान्तैकदेशी का कहना है कि सुषुप्ति में अन्य इन्द्रियों के समान मनस् भी अपने मूलकारण अविद्या में लीन हो जाता है। तत्काल सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार से उपरत हो जाती हैं। इसलिए निद्रा को साक्ष्याश्रित सत्त्वगुणप्रधान अविद्या की वृत्ति माननी चाहिए। इस प्रकार सुषुप्ति में साक्ष्याश्रित सत्त्वगुणप्रधान अविद्या की ही वृत्ति बनती है। इसे शास्त्रों में निद्रा वृत्ति नाम से कहा गया है। आचार्य **नारायणतीर्थ** का कहना है कि वेदान्तियों का उपर्युक्त मत ठीक नहीं है। निद्रा को सत्त्वगुणप्रधान अविद्या की वृत्ति मानने पर सुषुप्ति में दुःख का अनुभव नहीं हो सकेगा। क्योंकि आत्मा में नित्य सुख के समान नित्य दुःख की कल्पना नहीं की गई है। लेकिन सुषुप्ति के बाद जाग्रत् अवस्था में चित्त के अहं, स्वाप एवं दुःख—तीनों विषय हुआ करते हैं। जगने पर व्यक्ति 'मैं दुःख-पूर्वक सोया'—इस प्रकार दुःख का स्मरण करता है। अतः दुःखविषयक स्मरण के आधार पर सुषुप्ति में **'दुःखमहमस्वाप्सम्'**—इत्याकारक निद्रावृत्ति माननी होगी। साक्ष्याश्रित अविद्या को इस प्रकार का दुःखविषयक अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि दुःख चित्त का ही धर्म है। वह सत्त्वगुणप्रधान अविद्या का धर्म नहीं है। अतः जाग्रत् आदि अवस्था के समान सुषुप्ति में भी चित्त की ही वृत्ति बनती है। सुषुप्ति में चित्त का लय भी नहीं होता; अपितु चित्त का ही सुखाद्याकार परिणाम होता है। इसलिए सुषुप्ति में आत्मसुख से भिन्न चैत्तिक सुख का अनुभव होता है।[२] श्रुतियों द्वारा भी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में भोग्य (सुखादि), भोक्ता (जीव) एवं भोग (वृत्ति) की सत्ता सिद्ध की गई है।[3]

द्वितीयपूर्वपक्ष—छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है—'जिस अवस्था में यह पुरुष सोता है—ऐसा कहा जाता है, उस समय हे सौम्य! यह सत् से सम्पन्न होता है, अर्थात् यह अपने स्वरूप को प्राप्त करता है, इसी से **'स्वपिति'** ऐसा कहते हैं।'[४] बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रतिपादित

---

[१] **साक्षिण्यपरिणामिनि संस्कारस्मृत्योरनभ्युपगमात्—यो० वा० पृ० ३९।**

[२] **अत एव तत्र नात्मस्वरूपसुखस्यानुभवः, किन्तु चित्तपरिणामरूपस्यैव—यो० सि० चं० पृ० ११।**

[३] **त्रिषु धामसु यद् भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवेत्—कै० उप० १५।१८।**

[४] **यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति निद्रा नाम, सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति; स्वरूपीतो भवति; स्वं ह्यपीतो भवति; तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते—छा० उप० ६।८।१।**

है—'सुषुप्ति में पुरुष से भिन्न दूसरी वस्तु ही नहीं रहती है, जिसे वह देखे।'[१] इन दो श्रुतियों के द्वारा सुषुप्ति में जीव का ब्रह्म के साथ अभेद प्रतिपादित होने से उसकी (सत्सम्पत्ति की) निर्विषयता कही गई है। अतः सुषुप्ति में चित्त का अपने कारण में लय हो जाने से चैत्तिक सुख की नहीं अपितु आत्मसुख की ही प्रतीति होती है। इस प्रकार निद्रा साक्ष्याश्रित अविद्या की ही वृत्ति सिद्ध होती है, चित्त की नहीं। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी का कहना है कि सुषुप्ति में भोग (वृत्ति) की सत्ता है—यह हम (वेदान्ती) भी मानते हैं। क्योंकि 'त्रिषु धामसु यद्भोग्यम् ·····'—इस श्रुति के द्वारा सत्त्वगुणप्रधान अविद्या के संस्कार-रूप में भोक्तृ-भोग्य की सूक्ष्मरूप से सत्ता कही गई है और 'न तु तद् द्वितीयम् ·····' इस श्रुति के द्वारा सुषुप्ति में भोग्यादि के पृथक्-पृथक् भान का निषेध किया गया है। सुषुप्ति में भोग्यादि का पृथक् भान न होने को ही श्रुति ने 'द्वितीयाभाव' शब्द से बतलाया है। इस प्रकार दोनों श्रुतियों में परस्पर विरोध नहीं है। अतः सुषुप्ति में चित्त का लय हो जाने से योगाचार्य को भी साक्ष्याश्रित सत्त्वगुणप्रधान अविद्या का ही वृत्त्यात्मक परिणाम मानना चाहिए। इससे जागृत्-अवस्था में होने वाली स्वापादिविषयक स्मृतिवृत्ति भी उपपन्न हो जाती है।

द्वितीय पूर्वपक्ष का खण्डन—आचार्य नारायणतीर्थ का कथन है—'यत्रैतत् ······' श्रुति के द्वारा सुषुप्ति में जीव का अपने अंशी ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होना कहा गया है। यह दूध में जल के मिश्रण के समान एकीभाव (मिश्रीभाव) है; आत्यन्तिक अभेद नहीं। सुषुप्ति में जीव का ब्रह्म से आत्यन्तिक अभेद मानने पर जीव पुनः व्युत्थान अवस्था अर्थात् जाग्रत् अवस्था में लौट नहीं पायगा। श्रुतिप्रतिपादित जो चित्तलय है वह बहिःप्रवहण-शीलत्वाभाव है, कारणात्मना अवस्थितिरूप नहीं। जाग्रत् अवस्था में प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करता हुआ चित्त जैसे व्युत्थित रहता है, चित की वैसी व्युत्थित अवस्था सुषुप्तिकाल में नहीं रहती है। इस समय वह पहले (जाग्रत्) की अपेक्षा शान्त-भाव से स्वाप आदि अल्प विषयों वाला होता है। चित्त की अल्पविषयता श्रुति द्वारा चित्तलय नाम से कही गई है। चित्त का एकान्तलय मानने पर सुषुप्ति में अनुभव (निद्रावृत्तिजन्य-ज्ञान) होना अनुपपन्न हो जायगा।

आचार्य विज्ञानभिक्षु सुषुप्ति के दो भेद समग्रसुषुप्ति तथा अर्धसुषुप्ति मानकर 'न तु तद् द्वितीयमस्ति···, त्रिषु धामसु यद्भोग्यम्···'—इन दो सुषुप्तिकालिक श्रुतियों में आपाततः प्रतीत होते हुए विरोध का परिहार करते हैं। आचार्य विज्ञानभिक्षु का कहना है[२] कि

---

[१] न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्—बृ० उप० ४।३।२३।

[२] ननु निरोधे कैवल्यप्रलयादिष्विव वृत्त्यभाव एव सर्वस्यां सुषुप्तौ कथं न स्वीक्रियते? 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' इति सौषुप्तश्रुतावपि तदानीं ज्ञानाभावस्यैवावगमादित्याशङ्क्याह—सा च संप्रबोधे इति। सा तु निद्रा प्रत्यय-विशेष एव, जागरे स्मरणादित्यर्थः। अतएव "त्रिषु धामसु यद् भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवेत्" इत्यादिश्रुतयः सुषुप्तस्थानेऽपि भोग्यमस्तीत्याहुः। न चैवं श्रुत्योर्विरोध इति वाच्यम्? अर्धसमग्रभेदेन सुषुप्तेर्द्वैविध्यात्,···अन्यथा श्रुत्योर्वि-रोधस्यापरिहार्यत्वाच्च—यो० वा० पृ० ३९।

समग्रसुपुप्ति की अवस्था में किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता है। इसी का निर्देश **'न तु तद् द्वितीयमस्ति'**—इस श्रुतिवाक्य से निर्देश किया गया है। अर्धसुपुप्ति की अवस्था में भोग्यादि की सत्ता रहती है इसका 'त्रिषु धामसु ⋯'—इस वाक्य से संकेत किया गया है। इसके आधार पर जाग्रत् अवस्था में सुपुप्तिकालिक अनुभव का स्मरण भी हो सकता है। अतः श्रुतियों में परस्पर विरोध नहीं है।

इस प्रकार आचार्य नारायणतीर्थ ने माना है कि निद्रा चित्त की ही वृत्ति है और निद्रावृत्ति का विषय सुख भी सत्त्वगुणप्रधान चित्त (मनस्) का ही धर्म है।[1]

नैयायिकों के मत की उपस्थापना और उसका खण्डन

प्रथम पूर्वपक्ष—नैयायिकों का कहना है कि त्वङ्मनःसंयोग ज्ञानसामान्य के प्रति कारण है।[2] यह माना जाता है कि निद्रा (सुषुप्ति) अवस्था में मनस् 'पुरीतत्' नाम की नाड़ी में, जिसे हिता नाड़ी भी कहते हैं, चला जाता है और मनस् के उस नाड़ी में चले जाने से मनस् का त्वचा के साथ संयोग नहीं रह पाता है। इसलिए सुषुप्ति अवस्था में कोई ज्ञान नहीं होता है। अतः ज्ञानसामान्याभाव अवस्था ही सुषुप्ति है। सुषुप्ति अवस्था में चित्त पुरीतत् नाम की नाड़ी (स्नायु) में प्रविष्ट होता है—इसमें निम्नलिखित श्रुतिवाक्य प्रमाण है—**यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्तेताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते'**। अतः वेदान्ती लोग सुषुप्ति अवस्था में चित्त का अपने मूल उपादानकारण अविद्या में लय मानते हुए साक्ष्याश्रित अविद्या की वृत्ति स्वीकार करके निद्रा को ज्ञान का अवस्थाविशेष समझते हैं और योगाचार्य लोग सुषुप्ति में चित्त का लय अनङ्गीकार करते हुए चित्त की स्वापप्रधाना वृत्ति को निद्रा कहते हैं—यह ठीक नहीं है। **'सुखमहं स्वपिमि'**, **'दुःखमहं स्वपिमि'**—इत्यादि अनुभव स्वप्नावस्था के ही हैं।

प्रथम पूर्वपक्ष का खण्डन—नैयायिकों का यह मत आचार्य नारायणतीर्थ के अनुसार उपयुक्त नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् में जीव की सुषुप्तावस्था को लक्ष्य करके आरम्भ में 'जहाँ सोने पर पुरुष किसी भोग की इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है'[3]—इस प्रकार का वर्णन करके अन्त में **आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयपादः**—इस श्रुतिवाक्य के द्वारा उसे (जीव को) सुख का भोग करने वाला बतलाया गया है। इससे सुषुप्ति में ज्ञान (वृत्त्यात्मक ज्ञान) का अस्तित्व सिद्ध होता है और यही ज्ञान निद्रावृत्ति नाम से शास्त्र में अभिहित है। अतः श्रुति एवं तर्क के आधार पर सुषुप्ति में ज्ञानसामान्याभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है। पूर्वपक्षी नैयायिक ने **यदा सुषुप्तो भवति⋯⋯**—इस श्रुति के आधार पर सुषुप्ति को ज्ञानसामान्याभाव सिद्ध करने का जो प्रयास किया है, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस श्रुति का तात्पर्य सुषुप्ति में

---

[1] अतः निद्रा मनस एव वृत्तिः। सुखमपि तस्यैव सत्त्वांशपरिणामो नात्मरूपम्—यो० सि० चं० पृ० १२।

[2] त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम्—का० ५७।

[3] यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति—बृ० उप० ४।३।१९।

मनस् के संस्कार रूप से अवस्थित होने के कारण उसमें **सुखमहं स्वपिमि**—इत्यादि निद्रावृत्तियों से भिन्न जाग्रत् और स्वप्नकालिक वृत्तियों का अभाव बतलाने में है। जाग्रत् आदि अवस्था में चित्त इन्द्रियादि की सहायता से अनेक प्रकार के व्यापार करता है। सुषुप्ति अवस्था में चित्त के ये सब व्यापार नहीं होते हैं; केवल जाग्रत् और स्वाप्निक वृत्तियों के अभाव के कारणभूत तमस् (अज्ञान) के विषय वाली चित्तवृत्ति रहती है। इसका चित्त के सत्त्वादिगुण के उद्रेक के भेद से **सुखमहं स्वपिमि, दुःखमहं स्वपिमि**—इत्यादि प्रकार का स्वरूप होता है। अतः सुषुप्ति-अवस्था में चित्त की निद्रावृत्ति मानना आवश्यक है। ज्ञान-सामान्य के प्रति त्वङ्मनःसंयोग को हेतु जो माना गया है, वह भी व्यभिचरित है। आगमप्रमाण से हिरण्यगर्भ को इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञान उत्पन्न हुआ था (इन्द्रियों की उत्पत्ति से पूर्व ज्ञान उत्पन्न हुआ था)।[1] अतः त्वङ्मनःसंयोग को ज्ञानसामान्य के प्रति हेतु मानना उचित नहीं है।

द्वितीय पूर्वपक्ष—नैयायिकों का कहना है कि केवल जन्यज्ञान के प्रति त्वङ्मन संयोग हेतु है। जन्यज्ञान के पूर्व त्वङ्मनःसंयोग अनिवार्य है। हिरण्यगर्भ के नित्यज्ञान के प्रति त्वङ्मनःसंयोग हेतु नहीं है। सुषुप्ति में **पतञ्जलि** द्वारा स्वीकृत निद्रात्मक ज्ञान जन्य ही है। अतः उसके हेतुस्वरूप त्वङ्मनःसंयोग की उपस्थिति अनिवार्य है। सुषुप्ति अवस्था में मनस् का 'पुरीतत्' नाम की नाड़ी में प्रवेश श्रुति सिद्ध होने से मनस् का त्वक् से सम्बन्ध छूट जाता है और 'पुरीतत्' नाम की नाड़ी से संयोग स्थापित हो जाता है। फलस्वरूप उसके कार्य ज्ञान का भी अभाव रहता है। कारण के न रहने से कार्य का न होना स्वाभाविक है। जाग्रत् अवस्था में होने वाले **'न किंचिदवेदिषम्'**—इत्याकारक अनुभव के आधार पर भी नञ् का धात्वर्थ के साथ अन्वय करने से सुषुप्ति में ज्ञानसामान्याभाव प्रतीत होता है। अतः निद्रा से प्रवुद्ध व्यक्ति को होने वाला स्वाप सुखादिविषयक ज्ञान अनुमितिरूप है, स्मरणरूप नहीं। अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है—सुषुप्तिकालिक आत्मा में ज्ञान नहीं रहता है (प्रतिज्ञा), ज्ञान को उत्पन्न करने वाले साधन का अभाव होने से (हेतु), जैसे (ज्ञानोत्पादक-सामग्र्यभाव से) जैसे मुक्तावस्था में आत्मा ज्ञानाभाववान् होता है (उदाहरण)। उपर्युक्त अनुमान-प्रयोग से सुषुप्ति अवस्था ज्ञानाभावरूप अनुमित होती है। निम्नलिखित अनुमान-प्रयोग से सुषुप्ति अवस्था के सुख (दुःखाभाव) का अनुमित्यात्मक ज्ञान किया जा सकता है—सुषुप्तिकालिक आत्मा में दुःख नहीं रहता है (प्रतिज्ञा), दुःख के कारण का अभाव होने से (हेतु), जैसे मुक्तिकालिक आत्मा में दुःख नहीं रहता है (उदाहरण)। सो कर उठे हुए व्यक्ति को जो सुखविषयक अनुमिति होती है, वह दुखाभावरूप है। सौषुप्त दुःखाभाव में 'सुख' शब्द का प्रयोग औपचारिक है। अन्यथा सुषुप्ति में अनिर्णीत नित्य सुख की कल्पना करनी पड़ेगी, जिससे गौरवदोष आयगा। सुषुप्ति में भावरूप सुख का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि लौकिक सुख त्वङ्मनःसंयोग के विना नहीं हो सकता। यदि सुषुप्ति में सुखोत्पत्ति का कारण न रहने पर भी सुख का अस्तित्व मानें, तो उसे विलक्षण सुख कहना पड़ेगा, जो

---

[1] **इन्द्रियाद्युत्पत्तेः प्रागेव हिरण्यगर्भस्य ज्ञानोत्पत्त्या ज्ञानसामान्ये त्वङ्मनोयोगस्य हेतुत्वाऽयोगात्—यो० सि० चं० पृ० १२।**

त्वङ्मनःसंयोग की अपेक्षा नहीं रखता है। किन्तु ऐसा कहने पर गौरवदोष आयगा। लेकिन सुषुप्तिकालीन आत्मा में दुःखाभावरूप सुख मानने में कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि सुषुप्ति में इन्द्रियाँ किसी प्रकार का काम न करने से शान्त पड़ी रहती हैं। अतः सौषुप्त दुखाभाव में 'सुख' शब्द का प्रयोग गौण है। उपर्युक्त अनुमानप्रमाण के आधार पर सुषुप्ति को ज्ञानसामान्याभाव की अवस्था मानने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है।

द्वितीय पूर्वपक्ष का खण्डन—आचार्य नारायणतीर्थ का कहना है कि उपर्युक्त अनुमान-प्रयोग के आधार पर सुषुप्तिकालिक आत्मा को ज्ञानाभाववान् तभी सिद्ध किया जा सकता है, जब कि पक्ष (सुषुप्तिकालविशिष्ट आत्मा) के विशेषणांश सुषुप्ति के बारे में भी ज्ञान हो। क्योंकि पक्ष के अज्ञात रहने पर अनुमानप्रमाण का उदय नहीं होता है।[१]

तृतीय पूर्वपक्ष—नैयायिकों का कहना है—सुषुप्ति भी कालविशेष है; इसलिए सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति कालत्वेन सुषुप्ति (पक्ष) का ज्ञान कराता है; और पक्ष का ज्ञान होने पर अनुमानप्रमाण से सुषुप्तिकालिक आत्मा को ज्ञानाभाववान् सिद्ध किया जाता है।

तृतीय पूर्वपक्ष का खण्डन—जिस सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति द्वारा कालत्वेन सुषुप्ति के ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है, उस सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति में कोई प्रमाण नहीं है और उसे स्वीकार करना युक्तियुक्त नहीं है। अन्यथा सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति से सकल धूम एवं सकल वह्नि व्यक्तियों की उपस्थिति (प्रत्यक्ष) होने पर अनुमानप्रमाण का ही उच्छेद हो जायगा और सकल जीवों की सर्वज्ञता सिद्ध होगी। क्योंकि सामान्यलक्षण-प्रत्यासत्ति भी एक सन्निकर्ष है। यदि वह असन्निहित (दूरस्थ) विषयों से भी होता हो तो वह भूत, वर्तमान और भविष्य के समस्त पदार्थों से पुरुष को संयुक्त कर देगा। तब जीव की असर्वज्ञता में निमित्त ही क्या रहेगा? लेकिन यह अनुभवविरुद्ध है। अतः दोषयुक्त सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार सुषुप्ति पक्ष अज्ञात ही रहा और जब पक्ष अज्ञात है तो उसमें ज्ञानाभाव की सिद्धि कैसे की जा सकती है?[२]

सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति को यदि मान लिया जाए तो भी पूर्वपक्षी सुषुप्तिकालिक आत्मा को ज्ञानाभाववान् सिद्ध नहीं कर सकता है। क्योंकि सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति कालत्वेन सुषुप्ति का ज्ञान कराने पर भी सुषुप्तित्व से सुषुप्ति का ज्ञान न रहने से सुषुप्ति के ज्ञान से अघटित अर्थात् अज्ञान से घटित अथवा कालत्व से घटित अनुमानप्रयोग से जाग्रत् आदि अवस्था में भी ज्ञानसामान्याभाव सिद्ध होने लगेगा।[३] अतः कालत्वरूप सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति के द्वारा सुषुप्ति का ज्ञान रहने पर भी आप सुषुप्तिकालिक

---

[१] सुषुप्तिपरिचयं विना पक्षाज्ञानादनुमानानुदयाच्च—यो० सि० चं० पृ० १३।

[२] न च कालत्वादिना सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या परिचयः। सामान्यलक्षणाया एवा-लीकत्वात्—यो० सि० चं० पृ० १३।

[३] कालत्वरूपेण परिचयेऽपि सुषुप्तित्वरूपेणापरिचयात्तद्घटितानुमानस्य कालाऽन्तरीय-ज्ञानाऽभावसाधारण्यादर्थान्तरात्—यो० सि० चं० पृ० १३।

आत्मा को ज्ञानाभाववान् सिद्ध नहीं कर सकते हैं। इसलिए निद्रा से उत्थित व्यक्ति को होने वाला स्वापसुखादिविषयक ज्ञान अनुमितिरूप है, स्मरणरूप नहीं—यह सिद्ध नहीं हो सका। इसके सिद्ध न होने से अनुमानप्रयोग के आधार पर जो सुषुप्तिकालिक आत्मा को ज्ञानाभाववान् सिद्ध करना चाहते हैं, वह भी सिद्ध नहीं हो पाया।

चतुर्थ पूर्वपक्ष—नैयायिकों का कहना है कि कालत्व से सुषुप्ति-पक्ष को ज्ञात मानकर किए गए अनुमानप्रयोग से यदि उक्त दोष आता है तो निम्नलिखित पद्धति से सुषुप्ति (पक्ष) का ज्ञान किया जा सकता है इससे किसी भी प्रकार की असङ्गति नहीं आयगी। अहोरात्र (दिनरात) आठ प्रहर का होता है। छः प्रहर का दिन और दो प्रहर की रात्रि होती है। अतः दो प्रहर सोकर उठे हुए व्यक्ति को छः प्रहर का दिन होता है—ऐसा ज्ञान रहने से परिशेषानुमान द्वारा उसे अवशिष्ट दो प्रहर का सुषुप्तित्वरूपेण ज्ञान होगा और इस प्रकार पक्ष (सुषुप्तिकालविशिष्ट आत्मा) के ज्ञान रहने पर साध्य (ज्ञानाभाव) को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त हुआ अनुमान किसी प्रकार के दोष से ग्रसित नहीं होगा।

चतुर्थ पूर्वपक्ष का खण्डन—ऐसा कहना आचार्य **नारायणतीर्थ** के अनुसार उचित नहीं है।[१] क्योंकि अहोरात्र के पृथक्-पृथक् परिमाण को न जानने वाले अबोध बच्चों के छोड़कर अहोरात्र के परिमाण को जानने वाला व्यक्ति भी परिशेषानुमान पर ध्यान दिए विना ही 'मैं सुखपूर्वक सोया'—इस प्रकार का अनुभव (स्मरण) करता है। दूसरी वात यह है कि 'दो प्रहर की रात्रि (सुषुप्ति) होती है'—इस प्रकार सुषुप्ति के काल का ज्ञान रहने पर भी सुषुप्ति के विषय में तो अज्ञान ही वना रहा। इससे प्रहरद्वयविशिष्ट आत्मा ज्ञानाभाववान् सिद्ध हो सकती है, न कि सुषुप्तिकालिक आत्मा को ज्ञानाभाववान् सिद्ध किया जा सकता है। फिर जब सुषुप्ति का ज्ञान ही नहीं होता तो 'अस्वाप्सम्'—इत्याकारक प्रतीति भी नहीं वन सकेगी। लेकिन सोकर उठा हुआ व्यक्ति 'मैं खूब सोया'—ऐसा अनुभव (स्मरणात्मकज्ञान) किया करता है। अतः पूर्वपक्षी का स्वाप, सुखादि विषयक अनुमित्यात्मक ज्ञान किसी प्रकार उपपन्न नहीं हो सकता है। दूसरी वात यह है कि निश्चित दो प्रहर (जैसे षष्ठ एवं सप्तम प्रहर) वाली सुषुप्ति नहीं हो सकती है। अन्यथा वे दो प्रहर सबके लिए समान होने से रोग आदि के कारण सौषुप्त प्रहरों में जगे हुए रुग्ण व्यक्ति को भी—सुषुप्ति-काल (दो प्रहर) के व्यतीत होने पर—'अस्वाप्सम्—इस प्रकार का अनुभव होने की आपत्ति आयगी। सुषुप्ति के निश्चित दो प्रहरों में आत्मा के प्रत्यक्षयोग्य ज्ञान, सुख, दुःख आदि विशेषगुणों का व्यक्ति में अभाव भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि सुषुप्ति के उन दो प्रहरों में जगे हुए व्यक्ति में ज्ञानादि देखे जाते हैं।

पंचम पूर्वपक्ष—नैयायिक कह सकते हैं—प्रत्येक व्यक्ति का सुषुप्तिकाल भिन्न-भिन्न होता है। अतः जिस काल में जिस व्यक्ति को अपने आत्मा के प्रत्यक्षयोग्य विशेषगुण ज्ञान, सुख, दुःख आदि का अनुभव नहीं होता है, उस व्यक्ति के लिए वही सुषुप्तिकाल है।

---

१ अहोरात्रपरिमाणादिविवेकरहितानामपि मुग्धबालप्रभृतीनाम्, तद्विवेकवतामपि विनैव तत्प्रतिसन्धानं सुखमहमस्वाप्समिति प्रतीतिसत्त्वात्।…पुरुषान्तरे तदा ज्ञानाद्यन्यतमसत्त्वात्—यो० सि० चं० पृ० १३।

पञ्चम पूर्वपक्ष का खण्डन—पूर्वपक्षी की उपर्युक्त युक्ति आचार्य **नारायणतीर्थ** के अनुसार ठीक नहीं है। क्योंकि पुरुषों के अनन्त होने से प्रत्येक का सुषुप्तिकाल भिन्न-भिन्न है एवं उसका परिमाण भी अनिश्चित है। इससे पूर्वपक्षी के मत में 'स्वप्' धातु के अनेक अर्थ होने लगेंगे। लेकिन योगमत में सुषुप्ति (स्वाप) एक जातिविशेष है। अतः नैयायिक की तरह योगाचार्यों को 'स्वप्' धातु के अनेक अर्थ नहीं मानने पड़ेंगे; केवल 'स्वप्' धातु का जो एक अपना अर्थ है, वही रहेगा। फलस्वरूप योगमत में लाघव और न्यायमत में गौरवदोष होगा।[1]

षष्ठ पूर्वपक्ष नैयायिकों का कहना है—जिस काल में नाड़ीविशेष और मनस् का संयोग होता है, वह काल ही सुषुप्ति कहलाता है।

षष्ठ पूर्वपक्ष का खण्डन—ऐसा कहना भी **नारायणतीर्थ** के अनुसार युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि नाड़ीविशेष और मनःसंयोग के अतीन्द्रिय होने से संयोगरूप सुषुप्ति का अनुभव किसी को नहीं हो सकेगा। इससे जाग्रत्काल में स्वापविषयक **'अस्वाप्सम्'**—इस प्रकार का स्मरण-ज्ञान भी नहीं हो सकेगा। लेकिन जाग्रत्काल में **'अस्वाप्सम्'**—आदि स्मृतिवृत्तियाँ देखी जाती हैं; इससे सुषुप्ति में उनका कारण अनुभवात्मक ज्ञान अनुमित होता है। अतः पूर्वपक्षी को ज्ञानसामान्य के प्रति ऐसे कारण की कल्पना करनी चाहिए जिससे सुषुप्तिकालिक ज्ञान सिद्ध हो सके और निद्रात्मक ज्ञान के पश्चात् जाग्रत् अवस्था में होने वाले **'सुखमहमस्वाप्सम्'** इत्यादि प्रकार के स्मरण के विषयभूत तीन पदार्थ (स्वाप, सुख, अहम्) में से **'अहम्'** विषय जाग्रत्काल में भी वर्तमान रहे। भले ही स्वाप और सुख दोनों अतीत रहें। अतः विशेष्य (स्वाप) के अतीत होने से विशेषण 'अहम्' में भी अतीतत्व का आरोप करके सम्पूर्ण **'सुखमहमस्वाप्सम्'**—वृत्ति को स्मरणरूप माना जाता है। अथवा वार्तमानिक **'अहम्'** अंश में प्रत्यक्ष-ज्ञान और अतीत सुख तथा स्वाप अंश में स्मरणात्मक ज्ञान होता है।[3] वेदान्तमत में नित्य-सुख के सदा वर्तमान रहने से स्मरणज्ञान ही नहीं बन सकेगा किन्तु हमारे मत में मनः-परिणामजन्य सुख में भी अतीतत्व है। इससे 'सुख' अंश में भी स्मरणात्मक ज्ञान हो सकता है।[4] अतः जीव की सुषुप्ति अवस्था में भी स्वापप्रधाना वृत्ति रहती है। इसे योगशास्त्र में निद्रावृत्ति संज्ञा दी गई है।

---

[1] **पुरुषाणामानन्त्यात् प्रतिपुरुषं च सुषुप्तिकालानामानन्त्याद् अनियतपरिमाणत्वाच्च स्वपिधातोरव्यवस्थितानन्तार्थकत्वापत्तेः। मम तु.......अवस्थाविशेषनिष्ठो जातिविशेष इत्यनुगमादेकार्थत्वोपपत्तिः—यो० सि० चं० पृ० १३।**

[2] **तस्यातीन्द्रियत्वेनाबालानां जनानाम् अस्वाप्समिति स्मृतिहेतुप्रत्यक्षाऽयोगात्—यो० सि० चं० पृ० १३।**

[3] **अत्र यद्यप्यहमर्थस्य वर्त्तमानतया प्रत्यक्षत्वान्न स्मृतिः, तथापि स्वापावस्थाया अतीतत्वाद् भवति स्मृतिः—यो० सि० चं० पृ० १३।**

[4] **सुखस्य वेदान्तनये नित्यतया वर्त्तमानत्वाद् अस्मरणापत्तिः। स्वमते तु मनः-परिणामरूपस्य तस्याप्यतीतत्वात् सम्भवति तस्यापि स्मृतिः—यो० सि० चं० पृ० १३-१४।**

स्मृति-वृत्ति—स्मृति-वृत्ति प्रमाणादि वृत्तियों के अनुभवजन्य संस्कारों से उत्पन्न होती है। इसलिए स्मृति-वृत्ति का सबसे अन्त में वर्णन किया गया है।[१] सरल शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रमाणादि वृत्तियों से उत्पन्न हुआ ज्ञान हमेशा विद्यमान नहीं रहता है। वह तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है। ज्ञान का स्वभाव है कि वह स्वयं नष्ट हो जाता है किन्तु अपना संस्कार चित्त में छोड़ जाता है। ज्ञानजन्य संस्कार चित्त में प्रसुप्त अवस्था में पड़ा रहता है। कालान्तर में उद्‌बोधक सामग्री से जैसे ही वह उद्‌बुद्ध होता है वैसे ही संस्कार का आधारभूत चित्त संस्कार के जनक अनुभव के विषय के आकार में परिणत हो जाता है। चित्त के इस प्रकार के परिणाम को स्मृति-वृत्ति कहते हैं। स्मृति-वृत्ति से पूर्वानुभूत पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे स्मरणज्ञान कहते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष आदि अनुभवजन्य संस्कार के अनन्तर ही स्मरणज्ञान उत्पन्न होता है, अतः उसके साधनभूत स्मृत्ति-वृत्ति का अन्त में वर्णन किया जाना उचित है।

स्मृति-वृत्ति के लक्षण पर विचार—सूत्रकार पतञ्जलि ने **'अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः'**—इस प्रकार स्मृति-वृत्ति का लक्षण किया है।[२] आचार्य **व्यासदेव, वाचस्पति, भोजदेव** आदि योग के अधिकांश व्याख्याकारों द्वारा उसी रूप में वह स्वीकार भी किया गया है। केवल आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **भावागणेश** को स्मृति का उक्त लक्षण अतिव्याप्ति आदि दोष से युक्त प्रतीत हुआ। इसलिए इन विद्वानों ने स्मृति के लक्षण के परिष्कार की बात भी सोची।

स्मृति-वृत्ति का परिष्कृत लक्षण—आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **भावागणेश** का कहना है कि सूत्रकार ने स्मृति का सामान्यलक्षण किया है। यह प्रत्यभिज्ञाज्ञान में अतिव्याप्त होता है।[३] प्रत्यभिज्ञा पूर्वानुभूतविषयक होता है लेकिन प्रत्यभिज्ञा स्मृति से भिन्न है। अतः **पतञ्जलिकृत** स्मृति के लक्षण में **'संस्कारमात्रजन्यत्व'**—इस विशेषण पद का सन्निवेश करना चाहिए,[४] जिससे स्मृति का लक्षण अलक्ष्यभूत प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्त न हो सके। प्रत्यभिज्ञा संस्कारजन्य होने पर भी संस्कारमात्रजन्य नहीं है; क्योंकि उसकी उत्पत्ति के प्रति संस्कार एवं इन्द्रियार्थसन्निकर्ष दोनों कारण हैं। अतः स्मृति एवं अनुभव उभयरूप प्रत्यभिज्ञा में स्मृति का परिष्कृत लक्षण नहीं जाता है। स्मृति के लक्षण में **'संस्कारमात्रजन्यत्व'** पद का निवेश करना आवश्यक है। अथवा स्मृति का **'संस्कारमात्रजन्यत्वमेव स्मृतित्वम्'**—ऐसा ही लक्षण किया जाए।[५]

---

[१] सर्वा स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवाद् भवन्ति—व्या० भा० पृ० ४३।

[२] यो० सू० १।११।

[३] सूत्रकारेण तु स्मृतेः प्रायिकं स्वरूपमेवोक्तम्—यो० वा० पृ० ४१।

[४] (क) अथवा सूत्रोक्तमेव लक्षणं तच्च संस्कारमात्रजन्यत्वेन विशेषणीयम्—यो० वा० पृ० ४१।
(ख) अत्र प्रत्यभिज्ञाव्यावृत्तये संस्कारमात्रजन्यत्वं विवक्षणीयम्—भा० ग० वृ० पृ० १०।

[५] संस्कारमात्रजन्यत्वमेव स्मृतिलक्षणम्—यो० वा० पृ० ४१।

परिष्कृत लक्षण की अनुपयोगिता—विज्ञानभिक्षु एवं भावागणेश आदि ने प्रत्यभिज्ञा में पतञ्जलिकृत स्मृति के लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारणार्थ **'संस्कारमात्रजन्यत्व** विशेषण पद जोड़ने का जो परामर्श दिया है वह अनुपयोगी (अनावश्यक) प्रतीत होता है। पतञ्जलिकृत स्मृति का लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भवदोष से रहित है। स्मृति के लक्षण में प्रयुक्त **'असम्प्रमोष'** पद से स्मृति का लक्षण प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्त नहीं होता है। इसे शब्दान्तर में इस प्रकार कहा जा सकता है—'सम्प्रमोष' पद सम्-प्र-पूर्वक 'मुष स्तेये' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ 'चोरी करना' है। इसके साथ नञ् लगाने से 'असम्प्रमोष' पद बनता है, जो सम्प्रमोष का विलोमरूप है और उसके ठीक विपरीत अर्थ—'चोरी नहीं करना'—का वाचक है। स्मरण-ज्ञान के स्थल में **'असम्प्रमोष'** पद का अर्थ 'अनुभूतविषयातिरिक्तविषयाग्रहण' है। अर्थात् जो अपने जनक अनुभव से गृहीत विषयों से अतिरिक्त अगृहीत-विषयों (अनधिगत विषयों) को ग्रहण (विषय) नहीं करता है वह स्मरण कहा जाता है। दूसरे शब्दों में स्मृति सदा ज्ञातविषयिणी ही होती है।[१] अतः अनुभव के विषय से अधिक वर्तमान काल तथा पुरोवर्ति-देश को भी विषय करने वाले **'सोऽयं देवदत्तः'**—इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में स्मृति का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है। क्योंकि इसमें अनुभूतविषयातिरिक्त विषय का ग्रहण होने से असम्प्रमोषत्व नहीं अपितु सम्प्रमोषत्व है। अतः जब सूत्रकार द्वारा स्मृति के लक्षण में 'असम्प्रमोष' पद का चयन प्रत्यभिज्ञा में स्मृति के लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारणार्थ ही हुआ है, तब उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आचार्य **विज्ञानभिक्षु एवं भावागणेश** द्वारा स्मृति के लक्षण में **'संस्कारमात्रजन्यत्व'**—पद जोड़ने का परामर्श देकर सूत्रकारकृत लक्षण को अपूर्ण बतलाना असङ्गत प्रतीत होता है। अथवा 'संस्कारमात्रजन्यत्व' को ही स्मृति का लक्षण कहकर **पतञ्जलि** द्वारा प्रवर्तित स्मृति के नवीन एवं निर्दुष्ट लक्षण में अश्रद्धा प्रकट करना आवश्यक नहीं है।

इसलिए योगसूत्र के भाष्यकार आचार्य **व्यासदेव**, भाष्य के व्याख्याकार **वाचस्पति मिश्र, हरिहरानन्द आरण्यक** तथा वृत्तिकार **भोजदेव, रामानन्दयति, नागेशभट्ट, सदाशिवेन्द्र सरस्वती, अनन्तदेव पण्डित** तथा **बलदेव मिश्र** आदि को स्मृति के लक्षण में परिष्कार करना आवश्यक नहीं प्रतीत हुआ। आचार्य **वाचस्पति मिश्र, हरिहरानन्द आरण्यक, नागेशभट्ट** तथा **बलदेव मिश्र** ने स्मृति-लक्षण का तात्पर्यार्थ[२] बतलाते हुए **'नाधिकविषया स्मृतिः'**—इन शब्दों

---

[१] **संस्कारमात्रजन्यस्य हि ज्ञानस्य संस्कारकारणानुभवावभासितो विषय आत्मीयः तदधिकविषयपरिग्रहस्तु सम्प्रमोषः=स्तेयः·······कस्मात् ? सादृश्यात् 'मुष स्तेय' इत्यस्मात्सम्प्रमोषपदव्युत्पत्तेः। एतदुक्तं भवति—सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति; स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति—त० वै० पृ० ४१।**

[२] **(क) न तु तदधिकविषया—त० वै० पृ० ४१।**

(ख) अनुभूतविषयादनधिकविषयेति यावत्। ····सर्वथा नाधिकविषयेति तात्पर्यम्—ना० ल० वृ० पृ० १०।

(ग) अनुभूतविषयाणामसम्प्रमोषः=तावन्मात्रग्रहणं नाधिकस्मृतिः–भा० पृ० ४१।

का जो प्रयोग किया है, उससे भी आचार्य वाचस्पति आदि के मतानुसार स्मृति के लक्षण की प्रत्यभिज्ञा में अनतिव्याप्ति सिद्ध होती है। अतः इन सबकी व्याख्या सूत्रानुसारिणी है।

आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **भावागणेश** के समान योगसिद्धान्तचन्द्रिकाकार **नारायण तीर्थ** ने पतंजलिकृत स्मृति के लक्षण में परिष्कार करने की बात नहीं कही। उन्होंने उसे स्मृति का निर्दुष्ट लक्षण घोषित किया है फिर भी वे न्यायदर्शन के संस्कार से न्यायशास्त्रानुमोदित **'संस्कारमात्रजन्यत्व'**—को भी स्मृति का दूसरा लक्षण बतलाते हैं। उनके मत में दोनों स्मृति के अन्यूनातिरिक्तप्रसक्त लक्षण हैं।[1] अतः आचार्य विज्ञानभिक्षु एवं **नारायण-तीर्थ** दोनों ने एक ही उद्देश्य से स्मृति के लक्षण पर विचार किया है—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

'प्रमुष्टतत्ताकज्ञान' की श्रेणी का निर्णय—प्रमुष्टतत्ताकज्ञान की श्रेणी के सम्बन्ध में योगशास्त्र में दो प्रकार की विचारधाराएँ उपलब्ध होती हैं।

प्रथम मत—स्मरण श्रेणी—आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **भावागणेश** को छोड़कर **वाचस्पति मिश्र** आदि व्याख्याकार प्रमुष्टतत्ताक ज्ञान को स्मरणकोटि में रखते हैं।

द्वितीय मत—अनुभव श्रेणी—आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **भावागणेश** प्रमुष्टतत्ताकज्ञान को अनुभव-कोटि का बतलाते हैं। इन दोनों व्याख्याकारों का मत है कि संस्कारमात्र-जन्य होने पर भी प्रमुष्टतत्ताकज्ञान स्मरणात्मक नहीं है। यह अनुभव के अन्तर्गत है।[2] पदज्ञानजन्य संस्कार से होने वाली पदार्थोपस्थिति में 'स्मराभि'—इस प्रकार का स्फुट-व्यवहार नहीं देखा जाता है।[3] घट-पद का ज्ञान होने पर घटपदविषयक संस्कार बनता है। तदनन्तर घटपदविषयक संस्कार से भविष्य में घट-पदार्थ की उपस्थिति होती है। इस पदार्थोपस्थिति को अनुभव कहना चाहिए। क्योंकि इस उपस्थिति का आकार **'स घटः'** नहीं है। इसी प्रकार **'स घटः'**—इत्याकारक अनुभवजन्य संस्कार से जायमान **'घटः'**—इस प्रकार का प्रमुष्टतत्ताकज्ञान (संस्कारमात्रजन्य होने पर भी) स्मरणरूप नहीं है। पक्षान्तर में **स घटः**—इत्याकारक अप्रमुष्टतत्ताकज्ञान स्मरण है क्योंकि यहाँ 'तत्' पद से पदार्थ की पूर्वोपस्थिति का बोध हो रहा है।[4] अतः प्रमुष्टतत्ताक ज्ञान को अनुभव श्रेणी में रखना चाहिए।

---

[1] अनुभूयते···लक्षणस्य लक्षणान्तराविरोधित्वात्—यो० सि० चं० पृ० १४।

[2] (क) प्रमुष्टतत्ताकं तु संस्कारमात्रजन्यमपि ज्ञानमनुभवमध्ये प्रवेशनीयम्—यो० वा० पृ० ४१।
(ख) प्रमुष्टतत्ताकस्मरणं त्वनुभवमध्ये प्रवेशनीयम्—भा० ग० वृ० पृ० १०।

[3] (क) शब्दजन्यपदार्थोपस्थित्यादौ स्मरामीति स्फुटं व्यवहारादर्शनात्—यो० वा० पृ० ४१।
(ख) प्रमुष्टतत्ताकशब्दजन्यपदार्थोपस्थित्यादौ स्मृतिव्यवहाराभावात्—भा० ग० वृ० पृ० १०।

[4] स घटः स घट इत्यादिप्रत्यय एव स्मृतिशब्दवाच्य इत्याशयः। तत्र स इति पूर्वोपस्थितिरपि भासत एवेति—भा० ग० वृ० पृ० १०।

मूल्यांकन—प्रमुष्टतत्ताकज्ञान को अनुभव कोटि में रखने वाले आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **भावागणेश** का उपर्युक्त पक्ष उचित नहीं प्रतीत होता है। सूत्र में **'असम्प्रमोष'** पद के प्रयोग द्वारा सूत्रकार ने स्मृति के जनक अनुभव के विषयों में से अधिक विषयों का ग्रहण न करना ही स्मृति का स्वरूप बतलाया है। यदि स्मृति अनुभूत विषयों का आंशिक ग्रहण करे तो कोई आपत्ति नहीं है। वस्तुतः संस्कारोद्‌बोधक दोष के कारण कभी-कभी वह अनुभव के द्वारा गृहीत पदार्थों में से कतिपय पदार्थों को ही अपना विषय बना पाती है। सूत्रकार के अनुसार पदार्थोपस्थिति **'स घटः'**—इत्याकारक नहीं होने पर भी स्मृत्यात्मक ही है।

किंच **व्यासदेव** द्वारा सुषुप्ति में जायमान निद्रावृत्तिजन्य ज्ञान से जाग्रत्-अवस्था में होने वाले स्मरण का आकार **'सुखमहमस्वाप्सम्, दुःखमहमस्वाप्सम्'**—इत्यादि प्रकार का जो बतलाया गया है, उससे सिद्ध होता है कि उन्हें प्रमुष्टतत्ताक ज्ञान का स्मरण कोटि में प्रवेश करना अभीष्ट है—ऐसा चन्द्रिकाकार **नारायणतीर्थ** ने बतलाया है।[१] अपि च कक्षा में गुरु द्वारा कथित शब्दों के श्रवण से विद्यार्थी की तत्-तत् शब्द के आकार वाली चित्तवृत्ति बनती है; तदनन्तर अर्थबोध भी होता है। किन्तु घर पहुँचकर स्वयं पढ़ते समय विद्यार्थी को जब स्मरण होता है तब वह कक्षा में अनुभूत विषयों का क्रम, अक्रम, विपरीत-क्रम अथवा न्यूनरूप से स्मरण कर पाता है। अतः प्रमुष्टतत्ताक ज्ञान को स्मरण कोटि में न रखने का प्रस्ताव शास्त्र तथा लोकानुभव के विरुद्ध है।

आचार्य **वाचस्पति मिश्र**, **नागेश भट्ट** तथा **हरिहरानन्द आरण्यक** आदि ने प्रमुष्टतत्ताकज्ञान के स्मृतित्व का समर्थन अपने-अपने व्याख्याग्रन्थों में **'ऊनविषयिणी स्मृतिः'**, **'न्यूनविषया स्मृति'**:—इत्यादि मिलते-जुलते शब्दों के प्रयोग द्वारा किया है।[२] अतः **वाचस्पति** आदि व्याख्याकारों की व्याख्या सूत्र एवं भाष्यानुसारिणी है।

अनुभव एवं स्मृति के आलम्बन में मुख्य अन्तर—शङ्का उत्पन्न होती है कि जब अनुभव के तुल्य विषय वाली ही स्मृति है, तब अनुभव और स्मरण के रूप से ज्ञान का द्विविध विभाजन क्यों किया गया है? उक्त शङ्का के समाधानार्थ आचार्य **व्यासदेव** ने **ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः, ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः**[३]—यह वाक्य प्रस्तुत किया है। आचार्य **वाचस्पति मिश्र**[४]

---

[१] अतएव निद्रासूत्रे उदाहृतसुखस्मरणस्योद्‌बोधकदोषात् प्रमुष्टतत्ताकत्वेऽपि नैतत्सूत्र-विरोध इति वदन्ति—यो० सि० चं० पृ० १५।

[२] (क) तद्विषया तदूनविषया—त० वै० पृ० ४१।
(ख) एवं चानुभवसमानविषया प्रायः कदाचिन्न्यूनविषया—ना०ल० वृ०पृ०१०।

[३] व्या० भा० पृ० ४२।

[४] ग्रहणम्=उपादानम्। न च गृहीतस्योपादानं सम्भवति, तदनेनानधिगतबोधनं बुद्धिः·······ग्राह्याकारः पूर्वः=प्रथमो यस्याः सा तथोक्ता। इदमेव च ग्राह्याकारस्य ग्राह्यस्य पूर्वत्वं यद् वृत्त्यन्तरविषयीकृतत्वमर्थस्य, तदनेन वृत्त्यन्तरविषयीकृतगोचरा स्मृतिरित्युक्तं भवति—त० वै० पृ० ४२।

एवं उनके मतानुयायी **हरिहरानन्द आरण्यक**,[१] **व्यास**कृत उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार करते हैं--'**ग्रहण**' पद का अर्थ उपादान (स्वीकार करना) है। पूर्वगृहीत पदार्थ का उपादान नहीं हुआ करता, अपितु अगृहीत पदार्थ को ही ग्रहण करते देखा गया है। अनुभव अगृहीत (अनधिगत) पदार्थ को विषय बनाता है। लेकिन स्मृति प्रमाणादि वृत्तियों से ज्ञात (गृहीत= अधिगत) विषय वाली होती है। अतः अनुभव और स्मरण में समानविषयता रहने पर भी विषयों का अनधिगतत्व एवं अधिगतत्व दोनों ज्ञानों को भिन्न सिद्ध करता है।

अनुभव एवं स्मरण का परस्पर भेद प्रदर्शित करने के लिए **व्यासदेव** की उपर्युक्त पंक्ति के '**पूर्व**' पद का अर्थ[२] 'विशेष्य' या 'मुख्य' करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** कहते हैं[३] कि अनुभव विषयप्रकारक एवं ज्ञानविशेष्यक होता है तथा स्मरण विषय-विशेष्यक होता है। अतः अनुभव एवं स्मरण में आत्यन्तिक समानता नहीं समझनी चाहिए।[४] आचार्य **विज्ञानभिक्षु** के समान **नारायणतीर्थ** भी 'पूर्व' पद का अर्थ 'विशेष्य' करके अनुभव तथा स्मरण के समान विषयों में केवल विशेषण और विशेष्य का अन्तर मानते हैं।[५]

अनुभव के तुल्य स्मरण की ग्राह्यग्रहणोभयविषयता दोनों आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से सिद्ध की है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** का मत है कि '**घटमहं जानामि**'--इस प्रकार के अनुव्यवसायज्ञानजन्य संस्कार से ही '**स घटः**'—इस प्रकार का स्मरण होता है। अनुभव में वित्ति (ज्ञान) और वेद्य (ग्राह्य) दोनों विषय होते हैं। व्यवसायज्ञानजन्य संस्कार से स्मरणात्मक ज्ञान नहीं होता है।[६] क्योंकि **अयं घटः**—इत्यादि व्यवसायज्ञानजन्य संस्कार होने वाले '**घटः**'—इस प्रकार का ज्ञान प्रमुष्टतत्ताक होने से अनुभवरूप माना जाता है। अत. अनुव्यवसायज्ञानजन्य संस्कार से ही होने वाले '**स घटः**'--इत्याकारक ज्ञान में '**तत्**' पद से ज्ञान की विषयता सिद्ध होती है। क्योंकि तत्ता का अर्थ पूर्वज्ञातत्व है। उक्त ज्ञान में घट विशेष्य का ज्ञान विशेषण है।[७] अनुव्यवसायज्ञानजन्य संस्कार से ही ग्राह्य-ग्रहणोभयविषयक स्मृति होती है, व्यवसायज्ञानजन्य—संस्कार से स्मरण ज्ञान नहीं हो सकता—आचार्य **नारायणतीर्थ** ने ऐसा नहीं कहा है। योगसिद्धान्तचन्द्रिका में उन्होंने ज्ञानमात्र को

---

१ ग्रहणमनधिगतविषयस्योपादानं तदाकारप्रधाना व्यवसायप्रधाना बुद्धिः···व्यवसेय-विषयप्रधाना स्मृतिः—भा० पृ० ४२-४३।

२ पूर्वं मुख्यं विशेष्यमिति यावत्—यो० वा० पृ० ४२।

३ ···प्रत्ययो ग्रहणाकारविशेष्यिका भवति······स्मृतिस्तु ग्राह्याकारविशेष्यिका भवति—यो० वा० पृ० ४२।

४ तयोः प्रत्ययस्मरणयोरत्यन्तं समानाकारत्वं न मन्तव्यम्—यो० वा० पृ० ४२।

५ घटमहं जानामीति ज्ञानविशेष्यकोऽनुभवः। स घट इति घटविशेष्यिका स्मृतिरिति तदर्थः···। अत्र पूर्वशब्दो विशेष्यपरः। -यो० सि० चं० पृ० १५।

६ ननु किं व्यवसायस्य संस्कारजनकत्वमेव नास्ति? न नास्ति, किंतु तत्संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिर्न भवति– यो० वा० पृ० ४२।

७ तत्ता च पूर्वज्ञानत्वरूपा। अतः स्मृतौ ज्ञानस्य ग्राह्यं विशेष्यमिति—यो० वा० पृ० ४२।

व्यवसायरूप सिद्ध किया है[१] । इसके वित्ति और वेद्य दोनों विषय होते हैं। अतः किस प्रकार के ज्ञान से उभयविषयक स्मृति हो सकती है?—ऐसा प्रश्न आचार्य **नारायणतीर्थ** के मत में उत्पन्न ही नहीं होता है।

ज्ञान-मात्र की व्यवसायरूपता—आचार्य **नारायणतीर्थ** के अनुसार ज्ञानमात्र व्यवसायरूप है। अनुभवात्मक ज्ञानकाल में चितिशक्ति (पुरुष) अनुभव और अनुभव के विषय घटादि दोनों को अपरोक्षरूप से ग्रहण करती है। **'अयं घटः'**—इस प्रकार के अनुभवजन्य संस्कार से उत्पन्न होने वाले **'स घटः'**—इत्याकारक स्मरण में विषयतासम्बन्ध से अनुभवविशिष्ट घटविशेष्यक ज्ञान होता है। **'अयं घटः'**—इस प्रकार के अनुभवात्मक ज्ञान के स्थल में यदि ज्ञान और घटादि विषय दोनों चितिशक्ति द्वारा गृहीत न हों तो अनुभवजन्य संस्कार से उत्पन्न होने वाली स्मृतिवृत्ति ज्ञान और विषय उभयविषयक नहीं हो सकती; क्योंकि यह नियम है कि जिस प्रकार का अनुभव होता है उसी प्रकार का स्मरण होता है। अतः **'स घटः'**—इत्याकारक स्मरणज्ञान की उपपत्ति के लिए अनुभव में वित्ति और वेद्य उभयविषयक ज्ञान होना अनिवार्य है। इससे समस्त ज्ञान की स्वप्रकाशता तथा व्यवसायरूपता सिद्ध होती है। अनुभव और स्मरण में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। यत्-प्रकारक और यत्-विशेष्यक अनुभव होता है, तत्-प्रकारक और तत्-विशेष्यक स्मरण होता है।

पूर्वपक्षी कह सकता है कि—**घटमहं जानामि**—इस अनुभव से होने वाले **'स घटः'**—इत्याकारक स्मृतिस्थल में अनुभव और स्मरण का समानप्रकारक एवं समानविशेष्यक कार्यकारणभाव संबन्ध सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि **'घटमहं जानामि'**—इस अनुभवात्मक ज्ञान में ज्ञानविशेष्य है और तज्जन्य **'स घटः**—इस स्मरणात्मक ज्ञान में घट विशेष्य है। अतः अनुभव और स्मरण के कार्यकारणभाव सम्बन्ध का बनाया हुआ—'यत्-प्रकारक यद्विशेष्यक अनुभव होता है तत्प्रकारक तद्विशेष्यक स्मरण होता है—यह नियम उचित नहीं है। इसके उत्तर में **नारायणतीर्थ** का कहना है कि सामान्यतः अनुभव और स्मरण का समान विषयताघटित कार्यकारणभाव समझना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि अनुभवात्मक ज्ञान का विशेष्यभूत ज्ञान स्मरणात्मक ज्ञान में भी विशेष्य ही रहे। अतः अन्य (ज्ञान)-विशेष्यक अनुभवात्मक ज्ञान से अन्य (घट)-विशेष्यक स्मरणज्ञान हो सकता है।[२] व्यासभाष्य की **'ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः, ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः'**—पंक्ति से भी उक्त सिद्धान्त की प्रामाणिकता समर्थित होती है। क्योंकि **व्यासदेव** की इस पंक्ति में **'पूर्व'** पद से विशेष्य का ग्रहण होता है।

इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि जब भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले **घटमहं स्मरामि** और **स घटः**—इत्याकारक दो प्रकार के स्मरणज्ञान का जनक **'घटमहं जानामि'**—इत्याकारक

---

[१] सर्वमेव ज्ञानं व्यवसायात्मकम्—यो० सि० चं० पृ० १४।

[२] यदि च घटमहं जानामीति ज्ञानादपि स घट इति तत्ताप्रकारिका स्मृतिस्तदास्तु प्रकारकत्वविशेष्यकत्वादिमनन्तर्भाव्यसमानविषयत्वेनैवानुभवस्मृत्योः कार्यकारण-भावः—यो० सि० चं० पृ० १५।

एक ही अनुभवज्ञान हो सकता है, तब घटमहं जानामि—इत्याकारक ज्ञान होते ही युगपत् दो प्रकार की स्मरणात्मक वृत्तियाँ होने लगेंगी। इसके उत्तर में आचार्य नारायणतीर्थ का कहना है—यद्यपि एक प्रकार के अनुभव से विशेषण तथा विशेष्य के भेद से दो प्रकार की स्मृतियाँ हो सकती हैं, तथापि तत्-तत् स्मृति की उद्‌बोधक सामग्री भिन्न-भिन्न होने से जिस काल में स्मरणज्ञान का जो उद्‌बोधक उपस्थित होगा, उस काल में तादृश स्मृति होगी। अतः एक ही काल में दो प्रकार की स्मरणात्मक वृत्तियाँ नहीं बन सकती हैं।[1]

यहाँ लक्षणीय है कि न्याय तथा वेदान्तदर्शन में व्यवसाय एवं अनुव्यवसायरूप—दो प्रकार का ज्ञान स्वीकार किया गया है; लेकिन योगसम्प्रदाय में दो प्रकार का ज्ञान नहीं माना गया है।[2] इनके यहाँ ज्ञान व्यवसायरूप ही है। प्रभाकर मीमांसकसम्प्रदाय में भी ज्ञानमात्र को व्यवसायरूप अङ्गीकार किया गया है। इनका वक्तव्य है—जैसे दीपक घट को तथा अपने को प्रकाशित करता है उसी प्रकार स्वतःप्रकाशरूप ज्ञान का स्वभाव है कि वह घट, पटादि विषयों के प्रकाशकाल में अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है।

नारायणतीर्थ द्वारा अनुमोदित उक्त पक्ष के लिए निम्नलिखित विषय पर ध्यान देना आवश्यक है—नैयायिक के अनुसार अयं घटः तथा घटमहं जानामि—दो प्रकार का ज्ञान माना जाता है। प्रथम ज्ञान बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षात्मक तथा द्वितीय ज्ञान अन्तरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षात्मक है।[3] प्रथम ज्ञान द्वितीय ज्ञान का कारण है। इसलिए प्रथम ज्ञान का नाम व्यवसाय होने पर द्वितीय ज्ञान का नाम अनुव्यवसाय है। इसी प्रकार ज्ञानद्वय का कार्य-कारणभाव होने से दोनों ज्ञान परस्पर भिन्न हैं। वेदान्ती के अनुसार भी अयं घटः तथा घटमहं जानामि—दो प्रकार का ज्ञान माना जाता है। उनकी दृष्टि से अयं घटः—यह ज्ञान घटाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यात्मक है। घटमहं जानामि—इत्याकारक द्वितीय ज्ञान घटोभहित साक्षिचैतन्यात्मक है।[4] इस प्रकार दोनों ज्ञान चैतन्यात्मक होने पर भी प्रथम ज्ञान में वृत्ति अवच्छेदक है किन्तु द्वितीय ज्ञान में वृत्ति उपाधि है—यह ज्ञानद्वय में परस्पर भेद है। आचार्य नारायणतीर्थ के अनुसार अयं घटः—इत्याकारक ज्ञान तथा घटमहं जानामि—इत्याकारक ज्ञान वृत्त्यात्मक है तथा दोनों ज्ञान वस्तुतः एक ही हैं।[5] उनका कहना है कि घटाकार-

---

[1] विशेष्योद्‌बोधकानां हेतुत्वकल्पनाभिस्तन्निरासादिति यत्किञ्चिदेतत्—
योo सिo चंo पृo १५।

[2] स्वमते तु न तथा—योo सिo चंo पृo १५।

[3] तार्किकस्यायं घटो घटमहं जानामीत्यनयोर्व्यवसायानुव्यवसायभेदाद्भेदः। पूर्वस्य विषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्यस्य विषयमात्रग्राहकत्वात्। द्वितीयस्य तु मनोमात्रजन्यस्य ज्ञानगोचरत्वात्—योo सिo चंo पृo १५।

[4] वेदान्तिनस्तु वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमज्ञाननाशकं व्यवसायः, विषयमात्रग्राहकत्वात्। वित्तिवेद्योभयार्थग्राहकं वृत्त्याद्युपहितं त्वनुव्यवसायः—योo सिo चंo पृo १५।

[5] वृत्तिवेद्योभयविषयत्वेन द्वयोरपि व्यवसायस्थानीयत्वात्—
योo सिo चंo पृo १५।

वृत्ति से जब घटविषयक अज्ञान नष्ट होता है तब घटविषयक अज्ञाननाशोपलक्षित उस वृत्ति का ही स्वरूप है—अयं घटः—इत्याकारक ज्ञान। घटविषयक अज्ञान-नाशोत्तर जब घट उक्त वृत्ति का ही विषय होता है तब तादृश वृत्तिविषयत्वोपलक्षित उक्त वृत्ति का ही स्वरूप है—**घटमहं जानामि**—इत्याकारक ज्ञान। अर्थात् एक ही वृत्ति अज्ञाननाश के आधार पर **अयं घटः**—इत्याकारक है और उक्त वृत्तिविषयत्वेन घट को अपनाते हुए स्वात्मकवृत्तिविषयक भी हो जाता है। इसलिए नैयायिक प्रोक्त व्यवसायात्मक अनुव्यवसायात्मक ज्ञानद्वय वर्तुलित होकर **नारायणतीर्थ**-सम्मत एक वृत्ति में ही पर्यवसित होता है।[1] निष्कर्ष यह निकला कि व्यवसाय और अनुव्यवसायज्ञान में विषय-भेद से पौर्वापर्य की कल्पना अयुक्त है।[2] **पतञ्जलि** ने भी **अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः**—इस प्रकार स्मृति का लक्षण बनाकर इसी सिद्धान्त की ओर संकेत किया है।[3] अर्थात् अनुभवविषयता का भी जिसमें अग्रहण नहीं होता है अर्थात् अनुभवविशिष्ट पदार्थ का ग्रहण जहाँ होता है, उसे स्मृतिवृत्ति कहते हैं।

पूर्वपक्षी शङ्का कर सकता है—**स घटः**—इत्याकारक घटस्मृति में चूँकि तत्ता (अनुभवगोचरता) विषय है इसलिए उक्त स्मृति के कारण अनुभव का भी विषय स्वात्मक अनुभव भी है—इस प्रकार सिद्धान्ती ने कहा है। किन्तु यदि **घटः**—एतावन्मात्र स्मृति का आकार होता हो तो इस स्मृति में तत्ता विषय नहीं होने से तादृश स्मृति का कारण अनुभव का भी विषय स्वात्मक अनुभव को मानना अनावश्यक है। अतः अनुभवमात्र अपने को विषय करता है, यह **नारायणतीर्थ** का सिद्धान्त उचित नहीं है।

इसके उत्तर में **नारायणतीर्थ** का कहना है कि **स घटः** और **घटः**—इत्याकारक द्विविध स्मरणस्थल में अलग-अलग स्मृतिकारण अनुभवविषयत्व मानने पर दो कार्यकारणभाव स्वीकार करने में कल्पनागौरव होगा। इसलिए उभयस्थलसाधारण एक कार्यकारणभाव मानना ही उचित है। अतः अनुभवमात्र ही घटादि विषय की तरह अपने को भी विषय करता है—यह पूर्वोक्त सिद्धान्त ही युक्तियुक्त है।

स्मृतिवृत्ति के भेद—स्मृति दो प्रकार की है—भावितस्मर्त्तव्या एवं अभावितस्मर्त्तव्या। प्रमाणादि वृत्तिजन्य संस्कारों से स्वप्नावस्था में होने वाली स्मृतिवृत्ति भावितस्मर्त्तव्या तथा जाग्रत् अवस्था में होने वाली स्मृतिवृत्ति अभावितस्मर्त्तव्या कही जाती है, क्योंकि स्वप्न-

---

[1] **अज्ञाननाशोत्तरं तु घटमहं जानामीत्याद्याकारः, क्रियाजन्यफलभागितारूपकर्मताया-स्तदानीमेव भानसम्भवात्**—यो० सि० चं० पृ० १५।

[2] **ग्रहणसमर्थया चितिशक्त्या वृत्त्युत्पत्तिकाले वृत्तेरपि विषयस्येव ग्रहणसम्भवाद् वित्तिवेद्योभयभाननिबन्धनभेदात् तयोः पौर्वापर्यकल्पनमयुक्तम्**—यो० सि० चं० पृ० १५।

[3] **सूत्रकारप्रभृतेर्गूढाभिसन्धिः**—यो० सि० चं० पृ० १५।

कालिक स्मर्त्तव्य विषय मनःकल्पित तथा जाग्रत्कालिक स्मर्त्तव्य विषय यथार्थ होता है।[१] लेकिन दोनों प्रकार की स्मृति-वृत्तियों से जायमान ज्ञान अप्रमा रूप ही है। क्योंकि दोनों प्रकार के स्मरणज्ञान के विषय पहले प्रमाणादि वृत्तियों से ज्ञात हो चुके होते हैं। ज्ञात-विषयक ज्ञान में अप्रमात्व ही है। इसलिए मनःकल्पित विषय वाली भावितस्मर्त्तव्या स्मृति को अप्रमोत्पादिनी तथा यथार्थविषयिणी अभावितस्मर्त्तव्या स्मृति को प्रमोत्पादिनी नहीं समझना चाहिए।

जिस प्रकार प्रमाणादि अनुभवजन्य संस्कारों से स्मरणज्ञान उत्पन्न होता है, उसी प्रकार स्मरणज्ञानजन्य संस्कारों से दूसरा स्मरणज्ञान हुआ करता है। अतः अननुभूतविषयक ज्ञान हो, अथवा अनुभूतविषयक ज्ञान हो, सभी में संस्कारोत्पादकता होने से अग्रिम ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति हुआ करती है।

---

[१] भावितानि कल्पितानि स्मर्त्तव्यानि यस्यां सा, स्वप्ने हि कल्पनया स्मृतविषया उद्भाव्यन्ते जागरे न तथा—भा० पृ० ४३।

अध्याय—८

कर्मवाद

कर्म के भेद
कर्मविपाक के भेद
कर्म एवं जन्म का सिद्धान्त
वासना-विचार

अध्याय—८

कर्म
कृष्ण
शुक्ल
कृष्ण-शुक्ल
अशुक्ल-अकृष्ण
कर्माशय
दृष्टजन्मवेदनीय
अदृष्टजन्मवेदनीय
एकविपाकारम्भी
द्विविपाकारम्भी
नियत-विपाकारम्भी
अनियत-विपाकारम्भी
त्रिविपाकारम्भी
फलदान के बिना समाप्ति
गौणकर्माशय का प्रधानकर्माशय में मिल जाना
चिरकालावस्थान
जातिविपाक
आयुर्विपाक
भोगविपाक
देव-योनि
मनुष्य-योनि
तिर्यक्-योनि
पशु-योनि
दीर्घायुः
अल्पायुः
सुखभोग
दुःखभोग
सुखदुःखमिश्रितभोग
वासना-निर्माण
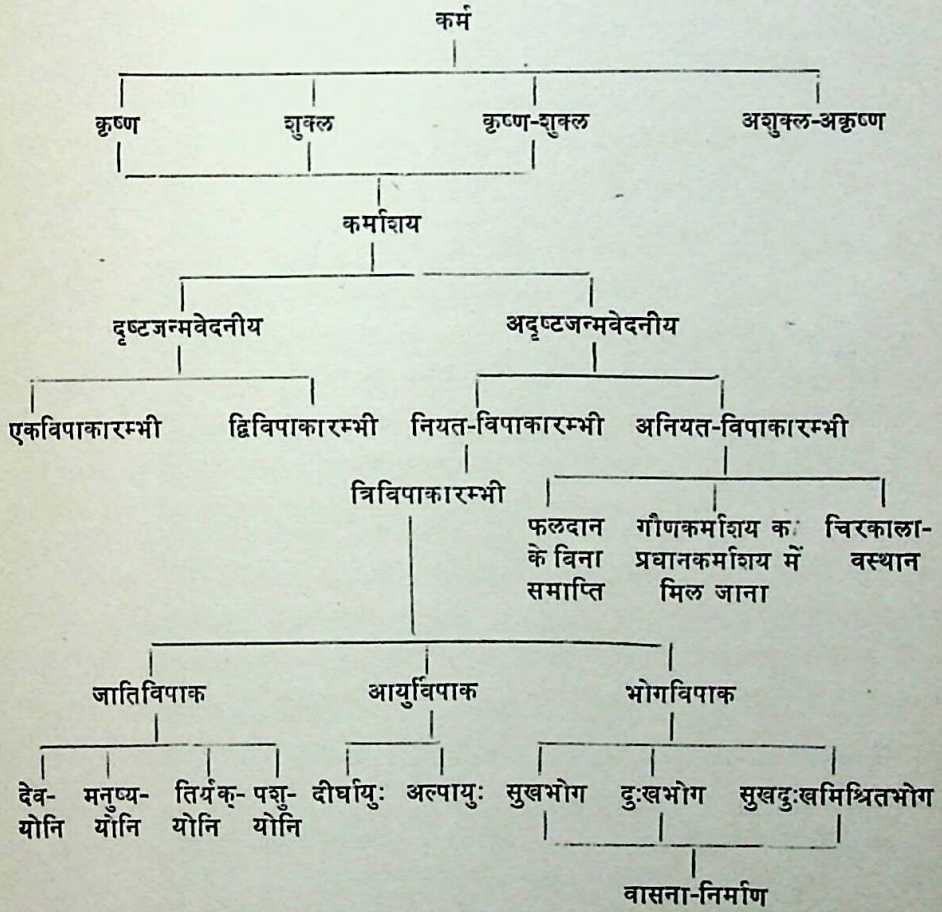
अध्याय—८

कर्मवाद

पतञ्जलि द्वारा सूत्ररूप में कथित कर्म के सिद्धान्त की गुत्थियाँ सर्वप्रथम भाष्यकार व्यासदेव द्वारा सुलझाई गईं। उन्होंने भेदप्रभेदपूर्वक कर्मवाद का ऐसा स्वच्छ चित्रण किया है कि उनके परवर्ती वाचस्पति मिश्र, भोजदेव, रामानन्दयति आदि सभी व्याख्याकारों की बुद्धि में वह समानरूप से उतरा। कर्मवाद को लेकर उनमें मतभेद नहीं दिखलाई पड़ता है। अतः वाचस्पति मिश्र आदि योग के सभी व्याख्याकारों की ओर से कर्मवाद पर विचार प्रस्तुत है।

कर्म के भेद—कर्मजाति चार प्रकार की है[१]—पाप-कर्मजाति (कृष्णकर्मजाति), पुण्य-कर्मजाति (शुक्लकर्मजाति), पुण्यपापमिश्रित-कर्मजाति (अशुक्लाकृष्णकर्मजाति) तथा पुण्यपाप से रहित कर्मजाति (अशुक्लाकृष्णकर्मजाति)। पूर्व-पूर्व कर्मजाति की अपेक्षा उत्तरोत्तर कर्मजाति श्रेयान् है।

जीवन्मुक्त योगी के दैनिक क्रिया-कलापों में अशुक्ल-अकृष्णकर्म दृष्टिगत होता है।[२] योगी द्वारा पापकर्म न किए जाने से तथा ध्यानादि पुण्य कर्म निष्काम भाव से किए जाने से उसकी कर्मराशि अशुक्लाकृष्ण कही जाती है।[३] आशय यह है—जीवन के चरम पुरुषार्थ मोक्ष-प्राप्ति के साधनभूत अविलुतसत्त्वपुरुषान्यताख्याति-सिद्ध जीवन्मुक्त योगी ध्यानादि शुभ क्रियाओं को किसी विशेष फल-प्राप्ति की भावना से नहीं करता है। ध्यान आदि उसके अन्तर्मुखी सात्त्विक-चित्त की सहज (प्रयत्न-निरपेक्ष) क्रियाएँ हैं। योगी जब शुक्ल कर्मों को ही

---

[१] चतुष्पात् खल्वियं कर्मजातिः—कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्ला, अशुक्लाकृष्णा चेति —व्या० भा० पृ० ३९९।

[२] कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्—यो० सू० ४।७।

[३] (क) तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासाद्, अकृष्णं चानुपादानात्—व्या० भा० पृ० ४०१।

(ख) योगिनां तु संन्यासवतां त्रिविधकर्मविपरीतं यत् फलत्यागानुसंधानेनैवानुष्ठानाद् न किञ्चित् फलमारभते—रा० मा० पृ० ६३।

(ग) संन्यासिनो बाह्यसाधनसाध्यकर्मत्यागान्न शुक्लकृष्णकर्म, क्षीणक्लेशत्वान्न कृष्णम्, योगजधर्मस्य फलमनभिध्यायेश्वरार्पितत्वान्न शुक्लं कर्मास्ति, अतश्चित्तशुद्धिविवेकख्यातिद्वारा मोक्षैकफलकमशुक्लाकृष्णं कर्मेत्यर्थः—म० प्र० पृ० ७७।

(घ) एवं संन्यासिनां क्वचिदपि बहिःसाधनसाध्ये कर्मणि अप्रवृत्तानां कृष्णस्याभाव एव योगानुष्ठानसाध्यस्य फलस्येश्वरे समर्पणान्न शुक्लमपीत्यवधेयम्—ना० ल० वृ० पृ० ८९।

निष्काम भाव से करता है, तब उसके द्वारा कृष्ण कर्म किए जाने की सम्भावना नहीं की जा सकती है। अतः ज्ञानी एवं निष्कामी के कर्म अशुक्लाकृष्ण होते हैं। श्रुति एवं स्मृति शास्त्रों में भी योगियों की कर्मराशि उपर्युक्त प्रकार की प्रतिपादित हुई है।[१] योगियों से नीचे किन्तु सामान्य मनुष्यों से ऊपर उठे हुए तपस्वी, स्वाध्यायी एवं ध्यायी पुरुषों की कर्मराशि शुक्ल होती है।[२] शुक्लकर्मराशि मनोमात्रसाध्य है। अतः बाह्य-साधनाधीन न होने से उसमें परपीड़ा आदि का अवकाश नहीं है।[३] तपस्, स्वाध्याय तथा ध्यान आदि क्रियाओं से सामाजिक अहित नहीं होता है। तपस्वी पुरुषों द्वारा केवल शुक्लकर्म किए जाने से उनके चित्त का सत्त्वगुण पराकाष्ठा को प्राप्त होता है।[४] क्योंकि चित्त की पूर्ण सात्त्विक अवस्था में ही व्यक्ति का झुकाव शुक्ल कर्म की ओर होता है। तपस्वी आदियों की अपेक्षा सामान्य श्रेणी के अज्ञ एवं कामी व्यक्तियों की कर्मराशि शुक्लकृष्ण होती है।[५] वे अच्छा तथा बुरा दोनों प्रकार का कर्म करते हैं। क्योंकि उनके कर्म बाह्य साधनों से प्रभावित रहते हैं।[६] धनोपार्जन की इच्छा से व्यक्ति दूसरे के धन को अनुचित रूप से छीनता है। अपनी झूठी मानप्रतिष्ठा के लिए दूसरों का अपमान करता है। अन्नोत्पादन की इच्छा से जीवहत्या एवं बैल आदि को कष्ट देता है। कार्य की सिद्धि के लिए व्यक्ति न्यूनाधिकरूप से अशुभ कर्म करता है। चैत्तिक रजोगुण के बलवान् होने पर इस प्रकार के अशुभ कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। दूसरी तरफ सत्त्वगुण के उद्रेक काल में वह परोपकारक कर्म भी किया करता है। अतः साधारण कोटि के व्यक्ति मिश्रित कर्म करते हैं। अत्यन्त निकृष्ट कोटि की पापी दुरात्माओं की कर्म-राशि कृष्ण ही होती है।[७] क्योंकि उनका तमोगुण अन्य दो गुणों को पूरी तरह से दबाए रहता है। अतः उनका तमोमय चित्त अपने अनुरूप कृष्णकर्म ही निरन्तर करता है।[८]

---

[१] त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥—गी० ४।२०।
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल् लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥—गी० १८।१७।

[२] (क) तत्र शुक्लं कर्म विचक्षणानां दान-तपः-स्वाध्यायादिमतां पुरुषाणाम्—रा० मा० पृ० ६३।
(ख) वाङ्मनससाध्यं सुखैकफलकं शुक्लं कर्म स्वाध्यायतपःशीलानां भवति—म० प्र० पृ० ७६।

[३] सा हि केवले मनस्यायत्तत्वादबहिःसाधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति—व्या० भा० पृ० ४००।

[४] शुक्ला सुखफलदा सत्त्ववर्द्धकत्वात्—यो० वा० पृ० ४००।

[५] शुक्लकृष्णं मनुष्याणाम्—रा० मा० पृ० ६३।

[६] शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या तत्र परपीडाऽनुग्रहद्वारेण कर्माशयप्रचयः—व्या० भा० पृ० ४००।

[७] तत्र कृष्णा दुरात्मनाम्—व्या० भा० पृ० ४००।

[८] कृष्णा दुःखफलदा तमोवर्धकत्वात्—यो० वा० पृ० ४००।

ऊपर वर्णित चार प्रकार की कर्मराशियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—कर्माशयोत्पादक कर्मराशि एवं कर्माशयानुत्पादक कर्मराशि। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत कृष्णकर्म, शुक्लकर्म एवं कृष्णशुक्लकर्म हैं। अशुक्लाकृष्ण-कर्मजाति द्वितीय प्रकार की है। जीवन्मुक्त योगियों द्वारा सम्पादित कर्मों से धर्माधर्मरूप कर्माशय नहीं बनता है। फलस्वरूप उन्हें देहान्तर नहीं धारण करना पड़ता है। इसलिए व्यासभाष्य आदि में ऐसे योगियों को चरमदेहवान् कहा गया है। अन्य त्रिविधजातीय कर्मों से कर्माशय बनता है, क्योंकि वे फलवान् हुआ करते हैं। ऊपर वर्णित कर्म के क्षय का एकमात्र उपाय है, उन्हें भोग लेना। अन्यथा वे जन्मजन्मान्तरपर्यन्त व्यक्ति (कर्त्ता) का पीछा किया करते हैं।[1]

शुभाशुभ कर्मों की उत्पत्ति का मूल हेतु—व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र आदि सभी व्याख्याकारों का कहना है कि काम, क्रोध, लोभ एवं मोह मनुष्य को अच्छे या बुरे कर्मों में प्रवृत्त कराते हैं।[2] काम-भावना स्वर्गस्थ देवाङ्गनाओं के भोगेच्छुक को ज्योतिष्टोम आदि शुभ कर्म में प्रवृत्त कराती है। अथवा वही काम-भावना परस्त्री के लोलुप से बलात्कार जैसी पाशविक क्रिया करवाती है। इसी प्रकार क्रोध मनुष्य से दोनों प्रकार के कर्म करवाता है। उदाहरणस्वरूप पिता द्वारा अपमानित हुए ध्रुवकुमार में ऐसी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हुई कि उसने (क्रोध ने) पिता को जीतने की इच्छा से तपश्चर्या जैसे कष्टसाध्य शुभकर्म की ओर ध्रुवकुमार को प्रवृत्त कराया और उसकी तपश्चर्या सफल भी हुई। अथवा क्रोध के वशीभूत होकर व्यक्ति दूसरे का सिर काटने के लिए भी प्रवृत्त होता है। लोभ के कारण व्यक्ति परद्रव्य का अपहरण आदि निन्दित कर्म करता है अथवा यज्ञादि शुभकर्म के अनुष्ठान के लोभ से नीतिपूर्वक द्रव्य का संग्रह करता है। मोह भी व्यक्ति को अच्छे-बुरे कर्म में प्रवृत्त कराता है। उदाहरणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के सौन्दर्य माधुर्य पर मुग्ध होकर वृजाङ्गनाएँ सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्ण में सर्वात्मना अनुरक्त हुईं। यह अनुरक्ति मोहनाशक मोक्षदाता भगवान् की प्राप्ति के निमित्त होने से श्रेयस्करी थी; प्रेयस्करी नहीं। ऐहलौकिक या पारलौकिक फल के लोभ से ग्रस्त व्यक्ति पशुहिंसा आदि अशुभ क्रियाओं में धर्म-बुद्धि करके प्रवृत्त होता है। एतावता मनुष्य की प्रत्येक प्रकार की क्रिया के मूल में कामादि

---

[1] नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥—पा० र० पृ० ४०१।

[2] (क) तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामक्रोधलोभमोहप्रसवः—व्या० भा० पृ० १६१।

(ख) रागद्वेषादिक्लेशनिदानः कर्मणाम्··· – यो० सु० पृ० ३३।

(ग) कामात्काम्यकर्मप्रवृत्तौ स्वर्गादिहेतुर्धर्मो भवति, एवं लोभात् परद्रव्यापहारादावधर्मः, एवं मोहादधर्मे हिंसाऽऽदौ धर्मबुद्धेः प्रवर्त्तमानस्याधर्म एव···। अस्ति क्रोधजो धर्मः, तद्यथा ध्रुवस्य जनकावमानजन्मनः क्रोधात् तज्जिगीर्षयाऽऽहितेन कर्माशयेन पुण्येनान्तरिक्षलोकवासिनामुपरि स्थानम्, अधर्मस्तु क्रोधजो ब्रह्मवधादिजन्मा प्रसिद्ध एव भूतानाम्—त० वै० पृ० १६१।

में से कोई न कोई भावना काम करती है। कूर्मपुराण में रागादि को शुभाशुभ कर्म का हेतु कहा गया है।[१]

भाष्यकार **व्यासदेव** तथा उनके मतानुयायी **वाचस्पति मिश्र** आदि सभी व्याख्याकारों ने कामादि को पुण्य एवं अपुण्य कर्मों की प्रवृत्ति का मूल-आधार बतलाया है। यह सूत्रानुसार है। **पतञ्जलि** ने कर्मजन्य कर्माशय को अविद्या आदि क्लेशमूलक कहा है;[२] और कामादि प्रकारान्तर से क्लेश कहे जाते हैं। इसलिए आचार्य **रामानन्दयति, नारायणतीर्थ** आदि ने **'क्लेशमूलः'** का अर्थ किया है—**'कामादिमूलः'**।[३] अतः प्रत्येक प्राणी की क्रियाओं (पलकों का उठना-गिरना आदि स्वाभाविक क्रियाओं को छोड़कर) के मूल में काम आदि मानसिक भावनाएँ काम करती हैं।

कर्मजन्य कर्माशय[४] (कर्म-संस्कार) में साक्षात् फलदातृता—पातञ्जल-योग के व्याख्याकारों ने कामादि से प्रेरित शुभाशुभ क्रियाओं तथा तज्जन्य शुभाशुभ संस्कारों (कर्माशय) को विपाकारम्भी बतलाया है। योगशास्त्र में भी ज्ञानरूप अथवा क्रियारूप कर्म का तृतीय क्षण में नाश माना गया है। क्रिया नष्ट होने से पूर्व अपने फल को उत्पन्न नहीं कर पाती है। शुभाशुभ कर्म और उससे मिलने वाले फल के मध्य अल्प या बहुत समय का अन्तर रहता है। अतः **पतञ्जलि** ने तत्-तत् कर्मजन्य कर्माशय के द्वारा फलोत्पत्तिपर्यन्त कर्मों की स्थिति मानी है। **वाचस्पति मिश्र** आदि व्याख्याकारों ने 'कर्माशय' शब्द का शुभाशुभकर्मजन्य धर्माधर्मरूप संस्कार अर्थ किया है। ये कर्मसंस्कार विपाकोन्मुख हुए विना (फल दिए विना) कथमपि (प्रसंख्यानाग्निरूप साधन को छोड़कर) नष्ट नहीं होते हैं। ये चित्तभूमि में बीजरूप से पड़े रहते हैं और अवसर आने पर कर्त्ता को शुभाशुभ कर्म का सुख-दुःख भोग प्रदान करते हैं। कृष्णादि त्रिविध कर्मों की दृष्टि से कर्माशय तीन प्रकार का है—कृष्ण-कर्माशय (पाप-कर्माशय), शुक्ल-कर्माशय (पुण्य-कर्माशय) तथा कृष्ण-शुक्ल-कर्माशय (धर्माधर्म-कर्माशय)।

---

[१] **रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः।**
कार्यो ह्यस्य भवेद्दोषः पुण्यापुण्यमिति श्रुतिः॥
तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः—कू० पु० ३।२०-२१।

[२] **क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः - यो० सू० २।१२।**

[३] **क्लेशाः कामक्रोधादयो मूलमस्येति क्लेशमूलः—म० प्र० पृ० ३१।**

[४] (क) **जात्यायुर्भोगहेतवः संस्कारा आशयाः; कर्म चित्तेन्द्रियप्राणानां व्यापारः; तदनुभवजाता ये संस्काराः पुनरभिव्यक्ताः सन्तः स्वानुगुणाश्चेष्टा जनयेरंस्तथा च चेष्टासहभावीनि शरीरेन्द्रियसुखदुःखादीन्याविर्भावयेयुः। स एव कर्माशयः—भा० पृ० १६१।**

(ख) **आशेरते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयः, कर्मणामाशयौ धर्माधर्मौ—त० वै० पृ० १६१।**

(ग) **कर्माशयो धर्माधर्मौ—यो० वा० पृ० १६१।**

(घ) **अतो वासनारूपाण्येव कर्माणि···—रा० मा० पृ० २४।**

कर्माशय का विलम्ब अथवा अविलम्ब से विपाकोन्मुख होना—अतीत जन्मों में किए गए परोपकारक एवं परापकारक कर्मों से जायमान धर्माधर्मरूप कर्मसंस्कारों का वर्तमान जन्म में फलोन्मुख होना अनिवार्य नहीं है। वर्तमान जन्म में किए गए शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न कर्माशय विपाकोन्मुख नहीं भी हो सकता। इस स्थिति में व्याख्याकारों ने कर्माशय के दो भेद किए हैं[1]—दृष्टजन्मवेदनीय (वर्तमान जन्म में अनुभवनीय) तथा अदृष्टजन्मवेदनीय (आगामी जन्म में अनुभवनीय)। कर्माशय की यह दृष्ट अथवा अदृष्ट जन्मवेदनीयता शुभ अथवा अशुभ कर्मों को क्रमशः पूर्ण मनोयोग (अतिमात्रतीव्रसंवेग) अथवा सामान्य मनोयोग (मृदुमध्यसंवेग) के साथ करने के कारण है। शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक सभी शक्तियों के द्वारा ईश्वर, देवता अथवा ऋषि-मुनियों की अराधना एवं सेवा-शुश्रुषा आदि करने से अनुसेवी (उपासक) का उदित हुआ पुण्यकर्माशय वर्तमानजन्म में ही अत्युत्कृष्ट फल देने में समर्थ होता है। इसी प्रकार श्रद्धेय तपस्वियों का अपमान करने से, दुःखी व्यक्ति को जानबूझकर पीड़ित करने से अथवा अपने विश्वस्त मित्र को छलने से व्यक्ति का जो पाप-कर्माशय संचित होता है, वह भी तुरन्त कष्टकारक फल प्रदान करता है।[2] शिलाद मुनि के पुत्र नन्दीश्वर कुमार ने बाल्यावस्था में महादेव की अविचल भक्ति करके जिस शुभकर्माशय का संचय किया था वह दृष्टजन्मवेदनीय था। इसी प्रकार इन्द्र-पद-प्राप्ति के अभिमान में चूर हुए राजा नहुष द्वारा ऋषि मुनियों पर चलाए गए पादप्रहार जैसे अत्यन्त निन्दित कर्म से दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय उत्पन्न हुआ। मनुष्य के जीवन में सामान्यरूप से घटित होने वाले अच्छे-बुरे कर्म (जिनसे वर्तमान जीवन में फल नहीं मिल पाता है) अग्रिम जीवन में फल प्रदान करते हैं। वर्तमान जीवन में अपक्व (अभुक्त) शुभाशुभ कर्माशय अदृष्टजन्मवेदनीय कहलाता है।

कर्मविपाक के भेद

शुभाशुभ कर्म का फल केवल सुख या दुःख की अनुभूति रूप में प्रतीत होता है।[3] देव, मनुष्य, पशु, तिर्यक् आदि नानाविध योनियों में से उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट योनि (शरीर)

---

[1] (क) क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः—यो० सू० २।१२।
(ख) अस्मिन्नेव जन्मनि अनुभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयः; जन्मान्तरानुभवनीयोऽदृष्ट-जन्मवेदनीयः—रा० मा० पृ० २४।
(ग) स च दृष्टजन्मवेदनीय इहैवानुभाव्यः; अदृष्टजन्मवेदनीयश्चामुत्रानुभाव्यः —यो० सु० पृ० ३३।
(घ) येन देहेन कर्म कृतं तद् दृष्टं जन्म, तेनैव देहेन भोक्तव्य आद्यः —म० प्र० पृ० ३१।

[2] तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्त्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः। स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते—व्या० भा० पृ० १६२।

[3] ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्—यो० सू० २।१४।

को दीर्घकाल अथवा अल्पकालपर्यन्त धारण करना भी कर्माधीन है। क्योंकि कर्म के मुख्य फल सुख-दुःख के भोगार्थ भोगायतन शरीर की निश्चितकालपर्यन्त स्थिति मानी गई है। इस दृष्टि से पातञ्जल-योगदर्शन में कर्मविपाक के तीन भेद किए गए हैं[1]—जातिविपाक, आयुर्विपाक तथा भोगविपाक। 'जाति' शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने 'जन्म' अथवा देवादि योनि किया है। वस्तुतः देवादि कोटि के शरीरों के साथ पुरुष का औपाधिक सम्बन्ध जन्म है। इस प्रकार के औपाधिक सम्बन्ध की निश्चित कालपर्यन्त स्थिति आयु है। सुख-दुःखात्मक शब्दादि वृत्ति भोग है। 'भोग' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने कहा है[2] कि—शब्दादि विषयों का ज्ञान भोग नहीं है, अपितु नानाविध विषयज्ञान से जायमान सुख-दुःख की अनुभूति ही **'भोग'** शब्द का अर्थ है। क्योंकि सूत्रकार ने **'ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्'**—इस अग्रिमसूत्र से जात्यादि त्रिविध विपाकों का घटक ह्लाद तथा परिताप माना है, विषयसाक्षात्कार नहीं।

दृष्टजन्मवेदनीयकर्माशय एवं अदृष्टजन्मवेदनीयकर्माशय के जात्यादि विपाकों की संख्या में अन्तर—पातञ्जल-योग के व्याख्याकारों का मत है कि अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय ही जाति, आयुष् एवं भोग संज्ञक त्रिविध फलों का हेतु है।[3] दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय जातिविपाक के अतिरिक्त केवल भोग का हेतु होने से एकविपाकारम्भी अथवा आयुष् तथा भोग दोनों का हेतु होने से द्विविपाकारम्भी होता है।[4] जैसे अगस्त्य ऋषि पर किए गए पार्ष्णिप्रहाररूप दुष्कृत्य के कारण राजा नहुष को सर्पयोनि का कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ा था। अतः उनका दृष्टजन्मवेदनीय निन्दित कर्माशय केवल भोग का हेतु बना। उससे पूर्वजन्मीय कर्मों के अनुसार प्राप्त श्रेष्ठजाति एवं दीर्घ-आयुष् में अन्तर नहीं आया। अत्यन्त साधारण सुख तथा दुःखभोगपूर्वक आठ वर्ष की परिमित आयुष् वाले नन्दीश्वर कुमार ने महादेव की अविचल भक्ति से उत्पन्न शुभकर्माशय से दीर्घायुष् तथा दिव्यभोग प्राप्त किया। अतः उनका भक्तिजन्य दृष्टजन्मवेदनीयकर्माशय द्विविपाकारम्भी हुआ। उपर्युक्त आशय को स्पष्ट करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** कहते हैं—जैसे मनुष्य आदि शरीर का वार्द्धक्य रूप से परिणाम होता है, उसी प्रकार नहुष एवं नन्दीश्वर का सर्प एवं देवरूप से परिणामान्तर हुआ; जन्मान्तर की उत्पत्ति नहीं। क्योंकि उनकी नवीन देह की उत्पत्ति नहीं सुनी जाती है। इस प्रकार दृष्टजन्मवेदनीय-कर्माशय से जन्मान्तर (जाति) रूप फल की प्राप्ति नहीं होती है। अदृष्टजन्मवेदनीय-कर्माशय ही जातिविपाक (जन्मान्तर) के साथ आयुष् तथा भोग दोनों प्रकार का फल देने में समर्थ होता है।

---

[1] सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः—यो० सू० २।१३।

[2] न तु सुखादिसाक्षात्कार एवात्र भोगः, 'ते ह्लादपरितापफला' इत्युत्तरसूत्रे तस्य विपाकजन्यतावचनात्—यो० वा० पृ० १६३।

[3] असौ (अदृष्टजन्मवेदनीयः) कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयत इति। अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति—व्या० भा० पृ० १६८।

[4] दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वाद्, द्विविपाकारम्भी वाऽऽयुर्भोग-हेतुत्वाद्, नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वा इति—व्या० भा० पृ० १६९।

नारकीय एवं क्षीणक्लेश योगी के कर्माशय पर विचार—इस प्रसङ्ग में **वाचस्पति मिश्र** आदि व्याख्याकारों ने यह भी बतलाया है कि नारकियों एवं क्षीणक्लेश वाले योगियों से भिन्न अन्य प्राणियों का दृष्टजन्मवेदनीय एवं अदृष्टजन्मवेदनीय दोनों प्रकार का कर्माशय होता है। नारकीय एवं क्षीणक्लेश वाले योगियों में दोनों प्रकार का कर्माशय नहीं पाया जाता हैं। जैसे अविप्लुतविवेकख्यातिसम्पन्न (क्षीणक्लेश वाले) योगियों का अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता है।[१] क्योंकि विवेकज्ञान के सिद्ध हो जाने से उनके संचित एवं क्रियमाण कर्म (कर्माशय) स्वतः नष्ट हो जाते हैं और प्रारब्ध-कर्म(कर्माशय) को वे भोग द्वारा नष्ट करते हैं। जीवन्मुक्त अवस्था में वे जो कुछ कर्म करते हैं उससे कर्माशय संचित नहीं होता है। इस प्रकार जब उनका नवीन कर्माशय ही नहीं बनता है तो वह अगले जन्म में फलोन्मुख होगा—ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इसलिए व्याख्याकारों ने अविप्लुतविवेकख्यातिमान् जीवन्मुक्त योगियों में अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का निषेध किया है। इसके विपरीत नारकियों का दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता है।[२] क्योंकि कुम्भीपाक, रौरव जैसे घोर नरक के प्रापक अत्यन्त गर्हित कर्मों से संचित हुए कर्माशय से उत्पन्न होने वाली सहस्रवर्षपर्यन्त उपभोगयोग्य दारुण यातनाएँ मनुष्य-शरीर से नहीं भोगी जा सकती हैं। अतः नारकीय कर्म के कर्त्ताओं (मनुष्यों) को स्वकृत कर्मजन्य फलोपभोग के लिए नारकीय योनि (नारक-शरीर) अवश्य ग्रहण करनी पड़ती है—ऐसा **वाचस्पति मिश्र** आदि आचार्यों का मत है।[३] **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश** एवं **नागेशभट्ट** आदि विद्वानों का कहना है[४] कि नारकीय यातनाएँ भोगने के दीर्घकाल में नारकीय पुरुष ऐसा कोई शुभ कर्म नहीं कर पाता है, जिससे उत्पन्न हुए धर्म-संस्कार (कर्माशय) के द्वारा वह उसी जीवन में सुखादि का भी उपभोग कर सके। भास्वती-कार **हरिहरानन्द आरण्यक** ने नारकियों के दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय के खण्डनार्थ **विज्ञानभिक्षु** की समाधान-पद्धति का अनुसरण करके उनके द्वारा उपन्यस्त हेतु को स्पष्ट शब्दों में बतलाया है। उसका आशय यह है[५]—जिस प्रकार मनुष्य देह भोगभूमि एवं कर्मभूमि दोनों है, उसी प्रकार का नारकीय देह नहीं है। नारकीय देह का निर्माण पूर्वजन्मीय नृशंस कर्मों के कष्टकारक फलोपभोग के लिए ही होता है, इसलिए वह मनःप्रधान भी है।

---

[१] क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति—व्या० भा० पृ० १६३।

[२] नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः—व्या० भा० पृ० १६२।

[३] येन कर्माशयेन कुम्भीपाकादयो नरकभेदाः प्राप्यन्ते तत्कारिणो नरकाः तेषां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। न हि मनुष्यशरीरेण तत्परिणामभेदेन वा सः तादृशी वत्सरसहस्रादिनिरन्तरोपभोग्या वेदना न संभवति इति–त० वै० पृ० १६२-१६३।

[४] (क) नारकिपुरुषाणां धर्माद्यनुत्पत्तेः—यो० वा० पृ० १६२।
(ख) तत्र नारकाणां धर्माद्यनुत्पत्तयाऽऽद्यः कर्माशयो नास्ति—ना० बृ० वृ० पृ० २७३।

[५] नारकाणामुपभोगदेहानां निरयदुःखभाजां सत्त्वानां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयो यतस्ते प्राग्भवीयकर्मणः फलमेव भुञ्जते मनःप्रधानत्वात् तन्निकायस्य—भा०पृ० १६२।

अन्य इन्द्रियों के निरुद्ध रहने के कारण नारकीय पुरुष कर्म करने में स्वतन्त्र ही नहीं हैं। अतः उनका दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं बन सकता है।

यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है[1]—स्वर्गीय पुरुषों का भी दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता है। अतः केवल नारकियों के दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का निषेध क्यों किया गया?[2] उक्त शङ्का के समाधानार्थ **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेशभट्ट** का कहना है[3] कि स्वर्गवासी देवगण भारतवर्ष के प्रयाग आदि पवित्र क्षेत्रों में लीलावशात् मनुष्यशरीर धारण करके अवतरित होते हैं। यहाँ वे शुभ कर्मों का अनुष्ठान कर उसका फलोपभोग किया करते हैं। अतः नारकीयों का ही दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता है। भास्वती में भी दिव्यदेह वाले प्रेतों को लेकर उक्त शङ्का का समाधान किया गया है।[4]

कर्माशय की विपाकारम्भिता में नियमितता तथा अनियमितता—कर्माशय के परिपाक का काल भिन्न-भिन्न होने से ऊपर कर्माशय की द्विविधता सिद्ध की गई है। सभी कर्माशय नियमितरूप से अवश्य फल देते हैं—ऐसा नियम नहीं है। वस्तुतः कर्माशय नियतविपाकारम्भी एवं अनियतविपाकारम्भी भेद से दो प्रकार का है।[5] उनमें से दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नियतविपाकारम्भी होता है; अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय में फलोन्मुखता के दोनों रूप—नियत एवं अनियत—पाए जाते हैं। सामान्यतः अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नियमितरूप से तीनों प्रकार का फल देता है। कुछ कर्म-संस्कारों के फलोन्मुख होने में अनेक प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होती हैं। अतः **व्यासदेव, वाचस्पतिमिश्र, विज्ञानभिक्षु, नागेशभट्ट** तथा **हरिहरानन्द आरण्यक** आदि आचार्यों ने अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकारम्भी कर्माशय की तीन गतियाँ बतलाई हैं[6]:—

फलदान के बिना कृतकर्म का नाश—जिस प्रकार प्रकाश अपने विरोधी अन्धकार का नाश करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार तपस्, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान जैसे विशुद्ध (परपीड़ानिरपेक्ष) कर्मों का निरन्तर अभ्यास करते रहने से जायमान प्रबल पुण्य कर्माशय व्यक्ति द्वारा पूर्व जन्म में किए गए पाप कर्माशय अथवा पुण्यपापमिश्रित कर्माशय को (जो अभी अपक्व है) नष्ट (फलोत्पादन की सामर्थ्य से रहित) करने में समर्थ होता है।

---

[1] ननु स्वर्गिणामपि कर्म नोत्पद्यत इति कथं नारकिवचनमात्रमिति—यो० वा० पृ० १६२-१६३।

[2] (क) स्वर्गिणां भारतवर्षमागत्य लीलामानुषविग्रहेण प्रयागादौ कर्मानुष्ठानस्य तत्फलस्य च श्रवणादिति—यो० वा० पृ० १६३।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २७३।

[3] दिव्यसत्त्वेषु य उपभोगप्रधानदेहास्तेषामपि स्वल्पो दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। तत्र ये ध्यानबलसम्पन्ना वशिनोऽस्ति तेषां दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः; यतस्ते दिव्यदेहेनैव निष्पन्नकृत्याः परं पदं विशन्ति—भा० पृ० १६२।

[4] स (कर्माशयः) नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च—व्या० भा० पृ० १७०-१७१।

[5] यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः—व्या० भा० पृ० १७१।

[6] अपरिपक्वस्यादत्तफलकस्य विनाश इत्यर्थः—यो० वा० पृ० १७१।

इसलिए पुण्यकर्म करने का बार-बार उपदेश दिया गया है।[1] इस प्रकार अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय की अनियतविपाकारम्भिता में एक हेतु—कर्माशय को उसकी फलोत्पादक शक्ति से रहित करना है।

प्रश्न हो सकता है कि कर्म कष्टकारक होता है; यह अनुभवसिद्ध है। अतः वेदादि के अध्ययन से उत्पन्न दुःख के भोग द्वारा अन्य कृष्णादि कर्म का नाश हो, क्यों कृष्णकर्म के नाश के लिए शुक्लकर्मजन्य शुक्ल कर्माशय की कल्पना की जाए? उक्त शङ्का का निरसन आचाय वाचस्पति मिश्र, नागेश भट्ट इस प्रकार से करते हैं[2]—दुःखभोगमात्र अधर्म का विरोधी नहीं है। अतः अधर्म किसी भी दुःखभोग से नष्ट नहीं होता है। अधर्म-जनित दुःखभोग ही अधर्म का नाशक होता है। अतः स्वाध्याय आदि से उत्पन्न दुःख-भोग के द्वारा अधर्म का नाश नहीं होता है। किन्तु स्वाध्यायादिजन्य शुक्लकर्मोदय से अधर्म का नाश होता है। अपि च स्वाध्याय आदि जन्य दुःख अधर्म का कार्य भी नहीं है। अन्यथा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'—इस विधिवाक्य से अध्ययन का विधान करना अनुपपन्न होगा, और कुम्भीपाक आदि के प्रापक कर्मों का भी विधान होने लगेगा। लेकिन यह अभीष्ट नहीं है। अतः मानना चाहिए कि शुक्ल कर्माशयोदय का ही ऐसा प्रभाव है जिसके द्वारा अन्य कृष्ण और कृष्णशुक्लमिश्रित कर्माशय नष्ट हो जाते हैं। स्वाध्याय आदि से उत्पन्न दुःखभोग के द्वारा कृष्णादि कर्माशय का नाश नहीं होता है। अतः पुण्य-कर्माशय के उदय की कल्पना व्यर्थ नहीं है।

प्रधान कर्म के अङ्गभूत कर्म का स्वतन्त्ररूप से फलोन्मुख न होना—किसी प्रधान क्रिया के सम्पादनार्थ अङ्गभूत क्रियाएँ की जाती हैं।[3] वे स्वतन्त्ररूप से अपना फल देने में समर्थ नहीं होती हैं। अपितु प्रधान क्रिया के साथ मिलकर ही वे फल दिया करती हैं। अतः प्रधान की अङ्गभूत क्रियाएँ प्रधाननिरपेक्ष होकर अतिशीघ्र अपना फल न दे सकने के कारण अनियतविपाकारम्भी हैं। जैसे मीमांसाशास्त्र[4] के अनुसार स्वर्ग का साधनभूत

---

[1] द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकृतस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति, तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते—व्या० भा० पृ० १७१-१७२।

[2] (क) न तु स्वाध्यायादिजन्मनो दुःखाद्। न हि दुःखमात्रविरोध्यधर्मोऽपितु स्वकार्यदुःखविरोधी। न च स्वाध्यायादिजन्यं दुःखं तत्कार्यम्, तत्कार्यत्वे स्वाध्यायादिविधानानर्थक्यात् तद्बलादेव तदुत्पत्तेः; अनुत्पत्तौ वा कुम्भीपाकाद्यपि विधीयेत। अविधाने तदनुत्पत्तेरिति—त० वै० पृ० १७१-१७२।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २७६।

[3] तत्र प्रधानाङ्गत्वेनानुष्ठानादप्रधानतैवेत्यतो न द्रागित्येव प्रधाननिरपेक्षा सती स्वफलमनर्थं प्रसोतुमर्हति—त० वै० पृ० १७२।

[4] (क) प्रधाने कर्मणि ज्योतिष्टोमादिके तदङ्गस्य पशुहिंसाऽऽदेरावापगमनम्। द्वे खलु हिंसाऽऽदेः कार्ये, प्रधानाङ्गत्वेन विधानात् तदुपकारः, 'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति हिंसायाः निषिद्धत्वादनर्थश्च······प्रधाने कर्मण्यावापगमनम्—त० वै० पृ० १७२।

(ख) तु०—व्या० भा० पृ० १७२। (ग) तु०—यो० वा० पृ० १७२-१७३।

(घ) तु०—भा० पृ० १७२।

ज्योतिष्टोमयाग (**सोमेन यजेत**) के पशुहिंसात्मक (**अग्निषोमीयं पशुमालभेत**) अनेक अङ्गयाग हैं। अतः यजमान स्वर्ग की प्राप्ति के लिए ज्योतिष्टोम को याग के अंगभूत पशुहनन के द्वारा ही निष्पन्न कर पाता है। इस प्रकार पुण्यकारक ज्योतिष्टोमात्मक प्रधान कर्म में उसकी अङ्गभूत पशुहिंसादि क्रिया का आवापगमन होता है। पशुहिंसा याग का साधन होने से पशुहिंसाऽन्वितयाग प्रधान (मुख्य) रूप से पुण्य का जनक है। लेकिन **'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'**—इस निषेधवाक्य में हिंसा को अनर्थ का हेतु कहा गया है। अतः पशुहिंसादि अङ्गयाग के दो फल हैं - पहला, प्रधानयाग का उपकार करना और दूसरा, दुःखरूप अनर्थ उत्पन्न करना। लेकिन हिंसा यागात्मक प्रधान-कर्म से निरपेक्ष होकर (स्वतन्त्र रूप से) अपना अनर्थरूप फल देने में समर्थ नहीं होती है। जब तक प्रधान कर्म अपना फल नहीं देता है तब तक उसकी सहायता करने के लिए यह बैठी रहती है; और जब प्रधान कर्म अपना स्वर्ग फल देने लगता है, तब अप्रधानकर्म (हिंसा आदि) भी प्रधान का उपकार करते हुए उसके साथ-साथ अपना अनर्थरूप फल भी देता है। इसी प्रकार अप्रधानभूत यमादि अङ्ग प्रधान धारणा, ध्यान एवं समाधि अंगी के साथ होकर ही साधक को सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधिरूप फल प्रदान करते हैं। अतएव अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकारम्भी प्रधान क्रिया की अङ्गभूत क्रिया में स्वतन्त्र रूप से फल न दे सकने की अनियमितता सिद्ध होती है।

नियतविपाक वाले प्रधान कर्माशय से अभिभूत हुए अप्रधान कर्माशय का चिरकाल तक प्रसुप्त रहना—अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकारम्भी कर्माशय की तृतीय गति पर विचार किया जा रहा है। भाष्य में प्रयुक्त **'प्रधान'** तथा **'अप्रधान'** शब्द का अर्थ है—परस्पर निरपेक्ष जिन कर्मों को निश्चित रूप से फल देने का अवसर प्राप्त हो चुका है ऐसे बलवान् कर्म **'प्रधान'** शब्द से अभिहित हैं और जिन्हें फल देने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे दुर्बल कर्म **'अप्रधान'** शब्द से निर्दिष्ट हैं।[1]

अदृष्टजन्मवेदनीय अप्रधानकर्माशय फलदान में लगे प्रधान कर्माशय द्वारा प्रतिबद्ध होकर दो, तीन, चार, पाँच--कई जन्मपर्यन्त प्रसुप्त अवस्था में रहता है।[2] इस प्रकार अप्रधान कर्माशय की चिरकालिक प्रसुप्ति उसकी अनियमितविपाकारम्भिता है। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति ने बाल्यावस्था में कुछ पुण्य कर्म किए और यौवन, वार्धक्य आदि अवस्थाओं में विषयभोग की मादकता से अनेक पाशविक कृत्य किए; तो ऐसे व्यक्ति की प्रधान पापराशि ही मरण के पश्चात् अभिव्यक्त होकर पशु-जन्म का हेतु होती है। अतः पशु-योनि में पड़े व्यक्ति का अप्रधान पुण्यकर्माशय -- जो मानुषयोनि द्वारा भोग्य है—फलोन्मुख नहीं होता है। वह दीर्घकाल तक चित्त में बीजभाव से पड़ा रहता है जब तक उसी के समान उसका अभिव्यंजक कर्म उसे विपाकोन्मुख नहीं करता है।

---

[1] तत्र प्रधानं नाङ्गि किंतु बलवत्तरम्—यो० वा० पृ० १७१।

[2] नियतविपाकेन प्रधानकर्मणा स्वविरुद्धफलदेनाभिभूतस्य प्रतिबद्धस्य चिरमवस्थानं द्वित्रिचतुरादिजन्मसु प्रसुप्ततयाऽवस्थानम्—यो० वा० पृ० १७१।

कर्म एवं जन्म का सिद्धान्त

ऊपर अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाकारम्भी कर्माशय के त्रिविध फल बतलाए गए। कर्म के प्रमुख फल जन्म को लेकर योगशास्त्र में कर्म एवं जन्म की आनुपातिक संख्या के सम्बन्ध में विशेष विचार किया गया है[१] :—(१) क्या एक कर्म एक जन्म का कारण है? (२) क्या एक कर्म अनेक जन्मों का कारण है? (३) क्या अनेक कर्म युगपत् अनेक जन्मों के कारण हैं? (४) क्या अनेक कर्म एक जन्म के कारण हैं? सामान्यतः भाष्यकार **व्यासदेव** तथा विशेषत: भाष्य के व्याख्याकारों ने प्रथम तीन विकल्पों में दोष की उद्भावना कर चतुर्थ विकल्प को निम्नाङ्कित प्रकार से निर्दुष्ट सिद्ध किया है :—

प्रथम विकल्प का निराकरण—एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं हो सकता। यदि पूर्व के अनन्त जन्मों में संचित हुए असंख्य कर्मों में से किसी एक कर्म का एक जन्म के द्वारा क्षय माना जाय तो फल देने के लिए अवशिष्ट अतीत के असंख्य कर्मों एवं वर्तमान जीवन में किए नूतन कर्मों में से कौन सा कर्म सर्वप्रथम फल (जन्मान्तररूप फल) देगा? इसका नियम नहीं रहेगा। फलस्वरूप लोगों की शुभकर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं होगी।[२] व्यक्ति सोचने लगेगा कि अभी तो प्राक्तन असंख्य कर्मों का फल भोगना अवशिष्ट है। यदि वर्तमान-काल में भौतिक इच्छाओं को तिलाञ्जलि देकर कष्टसाध्य शुभ कर्म किया भी जाय तो उसका कब फल मिलेगा, यह निश्चित नहीं है। अतः व्यर्थ में शुभकर्म क्यों किया जाय?

इस पर पूर्वपक्षी कह सकता है कि एक कर्म को एक जन्म का हेतु स्वीकार करने में फल-क्रम की उचित व्यवस्था नहीं रह पाती है। फिर भी भावी अनन्त काल के मध्य में अनुष्ठीयमान पाप-कर्म का नाश करता हुआ शुभकर्म अपेक्षाकृत शीघ्र फल देगा—इस आशा से व्यक्ति शुभ कर्म में प्रवृत्त हो सकता है। अतः एक कर्म को एक जन्म का हेतु मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इसके उत्तर में आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** का कहना है कि शीघ्र ही कर्मफलभोग की भावना से मनुष्य शुभकर्म में प्रवृत्त होता है।[३] अतः मनुष्य के नैतिक उत्थान का हेतु न होने से 'एक कर्म एक जन्म का कारण है'—यह प्रथम विकल्प त्याज्य है।

द्वितीय विकल्प का निराकरण—एक कर्म अनेक जन्मों का कारण है—यह द्वितीय विकल्प प्रथम विकल्प से अधिक दोषपूर्ण है। इसमें कर्म एवं फल का सम्बन्ध ही

---

[१] किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्? अथैकं कर्मानेकं जन्माक्षिपतीति? द्वितीया विचारणा–किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्त्तयति? अथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्त्तयति?—व्या० भा० पृ० १६६।

[२] अनादिकाल एकैकजन्मसंचितस्यात एवासंख्येयस्यैकैकजन्मभुक्तादेकैककर्मणोऽभुक्ततयाऽशिष्टस्यैहिकस्य चानन्तकर्मणो मध्ये किं कर्म प्रथमं फलं दास्यति किं च पश्चादिति फलक्रमे नियमाभावाल्लोकानां पुण्याद्यनुष्ठाने फलानाश्वासापत्तेः ना० बृ० वृ० पृ० २७४।

[३] (क) झटिति भोगकामनयैव कर्मानुष्ठानाच्च—यो० वा० पृ० १६६।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २७४।

खण्डित प्रतीत होता है।[1] एक ही कर्म से यदि अनेक जन्म होते रहें तो पूर्वकालिक तथा वर्तमानकालिक असंख्य अपक्व कर्मों को फल देने का अवसर प्राप्त न हो सकेगा। व्यक्ति भी शुभादि कर्मों को विफल जानकर उन्हें करने के लिए प्रवृत्त नहीं हो सकेगा। प्रथम विकल्प के अनुसार एक जन्म के द्वारा एक कर्म का नाश मानने पर जब प्रेक्षावान् पुरुष की शुभ कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं होती है, तब एक कर्म का अनेक जन्मों के द्वारा नाश मानने पर व्यक्ति की कैसे शुभ कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति हो सकती है ?

तृतीय विकल्प का निराकरण—यदि अनेक कर्मों से अनेक जन्म होने का तृतीय विकल्प प्रस्तावित किया जाए तो यह भी उपयुक्त नहीं है।[2] मनुष्य द्वारा कृत अनेक कर्मों से एक काल में (युगपत्) अनेक जन्म हों, यह सम्भव नहीं है। क्योंकि एकमात्र योगी में योगबल से युगपत् अनेक शरीरों का निर्माण करने की शक्ति होती है, सामान्य मनुष्यों में नहीं। इस प्रकार तृतीय विकल्प के अनुसार एक ही काल में हजारों कर्मों का भोग द्वारा क्षय तथा अवशिष्ट साम्प्रतिक कर्मों को फल देने का अवसर प्राप्त होने पर भी साधारण मनुष्य के युगपत् अनेक जन्म न हो सकने से तृतीय विकल्प भी त्याज्य है।

चतुर्थ विकल्प का समर्थन—अनेक कर्मों से एक जन्म होता है - यह चतुर्थ विकल्प न्यायसङ्गत है। जन्म तथा मरण की अवधि में व्यक्ति द्वारा गौणप्रधानभाव से किए गए अच्छे-बुरे कर्मों से संचित हुए कर्मसंस्कार—वर्तमानजन्म के आरम्भक कर्मों का भोग द्वारा क्षय तथा तन्निमित्तक प्राप्त-शरीर का नाश होने पर—फल प्रदान करने के लिए युगपत् अभिव्यक्त होकर अपने अनुरूप एक जन्म को निष्पन्न करते हैं।[3]

---

[1] अनेकेषु जन्मसु क्रियमाणकर्मणामेकैकमेवानेकासंख्यजन्मनः कारणमतोऽवशिष्टस्य तदितरस्य तद्विरुद्धफलदस्य विपाककालाभावप्रसक्तेः कर्मवैफल्यशङ्कया तदननुष्ठान-प्रसङ्गात्—ना० बृ० वृ० पृ० २७४।

[2] (क) अनेकस्य जन्मनो यौगपद्यासंभवेन क्रमस्वीकारे प्रथमपक्षोक्तस्यानाश्वासरूप-दोषस्य प्रसङ्गात्। यदि हि कर्मसहस्रं युगपज्जन्मसहस्रं प्रसुवीत ततः कर्मसहस्रक्षयादवशिष्टस्य विपाककालः फलक्रमनियमश्च स्यात्। नास्ति तु तदयोगिन इति—ना० बृ० वृ० पृ० २७४।

(ख) तु०—त० वै० पृ० १६६।

(ग) तु०—यो० वा० पृ० १६६।

(घ) तु०—यो० सि० चं० पृ० ६०।

[3] (क) जन्मारभ्य मरणपर्यन्तकाले विहितनिषिद्धानुष्ठानसम्पादितो धर्माधर्मसमूहो गुणप्रधानभावेनोत्पन्नो नानाविधविचित्रफलो मरणकाल आरब्धकर्मभोग-समाप्त्या लब्धावसरः सन्नेकप्रघट्टकेन मिलित्वा स्वफलदानार्थं मरणं प्रसाध्य प्रवृद्धवेगत्वरूपसंमूर्छितत्ववान्गुणप्रधानभावापन्नः स्वफलयोग्यमेकमेव जन्म करोति नानेकम्—ना० बृ० वृ० पृ० २७४।

(ख) तु०—त० वै० पृ०१६७-१६८। (ग) तु०—यो० वा० पृ०१६७-१६८।

(घ) तु०—भा० पृ० १६७-१६८। (ङ) तु०—यो० सि० चं० पृ० ६०।

अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाकारम्भी कर्माशय की एकभविकता—उपर्युक्त चतुर्थ विकल्प के अनुसार अनेक कर्माशयों में युगपत् एक जन्मरूप फलप्रदातृता होने से कर्माशय को एकभविक कहा है। लेकिन यह सामान्य नियम है। क्योंकि अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाकारम्भी कर्माशय ही निश्चित रूप से भव (जन्म) प्रदान करता है। अदृष्ट-जन्मवेदनीय अनियतविपाकारम्भी कर्माशय की इससे भिन्न स्थिति है। इसमें जन्मरूप फल देने की योग्यता है, लेकिन अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाकारम्भी कर्माशय की भाँति यह तुरन्त मरण के पश्चात् जन्मादि फल नहीं दे पाता है। प्रायश्चितादि द्वारा इसकी फलदान-शक्ति नष्ट भी की जाती है। इसलिए व्याख्याकारों ने इसे एकभविक नहीं माना है। दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय भवरूप जन्म का हेतु ही नहीं है। उसमें एकभविक-वाद किसी भी तरह चरितार्थ नहीं होता है।[१] अतः अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाकारम्भी कर्माशय में ही एकभविकत्व का नियम पूर्णतया लागू होता है।[२] आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने **'एकभविक'** शब्द की **'एको भवोऽस्मिन् कार्यतयाऽस्तीति एकभविकः'**—इस प्रकार व्युत्पत्ति की है।

वासना-विचार

कर्माशय के समान वासना एकभविक नहीं—कर्माशय के सदृश वासना एकभवपूर्विका नहीं होती है—इसका सहेतुक प्रतिपादन करने से पूर्व आपाततः तुल्य प्रतीत होते हुए **'कर्माशय'** एवं **'वासना'** शब्दों के अन्तर पर विचार अपेक्षित है।

संस्कारात्मक होने से वासना और कर्माशय दोनों तुल्य प्रतीत होते हैं। वस्तुतः दोनों में अन्तर है। विपाक का हेतुभूत धर्माधर्मात्मक संस्कार कर्माशय (कर्म संस्कार) कहा जाता है। कर्माशयजन्य विपाक से जायमान भोग-संस्कार वासना कहा जाता है। यही वासना एवं कर्माशय में सूक्ष्म भेद है।

जिस प्रकार शुभाशुभकर्म से उत्पन्न पुण्यापुण्यरूप कर्माशय एकभविक होता है, उसी प्रकार क्लेश की हेतुभूत और कर्मफल के अनुभव से उत्पन्न होने वाली भोगानुकूल वासना एकभविक नहीं होती है।[३] यदि वासना को एकभविक माना जाए तो मनुष्य-शरीर के पश्चात् प्राणी को जब कर्मानुसार पशु-शरीर प्राप्त होगा तब पश्वोचित भोग के अनुकूल वासना न रहने से वह उसका (पशुयोनिनिर्बाध्य) भोग नहीं कर सकेगा। क्योंकि वासना के बिना भोग नहीं होता है।[४] और यदि वासना को कर्माशय के समान एकभविक न मानकर अनादि माना जाए तो मनुष्य-शरीर के पश्चात् जब प्राणी का पश्वादि योनि में अवतरण होता है, तब

---

[१] एकभविकत्वनियम इत्यर्थः। न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य चेति। दृष्टजन्मवेदनीयस्य भवाहेतुकत्वेनैकभविकत्वाभावः स्पष्ट एव—यो० वा० पृ० १७१।

[२] योऽप्यदृष्टजन्मवेदनीयकर्माशयस्यैकभविकत्वनियम उक्तः सोऽपि नियतविपाकस्यैव—ना० बृ० वृ० पृ० २७५।

[३] कर्माशय एकभविको, वासना त्वनेकभवपूर्विका—भा० पृ० १६९।

[४] वासनां गृहीत्वा कर्माशयो विपाकारम्भी भवतीति—भा० पृ० ४०२।

पूर्व के किसी जन्म में पशुशरीर से जो भोग का अनुभव किया था उससे उत्पन्न हुई वासना ही वर्तमान पशु-शरीर में भोग की हेतु बन जाती है। इसलिए पतञ्जलि ने कर्मफल के अनुरूप ही वासनाओं की अभिव्यक्ति मानी है।[१] ऐसा नहीं है कि मानुषभोग की वासना के अभिव्यक्तिकाल में दिव्यकर्म से उत्पन्न फल का उपभोग हो सके।[२] अतः जीव के कर्मानुसार देव, मनुष्य, तिर्यक्, पश्वादि योनियों में अनेक बार भ्रमण करने के सिद्धान्त की स्थापना के लिए वासना को अनेकभविक मानना अपरिहार्य है। एक जन्म में वासना का नाश नहीं होता है, अपितु अनेक जन्मों तक वह विद्यमान रहती है।

ऊपर, कर्मविपाक के अनुरूप वासना की अभिव्यक्ति कही गई। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है[३] कि—मनुष्य शरीर के पश्चात् मार्जारादि शरीर की प्राप्ति होने पर अव्यवहित पूर्ववर्ती मनुष्यशरीर की वासना अभिव्यक्त न होकर अत्यन्त व्यवहित मार्जार योनि की वासना कैसे अभिव्यक्त हो सकती है? यह सम्भव नहीं है कि मनुष्य को पूर्व दिन की बात याद न रहकर बहुत दिन पूर्व की बात याद रहे। अतः प्राणी का मनुष्य-शरीर से मार्जार योनि में अवतरण होने पर अत्यन्त अव्यवहित मनुष्य-शरीर की वासना ही अभिव्यक्त होनी चाहिए; अत्यन्त व्यवहित मार्जार योनि की वासना नहीं। लेकिन ऐसा मानने पर कर्माशय के अनुरूप वासना की अभिव्यक्ति न होने से कर्माशय अपना फल देने में समर्थ न हो सकेगा, जिससे कर्मवाद का उच्छेद जानकर लोग शुभकर्मानुष्ठान में प्रवृत्त न होंगे।

उक्त शङ्का के परिहारार्थ पतञ्जलि का कहना है—जाति, देश तथा काल की अत्यन्त दूरी रहने पर भी वासना कर्माशय को फलोन्मुख होने में वाधा नहीं पहुँचाती है।[४] क्योंकि स्मृति तथा संस्कार की एकरूपता से दूरी समाप्त हो जाती है। कार्य अपनी अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यञ्जक की अपेक्षा रखता है। अतः मार्जार आदि शरीर का आरम्भक कर्माशय अपने उद्बोधक सजातीय संस्कार (वासना) से उद्बुद्ध होकर ही विपाकोन्मुख होता है।[५] लेकिन कर्माशय पूर्व देह का अन्त होते ही नियमतः अपना फल दे, यह नियम नहीं है। अतः सैकड़ों जन्म पूर्व संचित हुए मार्जार योनि के प्रापक कर्माशय में जाति, देश एवं काल की दृष्टि से अत्यन्त दूरी रहती है। फिर भी समय आने पर

---

[१] ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्—यो० सू० ४।८।

[२] दिव्यभोगजनिता हि दिव्यकर्मविपाकानुगुणा वासना; न हि मनुष्यभोगवासनाऽभिव्यक्तौ दिव्यकर्मफलोपभोगसम्भवः—त० वै० पृ० ४०२।

[३] मनुष्यस्य प्रायणानन्तरमधिगतमार्जारभावस्यानन्तरतया मनुष्यवासनाया एवाभिव्यक्त्या भवितव्यम्। न खल्वस्ति सम्भवो यदनन्तरदिवसानुभूतं न स्मर्यते व्यवहितदिवसानुभूतं च स्मर्यते—त० वै० पृ० ४०२।

[४] जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्
—यो० सू० ४।९।

[५] (कर्माशयः) यदि व्यज्येत स्वविपाकानुगुणा एव वासना गृहीत्वा व्यज्येत
—त० वै० पृ० ४०३।

वह अपने अभिव्यञ्जक संस्कार को प्राप्त करके अतिशीघ्रता से अपने अनुरूप जन्मादि फल प्रदान करता है।[१] जाति, देश तथा काल की दृष्टि से व्यवहित वृषादि योनि की वासना की अभिव्यक्ति का कारण है—वर्तमान वृषादि योनि का कर्म। वासना का अभिव्यञ्जक तत्सदृश कर्म होता है। तुल्यजाति का फल देने के कारण कर्म एवं वासना में समानता कही जाती है।[२] इस प्रकार कर्माशय तथा वासना में समानविषयता (सादृश्य) रहने के कारण दोनों में आनन्तर्य है। जैसे स्मृति एवं संस्कार के एकरूप होने से उनमें आनन्तर्य है।[३] अतः पूर्व वृषादि योनि की वासना वर्तमान वृषादि योनि से व्यवहित है; लेकिन कार्यकारणभाव की धारा का विच्छेद न होने से वे अव्यवहित जैसी हैं। इसलिए मनुष्य-योनि के पश्चात् कर्मानुसार मार्जार योनि की प्राप्ति होने पर अव्यवहित पूर्ववर्ती मनुष्य-योनि की वासना की अभिव्यक्ति न होकर अत्यन्त व्यवहित मार्जार योनि की वासना का अभिव्यक्त होना सङ्गत है।

ऊपर कर्मानुसार कीट, पतङ्ग मार्जार, पशु, मनुष्य, देवादि योनियों के बार-बार प्राप्त होने में वासना की आवश्यकता शास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रतिपादित हुई है। तत्पश्चात् सूत्रकार **पतञ्जलि** एवं **व्यासदेव, वाचस्पति विज्ञानभिक्षु** आदि व्याख्याकार लोकानुभव के आधार पर वासना को अनादि सिद्ध करते हैं—

वासना की अनादिता—प्राणियों की 'मेरी मृत्यु न हो, मैं सदा रहूँ'—इस प्रकार की आत्मविषयक इच्छा से वासना अनादि सिद्ध होती है।[४] उपर्युक्त आत्मविषयक इच्छा को चित्त का स्वाभाविक धर्म मानकर उसे निर्निमित्तक नहीं कहा जा सकता है।[५] क्योंकि वह पूर्वजन्म में अनुभूत मरणदुःख के भय से ही उत्पन्न होती है। इसलिए वर्तमान जीवन में मरणजन्य दुःख का अनुभव न किया हुआ नवजात शिशु भी माता की गोद से खिसकने पर तुरन्त काँपने लगता है और अपनी सुरक्षा के लिए माँ का आँचल, मँगलसूत्र आदि को यथा-

---

[१] वृषदंशविपाकारम्भः स्वव्यञ्जकेनैवाभिव्यक्तो वर्तमानावस्थो भवति; न तु पूर्वदेहत्यागमात्रेण झटिति रेवेति नियमोऽतः स यदि जातिशतादिव्यवधानेन व्यञ्जकं प्राप्योदियात् तदा द्रागित्येव शीघ्रं पूर्वप्राप्तवृषदंशविपाकेन जनितान् संस्कारान् गृहीत्वैव व्यक्तो भवति व्यवहितानामपि वासनानां सदृशकर्मव्यङ्ग्यत्वादित्यत आनन्तर्यमेवार्थाद् भवतीत्यर्थः—यो० वा० पृ० ४०३।

[२] सादृश्यं चात्रैकजातीयफलकत्वम्—यो० वा० पृ० ४०३।

[३] ···स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्—यो० सू० ४।९।

[४] (क) तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्—यो० सू० ४।१०।
(ख) आशिषो नित्यत्वाद् आत्माशिषो वासनानामनादित्वेन नित्यत्वाव्यभिचारात् —त० वै० पृ० ४०४।

[५] (क) सा च स्वाभाविकी—व्या० भा० पृ० ४०५।
(ख) तासां स्वाभाविकत्वं नामौष्ण्यप्रकाशवन्निर्निमित्तकम्—पा० र० पृ० ४०४।
(ग) तु०—त० वै० पृ० ४०४।

शक्ति पकड़ने का प्रयास करता है।[१] यदि पूर्वजन्म में उसने मरण-दुःख का अनुभव न किया होता, तो इस प्रकार की भीति बालक में नहीं देखी जा सकती थी। **वाचस्पति** अधोलिखित अनुमानप्रयोग के द्वारा उपर्युक्त आशय को स्पष्ट करते हैं—नवजात शिशु में इस प्रकार का दिखलाई पड़ता हुआ कम्पन भयमूलक है—**(प्रतिज्ञा)**, एक विशेष प्रकार का कम्पन होने से—**(हेतु)**, हम लोगों के कम्पन की तरह—**(उदाहरण)**। इस प्रकार **'मा न भूवं भूयासम्'**—इत्याकारक इच्छा के नित्य होने से जन्मजन्मान्तरीय वासना अनादि सिद्ध होती है। इस प्रकार योनिभेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की वासनाओं से चित्रित हुआ यह चित्त भोगोन्मुख कर्म के अनुरूप वासना को ही लेकर पुरुष के भोगार्थ प्रवृत्त होता है, सभी प्रकार की वासनाओं को लेकर नहीं।

अनादि वासना पुरुष के मोक्ष की प्रतिबन्धिका नहीं—ऊपर वासना को अनादि बतलाया गया। इस पर एक शङ्का उत्पन्न होती है यदि वासना को अनादि माना जाए तो उसका उच्छेद[२] न हो सकने से पुरुष की कभी भी मोक्षावस्था नहीं बन पायगी। परिणामस्वरूप योगशास्त्र में पुरुष को सांसारिक वन्धन से मुक्त होने का उपदेश करना भी व्यर्थ हो जायगा। अतः उपर्युक्त असङ्गतियों के परिहारार्थ वासना को अनादि न माना जाए।

उक्त शङ्का के निरसनार्थ आचार्य **वाचस्पति मिश्र** का कहना है[३] कि अनादि होने से पदार्थ का नाश न हो सके—ऐसा नियम नहीं है। नाश की सामग्री उपस्थित होने पर अनादि पदार्थ भी नष्ट होते देखे जाते हैं। जैसे पदार्थ की अनागतावस्था, जो अनादि है, अपने विरोधी वर्तमान अवस्था से नष्ट (अभिभूत) हो जाती है। पदार्थ की वर्तमानावस्था अनागतावस्था की नाशिका है। शास्त्रों में पुरुष के नाश का निषेध किया गया है। वह पुरुष के अनादि होने के कारण नहीं; अपितु उसके नाश की सामग्री कभी भी उपस्थित न हो सकने के कारण है। वासना पुरुष के समान अपनी विनाशक सामग्री से रहित नहीं है। वह स्वस्थिति के हेतुओं के न रहने पर नष्ट हो जाती है।

अनादि वासना की नाशक सामग्री—सूत्रकार का कहना है[४] कि वासना की स्थिति के चार निमित्त हैं—हेतु, फल, आश्रय एवं आलम्वन। उक्त चार हेतुओं का विघटन

---

[१] अत एवैतस्मिन् जन्मन्यननुभूतमरणधर्मकस्य मरणमेव धर्मः, सोऽननुभूतो येन स तथोक्तः; तस्य मातुरङ्कात्प्रस्खलतः कम्पमानस्य मङ्गल्यचक्रादिलाञ्छितं तदुरःसूत्रमतिगाढं पाणिग्राहमवलम्बमानस्य बालकस्य कम्पभेदानुमिता द्वेषानुषक्ते दुःखे या स्मृतिस्तन्निमित्तो मरणत्रासः कथं भवेदिति····तस्मात्प्राग्भवीयोऽनुभवः परिशिष्यते—त० वै० पृ० ४०४-४०५।

[२] अथैताश्चित्तवृत्तयो वासनाश्चानादयश्चेत्कथमासामुच्छेदः—त० वै० पृ० ४०९।

[३] अनादेरपि समुच्छेदो दृष्टः। तद् यथाऽनागतत्वस्येति सव्यभिचारत्वादसाधनम्, चितिशक्तिस्तु विनाशकारणाभावान्न विनश्यति, न त्वनादित्वात्। उक्तं च वासनानामनादीनामपि समुच्छेदः कारणम्—त० वै० पृ० ४१०।

[४] हेतुफलाश्रयालम्बनैः सङ्गृहीतत्वादेषामभावे तदभावः—यो० सू० ४।११।

(नाश) होते ही तदाश्रित वासना भी स्वतः विघटित हो जाती है। जैसे वह्न्यभाव धमाभाव का हेतु है। क्योंकि कार्यकारण म अविनाभावसम्बन्ध है।

आचार्यों ने संसार की उपमा चक्र से देते हुए उसके छः अरे बतलाए हैं और अविद्या को उनका मूल हेतु घोषित किया है। शुभ (पुण्य) कम करने से व्यक्ति सुखी होता है, क्योंकि शुभकर्मजन्य संस्कार में सुखोत्पादन सामर्थ्य है। पाप कर्म करने से व्यक्ति दुःखी होता है, क्योंकि पापकर्मजन्य संस्कार में दुःखोत्पादन सामर्थ्य है। इस प्रकार शुभ एवं अशुभ कर्म करने वाला व्यक्ति सुखोपभोग तथा उसके साधनों के प्रति रागवान्, दुःखोपभोग तथा उसके साधनों के प्रति द्वेषवान् होता है। तदनन्तर सुखोत्पत्ति एवं दुःखोन्मूलन के लिए पुनः काम, क्रोध, मोह आदि के वशीभूत होकर क्रमशः दूसरों का उपकार एवं अपकार करता है। फलस्वरुप पुनः धर्माधर्म संचित होते हैं और धर्माधर्म से सुख, दुःख आदि। इस प्रकार धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, राग, द्वेष संज्ञक छः अरों वाला संसार-चक्र प्रवर्तित होता है। आवर्तनशील संसार-चक्र की संचालिका शक्ति अविद्या में निहित है। क्योंकि अविद्याग्रस्त प्राणी ही दुःख के साधनभूत भौतिक पदार्थों को सुखोपभोग की सामग्री समझकर उन्हें प्राप्त करने के लिए अच्छे-बुरे कर्म करता है। इस प्रकार अविद्या-दण्ड से चलाया हुआ यह संसार-चक्र वासना का हेतु है।[1] अविद्यामूलक वृत्ति या प्रत्यय ही वासनाओं का हेतु है। **सदाशिवेन्द्रसरस्वती** के अनुसार क्लेशमूलक कर्म वासना का हेतु है।[2]

जिस पुरुषार्थ को उद्देश्य करके धर्मादि किए जाते हैं, वह पुरुषार्थ वासना का फल है।[3] भोगापवर्ग की इच्छा से व्यक्ति धर्मादि किया करता है। अतः भोगापवर्ग वासना का फल है। अन्तर यह है कि आचार्य **वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु, भावागणेश, नागेशभट्ट, बलदेव मिश्र** आदि ने वासना का फल पुरुषार्थ को माना है। आचार्य **भोजदेव** ने शरीरादि और स्मृत्यादि को वासना का फल कहा है।[4] आचार्य **रामानन्दयति** तथा **सदाशिवेन्द्रसरस्वती** जातिः, आयुः तथा भोग को वासना का फल बतलाते हैं।[5] **हरिहरानन्द आरण्यक** ने भास्वती में वासना का फल स्मृति बतलाया है।[6] उन्होंने अपने मत के

---

[1] (क) धर्माधर्मसुखदुःखरागद्वेषरूपेणारषट्केणाविद्यादण्डप्रेरितेन भ्रमितं भवतीत्यतो वासना हेतुः—यो० वा० पृ० ४१०।
(ख) तु०—त० वै० पृ० ४१०।
(ग) तु०—भा० पृ० ४१०।

[2] तत्र वासनानां क्लेशकर्माणि हेतवः—यो० सु० पृ० ८८।

[3] यं पुरुषार्थमुद्दिश्य धर्माद्युत्पन्नं तदेव वासनानामपि फलं कर्मवासनयोरन्योन्यसहकारित्वात्—यो० वा० पृ० ४१०।

[4] फलं शरीरादि स्मृत्यादि च—रा० मा० पृ० ६५।

[5] (क) जात्यायुर्भोगाः फलम्—यो० सु० पृ० ८८।
(ख) तु०—म० प्र० पृ० ७९।

[6] फलं वासनानां स्मृतिः—भा० पृ० ४०९।

पुष्टचर्थं बंगला टीका में यह भी कहा है कि भोगापवर्ग रूप अभीष्ट विषय वासना का फल नहीं हो सकता, वह तो दृश्य-दर्शन का फल है। जातिः, आयुः तथा भोग (वासना के नहीं अपितु) कर्माशय के फल हैं। शरीरादि वासना का गौण फल है तथा स्मृति वासना का मुख्य फल है।

वासना की आवासभूमि साधिकार चित्त है।[१] विवेकज्ञानोदय के पूर्व तक चित्त में वासनाओं की स्थिति रहती हैं।[२] साधिकार चित्त को वासना का आश्रय कहने से प्रलयकाल में भी उसकी स्थिति सिद्ध होती है, क्योंकि प्रलयकाल चित्त की समाप्ताधिकारावस्था नहीं है, जिससे वह वासनाशून्य हो जाए। इस प्रकार प्रलयकाल में चित्त और तदाश्रित वासना दोनों स्थित रहते हैं।

चित्त-भूमि म निष्क्रिय (प्रसुप्तावस्थ) होकर पड़ी वासनाओं को सक्रिय (उदारवृत्ति) बनाने वाले उद्बोधक तत्त्व वासना के आलम्वन कहे जाते हैं। जो वस्तु सम्मुख होती हुई जिस वासना को अभिव्यक्त करती है, वह वस्तु उस वासना का आलम्वन होती है।[३] जैसे कामिनीरूपादि वासनोद्वोधन के प्रबल आलम्वन हैं। ये आलम्वन सन्निकृष्ट रहकर ही वासना को उद्बुद्ध करते हैं। इसलिए मोक्षकाल में रागवासना के व्यञ्जक तत्त्व कामिनीरूपादि अवश्य विद्यमान रहते हैं। लेकिन सन्निकृष्ट न रहने से वे वासना के आलम्वन नहीं बन पाते हैं।[४]

इस प्रकार वासना की स्थिति ऊपर वर्णित हेत्वादि के अधीन है। इन चारों हेतुओं का विवेकज्ञान से नाश होने पर अनादि वासना भी नष्ट हो जाती है।[५] जैसे विदेहमुक्ति के समय अविद्या आदि हेतुओं का आत्यन्तिक रूप से नाश (उच्छेद) माना जाता है। इससे (आश्रय का नाश होने से) तदाश्रित वासनाओं का भी उस समय नाश हो जाता है। अतः वासनाओं को अनादि मानने पर भी साधक को मोक्ष प्राप्त करने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती है।

ऊपर अनादि वासना के नाशक तत्त्वों पर विचार किया गया। पूर्वपक्षी को वासना के नाश की उक्त चर्चा सत्कार्यवाद के विरुद्ध प्रतीत होती है। उसका कहना है— माना कि वासना का नाश होने से मोक्ष हो सकता है, किन्तु सत्कार्यवाद के अनुसार वासना

---

[१] मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम्—व्या० भा० पृ० ४१०।

[२] अत्र प्रलये वासनासत्त्वस्यानुच्छेदेन वासनाऽऽश्रयमनसो नित्यत्वमभिप्रेत्य साधिकारमिति विशेषणम्—यो० वा० पृ० ४१०।

[३] यदभिमुखीभूतं वस्तु यां वासनां व्यनक्ति तस्यास्तदालम्बनम्—व्या० भा० पृ० ४१०-४११।

[४] मोक्षकाले कामिनीरूपादीनां रागवासनाव्यञ्जकानां सत्त्वेऽप्यालम्बनाभावोपपादनायाभिमुखमिति विशेषणम्। तथा च सन्निकृष्टं वासनाव्यञ्जकमत्रालम्बनमित्यर्थः—यो० वा० पृ० ४१०।

[५] एवं हेतुफलाश्रयालम्बनैरेतैः सङ्गृहीताः सर्वा वासनाः। एषामभावे तत्संश्रयाणामपि वासनानामभावः—व्या० भा० पृ० ४११।

का नाश कैसे हो सकता है ? क्योंकि सत्कार्यवाद में असत् पदार्थ की उत्पत्ति एवं सत् पदार्थ के नाश का प्रतिषेध किया गया है ।

उपर्युक्त शङ्का के निरसनार्थ आचार्यों का कहना है कि वासना के विनाश का तात्पर्य उसके स्वरूपतः नाश से नहीं है (जो सत्कार्यवाद के विरुद्ध है) अपितु वासना का पुनराभिव्यक्तिशून्यतारूप अपनी आत्यन्तिक अतीतावस्था में प्रत्यावर्तित होना 'विनाश' शब्द का अर्थ है । इससे सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को व्याघात नहीं पहुँचता है । क्योंकि अतीतावस्था और अनागतावस्था में वस्तुओं की स्वरूपतः सत्ता स्वीकार की गई है ।[१]

इस प्रकार एकभविक कर्माशय की तुलना में वासना को अनेकभविक सिद्ध करने के लिए वासना तत्त्व पर विचार किया गया है । इससे पातञ्जलयोग सम्मत कर्म का सिद्धान्त परिपुष्ट होता है ।

चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दार्शनिक कर्म-सिद्धान्त को मानते हैं और जीवन के लिए उसे आवश्यक भी समझते हैं । क्योंकि कर्म का शाश्वत एवं सार्वभौम नियम जगत् की नैतिक व्यवस्था का मूल आधार है । यह मनुष्य को भाग्यवादी एवं निराश नहीं बनाता है, अपितु उसे शुभ कर्म की ओर प्रेरित करता है । साधक योगादि आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करके अन्त में कर्म के नियम का अतिक्रमण करता है और दुःख तथा जन्म-मरण के बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है ।

———

१ (क) भवेदप्ययं दोषो यदि स्वरूपापायो वासनानामस्माभिरुच्येत किं त्वत्यन्तातीतामात्रं यतोऽतीतानागतं वस्तु स्वरूपतोऽस्ति—यो० वा० पृ० ४११ ।

(ख) अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम्—यो० सू० ४।१२ ।

अध्याय—९

क्लेश-मीमांसा

क्लेशों का व्यापार

क्लेशों की अवस्थाएँ

दुःखकारण-मीमांसा

अध्याय—६

क्लेश
अविद्या
अस्मिता
राग
द्वेष
अभिनिवेश
अवस्थाएँ
प्रसुप्त
तनु
विच्छिन्न
उदार
बीजभावापन्न
दग्धबीजभावापन्न

अध्याय—९
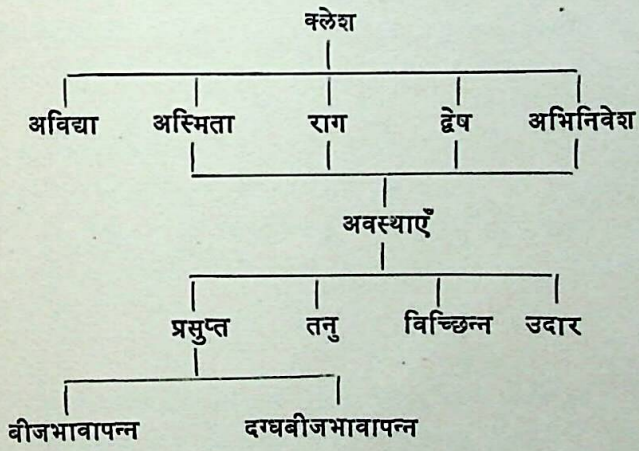
क्लेश-मीमांसा

क्लिश्नन्तीति क्लेशाः—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो क्लेश प्रदान करते हैं, वे क्लेश कहे जाते हैं। पातञ्जल-योगशास्त्र में पाँच क्लेशदायक शक्तियाँ स्वीकार की गई हैं[१]—अविद्याशक्ति, अस्मिताशक्ति, रागशक्ति, द्वेषशक्ति तथा अभिनिवेशशक्ति। ये शक्तियाँ वृत्यात्मक हैं। ये चित्त की प्रमाणादि वृत्तियों से भिन्न नहीं हैं। विपर्यस्तज्ञान की मूलाधार होने से व्याख्याकारों ने इनका विपर्ययवृत्ति में अन्तर्भाव किया है।[२] अतः कष्टदायक विपर्यस्तज्ञान क्लेशों का साधारणलक्षण है।

क्लेशों का व्यापार

व्यासदेव, वाचस्पति आदि व्याख्याकारों का कहना है[३]—अविद्यादि क्लेशों का पृथक्-पृथक् कार्य चित्त में अज्ञान, राग एवं द्वेषादि का वातावरण उपस्थित करना है। ये सामूहिक रूप से संसार के मूलकारण हैं। इनका कार्य प्राणियों को उनके कर्मानुसार जाति, आयुष् एवं भोग (विपाक) प्रदान करना है। इसलिए ये साम्यावस्थ-गुणों में हलचल (विषम-परिणाम) उत्पन्न करते हैं। गुणों के संक्षुभित होते ही उनसे महदादि तत्त्वों का विकास प्रारम्भ होता है। महदादि-तत्त्व सूक्ष्म एवं स्थूल-शरीर के रूप से पुरुष के भोगायतन बनते हैं। इस प्रकार अविद्या से सम्पृक्त व्यक्ति का संसार होता है।

अविद्या—

अस्मितादि की प्रसवभूमि अविद्या—जिस प्रकार धान्य आदि का उत्पत्तिस्थल भूमि है उसी प्रकार अविद्यादि बीज चित्तभूमि में ही अङ्कुरित होते हैं। पातञ्जल-योग के व्याख्याकारों ने अविद्या को अस्मिता आदि चार क्लेशों की प्रसवभूमि माना है।[४] अस्मिता आदि अविद्यामूलक हैं। रागकाल में द्वेष-संज्ञक क्लेश विद्यमान (उदारावस्थ) नहीं रहता है; लेकिन रागकाल में अविद्या रहती है। अविद्या का समुच्छेद होने पर अस्मिता आदि क्लेश विद्यमान नहीं रह सकते हैं। अतः अविद्या के सद्भाव के अधीन अस्मिता आदि

---

[१] अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः—यो० सू० २।३।

[२] (क) पञ्च विपर्यया इत्यर्थः—व्या० भा० पृ० १४२।
(ख) तु०—त० वै० पृ० १४२।

[३] ते स्यन्दमाना गुणाधिकारं द्रढयन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति, कार्यकारणस्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्रीभूय कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्ति इति—व्या० भा० पृ० १४२-१४३।

[४] अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्—यो० सू० २।४।

का सद्भाव एवं अविद्या के समुच्छेद के अधीन अस्मिता आदि का समुच्छेद है।[१] अस्मि-तादि में अनुस्यूत रहने के कारण अविद्या अस्मिता आदि की प्रसवभूमि कही गई है।

अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म पदार्थों में क्रमशः नित्य, शुचि, सुख तथा आत्म ख्याति होना अविद्या है।[२] गरुड़पुराण में भी इसी प्रकार अविद्या का लक्षण किया गया है।[३] एक शब्द में—पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को न समझ पाना अविद्या है।

अनित्य में नित्यबुद्धि—आचार्य विज्ञानभिक्षु, नागेश भट्ट एवं नारायणतीर्थ का कहना है कि कालनिष्ठ ध्वंस के प्रतियोगी को अनित्य कहते हैं।[४] पृथिव्यादि भूतभौतिक प्रपञ्च कालनिष्ठ ध्वंस का प्रतियोगी है। इसलिए वह अनित्य है। इन अनित्य पदार्थों में जो विपर्ययरूप नित्यत्वबुद्धि है, वह अविद्या कही जाती है। उदाहरणस्वरुप पञ्चभूत, सूर्य, चन्द्र, तारा, द्युलोक तथा स्वर्ग आदि को नित्य मानते हुए व्यक्ति रुचिभेद से तत्-तत् पदार्थ में लय अथवा उसकी प्राप्ति के लिए तत्सम्बन्धी साधनानुष्ठान करते हैं। तत्त्ववैशारदी आदि ग्रन्थों में पञ्चभूत आदि में लय के साधन वर्णित हैं।[५] यही अनित्य में नित्यत्वख्यातिरूप अविद्या है।

अशुचि में शुचित्वबुद्धि—अपवित्र पदार्थों के साथ पवित्र पदार्थों की तरह व्यवहार करना अशुचि में शुचित्वख्यातिरूप अविद्या है। अविद्या की इस विधा के पुष्टयर्थ व्याख्या-कारों ने महा-अपवित्र शरीर को उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो अपने शरीर को शुचितापूर्ण नहीं समझता और उसकी शुचिता के प्रदर्शनार्थ प्रयत्नशील नहीं रहता है। व्याख्याकारों ने वैयासकी-गाथा द्वारा काय-वीभत्सता स्पष्ट की है। गाथा में शरीर की अपवित्रता के छः हेतु उपन्यस्त हैं। गाथा (श्लोक) का अर्थ इस प्रकार है[६]—मल, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों से युक्त माता के उदररूप स्थान से उत्पन्न होने के कारण, रजस् अथवा वीर्यरूप मलिन वीज से युक्त होने के कारण, रुधिर माँस आदि का आश्रय होने के कारण, मल, मूत्र तथा प्रस्वेद आदि अत्यन्त अपवित्र पदार्थों का निस्सरण होने के कारण, प्राणवियोग के पश्चात् मृतदेह का स्पर्श त्याज्य होने के कारण

---

[१] ततश्चाविद्यासमुच्छेदे तेषामपि समुच्छेदो युक्त इति भावः—त० वै० पृ० १४२।

[२] अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या—यो० सू० २।५।

[३] अनात्मन्यात्मविज्ञानमसतः सत्स्वरूपता।
सुखाभावे तथा सौख्यं मायाऽविद्याविनाशिनी—ग० पु० यो० वा० पृ० १४८।

[४] अनित्यत्वमसत्त्वं कालनिष्ठाभावप्रतियोगित्वमिति यावत्—यो० वा० पृ० १४८।

[५] (क) केचित् किल भूतानि नित्यत्वेनाभिमन्यमानास्तद्रूपमभीप्सवस्तान्येवोपासते; एवं धूमादिमार्गानुपासते चन्द्रसूर्यतारकाद्युलोकान्नित्यानभिमन्यमानास्तत्प्रा-प्तये; एवं दिवौकसः= देवानमृतानभिमन्यमानास्तद्भावाय सोमं पिबन्ति ·· सेयमनित्येषु नित्यख्यातिरविद्या—त० वै० पृ० १४८।
(ख) तु०—यो० प्र० पृ० २६।

[६] स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥—व्य० भा० पृ० १४८-१४९।

तथा मृज्जलादि द्वारा शरीर में पवित्रता का आधान करने पर भी उसके अपवित्र बने रहने के कारण—तत्त्ववेत्ता शरीर को अपवित्र समझते हैं।

आचार्य **व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, नारायणतीर्थ, नागेशभट्ट** एवं **हरिहरानन्द आरण्यक** ने अशुचितापूर्ण देह में होने वाली शुचित्वबुद्धि का स्वरूप प्रस्तुत किया है। स्त्री का लोभी कल्पना करता है—यह स्त्री कैसी कमनीय प्रतीत होती है कि मानों नूतन चन्द्रमा की रेखा हो; मानों ब्रह्मा के द्वारा मधु तथा अमृत के अवयवों से निर्मित हुई हो; मानों अभी-अभी चन्द्रमण्डल को भेदकर निकली हो। इत्याकार की कई कल्पनाएँ करता है।[1] इस प्रकार कन्या के अपवित्र शरीर में जो पवित्रताविषयक विपर्यस्त ज्ञान है, वह द्वितीय प्रकार की अविद्या है।

दुःख में सुखबुद्धि—दुःखपूर्ण पदार्थों को उनके स्वरूप के विपरीत सुखपूर्ण समझना तृतीय प्रकार की अविद्या है। आपाततः सुखरूप प्रतीत होने वाले पदार्थ किस प्रकार दुःखरूप हैं, इसका सहेतुक प्रतिपादन—दुःख के कारणों पर विचार करते समय—इसी अध्याय के अन्त में किया जायगा और वहीं पर किस प्रकार अविद्या के कारण व्यक्ति को दुःखःपूर्ण पदार्थों में सुखबुद्धि होती है, इस पर भी प्रकाश डाला जायगा।

अनात्म में आत्मत्वबुद्धि—वाचस्पति आदि व्याख्याकारों का कहना है कि आत्म-भिन्न जड़ पदार्थों में जो आत्मत्वबुद्धि होती है, वह चतुर्थ प्रकार की अविद्या है। जैसे बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित पुरुष के सम्पर्क से चैतन्य सी हुई बुद्धि को व्यक्ति चेतन समझने लगता है। विदेहलीन योगी भूतेन्द्रियों को आत्मा मानकर उपासना करते हैं तथा प्रकृतिलीन योगियों की उपासना प्रकृति को आत्मा मानकर अग्रसर होती हैं।

ऊपर अविद्या की चार विधाएँ बतलाई गईं। ये चारों अविद्या के चार पाद हैं। यहाँ शङ्का उत्पन्न होती है कि दिङमोह, आलातचक्र तथा शुक्ति में रजतज्ञान आदि रूप से अविद्या अनन्त प्रकार की है, अतः अविद्या चतुष्पदा क्यों कही गई है? उक्त शङ्का का समाधान करते हुए आचार्य **वाचस्पति मिश्र** कहते हैं—दिङमोह आदि भेद से अविद्या अनन्त प्रकार की है; लेकिन जन्म-मरणरूप संसार की बीजभूत अविद्या चार प्रकार की है।[2] इसी कोण से अविद्या के भेद किए गए हैं।

अविद्या भावपदार्थ है—अविद्या संसार एवं क्लेशादि का कारण कही गई है, इससे अविद्या को भावपदार्थ होना चाहिए। क्योंकि अभाव भावपदार्थ का कारण नहीं हो सकता है। किन्तु 'अविद्या'—इस समस्त पद को देखते हुए वह अभावरूप प्रतीत होती है। अतः अविद्या संसार का कारण कैसे बन सकती है? इस शङ्का को दृष्टिपथ में रखते हुए आचार्य

---

[1] (क) नवेव शशाङ्कलेखाकमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते······—व्या० भा० पृ० १४९।
(ख) तु०—त० वै० पृ० १४९।
(ग) तु०—यो० वा० पृ० १४९।
(घ) तु०—यो० सि० चं० पृ० ५१।

[2] संसारबीजं चतुष्पदैवेति—त० वै० पृ० १५०।

व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, नागेशभट्ट, नारायणतीर्थ, हरिहरानन्द आरण्यक तथा **बलदेव मिश्र** ने **'अविद्या'**—इस समस्तपद में अव्ययीभाव, तत्पुरुष आदि समासों का खण्डन करते हुए उसकी भावरूपता (वस्त्वन्तर) निम्नाङ्कित प्रकार से उद्घाटित की है।

अविद्या में अव्ययीभावसमास नहीं—अव्ययीभावसमास पूर्वपदार्थप्रधान होता है। पाणिनि-सूत्र **'अव्ययं विभक्तिः'**—से जिस प्रकार अभाव के अर्थ में **'मक्षिकाणामभावः'**—ऐसा विग्रह कर **'अमक्षिकम्'** यह समस्त पद बना है, उस प्रकार सांख्ययोगशास्त्र में **'विद्याया अभावः'** के द्वारा अविद्या पद निष्पन्न नहीं है। अविद्या में पूर्वपदार्थ को प्रधान मानने पर प्रसज्यप्रतिषेध की प्रसक्ति होगी। इस स्थिति में अविद्या को विद्या का अभावरूप कहना होगा। फलस्वरूप विद्या के सदृश किसी भावरूप पदार्थ की सिद्धि नहीं हो पायगी और अविद्या से क्लेशादि की उत्पत्ति अनुपपन्न होगी।[1] लेकिन अविद्या से क्लेश आदि की उत्पत्ति स्फुट है। अतः अविद्या के फल (कार्य) को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि **अमक्षिकम्** (मक्खियों का अभाव) की भाँति 'अविद्या'—इस पद का अर्थ 'विद्या का अभाव' है।

सर्वदर्शनसंग्रह के 'पातंजलदर्शन'—प्रकरण में **माधवाचार्य** ने लिङ्ग की दृष्टि से **अविद्या**—इस समस्त पद में अव्ययीभाव की अनुपयुक्तता प्रकट करते हुए लिखा है—**'अविद्या'** शब्द स्त्रीलिङ्ग है। अव्ययीभावसमास मानने परे वह स्त्रीलिङ्ग नहीं रह सकेगा।[2] क्योंकि पाणिनि-सूत्र **'अव्ययीभावश्च'**—के अनुसार अव्ययीभावसमास से निष्पन्न पद केवल नपुंसकलिङ्ग ही होते हैं। अतः 'अविद्या' इस समस्त पद में अव्ययीभावसमास का अवलम्बन लेना अनुचित है।

अविद्या में नञ्‌प्रधान तत्पुरुषसमास नहीं—तत्पुरुषसमास उत्तरपदार्थप्रधान होता है। जिस प्रकार **'अराजपुरुषः'**—इस समस्त पद का तत्पुरुषसमास द्वारा **'न राजपुरुषः अराजपुरुषः'** अथवा **'अभावविशिष्टराजपुरुषः अराजपुरुषः'**—इस प्रकार विग्रह किया जाता है। उसी प्रकार तत्पुरुषसमास द्वारा 'अविद्या' पद का—**'न विद्या अविद्या'** अथवा **'अभावविशिष्टाऽविद्या'**—इस प्रकार का विग्रह उचित नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त प्रकार से विग्रह करने पर विद्या ही किसी के अभाव से विशिष्ट जानी जायगी। अर्थात् इससे **अविद्या** का विद्याप्रतियोगिक अन्योन्याभाव अर्थ होगा। फलस्वरूप अविद्या क्लेशादि का विनाश करने वाली (प्रतिपक्षी) सिद्ध होगी न कि उनका कारण (उत्पादक) सिद्ध हो सकेगी।[3] अतः 'अविद्या' में तत्पुरुपसमास उचित नहीं है।

अविद्या में बहुव्रीहिसमास नहीं—बहुव्रीहिसमास अन्यपदार्थप्रधान होता है। जिस प्रकार **'अमक्षिकम्'**—में बहुव्रीहिसमास है और उसका **'अविद्यमाना मक्षिका यस्मिन्निति अमक्षिकम्'**—इस प्रकार विग्रह होता है, उसी प्रकार अविद्या में बहुव्रीहिसमास मानकर उसका

---

[1] **पूर्वपदार्थप्रधानत्वे विद्यायाः प्रसज्यप्रतिषेधो गम्येत; न चास्य क्लेशादिकारणत्वम्—त० वै० पृ० १५१।**

[2] **अविद्याशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वाभावापत्तेश्च—स० द० सं० पृ० ६९२।**

[3] **उत्तरपदार्थप्रधानत्वे वा विद्यैव कस्य चिदभावेन विशिष्टा गम्येत; सा च क्लेशादिपरिपन्थिनी, न तु तद्बीजम्—त० वै० पृ० १५१।**

'अविद्यमाना विद्या यस्या मिति अविद्या'—ऐसा विग्रह ठीक नहीं है इससे अविद्या विद्यारहित सिद्ध होगी, न कि भावात्मकपदार्थ। फलस्वरूप वह क्लेशादि का कारण नहीं बन सकेगी।[१] अतः 'अविद्या' में बहुव्रीहिसमास भी उचित नहीं है।

यदि विद्याभाव को क्लेशादि का हेतु माना जाए तो विद्यावृत्तिनिरोध वाले असम्प्रज्ञातसमाधिनिष्ठ योगियों में भी पुनः क्लेशापत्ति होने लगेगी।[२] अथवा वह बुद्धि ही क्लेशादि का कारण बन जायगी, जो विवेकज्ञान (प्रकृति तथा पुरुष के भेदज्ञान) के पश्चात् बुद्धि की अन्य समस्त वृत्तियों के निरोध से उत्पन्न होती है। अतः विद्याभाव को अविद्या कहना उचित नहीं है।

अविद्या में द्वन्द्वसमास नहीं—अविद्या में दो स्वतन्त्र पदार्थ न रहने से उसमें उभयपदार्थप्रधान द्वन्द्वसमास नहीं किया जा सकता है।[३]

उपर्युक्त प्रकार से अविद्या का विग्रह करने पर उसका वह प्रसिद्ध गुण (जो क्लेश आदि का कारण है) खण्डित हो जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में निषेध की दो विधाओं—प्रसज्यप्रतिषेध एवं पर्युदास—में से पदार्थ को अभावरूप सिद्ध करने वाली प्रसज्यप्रतिषेध-संज्ञक विधा त्याज्य है।

अविद्या में पर्युदास—पर्युदास उसे कहते हैं जब नञ् का सम्बन्ध नाम अथवा धातु के साथ होता है। पर्युदास में भावात्मक पदार्थ की प्रधानता रहती है।[४] व्याख्याकारों ने 'अमित्र' एवं 'अगोष्पद' शब्दों की तरह 'अविद्या' में पर्युदास मानकर उसे भाव त्मक पदार्थ सिद्ध किया है।[५] उनका कहना है कि **'अमित्र'**—पद का अर्थ मित्राभाव अथवा मित्र मात्र नहीं है, अपितु मित्रविरुद्ध शत्रु है तथा **'अगोष्पद'** शब्द—का अर्थ गोष्पदाभाव अथवा गोष्पदमात्र नहीं है; अपितु उन दोनों से अन्य दूसरी वस्तु विपुलदेश है। इसी प्रकार **'अविद्या'** भी प्रमाण (तत्त्वज्ञान) अथवा प्रमाणाभाव (तत्त्वज्ञानाभाव) नहीं है, अपितु मिथ्याज्ञान है। अतः ज्ञानान्तर होने से अविद्या भावरूप वस्त्वन्तर सिद्ध होती है।[६] वस्त्वन्तर होने से वह क्लेशादि का कारण भी हो सकेगी।

---

१ **अन्यपदार्थप्राधान्ये त्वविद्यमानविद्या बुद्धिर्वक्तव्या; न चासौ विद्याया अभावमात्रेण क्लेशादिबीजम्—त० वै० पृ० १५१।**

२ **विवेकख्यातिपूर्वकनिरोधसम्पन्नाया अपि तथात्वप्रसङ्गात्—त० वै० पृ० १५१।**

३ **द्वन्द्ववत्स्वतन्त्रपदार्थद्वयानवगमादुभयपदार्थप्रधानत्वं नाशङ्कितम्—स०द०सं०पृ०६९५।**

४ **(क) पर्युदासः स विज्ञेयो यत्र पूर्वपदेन नञ्—मी० न्या० प्र० पृ० ७१।**

(ख) नामधात्वर्थयोगी तु नैष नञ् प्रतिषेधकः—मी० न्या० प्र० पृ० ७३।

५ **तस्याश्चामित्रागोष्पदवद् वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम्—व्या० भा० पृ० १५१-१५२।**

६ **(क) यथा नामित्रो मित्राभावो, न मित्रमात्रम्, किन्तु तद्विरुद्धसपत्नः। यथा वाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो, न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्। एवमविद्यापि न प्रमाणम्, न वा प्रमाणाभावः किन्तु विपरीतं ज्ञानान्तरमविद्या—यो० सि० चं० पृ० ५१।**

(ख) तु०—त० वै० पृ०१५१-१५२। **(ग) तु०—यो० वा० पृ०१५१-१५२।**

अस्मिता आदि क्लेशों के क्रम का आधार—यद्यपि अविद्या अस्मितादि सभी क्लेशों का मूलकारण है तथापि अविद्या से आगे के अस्मिता आदि क्लेशों का क्रम भी उनके उपजीव्य-उपजीवकभावसम्बन्ध पर आधारित है। अस्मिता आदि क्लेश अविद्या के माध्यम से उत्तरोत्तर रागादि के कारण हैं।

अस्मिता—अविद्या के चतुर्थ पाद—अनात्म में आत्मबुद्धि-से अस्मिता का उद्भव होता है। दृक्शक्ति (द्रष्टा, पुरुष, आत्मा) एवं दर्शनशक्ति (बुद्धि एवं उसके विषय) में जो अभिन्नता (एकता) की प्रतीति होती है, उसे अस्मिता कहते हैं।[1] अविद्या एवं अस्मिता के सूक्ष्म भेद को स्पष्ट करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु, नागेश भट्ट, नारायणतीर्थ** आदि का कहना है कि अविद्या की अवस्था में अभेदभ्रम भेदाभेदघटित होता है। बुद्धि अथवा पुरुष में सामान्यतः **अहम्**-भावना रहती है।[2] दूरस्थ दो वनस्पतियों के आत्यन्तिक ऐक्यभ्रम की भाँति बुद्धि एवं पुरुष में आत्यन्तिक रूप से (पूर्णतया) अभेदप्रतीति नहीं होती है।[3] अस्मिता-कालिक अभेदभ्रम आत्यन्तिक रूप से अभेदघटित होता है, भेदाभेद-घटित नहीं। उस समय बुद्धि तथा पुरुष में ऐक्यभ्रम पूर्णरूप से रहता है तथा 'मैं ईश्वर हूँ,' मैं भोगी हूँ—इस प्रकार बुद्ध्यादि गुण भी पुरुष में आरोपित होते हैं।[4] इस प्रकार अस्मिता में भ्रम की पराकाष्ठा है। यह अस्मिता ही स्वस्वामिभावसम्बन्ध से बुद्धि एवं पुरुष में संयोगसम्बन्ध स्थापित करके सृष्टि का कारण बनती है।

राग-प्रकृति तथा पुरुष के यथार्थभेदज्ञान से (अस्मिता के अभाव से) रागादि निवृत्त होते हैं। अतः अविद्या का कार्य अस्मिता रागादि क्लेशों का कारण है। सुखभोग के अनन्तर अन्तःकरण में रहने वाला अभिलाषविशेष राग कहा जाता है।[5] राग-संज्ञक क्लेश की उत्पत्ति का मूलकारण पदार्थविषयक सुखानुभूति है। जो पदार्थ सुख प्रदान करते हैं, उन पदार्थों के प्रति रागानुविद्ध होकर व्यक्ति सुख की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए साभिलाष (लालायित) रहता है। विषयोपभोगविषयक यह आसक्ति (राग) प्राणी को निरतिशय एवं वास्तविक आत्मसुख से वञ्चित रखती है। अतः यह क्लेश कही जाती है।

---

[1] दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता—यो० सू० २।६।

[2] (क) अविद्यातश्चास्मिताया अयं भेदो यद् बुद्ध्यादावादौ वा सामान्यतोऽहंबुद्धिरयं च भेदाभेदेनाप्युपपद्यतेऽत्यन्ताभेदाग्रहणात् सैवाविद्या—यो०वा० पृ० १५३।
(ख) तु०—यो० सि० चं० पृ० ५३।
(ग) तु०— ना० बृ० वृ० पृ० २७०।

[3] न वा दूरस्थवनस्पत्योरिव तयोरत्यन्तमेकताभ्रमः—यो० वा० पृ० १५३।

[4] (क) अतोऽत्यन्तमेकतावगाहिन ईश्वरोऽहमहं भोगीत्येवं बुद्धिगुणदोषावगाहिनश्चास्मिताप्रत्ययाद् भेद इति दिक्—यो० सि० चं० पृ० ५३।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० १५३।

[5] सुखानुशयी रागः—यो० सू० २।७।

द्वेष—प्रकाश एवं अन्धकार की भाँति राग एवं द्वेष परस्पर विरोधी हैं। राग के क्षणों में द्वेष एवं द्वेष के क्षणों में राग बुद्धि नहीं देखी जाती है। जिन साधनों से सुख प्राप्त होता है, वे साधन यदि किसी कारणवशात् पुनः प्राप्त न हो सकें तो उन साधनों के प्रति चित्त में द्वेषबुद्धि जाग्रत् होती है। अतः राग के पश्चात् द्वेष होने से उसे (द्वेष को) चतुर्थ स्थान पर रखा गया है। दुःख के प्रति जो दुःखनाशविषयक प्रतिकूल भावना अर्थात् क्रोध होता है, उसे द्वेष कहते हैं।[१]

अभिनिवेश—द्वेषमूलक अभिनिवेश-क्लेश द्वेष के पश्चात् आता है। योगशास्त्र में यह मृत्यु के भय से उत्पन्न कष्ट (क्लेश) अथवा मृत्यु-शङ्का के अर्थ में परिभाषित है। पतञ्जलि ने अभिनिवेश का लक्षण इस प्रकार किया है—मृत्यु का भय जो प्रत्येक प्राणी में स्वभावतः बह रहा है। विद्वानों के लिए भी वैसा ही (प्रसिद्ध) है जैसा कि मूर्खों के लिए। इसे अभिनिवेश-क्लेश कहते हैं।[२]

प्रत्येक प्राणी में 'मेरा कभी नाश न हो; मैं सदा विद्यमान रहूँ'—इस प्रकार की जो तीव्र उत्कण्ठा (इच्छा) देखी जाती है, उसका कारण अभिनिवेश क्लेश है। चार्वाक आदि कुछ दार्शनिकों को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय मनीषी पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। योग के व्याख्याकारों ने पूर्वजन्म में अनुभूत मृत्यु-भय से जायमान संस्कार को अभिनिवेश का मूल बतलाया है। विषय को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं[३]—अभिजात बालक व्याघ्र, सिंह आदि मारक वस्तु को देखकर काँपता है। बच्चे के काँपने से उसका पूर्वजन्मीय मरणज्ञान अनुमित होता है। उसी से बच्चे का काँपना सम्भव हो सकता है। क्योंकि दुःख एवं दुःख के हेतु के दर्शन अथवा स्मरण से भय देखा जाता है। इस जन्म में बालक को मरण-दुःख का अनुभव नहीं होता है और न ही उसे आगमप्रमाण से मरण दुःख का ज्ञान हो सकता है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि इस बालक को पूर्वजन्मीय मरण-दुःख एवं दुःख का हेतु अवश्य ज्ञात है। फलस्वरूप उसका पूर्वजन्मीय मरणदुःखानुभवजन्य संस्कार वर्तमान जन्म में मारक वस्तु सिंह आदि उद्बोधक वस्तु से उद्बुद्ध होता है और वह काँपने लगता है। अतः परिशेषानुमान से पूर्वजन्मीय मरण-दुःख अनुमित होता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु एवं नागेशभट्ट लिखते हैं धन आदि के नाश से उत्पन्न दुःख का अनुभव किए व्यक्ति की ही धन आदि के प्रति इस प्रकार की प्रार्थना देखी जाती है कि 'मेरा धन नष्ट न हो; वह सदा बना रहे'। उसी प्रकार 'मैं कभी न रहूँ, ऐसा न हो; अर्थात् मैं सर्वदा रहूँ' इत्याकारक आत्म-

---

१ दुःखानुशयी द्वेषः—यो० सू० २।८।

२ स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः—यो० सू० २।९।

३ (क) कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसम्भावितो मरणत्रासः……पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति—व्या० भा० पृ० १५६-१५७।

(ख) तु०—त० वै० पृ० १५६।

(ग) तु०—यो० वा० पृ० १५६-१५७।

विषयक प्रार्थना भी मरण-दुःख का अनुभव हुए बिना नहीं हो सकती है।[१] अतः विपर्यय रूप अभिनिवेशात्मक वृत्ति से पुनर्जन्म का सिद्धान्त सुस्थिर होता है।

'विदुषः' पद के अर्थ में मतभेद—ऊपर आत्महितचिन्तनरूपिणी अभिनिवेशवृत्ति का लक्षण करते हुए कहा गया कि यह वृत्ति मूर्खों की भाँति विद्वानों में भी स्वभावतः उपलब्ध होती है। किन्तु सूत्रगत **'विदुषः'**—पद का अर्थ क्या है? इस सम्बन्ध में व्याख्याकारों में दो विरोधी विचारधाराएँ उपलब्ध होती हैं :—

प्रथम मत—आचार्य **वाचस्पति मिश्र, हरिहरानन्द आरण्यक** तथा **बलदेव मिश्र** का मत है कि—**पतञ्जलि** ने अभिनिवेश के लक्षणघटक सूत्र में **'विदुषः'**—पद का प्रयोग ऐसे विद्वान् के लिए किया है, जिसे आगम एवं अनुमान प्रमाण के द्वारा ही पूर्वकोटि बन्ध एवं उत्तरकोटि मोक्ष का स्वरूप ज्ञात है। जिसे यौगिक-पद्धति से तत्त्वों का यथार्थ साक्षात्कार नहीं हुआ है, जिसने जड़ पदार्थ देह आदि की अनित्यता एवं आत्मा की अविनाशिता का साक्षात्कार कर लिया है, ऐसा योगी मृत्यु से भयभीत नहीं रहता है। क्योंकि विवेकज्ञान के द्वारा उसके अविद्यादि क्लेश नष्ट हो चुकते हैं। इसमें श्रुतिवाक्य भी प्रमाण है।[२] अन्यथा मरणत्रास की आत्यन्तिक सत्ता सिद्ध होगी। इस प्रकार **वाचस्पति मिश्र** आदि आचार्यों ने **'विदुषः'**—पद से शास्त्रज्ञ एवं तत्त्वज्ञ उभय-कोटि के विद्वानों को नहीं लिया है।

द्वितीय मत—आचार्य **विज्ञानभिक्षु भावागणेश** एवं बृहद्वृत्तिकार **नागेशभट्ट** का दूसरा मत है। इन विद्वानों का वक्तव्य है कि—अभिनिवेश अन्य सभी क्लेशों की अपेक्षा अत्यन्त धृष्ट है। पूर्वजन्मीय मरणदुःख के अनुभव से जन्य बलवत्तर वासना ज्ञान के द्वारा नष्ट नहीं होती है; अपितु चित्त-क्षय के साथ उसका क्षय होता है।[३] अभिनिवेश

---

[१] **अननुभूतो मरणस्य धर्मो दुःखातिशयो येन तस्येयमाशीर्न संभवति धनादिनाशजन्य-दुःखज्ञस्यैव धनादिषु तादृशाशीर्दर्शनात्—धनं मे मा नश्यतु सदैव भूयादिति। अतएव तयाऽऽशिषा पूर्वजन्मनि मरणदुःखानुभवस्तत्कारणतया प्रतीयतेऽनुमीयत इत्यर्थः—यो० वा० पृ० १५६।**

[२] **(क) न संप्रज्ञातवान् विद्वान् अपितु श्रुतानुमानविवेकीति भावः—त० वै० पृ० १५८।**

(ख) यैः श्रुतानुमानाभ्यामेतन्निश्चितं तादृशानां विदुषामपि तथारूढः=तथा प्रसिद्धो भयरूपः क्लेशोऽभिनिवेशः, श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामेव न क्षीयन्ते क्लेशास्तस्मात् समाना क्लेशवासना तादृशविदुषामविदुषाञ्चेति। सम्यग्ज्ञानवतां क्षीणक्लेशानां योगिनां क्षीणा भवेदभिनिवेशक्लेशवासनेति। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति—भा० पृ० १५७-१५८।

(ग) तु०—यो० प्र० पृ०२७।

[३] **(क) इयं च बलवत्तरा वासना चित्तेन सह नश्यत्येव ज्ञानेन न दह्यते—यो० वा० पृ० १५८।**

(ख) तु०—यो० सि० चं० पृ० ५६।

(ग) तु०—ना० बृ० वृ० पृ २७१।

क्लेशजन्य वासना का अविद्या आदि क्लेशों से उत्पन्न होने वाली वासनाओं से यही सूक्ष्म भेद है। शास्त्रज्ञ हो या तत्त्वज्ञानी दोनों में मरणदुःख की व्याकुलता दृष्टिगोचर होती है। इस फलवलकल्प्य (फल रूप कार्य के आधार पर होने वाले अनुमान) का अपलाप नहीं किया जा सकता है।[१] अतः **विज्ञानभिक्षु** आदि व्याख्याकारों ने 'विदुष':—पद की सीमा में शास्त्रज्ञ ही नहीं, अपितु तत्त्वज्ञ को भी रखा है।

समन्वय—योगदर्शन के टिप्पणीकार **बालरामोदासीन** ने अपने ग्रन्थ में उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं में से आचार्य **वाचस्पति मिश्र** द्वारा प्रवर्तित विचारधारा का समर्थन किया है और आचार्य **विज्ञानभिक्षु** द्वारा प्रवर्तित विचारधारा का खण्डन किया है।[३] लेकिन समन्वयात्मक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रथम पक्ष के समर्थक **वाचस्पति मिश्र** आदि व्याख्याकारों ने तत्त्वज्ञानी में मरणभय का जो निषेध किया है, वह पारमार्थिक दृष्टि से है और द्वितीय पक्ष के समर्थक **विज्ञानभिक्षु** आदि व्याख्याकारों ने तत्त्वज्ञानियों में मरणभय का जो समर्थन किया है, वह व्यावहारिक दृष्टि से है। तत्त्वज्ञान दशा सुस्थिर रहने पर भी जिस समय विवेकदृष्टि पूर्णतया जागरूक नहीं रहती है, उस समय तत्त्वज्ञानी को वाधितानुवृत्ति से मरणभय हो सकता हैं। एक समय की बात है कि—तत्त्वदर्शी **वशिष्ठ** शिष्यों को जगत् के मिथ्यात्व के बारे में समझा रहे थे। शिष्यों को जगत् की अवास्तविकता समझ में न आ पाई। एक बार उन्होंने जिस पथ से महर्षि **वशिष्ठ** जा रहे थे, उस ओर एक हाथी दौड़ाया। हाथी को अपनी ओर तेजी से आता देखकर महर्षि **वशिष्ठ** मृत्युभय से विपरीत दिशा की ओर पलायन करने लगे। इस दृश्य को देखकर शिष्यों ने कहा—'महाराज! जब सब पदार्थ मिथ्या हैं, तो आप हाथी को अपनी ओर आता देखकर क्यों भयपूर्वक भागने लगे?' महर्षि बोले—'मेरे पलायन को भी मिथ्या समझो'। कहने का तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञानी **वशिष्ठ** भी मृत्युभय से वञ्चित न रह सके। क्योंकि उस समय उनका तत्त्वज्ञान पूर्णतया जागरूक न था। अतः वाधितानुवृत्ति (**इदं मिथ्या**) रहने पर भी तत्त्वज्ञानी को व्यवहार-दशा में मृत्युभय होना स्वाभाविक है। दैनिक जीवन में अनुभव भी किया जाता है कि स्वप्नावस्था में अत्यन्त भयानक स्वप्न देखने के पश्चात् यदि तुरन्त आँख खुल जाय और स्वप्न की अलीकता का बोध भी हो जाय फिर भी स्वप्न के अनुभवजन्य संस्कार से कुछ क्षणों तक भय बना ही रहता है। अतः

---

१ **विशेषदर्शने सत्यपीदृगिच्छादृष्टया फलबलेन तादृशसंस्कारस्योत्तेजकत्वात्—यो० वा० पृ० १५८।**

२ **विज्ञातः संप्रज्ञातयोगेन साक्षात्कृतः प्रपञ्चस्य पूर्वान्तोऽपरान्तश्चाद्यन्तौ येन स तथा तस्य तत्त्वज्ञस्येत्यर्थः; कुशलाकुशलयोरिति वक्ष्यमाणत्वात्—यो० वा० पृ० १५७।**

३ **श्रुतानुमानविवेक इति पाठे तु श्रुताऽनुमानाभ्यां निष्पन्नो विवेको यस्येत्यर्थो बोध्यः। यत्तु विज्ञानभिक्षुणा सम्प्रज्ञातयोगिनोऽपि मरणभयमस्ति इति जल्पितं, तद् 'न बिभेति कुतश्चन' इति श्रुतिविरोधाद् हेयम्। 'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' इति सूत्रादन्यसंस्काराणां प्रतिबद्धत्वात् संस्कारस्योत्तेजकत्वात्तत्त्वज्ञस्याऽप्यभिनिवेश इत्यपि मन्दमित्यलं बहुना—योगदर्शनम्—बालरामोदासीनकृत टिप्पणी पृ० ११९।**

वाचस्पति मिश्र आदि एवं **विज्ञानभिक्षु** आदि व्याख्याकारों में 'विदुषः'—पद के अर्थ के सम्बन्ध में आपाततः प्रतीत होते हुए विरोध का समन्वय उपर्युक्त प्रकार से किया जा सकता है।

ऊपर, पाँच प्रकार के क्लेशों का प्रतिपादन किया गया। इन क्लेशों की सर्वदा एक सी स्थिति बनी रहती है, ऐसी बात नहीं है। देव एवं असुरों की भाँति क्लेश एवं उनके प्रतिपक्षी क्रियायोग आदियों का निरन्तर संग्राम चलता रहता है। फलस्वरूप एक दूसरे का प्रभाव न्यूनाधिक होता रहता है। राग एवं द्वेष संज्ञक क्लेश भी मैत्रीभाव से नहीं रह सकते हैं, जिसके कारण उनकी सर्वदा एक सी अवस्था नहीं रहती है। इसी प्रकार सृष्टि एवं प्रलयकाल में भी क्लेशों की भिन्न-भिन्न अवस्था दृष्टिगोचर होती है। अतः पातञ्जल-योगशास्त्रियों ने अत्यन्त गहराई से क्लेशों की अवस्थाओं पर विचार किया है।

क्लेशों की अवस्थाएँ

क्लेशों की चार अवस्थाएँ हैं[१]—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार। योगशास्त्र में अविद्या को छोड़कर अस्मिता आदि चार की प्रसुप्तादि अवस्थाएँ कही गई हैं। माला में अनुस्यूत सूत्र की भाँति अविद्या अस्मिता आदि सभी अवस्थाओं में स्वतः अनुस्यूत रहती है क्योंकि वह उन सबका कारण है और कार्य में कारण व्याप्त रहता है। अतः अविद्या की प्रसुप्तादि अवस्थाएँ स्वतःसिद्ध होने से सूत्रकार द्वारा उसकी अवस्थाएँ निर्दिष्ट नहीं की गई हैं।

प्रसुप्तावस्था—वे क्लेश जो चित्त में बीजभावापन्नशक्तिमात्र से अवस्थित रहते हैं—प्रसुप्त-अवस्था वाले कहे जाते हैं।[२] अर्थात् क्लेशों की अर्थक्रियाकारिता (अपने-अपने व्यापार) से रहित अवस्था प्रसुप्ति है। काल की दृष्टि से यह क्लेशों की अनागतावस्था है। विदेह एवं प्रकृतिलीन योगियों के अस्मिता आदि क्लेश प्रसुप्त-अवस्था वाले हैं।[३] इनके क्लेश तब तक प्रसुप्त-अवस्था में रहते हैं, जब तक **'पूर्णं शतं सहस्रम्'**—इस श्रुति के अनुसार विदेह एवं प्रकृतिलीन योगियों की कैवल्यसम अवस्था समाप्त नहीं हो जाती है। अवधि समाप्त होते ही ये प्रसुप्त क्लेश अपने उद्‌बोधकों द्वारा उद्‌बुद्ध होते हैं, जिस प्रकार वर्षा, खाद आदि उद्‌बोधकों (निमित्तों) द्वारा भूमि में डाला गया बीज अङ्कुर-रूप से आविर्भूत होता है।[४]

---

१ अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्—यो० सू० २।४।

२ (क) चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः—व्या० भा० पृ० १४४।

(ख) चेतसि शक्तिमात्रेणानागतावस्थयाऽवस्थितानामस्मिताऽऽदीनां बीजभावोपगमः स्वकार्यजननसामर्थ्यं प्रसुप्तिः—यो० वा० पृ० १४४।

३ विदेहप्रकृतिलयानां बीजभावं प्राप्तास्तु······तद्वन्ध्यतायाम्—त० वै० पृ० १४४।

४ अतो विदेहप्रकृतिलयाः······शक्तिमात्रेण प्रतिष्ठा येषां ते तथोक्ताः—त० वै० पृ० १४४।

अस्मिता आदि क्लेशों की प्रसुप्तावस्था अविद्याजन्य है। क्लेशों की एक और दग्ध-बीजभावापन्न प्रसुप्तावस्था भी है। यह विद्याजन्य है और विवेकख्यातियुक्त योगियों में ही उपलब्ध होती है।[1] अविप्लुतविवेकख्यातिमान् योगी ज्ञानाग्नि के द्वारा क्लेशों की बीज-भावरूप सामर्थ्य को नष्ट कर देता है। फलस्वरूप दग्धबीज की भाँति आत्यन्तिकरूप से प्रसुप्त-अवस्था के क्लेश उद्बोधक तत्त्वों (विषयों) के सन्मुख रहने पर भी पुनः उद्बुद्ध नहीं होते हैं। लेकिन विदेह, प्रकृतिलीन एवं साधारण (व्युत्थित) पुरुषों के प्रसुप्त-अवस्थाक अस्मितादि क्लेश उद्बुद्ध होकर उनको जन्ममरणात्मक चक्र से आवद्ध किए रहते हैं। अतः ऐसे योगी चरमदेही कहे जाते हैं। मोक्षधर्म में ऐसा कहा गया है।[2] क्लेशों की पाँचवीं दग्धबीजभावरूप प्रसुप्तावस्था से यह सिद्धान्तित हुआ कि सत्कार्यवाद के अनुसार पदार्थ का आत्यन्तिकरूप से नाश नहीं होता है। पदार्थ के विद्यमान रहने पर भी उसकी अर्थक्रियाकारित्वशक्ति नष्ट हो जाती है। पतञ्जलि ने सूत्र में क्लेशों की बीजभावापन्न प्रसुप्तावस्था का निर्देश इसलिए नहीं किया कि अविद्या उसका कारण नहीं है। उनका लक्ष्य अविद्याक्षेत्रक अस्मिता आदि की चतुर्विधाओं का ही उल्लेख करना प्रतीत होता है।

तनु-अवस्था—वे क्लेश जिनकी प्रतिपक्ष-भावना के द्वारा शक्ति शिथिल रहती है, तनु-अवस्था के कहे जाते हैं।[3] अथवा अविद्या के प्रतिपक्षी सम्यग्ज्ञान (वस्तु के यथार्थ ज्ञान) अस्मिता के प्रतिपक्षी भेदज्ञान (विवेकज्ञान), राग एवं द्वेष के प्रतिपक्षी ताटस्थ्यज्ञान (ग्राह्यता एवं त्याज्यता विषयक बुद्धि से रहित) तथा अभिनिवेश के प्रतिपक्षी उपकरणाख्य अनुबन्धबुद्धि की निवृत्ति के ज्ञान की भूयः-भूयः भावना करते रहने से उपहत हुए क्लेश कृश हो जाते हैं। यही क्लेशों की तनु-अवस्था है।[4] युञ्जान योगियों के क्लेश तनु-अवस्था के होते हैं।

विच्छिन्न-अवस्था—एक क्लेश के प्रवल (आविर्भूत) होने पर दूसरे क्लेश की जो अभिभूतावस्था है वह विच्छिन्नावस्था कही जाती है। काल की दृष्टि से क्लेश की यह अतीतावस्था है। यह भी कहा जा सकता है कि सभी क्लेश युगपत् व्यापारवान् नहीं होते हैं। एक क्लेश के व्यापारयुक्त होने पर दूसरे क्लेश निर्व्यापार रहते हैं। अतः एक क्लेश के व्यापारवान् होने पर निर्व्यापार अन्य क्लेशों की विच्छिन्नावस्था कही जाती है।[5] कुछ क्षणों के पश्चात् विच्छिन्न क्लेश के व्यापारवान् होते ही प्रथम उदार-अवस्थाक क्लेश

---

[1] अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते। तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्र—व्या० भा० पृ० १४४।

[2] बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः॥—मो० ध० २११।१७।

[3] प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति—व्या० भा० पृ० १४५।

[4] अथवा सम्यग्ज्ञानम् अविद्यायाः प्रतिपक्षः, भेददर्शनम् अस्मितायाः, माध्यस्थ्यं रागद्वेषयोः, अनुबन्धबुद्धिनिवृत्तिरभिनिवेशस्येति—त० वै० पृ० १४५।

[5] तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः—व्या० भा० पृ० १४५-१४६।

विच्छिन्नावस्था में आ जाता है। राग के आविर्भावकाल में द्वेप का आविर्भाव न होने से अदृश्यमान द्वेष विच्छिन्नावस्था वाला कहा जाता है। इसी प्रकार एक विषय के प्रति उत्कट राग होने से अन्य विषयों के प्रति जो अनुत्कट राग है, वह विच्छिन्नावस्था का है। उदाहरणस्वरुप चैत्र नामक व्यक्ति किसी एक स्त्री में आसक्त है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य स्त्रियों के प्रति उसमें विरक्ति है। क्योंकि कालान्तर में अन्य स्त्रियों के प्रति उसका राग उदार-अवस्था में देखा जाता है।[१] इस प्रकार यह क्लेशों की विच्छिन्नावस्था है।

उदार-अवस्था—वे क्लेश, जो अपना व्यापार करने में व्यापृत हैं, उदार-अवस्था के कहे जाते हैं।[२] काल की दृष्टि से क्लेश की यह वर्तमान-अवस्था है।

यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है कि वर्तमानकाल से सम्बन्धित उदार-अवस्थाक अस्मिता आदि ही पुरुष को क्लेश प्रदान करने से क्लेश कहे जाने चाहिए, अनागत एवं अतीतकाल से सम्बन्धित प्रसुप्त, तनु एवं विच्छिन्न अवस्था वाले अस्मिता आदि नहीं। क्योंकि वे पुरुषों को कष्ट नहीं देते हैं। उक्त शङ्का का समाधान करते हुए **वाचस्पति** आदि व्याख्याकार लिखते हैं—जिस समय अस्मिता आदि अपनी प्रसुप्तादि अवस्थाओं से बढ़ते हुए वर्तमानकालिक उदार-अवस्था में आते हैं उस समय वे कष्ट प्रदान किए बिना नहीं रहते हैं।[३] अतः प्रसुप्तादि सभी अवस्थाओं से अनुगत अस्मिता आदि को 'क्लेश' शब्द से व्यवहृत करना उचित ही है।

दुःखकारण-मीमांसा

पातञ्जल-योगशास्त्र में **'दुःखमेव सर्वम्'**—के सिद्धयर्थ चार हेतु उपन्यस्त हुए हैं[४]—परिणाम-दुःख, ताप-दुःख, संस्कार-दुःख एवं गुणवृत्तिविरोध-दुःख।

परिणाम-दुःख (विषयोपभोगजन्य सुख अन्ततोगत्वा दुःखदायी)—अधिकांश व्यक्ति विषयोपभोग को सुखदायी समझते हैं। लेकिन पातञ्जल-योगसूत्र के व्याख्याकारों ने आपाततः सुखात्मक प्रतीत होते हुए विषयोपभोग की दुःखात्मकता का सहेतुक उपपादन किया है। व्याख्याकारों का मन्तव्य है कि जनसाधारण स्त्री, पुत्र आदि चेतन एवं गृह, क्षेत्र, शय्या आदि अचेतन पदार्थों से सुखी होता है। नियम है कि जिस पदार्थ से व्यक्ति को सुख प्राप्त होता है, उस पदार्थ के प्रति उसमें रागबुद्धि होती है।[५] अतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए वहीं सुख है जहाँ राग है। इस प्रकार विषयोपभोग के मूल

---

[१] **नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्त इति। किन्तु तत्र रागो लब्ध-वृत्तिरन्यत्र भविष्यद्वृत्तिरिति—व्या० भा० पृ० १४६।**

[२] **विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः—व्या० भा० पृ० १४६।**

[३] **नातिक्रामन्त्युदारतामापद्यमाना—त० वै० पृ० १४६।**

[४] **परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः—यो० सू० २।१५।**

[५] **न खलु सुखं रागानुवेधमन्तरेण सम्भवति। न ह्यस्ति सम्भवो न तत्र तुष्यति तच्च तस्य सुखम्······ —त० वै० पृ० १७७।**

में रागसंज्ञक क्लेश मुख्यतया विद्यमान रहता है। विषयोपभोग के समय व्यक्ति में द्वेष एवं मोहादि क्लेश भी पाए जाते हैं। विषय-सेवन में रममाण रहते समय जिन साधनों से व्यक्ति कष्ट का अनुभव करता है, उन साधनों के प्रति उसमें द्वेषबुद्धि जाग्रत् होती है। दूसरों के पास अपने से अधिक भोग्य-पदार्थों को देखकर व्यक्ति दुःखी होता है; और उस व्यक्ति से द्वेष करने लगता है। उपलब्ध भोग्य-साधनों को नष्ट होता देखकर दुःखी होता है। 'भोग्य-पदार्थ नष्ट न हों, अपितु बढ़ते रहें'—तदर्थ प्रयत्नशील रहने पर भी जब उसकी यह अभिलाषा पूर्ण नहीं होती है तब वह मोह को प्राप्त होता है। इस प्रकार विषयोपभोगकाल में रागज, द्वेषज एवं मोहज कर्माशय सञ्चित होता है[1]; और क्लेशमूलक कर्माशय के कारण व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र में फँसता है। अतः आपाततः रमणीय सुखोपभोग अन्ततोगत्वा दुःखदायी है।

दूसरा हेतु यह है कि अन्य प्राणियों की हिंसा किए बिना भोग्य-पदार्थ प्राप्त भी नहीं होते हैं।[2] हिंसा तीन प्रकार की है—मानस-हिंसा, वाचिक-हिंसा तथा कायिक-हिंसा। दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण करने के लिए मनस् से अनिष्ट-चिन्तन करना मानस-हिंसा है। दूसरों को परामर्श देकर हिंसा करवाना अथवा 'मैं तेरे परिवार को नष्ट करूँगा'—इस प्रकार की धमकी देना वाचिक-हिंसा है। तथा स्वयं ही दूसरे का हनन करना कायिक-हिंसा है। इसी प्रकार जिह्वा तृप्त करने के लिए व्यक्ति मछली, बकरा आदि प्राणियों की हिंसा किया करता है। अतः विषयोपभोगकाल में किसी न किसी प्रकार से (इच्छा अथवा अनिच्छापूर्वक) हिंसा हुआ करती है। धर्मशास्त्रकार भगवान् मनु ने यहाँ तक कहा है कि—चूल्हा, चक्की, झाड़ू, मूसल तथा पानी का घड़ा—ये पाँच हिंसाजन्य पाप के स्थल हैं, जो अपने कार्य में लगाकर व्यक्ति को पाप से बद्ध करते हैं।[3] अतः विषयोपभोग सुखमूलक नहीं कहा जा सकता है।

तीसरा हेतु यह है कि वास्तविक सुख तृष्णा-क्षय से उत्पन्न होता है।[4] विषयों के सेवन से जायमान सुख वस्तुतः सुखरूप नहीं है। क्योंकि उससे तृष्णा का क्षय नहीं होता है। अपितु घृत-प्रक्षेप से अग्नि की भाँति विषय-भोग से तृष्णा और अधिक प्रज्वलित होती (बढ़ती) है। विष्णुपुराण में ऐसा ही कहा गया है।[5] विषय-सेवन से इन्द्रियों की कुशलताएँ

---

[1] (क) रागजकर्माशयवद् द्वेषमोहजोऽपि कर्माशयः परिणामदुःखहेतुरस्ति—यो० वा० पृ० १७८।
(ख) तु०—व्या० भा० पृ० १७८।
(ग) तु०—त० वै० पृ० १७८।

[2] नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवतीति—व्या० भा० पृ० १७८।

[3] पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बद्ध्यते यास्तु वाहयन्॥—म० स्मृ० ३।६८।

[4] या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्—व्या० भा० पृ० १७९।

[5] न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥—वि० पु० ४।१०।२३।

बढ़ती हैं।[१] फलस्वरूप वे सदा अतृप्त रहती हैं। उदाहरणस्वरूप रसनेन्द्रिय का वशीभूत व्यक्ति छप्पन व्यञ्जनों के आस्वादन के पश्चात् भी अपनी रसनेन्द्रिय को अतृप्त ही पाता है। क्योंकि विषय-सेवन से तृष्णा शान्त नहीं होती है, अपितु बढ़ती जाती है। यही तृष्णा दुःख का मल हेतु है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि 'भोग से सुख प्राप्त होता है'—भोगजन्य सुख में होने वाली इत्याकारा सुखबुद्धि आविद्यक है। मधु-विष से सम्पृक्त अन्न खाता हुआ अज्ञानी व्यक्ति सुख का अनुभव करता है। इसी प्रकार साधारण पुरुष विषयोपभोग से जायमान तात्कालिक सुख में रममाण रहता है। वह विषयोपभोग के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ पाता और जिस प्रकार बिच्छु से डरने वाला व्यक्ति (मैं बिच्छू से न डस लिया जाऊँ) विषधर सर्प के काटने से महान् दुःखरूप पङ्क में फँसकर अत्यधिक दुःखी होता है। उसी प्रकार कामादि क्षुद्र दुःखरूप वृश्चिक-विष से सन्दष्ट व्यक्ति पारिवारिक विषधर सर्प के काटने से जन्म-मरणादि महान् दुःखरूप पङ्क में फँसकर अत्यधिक दुःखी होता है।[२] इसलिए योगीवृन्द तात्कालिक एवं अविचारित रमणीय विषय-सुख को आदर की दृष्टि से नहीं देखते हैं।

यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि सुख का साधन होने से और सुख से मिश्रित होने के कारण समस्त पदार्थों को सुखरूप ही मान लिया जाय? इस शङ्का का समाधान करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु एवं नागेशभट्ट कहते हैं कि—जिस पदार्थ में जिस गुण की अधिकता उपलब्ध होती है, उस पदार्थ का वही स्वरूप कहा जाता है। विष्णुपुराण में कहा भी है[3] कि 'स्त्री, मित्र, पुत्र, अर्थ, गृह, क्षेत्रादि से इतना सुख प्राप्त नहीं होता है, जितना कि दुःख।' अतः विवेकियों ने पदार्थों को दुःखरूप कहा है। व्यासभाष्य में उद्धृत आवट्य-जैगीषव्य-परिसंवाद के द्वारा भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है।

ताप-दुःख—विषय-सुख के अनुभवकाल में सुखोत्पादक साधनों के न्यून होने से चित्त में जो परिताप होता है, उसे ताप-दुःख कहते हैं। ताप-दुःख द्वेषानुविद्ध होता है। सुख-साधनों की प्रार्थना करता हुआ प्राणी शरीर, वाणी एवं मन से दूसरों पर अनुग्रह करता

---

[१] (क) यतो भोगाभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्—व्या० भा० पृ० १८०।

(ख) विषयानुवासितो विषयेषु प्रवर्त्तनकारिण्या रागादिवासनया वासितः समापन्नः —भा० पृ० १८०।

[२] (क) वृश्चिकविषभीतः कामादिक्षुद्रदुःखभीतस्तन्निवृत्त्याख्यसुखार्थी स्त्रीपुत्रादिमयमहादुःखसर्पदष्ट इति—यो० वा० पृ० १८०।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २७०।

[3] कलत्रमित्रपुत्रार्थगृहक्षेत्रधनादिकैः।
क्रियते न तथा भूरि सुखं पुंसां यथाऽसुखः॥—वि० पु० ६।५।५६।

है तथा उन्हें पीड़ा पहुँचाता है। इस प्रकार अनुग्रह एवं पीड़ा द्वारा धर्माधर्म को सञ्चित करता है।[1]

यद्यपि परिणाम-दुःख की भाँति ताप-दुःख है तथापि परिणाम-दुःख से ताप-दुःख में यही अन्तर है कि परिणाम-दुःख मुख्यतया रागानुविद्ध होता है और ताप-दुःख द्वेषानुविद्ध होता है। परिणाम-दुःख के अनुभव से पूर्व विषय-भोग की अवस्था में प्राणियों को सुख प्राप्त होता है और सुख के प्रति राग-बुद्धि देखी जाती है। लेकिन ताप-दुःख की ऐसी कोई पूर्वावस्था नहीं है जो सुखपरक हो। अतः तापदुःख में द्वेष की प्रधानता कही गई है। उपर्युक्त आशय को इस प्रकार कह सकते हैं परिणाम-दुःखता परिणामकाल (उत्तरकाल) में व्यक्ति को कष्ट देती है; ताप-दुःखता पूर्वकाल एवं उत्तरकाल दोनों में दुःखरूप है। अतः परिणाम-दुःख एवं ताप-दुःख दोनों का पृथक् निर्देश उपयुक्त है।[2]

संस्कार-दुःख—परिणाम-दुःखता एवं ताप-दुःखता के द्वारा विषयोपभोग की दुःखरूपता वर्णित करने के पश्चात् व्याख्याकार संस्कारदुःखता के द्वारा उसकी (दुःख की) अविरलता प्रतिपादित करते हैं। उनका कहना है कि उपभोग के साधनभूत स्त्री, पुत्र, धनादि को नष्ट हुए बहुत समय व्यतीत हो जाने पर भी व्यक्ति उन्हें सोच-सोच कर दुःखी होता है। विषयोपभोगजन्य वासना (संस्कार) वर्तमान जन्मपर्यन्त ही नहीं; अपितु जन्म-जन्मान्तर उपभुक्त व्यक्ति का पीछा करती है। इसे इस प्रकार कहा जा सकता है[3]—विषय-सेवन से व्यक्ति सुख एवं दुःख का अनुभव करता है। सुखात्मक एवं दुःखात्मक अनुभव से तत्सदृश संस्कार उत्पन्न होते हैं। सुखात्मक एवं दुःखात्मक संस्कारों से पूर्वानुभूत सुख-दुःख का स्मरण होता है। सुख एवं दुःख के स्मरण से सुख के प्रति रागबुद्धि तथा दुःख के प्रति द्वेष-बुद्धि उत्पन्न होती है। तदनन्तर व्यक्ति सुखोपलब्धि एवं दुःख-निवृत्ति के लिए कायिक, वाचिक एवं मानसिक चेष्टाओं द्वारा अच्छे-बुरे कर्म करता है। शुभाशुभ कर्मों से धर्मात्मक एवं अधर्मात्मक कर्माशय सञ्चित होता है। तदनन्तर शुभाशुभ कर्माशय से व्यक्ति को अग्रिम जन्म ग्रहण करना पड़ता है। तदनन्तर पुनः सुख-दुःख के अनुभवादि की धारा पूर्ववत्

---

[1] (क) तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा परिस्पन्दते, ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति च इति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति—व्या० भा० पृ० १८०।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० १८०।
(ग) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २७९।

[2] (क) यद्यपि तापदुःखतायामपि परिणामदुःखतैवात्र प्रदर्श्यते तथाऽपि पूर्वकाल उत्तरकाले च सर्वदैव दुःखत्वात् तापजदुःखस्य परिणामदुःखात् पृथङ्‌ निर्देशः —यो० वा० पृ० १८१।
(ख) एवं रागकाले सत्यपि सुखानुभवे पश्चात् परिणामदुःखता, द्वेषकाले तु तापोऽनुभूयते—भा० पृ० १८१।
(ग) तु०—ना० ब० वृ० पृ० २७९।

[3] सुखानुभवो हि संस्कारमाधत्ते, स च सुखस्मरणम्, तच्चरागं, स च मनःकायवचनचेष्टां, सा च पुण्यापुण्ये, ततो विपाकानुभवस्ततो वासनेत्येवमनादिता—त० वै० पृ० १८१।

प्रवाहित होती है। अतः सुख-दुःख के अनुभव से जायमान संस्कार को भावी दुःख का जनक कहा गया है।

त्रिगुणात्मक होने से पदार्थ दुःखरूप—परिणामादि तीन के द्वारा विषय-सुख की औपाधिक दुःखरूपता का प्रतिपादन करके **व्यासदेव, वाचस्पति** आदि व्याख्याकार सम्प्रति सूत्र के **'गुणवृत्तिविरोधात्'**—अंश से विषय-सुख की स्वाभाविक दुःखस्वरूपता सिद्ध करते हैं।[१] उनका कहना है कि सांख्य-योगदर्शन के अनुसार समस्त जागतिक पदार्थों का मूल उपादान-कारण प्रकृति है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। अतः तज्जात पदार्थों में भी तीन गुण उपलब्ध होते हैं। वे तीन गुण सत्त्व, रजस् एवं तमस् हैं। सत्त्वगुण सुखात्मक है, रजोगुण दुःखात्मक है तथा तमोगुण मोहात्मक है। अतः 'पदार्थ सुख रूप ही हैं, दुःख रूप नहीं'—यह कथमपि नहीं कहा सकता है। अपितु उनमें सत्त्वगुण की सुखात्मकता न्यून है, क्योंकि शेष दो गुणों में से रजोगुण दुःखात्मक ही है और तमोगुण दुःखोद्दीपन में सहायक होता है। अतः पदार्थों में दुःख की मात्रा अधिक रहने से विवेकियों ने समस्त पदार्थों को दुःखरूप कहा है।

उक्त अनादि विस्तृत दुःखस्रोत योगी को ही प्रतिकूलरूप से उद्विग्न करता है, जन-साधारण को नहीं। क्योंकि ज्ञानी का चित्त चक्षुर्गोलक की भाँति कोमल होता है।[२] उदाहरणस्वरूप मकड़ी का जाला आँखों में पड़ने पर ही दुःख पहुँचाता है शरीर के किसी अन्य भाग से उसका स्पर्श होने पर दुःख नहीं होता है। वैसे ही ये परिणामादि दुःख चक्षुर्गोलक के तुल्य कोमल हृदयवान् योगी को ही दुःख प्रदान करते हैं, अन्य व्यक्तियों को नहीं। साधारण मनुष्यों को पदार्थों का ठीक-ठीक स्वरूप ज्ञात नहीं रहता है।

विवेकियों ने सांसारिक पदार्थों की दुःखरूपता के प्रतिपादन द्वारा विषयोपभोगजन्य सुख का सर्वथा खण्डन नहीं किया है, अपितु तत्-तत् विषयों के लिए छटपटाने वाले मनुष्यों की तृष्णा को ही महत् दुःख का कारण बतलाया है।[३] जागतिक पदार्थ सर्वथा त्याज्य नहीं हैं, अन्यथा लोक-व्यवहार अनुपपन्न होगा। तद्विषयक आसक्ति वर्जनीय है। क्योंकि विषयासक्ति मनुष्यों के मोक्ष-द्वार को निरुद्ध किए रहती है।

———

[१] (क) तदेवमौपाधिकं विषयसुखस्य परिणामतः संस्कारतस्तापसंयोगाच्च दुःखत्वमभिधाय स्वाभाविकमादर्शयति—त० वै० पृ० १८२।

(ख) न केवलं दुःखमौपाधिकमपितु वस्तुस्वाभाव्यादपि दुःखमवश्यम्भावि—भा० पृ० १८२।

[२] एतानि दुःखान्यक्षिमात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम्—व्या० भा० पृ० १८२।

[३] न वयं विषयाह्लादं सुखमातिष्ठामहे, किन्त्वतृप्यतां पुंसां तत्तद्विषयप्रार्थनया परिक्लिष्टचेतसां तृष्णैव महद् दुःखम्—त० वै० पृ० १७९।

तृतीय पटल—कैवल्य

अध्याय—१०

योग-साधना के सोपान

अभ्यास एवं वैराग्य

क्रियायोग

अष्टाङ्गयोग

कर्मयोग

अध्याय-१०

योग-साधना के सोपान

चित्त को योग-साधना के अनुकूल (एकाग्र) बनाने के लिए **पतञ्जलि** ने तीन सोपानों (उपायों) का प्रतिपादन किया है—अभ्यास-वैराग्य[1] क्रियायोग[2] तथा अष्टाङ्गयोग[3]।

पतञ्जलि ने अधिकारि-भेद से योग-साधना के सोपानों का वर्गीकरण किया है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेशभट्ट** को छोड़कर आचार्य **व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र, भोजदेव, रामानन्दयति** आदि व्याख्याकारों[4] ने केवल इतना संकेत किया है कि समाधिपाद में वर्णित योग-साधना का मार्ग—अभ्यास-वैराग्य समाहित-चित्त के उत्तम-अधिकारियों के लिए है तथा द्वितीय पाद से तृतीय पाद के प्रारम्भपर्यन्त वर्णित योग-साधना का मार्ग—क्रिया-योग एवं अष्टाङ्गयोग व्युत्थित-चित्त के लिए है। किन्तु आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेशभट्ट** ने उक्त विषय स्पष्ट किया है—उत्तम, मध्यम एवं मन्द-भेद से साधक तीन प्रकार के हैं।[5] ये क्रमशः योगारूढ़ (युक्त), युञ्जान एवं आरुरुक्षु नाम से योगशास्त्र में परिभाषित हैं। उत्तम (योगारूढ़) साधक वे हैं जिन्होंने पूर्व के कई जन्मों से योगाभ्यास प्रारम्भ कर दिया है एवं जिन्हें योग के पाँच बहिरङ्ग साधन सिद्ध (विजित) भी हो चुके हैं। यमनियमादिनिष्ठ ऐसे उत्तम साधकों को वर्तमान जीवन में पुनः यमादि का अभ्यास नहीं करना पड़ता है। अतः **पतञ्जलि** ने योगमार्ग पर समारूढ़ उत्तम-साधकों के योग-प्राप्ति का मुख्य (प्रथम) सोपान (साधन) अभ्यास-वैराग्य निर्धारित किया है। उत्तम साधकों में संन्यासाश्रम वाले परमहंस संन्यासी आते हैं। **जड़भरतादि** इसी कोटि के साधक थे। वे वानप्रस्थी—जो इस जन्म से योग-साधना में रत हैं—मध्यम कोटि (युञ्जान) के साधक कहे जाते हैं। उनके लिए क्रियायोग की साधना उपदिष्ट हुई है तथा अत्यन्त चंचल-स्वभाव के गृहस्थाश्रमियों के लिए अष्टाङ्ग-योग की साधना कही गई है। क्योंकि विषयवासनाओं से जर्जर उनका

---

[1] अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः—यो० सू० १।१२।

[2] तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः—यो० सू० २।१।

[3] यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि—यो० सू० २।२९।

[4] (क) उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः। कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्याद् इत्येतदारभ्यते—व्या० भा० पृ० १३७।

(ख) अभ्यासवैराग्ये हि योगोपायौ प्रथमे पाद उक्तौ; न च तौ व्युत्थितस्य द्रागित्येव संभवत इति द्वितीयपादोपदेश्यानुपायानपेक्षते सत्त्वशुद्ध्यर्थम्—त० वै० पृ० १३७।

(ग) तु०—रा० मा० पृ० २०।

[5] तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगाधिकारिणो भवन्त्यारुरुक्षुयुञ्जानयोगारूढ-रूपाः—यो० सा० सं० पृ० ३७।

चित्त अभ्यास-वैराग्य एवं क्रिया-योग जैसे दुःसाध्य उपायों को सहज ही क्रियात्मकरूप नहीं दे पाता है।

अभ्यास एवं वैराग्य

व्यासदेव आदि ने चित्त की उपमा सरिता से देते हुए उसकी दो धाराएँ बतलाई हैं।[1] ये धाराएँ वृत्तिरूप हैं। दोनों धाराओं के प्रवाहित होने का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है।[2] पहली धारा अन्तर्मुखी और दूसरी धारा बहिर्मुखी है। पहली कल्याणकारी और दूसरी अकल्याणकारी है। पहली मोक्षदायिनी और दूसरी संसारदायिनी है। पहली आन्तरविषयावलम्बिनी और दूसरी बाह्यविषयावलम्बिनी है। पहली एकविषयाभिमुखी और दूसरी अनेकविषयाभिमुखी है। पहली चित्तस्थैर्यनिमित्तिका और दूसरी चित्तचाञ्चल्यनिमित्तिका है। पहली अध्यात्मविषयानुरागिनी और दूसरी भौतिकविषयानुरागिनी है। पहली वास्तविकज्ञानजनिका और दूसरी अवास्तविकज्ञानजनिका है। पहली पारमार्थिकसुखोत्पादिनी और दूसरी काल्पनिकसुखोत्पादिनी है। इस प्रकार चित्तरूपी नदी में दोनों प्रकार की वृत्तिरूप तरङ्गे उदित और लीन होती रहती हैं। चित्त-नदी का हानिकारक बहिर्प्रवाह अवरुद्ध करने तथा लाभकारक अन्तःप्रवाह तीव्र करने के लिए अभ्यास एवं वैराग्यसंज्ञक दोनों साधनों के अभ्यास का उपदेश दिया गया है। सर्वप्रथम वैराग्य के द्वारा चित्त की बहिर्मुखी धारा रोकी जाती है तदनन्तर (बाह्य विषयों के निरुद्ध हो जाने पर) चित्त की अन्तर्धारा अभ्यास के द्वारा प्रबल की जाती है। अतः चित्त का विषय-स्रोत अवरुद्ध करने तथा विवेक-स्रोत उद्घाटित करने के लिए अभ्यास एवं वैराग्य दोनों साधन अपेक्षित हैं।[3] गीता में भी भगवान् **श्रीकृष्ण** द्वारा दुर्निगृहीत मनस् को एकाग्र बनाने के लिए अभ्यास एवं वैराग्य दोनों उपाय उपदिष्ट हुए हैं।[4] आचार्य **नारायणतीर्थ** के शब्दों में उपर्युक्त प्रघट्टक का आशय इस प्रकार है[5]—वर्षाकाल में नदी की दो धाराएँ हो जाती हैं। एक धारा ग्राम, नगरादि को जल-मग्न करने के कारण अनर्थकरी कहलाती है और दूसरी धारा खेत इत्यादि के सिंचन के लिए उपयोगी होने के कारण अर्थकरी कहलाती है। सेतु आदि द्वारा विनाशकरी धारा को बढ़ने से रोका जाता है और अर्थकारी धारा से छोटी-छोटी नालियाँ निकालकर उसे और अधिक उपयोगी बनाया जाता है। इसी प्रकार वैराग्य के द्वारा चित्त-नदी की विषयमार्ग से संसार-सागर की ओर प्रवाहित होने वाली अनर्थकरी धारा को विषयमार्ग में प्रवाहित होने से रोका

---

[1] चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी—व्या० भा० पृ० ४४।

[2] वहति कल्याणाय वहति पापाय च—व्या० भा० पृ० ४४।

[3] तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः—व्या० भा० पृ० ४५।

[4] असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते॥ गी० ६।३५।

[5] यथाऽभिवृद्धनद्या द्विविधः प्रवाहो ग्रामनगरादिमज्जनानुकूलः···सेत्वादिना प्रतिबद्धयते, क्षेत्राद्यनुकूलश्चाल्पकुल्याखननादिना सम्पाद्यते, एवं चित्तनद्याः संसारसागराभिमुखो विषयभूमिगोऽनर्थप्रवाहो वैराग्येण भज्यते—यो० सि० चं० पृ० १६।

जाता है; और अभ्यास के द्वारा आत्ममार्ग से मोक्षरूप समुद्र की ओर प्रवाहित होने वाली द्वितीय अर्थकरी धारा को प्रगाढ़ एवं सुस्थिर किया जाता है। ज्योतिष्टोमयाग के सम्पादनार्थ उसके अङ्गयाग-प्रयाजादि अपेक्षित रहते हैं क्योंकि उनका अपूर्वरूप व्यापार भिन्न-भिन्न होता है। इसी प्रकार अभ्यास एवं वैराग्य क्रमशः चित्त-स्थिति एवं दोष-दर्शनरूप ज्ञानप्रसाद इन दो भिन्न-भिन्न व्यापारों के द्वारा चित्त-वृत्तियों का निरोध करने में उपादेय हैं।[1]

अभ्यास—पतञ्जलि ने अभ्यास को यत्न कहा है।[2] प्रयत्नपूर्वक पौनःपुन्येन चिन्तन करना अभ्यास है। **व्यासदेव** आदि ने 'प्रयत्न' शब्द का अर्थ उत्साह एवं वीर्य किया है।[3] आचार्य **नारायणतीर्थ** ने अभ्यास का विस्तृत लक्षण कर अभ्यास के उपर्युक्त संक्षिप्त लक्षण को स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि उत्साह, साहस, एवं धैर्यपूर्वक अध्यात्म-विद्या का अध्ययन, महत्सेवा एवं यमादि का पालन करना अभ्यास है।[4] **नारायणतीर्थ** ने लक्षणगत प्रत्येक पद का अर्थ भी उद्घाटित किया है—'बहिःप्रवहणशील चित्त पर सर्वदा नियंत्रण रखूंगा'—इस प्रकार का उद्यम उत्साह है।[5] साध्य-असाध्यादि पर विचार किए बिना तत्काल कार्य में प्रवृत्त होना साहस है।[6] 'वर्तमान जन्म अथवा किसी आगामी जन्म में मनोवांछित पदार्थ प्राप्त हो ही जायगा'—ऐसी आकांक्षा से आनन्दपूर्वक कार्य में सन्लग्न रहना धैर्य है।[7]

नारायणतीर्थ ने माण्डूक्यकारिका के गौडपादभाष्य[8] में उद्धृत टिटहरी के उपाख्यान द्वारा धैर्य का स्वरूप स्पष्ट किया है। उपाख्यान इस प्रकार है—एक समय की बात है कि समुद्र के तीर पर स्थित टिटहरी के घोसले को—जिसमें उसके बच्चे थे—समुद्र अपनी तरङ्गों द्वारा बहा ले गया। दाना चुनकर वापिस लौटी टिटहरी ने अपने बच्चों के प्रति समुद्र का ऐसा निर्मम व्यवहार देखकर प्रण किया कि 'मैं भी समुद्र को सुखा कर रहूँगी'। तदनन्तर वह अपनी चोंच से एक-एक बूंद (कुशा के अग्रभाग पर स्थित ओस के परिमाण जितनी) बारम्बार उठाकर समुद्र से बाहर फेंकने लगी। टिटहरी के खेदरहित इस निश्चय से प्रसन्न होकर पक्षिराज गरुड़सहित समस्त पक्षिगण उसकी सहायता के लिए कटिबद्ध हो गए, फलस्वरूप जल सूखने के भय से विवश हुए समुद्र को टिटहरी के बच्चे वापिस करने पड़े।

---

[1] प्रयाजादीनामपूर्वरूपव्यापारभेदादिव चित्तस्थितिदोषदर्शनज्ञानप्रसादरूपव्यापार-भेदादाभ्यां समुच्चिताभ्यां तन्निरोधः—ना० बृ० वृ० पृ० २३१।

[2] ······यत्नोऽभ्यासः—यो० सू० १।१३।

[3] प्रयत्नो=वीर्यमुत्साहः—व्या० भा० पृ० ४५-४६।

[4] ······उत्साहसाहसधैर्याध्यात्मविद्याध्ययनमहत्सेवनयमनियमाद्यनुष्ठानलक्षणोऽभ्यास इत्यर्थः—यो० सि० चं० पृ० १६।

[5] तत्रोत्साहः=सर्वदा बहिःप्रवहणशीलं चित्तं निरोत्स्यामीत्येवमुद्यमः—यो० सि० चं० पृ० १६।

[6] साहसं=साध्यासाध्यत्वाद्यपरामृश्य शीघ्रं प्रवृत्तिः—यो० सि० चं० पृ० १६।

[7] धैर्यम्=इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सेत्स्यत्येवेत्यखेदः—यो० सि० चं० पृ० १६।

[8] उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैव बिन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः—मा० का० अ० १ पृ० ४१।

इसी प्रकार मानसिक वृत्तियों के निरोध के लिए जन्मजन्मान्तरपर्यन्त आनन्दपूर्वक कटिबद्ध रहने वाला धैर्यशील साधक एक दिन ईश्वरानुग्रह से इष्टतम फल अवश्य प्राप्त करता है।[१]

वृत्ति-निरोध के अभ्यासकाल में आत्मविद्या-सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक है; जिससे जगत् की निष्प्रयोजनता समझ कर चित्त अन्तर्मुखी हो सके। फलस्वरूप आत्म-चिन्तन में लीन रहता हुआ चित्त अन्त में काष्ठ के भस्म हो जाने पर अग्नि के समान समस्त वृत्तियों के निरुद्ध होने पर स्वयं भी उपशमित हो जाता है।[२] तपस्वी, ऋषि, महर्षि, गुरू आदि की सेवाशुश्रूषा करना महत्सेवा है।

उत्तमाधिकारियों की योग-साधना अभ्यास-वैराग्य से ही प्रारम्भ होती है। क्योंकि वे जन्मतः यमादि पाँच बहिरङ्ग साधनों से युक्त होते हैं। उन्हें वर्तमान जन्म में यमादि के लिए पुनः पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है। केवल पूर्वजन्मों में अर्जित की गई यमादि सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए (दैनन्दिन जीवन में उसके उपयोग के लिए) सचेत रहना पड़ता है। इसी आशय से आचार्य नारायणतीर्थ ने अभ्यास के लक्षण में यमादि का सन्निवेश किया है।

अभ्यास का मुख्य प्रयोजन चित्तस्थैर्य है।[३] क्योंकि चित्त के स्थिर रहने पर अन्य इन्द्रियाँ स्वतः तदनुगामिनी हो जाती हैं। चित्तस्थैर्य की उत्कृष्टावस्था में वृत्त्यन्तरशून्य ध्येय चित्त की प्रशान्तवाहिनी अवस्था होती है।[४] इस अवस्था में चित्त हर्ष, शोकादि से विचलित नहीं होता; अपितु एकाग्र रहता है।[५] आचार्य विज्ञानभिक्षु ने चित्त की उपर्युक्त प्रशान्तवाहिनी अवस्था के समर्थन में एक श्लोक उद्धृत किया है।[६] श्लोक का अर्थ है—स्तुति-परक अथवा निन्दा-परक वाक्य तथा मधुरगीत अथवा कर्कश शब्द सुनकर, दुकूल, दुशालादि नरम अथवा कम्वल आदि खुर्दरे पदार्थ छूकर, मनोहर अथवा घृणित रूप देखकर, स्वादु अथवां अस्वादु अन्न खाकर, सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध सूँघकर जो न हर्षित होता है और न दुःखी होता है वही शान्त (जितेन्द्रिय) कहलाता है।

---

१ एवमखेदादिना मनोनिरोधे यतमानस्य योगिन ईश्वरानुग्रहादिष्टसिद्धिः—यो० सि० चं० पृ० १६-१७।

२ एवमध्यात्मविद्याऽध्ययनेनापि स्वगोचरेषु मिथ्यात्वेन प्रयोजनाभावं प्रयोजनवत्यात्मनि च स्वागोचरत्वं ज्ञात्वा निरिन्धनाग्निवच्चित्तं स्वयमेवोपशाम्यति—यो० सि० चं० पृ० १७।

३ तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः—यो० सू० १।१३।

४ निरुद्धवृत्तिकस्य चित्तस्य या प्रशान्तवाहिता निरुद्धावस्थायाः प्रवाहः सा हि मुख्या स्थितिः तदनुकूलैकाग्रतावस्थाऽपि स्थितिः—भा० पृ० ४५-४६।

५ वृत्त्यन्तराभावात् प्रशान्ता हर्षशोकादितरङ्गरहिता एकाग्रवृत्तिधारेत्यर्थः—यो० वा० पृ० ४५।

६ श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाशुभम्।
न हृष्यति ग्लायति च स शान्त इति कथ्यते।।—महोपनिषद् ४।३२।

अभ्यास से चित्त की प्रशान्तवाहिनी अवस्था कही गई। इस पर शङ्का होती है कि अनादि काल से चली आ रहीं अत्यन्त स्वाभाविक चञ्चल चित्तवृत्तियाँ अभ्यास के द्वारा कैसे निरुद्ध की जा सकती हैं ? उत्तर में कहा गया है कि चित्तवृत्ति-निरोध के लिए साधक का दो-चार दिन, सप्ताह, मास अथवा वर्षपर्यन्त अन्यमनस्कभाव से अनियमिततः हुआ शिथिल प्रयत्न (अभ्यास) अत्यन्त दृढ़ चितवृत्तियों का अभिभव करने में समर्थ नहीं होता है।[१] अपितु पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के साथ जन्मजन्मान्तरपर्यन्त व्यवधानरहित निरन्तर अनुष्ठीयमान अभ्यास सुदृढ़ होकर चित्त-वृत्तियों का निरोध करने में समर्थ होता है।[२] अभ्यास प्रकृति के विरुद्ध कार्यों को भी करवाता है। विष (जिसके खाने से मृत्यु होती है) अभ्यास के द्वारा अमृत बन जाता है।[३]

वैराग्य—विराग राग का प्रतिद्वन्द्वी है। विषय के प्रति स्वाभाविक विरक्ति वैराग्य है। वैराग्य दो प्रकार का है—अपर-वैराग्य तथा पर-वैराग्य। अपर-वैराग्य के सिद्ध होने पर पर-वैराग्य के लिए प्रयत्न किया जाता है। अपर-वैराग्य पर-वैराग्य की पूर्वावस्था है।

अपरवैराग्य—अपरवैराग्य विषयवैतृष्ण्य है। इसमें संसार के पदार्थों के प्रति विराग बुद्धि जाग्रत् होती है। विषय दो प्रकार के हैं—दृष्ट-विषय तथा आनुश्रविक-विषय।[४] इस जन्म में जिनका अनुभव होता है, वे दृष्ट-विषय हैं;[५] जैसे—स्त्री, पुत्र अन्न-पान, ऐश्वर्य राज्यादि। केवल शास्त्र में जिनका उल्लेख है[६], वे आनुश्रविक-विषय हैं; जैसे स्वर्ग, वैदेह्य एवं प्रकृतिलय आदि। इनका साधारण मनुष्यों को अनुभव नहीं होता है;

साधक में उक्त दृष्टादृष्ट विषयों के प्रति सहसा पूर्वरूप से वैराग्य जाग्रत् नहीं होता है। वैराग्य के विषयों (आलम्बनों) को शनैः-शनैः बढ़ाता हुआ साधक वैराग्य को प्रौढ, प्रौढतर एवं प्रौढतम करता चलता है। इस क्रमिक विकास के आधार पर अपरवैराग्य की चार अवस्थाएँ

---

[१] अदीर्घकालत्वे दीर्घकालत्वेऽपि विच्छिद्य विच्छिद्य सेवने भक्तिश्रद्धातिशयाभावेन लयविक्षेपकषायसुखादीनामपरिहारे व्युत्थानसंस्कारप्राबल्याद् दृढभूमिरभ्यासः फलाय न कल्पते—यो० सि० चं० पृ० १७।

[२] (क) स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः—यो० सू० १।१४।
(ख) सोऽभ्यासो दीर्घकालं नैरन्तर्येण भक्तिश्रद्धादिरूपसत्कारेण सेवितो दृढभूमिर्दृढसंस्कारः सन् व्युत्थानसंस्कारैरनभिभवेन स्थितौ समर्थो भवति—यो० सि० चं० पृ० १७।

[३] विषाण्यमृततां यान्ति सतताभ्यासयोगतः—योग० वा० निर्वाणप्रकरण ६७।३३।

[४] द्विविधो हि विषयो दृष्ट आनुश्रविकश्च—रा० मा० पृ० ६।

[५] दृष्ट इहैवोपलभ्यमानः……—रा० मा० पृ० ६।

[६] (क) वेदोक्तस्वर्गादय आनुश्रविकाः—यो० सु० पृ० ८।
(ख) गुरुमुखादनुश्रूयत इत्यनुश्रवो वेदस्तत्प्रतिपाद्याः स्वर्गादितत्साधनादय आनुश्रविकाः—यो० सि० चं० पृ० १७।

कही गई हैं[१]—यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार। पतञ्जलि ने अपरवैराग्य की उपर्युक्त समस्त अवस्थाओं का नामसंकीर्तन नहीं किया। एकमात्र वशीकार-संज्ञक वैराग्य को सूत्र के द्वारा बतलाया है। लेकिन वैराग्य की दो जातियों का 'पर' एवं 'अपर' नाम से विभेदीकरण के पश्चात् अपरवैराग्य का द्वितीय नामकरण (वशीकार) किया।[२] अतः पतञ्जलि के मत में वशीकार-संज्ञक वैराग्य अपरवैराग्य-सामान्य का ही एक विशेष भेद है। अपरवैराग्य के अतिरिक्त यतमानादि भेद योग के समानतन्त्र सांख्यशास्त्र से प्राप्त हैं। अतः पतञ्जलि को अपर वैराग्य के चारों भेद (अवस्थाएँ) मान्य हैं[३]—ऐसा सूचित होता है।

अब यह विचारणीय है कि स्वयं पतञ्जलि अपरवैराग्य के चारों भेदों पर सूत्र बनाने के लिए क्योंकर प्रवृत्त न हुए? उत्तर है—उनका उद्देश्य समाधिपाद में उत्तम अधिकारियों के लिए योग-साधना के सोपान बतलाना था। जो पूर्वजन्मों में बहिरङ्ग-योग की सफल साधना कर चुके होते हैं। अतः वैराग्यसम्पन्न (नियम का द्वितीय भेद सन्तोष वैराग्यरूप है) उत्तम साधक वर्तमान जीवन में अल्प प्रयास से ही अपरवैराग्य की उत्कृष्टावस्था वशीकार को प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें अपरवैराग्य की यतमानादि प्राथमिक अवस्थाओं को क्रमशः पार नहीं करना पड़ता है। अतः उत्तम अधिकारियों के लिए यतमानादि अवस्थाएँ पूर्व-सिद्ध (पूर्व-प्राप्त) समझकर प्रस्तुत सन्दर्भ में पतञ्जलि ने उनका वर्णन नहीं किया होगा। अथवा परावस्था (वशीकार) के कथन से पूर्व की अवस्थाएँ आक्षेपलभ्य हैं। अतः परावस्था में पूर्व की अवस्थाओं का अन्तर्भाव हो जाने से पतञ्जलि ने वशीकार से पूर्व की अवस्थाएँ नहीं कहीं।[४]

यतमान—रागादि चित्त के मल (कषाय) कहे जाते हैं। क्योंकि वे मंजीठ की तरह चित्त को रंग देते हैं। उनके द्वारा इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। ये रागादि मल इन्द्रियों को तत्-तत् विषयों में प्रवृत्त न कर सकें—इस इच्छा से रागादि मलों के प्रक्षालनार्थ साधक मैत्री आदि की भावना का अनुष्ठान रूप जो यत्न करता है, उसे यतमान-संज्ञक वैराग्य कहते हैं।[५]

---

१ (क) अपरं च यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारभेदेन चतुर्विधम्—यो० सु० पृ० ८।
(ख) तु०—भा० ग० वृ० पृ० १२।
(ग) तु०—ना० ल० वृ० पृ० १२।

२ दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञावैराग्यम्—यो० सू० १।१५।

३ संज्ञापदेन च यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारसंज्ञाभिश्चातुर्विध्यं सूचितम्—यो० सि० चं० पृ० १८।

४ एतयैव च यतमानसंज्ञा व्यतिरेकसंज्ञा एकेन्द्रियसंज्ञा एतासां गतार्थत्वान्न पृथगुपादानम्—यो० प्र० पृ० ८।

५ रागादयः खलु कषायाश्चित्तवर्त्तिनस्तैरिन्द्रियाणि यथास्वं विषयेषु प्रवर्त्यन्ते तन्मा प्रवर्त्तिषतेन्द्रियाणि तत्तद्विषयेष्विति तत्परिपाचनायारम्भः प्रयत्नः सा यतमानसंज्ञा—त० वै० पृ० ४८।

व्यतिरेक—विश्वबन्धुत्व आदि समुज्ज्वल भावनाओं का आचरण करने से साधक की इन्द्रियाँ नियन्त्रण में रहने लगती हैं। चित्त के कुछ मल नष्ट भी हो जाते हैं तथापि कुछ मल अवशिष्ट रह जाते हैं। अतः चिकित्सक की तरह 'इतने मल शान्त हुए और इतने शान्त (नष्ट) होने हैं'—इस प्रकार विवेचन करते हुए साधक द्वारा अवशिष्ट दोषों के शान्त होने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसे व्यतिरेक-संज्ञक वैराग्य कहते हैं।[१]

एकेन्द्रिय—कृशता के कारण वाह्य विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति कराने में असमर्थ होकर रागादि मलों का केवल चित्त की तृष्णा रूप में रहना एकेन्द्रिय-संज्ञक अपरवैराग्य है।[२] आचार्य **सदाशिवेन्द्रसरस्वती** के शब्दों में दृष्टानुश्रविकविषयक प्रवृत्ति में दुःखात्मकता का ज्ञान होने से उस प्रवृत्ति का त्याग करने पर भी मनस् में औत्सुक्यरूप से जो तृष्णा रह जाती है, उसे एकेन्द्रिय-संज्ञक वैराग्य कहते हैं।[३]

वशीकार—एकेन्द्रिय-संज्ञक वैराग्य की पराकाष्ठा वशीकार-संज्ञक वैराग्य है। वैराग्य की इस अवस्था में पहुँचने पर विषयों के प्रति उत्कण्ठा (तृष्णा) का भाव भी पूर्णतया निवृत्त हो जाता है।[४] यह विषयवैतृष्ण्य चित्त की विशुद्ध अवस्था है। साधक अपने को विषयों के अधीन नहीं, अपितु विषयों को अपने अधीन समझता है। इसलिए स्रक्, चन्दन, ललना, अन्न-पान आदि लौकिक तथा वेदवर्णित स्वर्गादि अलौकिक विषयों के उपस्थित रहने पर भी इसमें तद्विषयक उपेक्षा बुद्धि वनी रहती है। वास्तविक वैराग्य का उदय 'विषयसङ्ग शास्त्र-विरुद्ध है'—इतना ज्ञान होने मात्र से नहीं होता है। अपितु प्रसंख्यानसमाधि के वल से उदित विवेकज्ञान के द्वारा विषयों में परिव्याप्त त्रिविध दुःख का साक्षात्कार होना वास्तविक विषय-वैतृष्ण्य का हेतु है।[५] अन्यथा वैराग्य चिरस्थायी नहीं हो पाता है। इसीलिए स्मृतिशास्त्रों में **सौभरि** आदि विरक्त ऋषियों के सम्बन्ध में मोहक पदार्थ को देखकर राग उत्पन्न होने की कथा सुनने में आती है। क्योंकि विषयदोष का साक्षात्कार न होने से उनके चित्त में रागादि संस्कार सूक्ष्मरूप से विद्यमान थे।[६]

---

[१] (क) द्वितीयभूमिका व्यतिरेकसंज्ञा। सा च जिताान्येतानीन्द्रियाणि, एतानि च जेतव्यानीति व्यतिरेकावधारणयोग्यता—यो० वा० पृ० ४८।

(ख) तदारम्भे सति केचित्तु कषायाः पक्वाः पक्ष्यन्ते च केचित्। तत्र पक्ष्यमाणेभ्यः पक्वानां व्यतिरेकेणावधारणं व्यतिरेकसंज्ञा—त० वै० पृ० ४८।

[२] इन्द्रियप्रवर्तनासमर्थतया पक्वानामौत्सुक्यमात्रेण मनसि व्यवस्थापनमेकेन्द्रियसंज्ञा—त० वै० पृ० ४८।

[३] दृष्टानुश्रविकविषयप्रवृत्तेर्दुःखात्मकत्वबोधेन तां प्रवृत्तिं परित्यज्य मनस्यौत्सुक्यमात्रेण तृष्णास्थापनमेकेन्द्रियत्वम्—यो० सु० पृ० ९।

[४] औत्सुक्यमात्रस्यापि निवृत्तिरुपस्थितेष्वपि दिव्यादिव्यविषयेषूपेक्षाबुद्धिः संज्ञात्रयात्परा वशीकारसंज्ञा—त० वै० पृ० ४८।

[५] प्रसंख्यानबलात् दोषसाक्षात्कारस्य बलवत्त्वात्—यो० वा० पृ० ४८।

[६] (क) दोषसाक्षात्काररूपबलाभावात्तु सौभर्यादेः प्राग्विरक्तस्यापि विषयसन्निकर्षण दोषदर्शनं प्रतिबध्य पुनः राग उत्पादितः—यो० वा० पृ० ४८।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २३२।

वैराग्य सामयिक अर्थात् प्रिय पदार्थों—स्त्री, पुत्र आदि के वियोग या नाश से भी होता है[१]; अथवा भयंकर रोगादि के कारण होता है। अथवा विषयों की अनुपलब्धि के समय में ही होता है। इस प्रकार नाम-मात्र का वैराग्य जले हुए बीज के समान फल उत्पन्न नहीं कर सकता। क्योंकि कुछ काल के पश्चात् वह स्वयं नष्ट हो जाता है।

परवैराग्य—अपरवैराग्य के पश्चात् परवैराग्य सिद्ध होता है। अपरवैराग्य की परिणति परवैराग्य है। यद्यपि दोनों वैराग्यों का आश्रय सत्त्वगुणप्रधान चित्त है तथापि अपरवैराग्य काल में वह रजोगुण की लेशमात्र कालिमा से युक्त रहता है। परवैराग्य काल में कालिमा पूर्णतया प्रक्षालित हो जाती है।

विवेकख्याति के पराकाष्ठा काल में ज्ञानमात्र के प्रति हेयत्वबुद्धि जाग्रत् होना परवैराग्य है।[२] ज्ञानविषयक होने से परवैराग्य ज्ञानप्रसाद कहा जाता है।[३] आचार्य **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश एवं नागेशभट्ट** का कथन है[४]—यद्यपि अपरवैराग्य की अवस्था में भी ज्ञान के प्रति विनाशित्व आदि दोषदर्शन हो चुका होता है तथापि ज्ञानमात्र के प्रति हेयत्व-बुद्धि रूप परवैराग्य जाग्रत् नहीं हो पाता है। क्योंकि अपरवैराग्यकाल में सर्वप्रथम अविद्या को निवृत्त करना लक्ष्य रहता है। जब ज्ञान से अविद्या निवृत्त हो जाती है तब परवैराग्यकाल में ज्ञान के प्रति विनाशित्व, अनात्मत्व आदि दोषदर्शन होने से योगी में समस्त ज्ञानों के प्रति उपेक्षा बुद्धि (परवैराग्य) जाग्रत् होती है। फलस्वरूप सम्प्रज्ञातसमाधिकालिक ध्येयाकारवृत्ति भी निरुद्ध हो जाने से सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञातसमाधि प्राप्त होती है। प्रारम्भ में असम्प्रज्ञातसमाधि अस्थिर रहती है। परवैराग्य का निरन्तर अभ्यास करते रहने से यह स्थिर हो जाती है। असम्प्रज्ञातसमाधि की पराकाष्ठा कैवल्य है। इस स्थिति को प्राप्त कराना (जन्म-मरण से छुटकारा दिलाना) ही अभ्यास-वैराग्य का मुख्य फल है।

क्रियायोग

मध्यम अधिकारियों की योग-साधना क्रियायोग से प्रारम्भ होती है। ये लोग जन्म से ही योगमार्ग में रत रहते हैं, फिर भी अविद्यादि क्लेशों से युक्त इनके चित्त की राजस,

---

१ रागाभावमात्रं तु न वैराग्यम्। रोगादिनिमित्तकारुचौ तद्व्यवहाराभावात्—ना० बृ० वृ० पृ० २३२।

२ तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्—यो० सू० १।१६।

३ तत्र यदुत्तरं परवैराग्यं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्=ज्ञानस्य यः प्रसादश्चरमोत्कर्षो रजोलेशमलहीनता; अतएव सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रता—भा० पृ० ५०।

४ (क) तदानीं ज्ञानेऽपि विनाशित्वादिदोषदर्शनसाम्येऽपि नालंबुद्धिरूपं वैराग्यं संभवति, अविद्यानिवृत्त्याख्यप्रयोजनवत्त्वात्। अत्र तु सूत्रे ज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्यादौ सिद्धे तेनैव दोषदर्शनेनानात्मत्वदृष्ट्या च ज्ञानसाधारणेष्वखिलकार्यकारणेष्वात्मतृप्तस्योपेक्षेति वैराग्ययोर्भेदः—यो० वा० पृ० ४९।

(ख) तु०—भा० ग० वृ० पृ० १२-१३।

(ग) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २३२-२३३।

तामस वृत्तियाँ आविर्भूत एवं तिरोभूत होती हुई उनको उद्विग्न रखती हैं। अतः व्युत्थित-चित्त के मध्यम अधिकारियों को योग-साधना समाहित-चित्तयुक्त उत्तम साधकों के निर्दिष्ट सोपान (अभ्यास-वैराग्य) से प्रारम्भ नहीं हो सकती है। चित्त को अभ्यासवैराग्यार्थ सक्षम बनाने के लिए उन्हें सर्वप्रथम क्रियायोग करना पड़ता है।[1]

क्रियायोग के अन्तर्गत तीन तत्त्व हैं—तपस्, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान।[2] कार्य-कारण में अभेद होने से योग की साधनभूत तपादि कियाएँ योग कही गई हैं। **'क्रियैव योगः क्रियायोगः'**।[3] आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने इस सम्बन्ध में श्रुतिवाक्य उद्धृत किया है।[4] **वाचस्पति** आदि पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य क्रियायोग का अर्थ **सदाशिवेन्द्रसरस्वती** उक्त शुद्धसारोपा लक्षणावृत्ति से स्पष्ट किया है।[5] उनका कहना है—जैसे **'आयुर्घृतम्'**—इस लौकिक उदाहरण में शुद्धसारोपा लक्षणावृत्ति द्वारा 'आयुष्' शब्द का लक्ष्यार्थ 'आयुष् का साधन' है, वैसे ही क्रियायोग में शुद्धसारोपा लक्षणावृत्ति के द्वारा 'योग' शब्द 'योग का साधन'—इस लक्ष्यार्थ का बोधक है। **माधवाचार्य** ने भी सर्वदर्शनसंग्रह के पातञ्जल-प्रकरण में क्रियायोग को शुद्धसारोपा लक्षणावृत्ति का स्थल स्वीकार किया है।[6] आचार्य **हरिहरानन्द आरण्यक** ने तपस् आदि तत्त्वों को शारीरिक क्रियायोग, वाचिक क्रियायोग एवं मानस क्रियायोग—इस प्रकार निर्दिष्ट किया है।[7]

तपस्—युक्ताहार को तपस् कहा गया है, चान्द्रायणादि व्रतों को नहीं। क्योंकि इनसे धातु-वैषम्य होता है।[8] तपस् का अर्थ शरीर एवं इन्द्रियों को इतना अधिक क्षीण करना नहीं,

---

१ न च तौ व्युत्थितस्य द्रागित्येव संभवत इति द्वितीयपादोपदेश्यानुपायानपेक्षते सत्त्वशुद्ध्यर्थम्—त० वै० पृ० १३७।

२ तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः—यो० सू० २।१।

३ (क) क्रियैव योगः क्रियायोगः योगसाधनत्वात्—त० वै० पृ० १३८।
(ख) तु०—यो० प्र० पृ० २४।

४ 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता भक्तिज्ञानक्रियाऽऽत्मकाः'—इत्यादिस्मृतिषु त्रय एव योगोपायत्वाद्योगा उक्ताः—यो० वा० पृ० १३८।

५ तानि क्रियारूपत्वाद्योगसाधनत्वाच्च क्रियायोग इति शुद्धसारूप्यलक्षणाश्रयणेन निरूप्यन्ते 'आयुर्घृतम्' इतिवत्—यो० सु० पृ० २९।

६ सा च······क्रिया योगसाधनत्वाद्योग इति शुद्धसारोपलक्षणावृत्त्याश्रयणेन निरूप्यते —स० द० सं० पृ० ७१३।

७ তপ=শরীর ক্রিয়াযোগ; স্বাধ্যায়, বাচিক ও ঈশ্বর প্রণিধান মানস ক্রিয়াযোগ—পাতঞ্জল যোগদর্শন, সাধনপাদ ॥ ৬ ॥ পৃঃ সা ১০৪।

८ (क) तपोऽत्र युक्ताहारता न तु कृच्छ्रचान्द्रायणादि; तस्य धातुवैषम्यहेतुत्वात्—पा० र० पृ० १३८।
(ख) तपःशब्देन चात्र हितमितमेध्याशित्वं न तु कामाशनत्वमुपवासपरककृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणं च उपवासाभ्यासे धातुवैषम्यापातसम्भवात्—यो० प्र० पृ० २४।

कि धातु-वैषम्य के कारण शरीर योग-साधना के लिए असमर्थ हो जाए। उतना ही तपस् विहित है, जिससे धातु-वैषम्य न हो सके।[१] पातञ्जल-योग के सभी व्याख्याकारों को तपस् का उपर्युक्त लक्षण मान्य है। किन्तु आचार्य नारायणतीर्थ ने ईश्वरगीतादि[२] के प्रभाव से उपवासादि द्वारा होने वाले शरीरशोषण को ही तपस् का लक्षण बतलाया है।[३]

तपस् में चित्त को योग-साधनार्थ समर्थ बनाने की शक्ति निहित है। सुवर्णादि के मलशोधक अग्नि के समान तपरूप अग्नि भी अनादिकाल से रजस् तथा तमस् से प्रेरित कर्मों, क्लेशों एवं वासनाओं से मलिन चित्त को परिशुद्ध करता है।[४] तथा शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा मनस् को नियन्त्रित रखता है। अतः योगेच्छु का तपस्वी होना आवश्यक है।

स्वाध्याय—चित्त को संसारमार्ग से प्रत्यावर्तित कर मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्त कराने वाले अध्यात्मपरक वेद, उपनिषद्, पुराण आदि शास्त्रों का अध्ययन तथा पुरुषसूक्त, रुद्रमण्डल, ब्राह्मणादि वैदिक तथा ब्रह्मपारायणादि पौराणिक भगवान् के नामों का जप (पौनःपुन्येन वाचिक अथवा मानस चिन्तन) स्वाध्याय है।[५]

ईश्वरप्रणिधान—तपश्चर्या द्वारा चित्त को नियन्त्रित रखने तथा स्वाध्याय द्वारा ईश्वर की महिमा समझने के पश्चात् क्रियायोग के अभ्यासी की ईश्वरप्रणिधान-संज्ञक क्रिया में प्रवृत्ति होती है। अतः ईश्वरप्रणिधान का तृतीय स्थान है।

विहित या अविहित (वैदिक या लौकिक) सभी प्रकार के कर्म फलाकांक्षा के विना परमगुरु ईश्वर में समर्पित करना ईश्वरप्रणिधान है।[६] 'सभी प्रकार के कर्मजन्य फलों

---

[१] तावन्मात्रमेव तपश्चरणीयं न यावता धातुवैषम्यमापद्येत—त० वै० पृ० १३९।

[२] विधिनोक्तेन मार्गेण……तापसास्तप उत्तमम्—ई० गी० यो० सि० चं० पृ० ४९।

[३] तप उपवासादिना कायशोषणम्—यो० सि० चं० पृ० ४९।

[४] (क) अनादिक्लेशकर्मवासनाभिर्नानाप्रकारायाः पापाख्याया अशुद्धेर्विषयजालप्रत्युपस्थापकत्वेन योगविरोधितया विना तपस्तनुतारूपसंभेदासम्भवेन तप उपादानात्—ना० बृ० वृ० पृ० २६४।

(ख) तु०—यो० वा० पृ० १३९।

[५] (क) स्वाध्यायः=प्रणवादिपवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा—व्या० भा० पृ० १३९।

(ख) स्वाध्यायः=प्रणवपुरुषसूक्तरुद्रमण्डलब्राह्मणादयो वैदिकाः पौराणिकाश्च ब्रह्मपारायणादयः तेषां जपो (मोक्षशास्त्राध्ययनं वा)—यो० प्र० पृ० २४।

(ग) स्वाध्याय उपनिषदाद्यावृत्तिः। उक्ता च तत्रैव—
वेदान्तशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः।
सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते ॥—यो० सि० चं० पृ० ४९।

[६] फलाभिसन्धि विना कृतानां कर्मणां परमगुरावीश्वरे समर्पणमीश्वरप्रणिधानम्—म० प्र० पृ० २७।

का भोक्ता ईश्वर है'—इस प्रकार का चिन्तन ईश्वरप्रणिधान है।[1] आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** आदि का कहना है कि—जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मजन्य फलों का भोग करवाता हुआ ईश्वर आनन्दित होता है। यही उसका कर्मफलभोग है।[2] अर्थियों (याचकों) को धन वितरण करने वाला दाता उस धन का भोक्ता कहा जाता है।[3] क्योंकि दान आत्मतुष्टचर्थ होता है। ईश्वर की आनन्दभोगरूप प्रीति नित्य है। वह आनन्दस्वरूप है। फिर भी सिसृक्षादि की तरह ईश्वर में उपर्युक्त आनन्द की उत्पत्ति गौण है।[4] **'ऋतं पिबन्तौ'**—इत्यादि[5] श्रुतिवाक्य ईश्वर के भोक्तृत्व में प्रमाण हैं। अतः ईश्वर के प्रति कर्मफल का त्याग उचित है।

क्रियायोग के दो प्रयोजन हैं—चित्त को समाधि की ओर अभिमुख कराना तथा उदार-अवस्था के क्लेशों को उनकी तनु अवस्था में वापिस लौटाना।[6] इस प्रकार क्रियायोग के माध्यम से[7] अभ्यास एवं वैराग्य के अनुशीलनार्थ बना हुआ मध्यम-अधिकारी का समर्थ चित्त अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा योग की उत्तरोत्तर भूमि पर आरूढ होकर अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार अभ्यास एवं वैराग्य संज्ञक मध्यवर्ती व्यापार द्वारा क्रियायोग क्लेश की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक समाधि एवं मोक्ष का परम्परया कारण है।

आचार्य **नागेश भट्ट** ने दृष्टादृष्टद्वार के साथ क्रियायोग के उपर्युक्त फल को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि क्रियायोग दृष्ट एवं अदृष्ट द्वार से क्लेशों को तनु करता है।[8] यह इस प्रकार है[9]—अभिमान, राग, द्वेषादि क्लेशों से चित्त के संकुलित रहने पर पूर्ण क्रियायोग की निष्पत्ति नहीं हो पाती। यदि किसी प्रकार क्रियायोग सिद्ध हो भी जाए, तो वह अङ्गविकल होता है। अतः क्रियायोग अङ्गसहित अपनी निष्पत्ति के

---

[1] (क) कर्मफलानामीश्वरो भोक्तेति चिन्तनम्·····—यो० वा० पृ० १४०।
(ख) तु०—यो० सि० चं० पृ० ४९।

[2] (क) यदेव जीवान्कर्मफलानि भोजयन् परमेश्वरः प्रीणाति स एवेश्वरस्य तत्फलभोगः—ना० बृ० वृ० पृ० २६५।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० १४०।

[3] यथार्थिभ्यो धनानि यच्छन्दाता तद्धनभोक्ता—ना० बृ० वृ० पृ० २६५।

[4] (क) यद्यप्यस्यानन्दभोगरूपा प्रीतिर्नित्यैव तथापि सिसृक्षादिवत्तदुत्पत्तिर्गौणी—ना० बृ० वृ० पृ० २६५।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० १४०।

[5] भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्—गी० ५।२९।

[6] समाधिभावनाऽर्थः क्लेशतनुकरणार्थश्च—यो० सू० २।२।

[7] (क) अभ्यासवैराग्यादिकं तु यथाशक्तितोऽनुष्ठेयम्—यो० सा० सं० पृ० ५०।
(ख) यतोऽभ्यासवैराग्यानुष्ठानौपयिकक्रियायोगेन···—यो० प्र० पृ० २४।

[8] क्रियायोगस्य क्लेशतानवं दृष्टादृष्टद्वारा फलम्—ना० बृ० वृ० पृ० २६५।

[9] अभिमानरागद्वेषादिप्राबल्ये क्रियायोगासंभव एव। सम्भवे वाऽङ्गविकल इति साङ्गस्वनिष्पत्तये क्लेशतानवं करोति। एवं तेन चित्तशुद्धावधर्माख्यकारणतान्तवादविद्यादेरपि तानवं भवति—ना० बृ० वृ० पृ० २६५।

लिए उदार-अवस्था के क्लेशों को तनु-अवस्था में लाता है। इस प्रकार क्रियायोग से चित्तशुद्धि, चित्तशुद्धि से अधर्म की तनुता, अधर्म की तनुता से क्लेशादि की तनुता होती है। क्रियायोग अपने द्वितीय फल योग को भी दृष्ट एवं अदृष्ट द्वार से सिद्ध करता है।[१] सत्त्वशुद्धि अदृष्ट द्वार है और चित्त का नियमन (संयमन) दृष्टद्वार है।[२] इन दोनों कार्यों के सम्पन्न होने पर योगी की योग-साधना विवेकख्यातिपर्यन्त पहुँच जाती है। तदनन्तर विवेकख्यातिरूप अग्नि से तनु अवस्था वाले क्लेश दग्धबीज के समान हो जाते हैं। यही साधक की जीवमुक्त अवस्था है। इसके पश्चात् प्रारब्ध कर्म का भोग द्वारा क्षय होने पर निरधिकार चित्त दग्ध क्लेशों के सहित अपने मूल कारण में लीन हो जाता है। चित्त का पुनरभिव्यक्तिशून्य आत्यन्तिक (सार्वकालिक) लय परममुक्ति है।[३]

अष्टाङ्गयोग

उत्तम एवं मध्यम अधिकारियों की अपेक्षा अत्यन्त विक्षिप्त चित्त के गृहस्थादि मन्दाधिकारियों की योग-साधना अष्टाङ्गमार्ग की बतलाई गई है।[४] क्योंकि अभी तक उन्होंने योग-साधना प्रारम्भ नहीं की होती है। अतः असंस्कृत चित्त को योग-साधनार्थ सक्षम बनाने के लिए उन्हें यमादि सोपान से अग्रिम सोपानों पर बढ़ना होता है।

मध्यम-अधिकारियों की योग-साधना क्रियायोग से प्रारम्भ होकर उत्तम-अधिकारियों के मार्ग (अभ्यास-वैराग्य) से आगे बढ़नी आवश्यक रहती है। लेकिन अष्टाङ्गयोगमार्गीय मन्द अधिकारियों को उक्त दो प्रकार के मार्गों (अभ्यास-वैराग्य एवं क्रियायोग) का अनुसरण नहीं करना पड़ता है। अष्टाङ्गयोग से ही अन्य दो मार्ग सम्पन्न हो जाते हैं। ये दोनों मार्ग अष्टाङ्ग-मार्ग के ही उपमार्ग हैं। अतः मुख्य मार्ग में ही वे गतार्थ हैं।[५] आचार्य **वाचस्पति मिश्र** तथा **बलदेव मिश्र** ने उभय मार्गों की गतार्थता स्वरूपतः एवं नान्तरीयकविधि से प्रतिपादित की है।[६] आचार्य वाचस्पति मिश्र आदि के एतत्सम्बन्धी विचार को स्पष्ट

---

[१] एवं योगोऽपि तस्य दृष्टादृष्टद्वारा फलम्—ना० बृ० वृ० पृ० २६५।

[२] तत्र सत्त्वशुद्धिरदृष्टं द्वारम्। दृष्टं तु चित्तनियमनम्—ना० बृ० वृ० पृ० २६५।

[३] एवमनेन तत्तानवे सत्यन्तरा क्लेशैरप्रतिबद्धो योगो विवेकख्यातिपर्यवसायी भवति। ततस्तेन साक्षात्कारेणाग्निदग्धबीजकल्पाः क्लेशाः प्ररोहसमर्था न भवन्तीत्येषा जीवन्मुक्तिः। ततः प्रारब्धसमाप्त्या संप्रज्ञातेन चित्तेन सह दग्धबीजकल्पा अनागतावस्थाः सूक्ष्मक्लेशास्तत्कारणे लीयन्ते। ततः कारणाभावात्पुनर्जन्माभाव इति परममुक्तिः—ना० बृ० वृ० पृ० २६५-२६६।

[४] अथ मन्दाधिकारिणो योगमारुरुक्षोर्गृहस्थादेर्योगसाधनान्युच्यन्ते—यो० सा० सं० पृ० ६०।

[५] पूर्वपादोक्तानि ……अस्य पादस्यादावुक्तानि……अत्यन्तबहिरङ्गैरनुक्तसाधनैः सह पिण्डीकृत्य योगज्ञानोभयसाधनतयाऽत्रोच्यन्ते—यो० वा० पृ० २४७।

[६] (क) अभ्यासवैराग्यश्रद्धावीर्यादयोऽपि यथायोगमेतेष्वेव स्वरूपतो नान्तरीयकतया चान्तर्भावयितव्याः—त० वै० पृ० २४७।

(ख) तु०—यो० प्र० पृ० ३८।

करते हुए टिप्पणीकार **बालरामोदासीन** लिखते हैं—यमादि के अनुष्ठानकाल में अभ्यासादि अवश्यम्भावी हैं।[१] क्योंकि इन आठ अंगों का भूयोभूयः अनुष्ठान करना ही अभ्यास है। अभ्यास के मूल में वैराग्य है, क्योंकि किसी ध्येय विषय के प्रति चित्त की स्थिरता अन्य विषयक वृत्तियों के प्रति वैराग्य जाग्रत् होने पर ही हो सकती है। अतः नान्तरीयकतया अभ्यास-वैराग्य का अष्टाङ्गयोग में अन्तर्भाव होता है। अथवा सन्तोष में वैराग्य स्वरूपतः अन्तर्भूत है। तपसादि क्रियायोग नियमस्वरूप हैं। श्रद्धा एवं वीर्य के बिना तपस् तथा स्वाध्याय का अनुष्ठान असम्भव होने से तपसादि श्रद्धादि में अन्तर्भूत हैं। समाधि में अभ्यास का अन्तर्भाव होता है। तथा मैत्री आदि परिकर्मों का धारणा, ध्यान तथा समाधि में अन्तर्भाव होता है।[२] **विज्ञानभिक्षु** आदि ने भी यम आदि आठ क्रियाओं से अतिरिक्त क्रियाओं का उक्त अन्तर्भाव स्वीकार किया है।[३] अतः मन्द अधिकारियों की योग-साधना केवल अष्टाङ्ग-मार्ग से (उपमार्गों से नहीं) प्रशस्त होती है। यही कारण है कि उपनिषद्, पुराण, गीता तथा योग के अन्य ग्रन्थों में अष्टाङ्गयोगमार्गीय योग-साधना वर्णित हुई है। आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि।[४]

यम—यमयन्ति निवर्तयन्तीति यमाः—इस व्युत्पत्ति के अनुसार यम की साधना निवृत्तिमूलक है।[५] यम का मुख्य उद्देश्य साधक को हिंसादि निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त होने से रोकना है। यम के पाँच भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।[६]

अहिंसा—हिंसा के प्रतिपक्षी अहिंसा के द्वारा चित्त हिंसा-वृत्ति से पराङमुख किया जाता है। प्राणिमात्र के प्रति किसी भी समय किसी भी प्रकार का हिंसात्मक व्यवहार न करना अहिंसा है।[७] आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** ने अहिंसा के उक्त लक्षण में **आश्रमविहितनित्यकर्माविरोधेन**—इस विशेषणांश के सन्निवेश का परामर्श दिया है।[८]

---

[१] यमाद्यनुष्ठाने सत्याभ्यासादीनामवश्यम्भावितयाऽभ्यासादीनां नान्तरीयकत्वम्—योगदर्शनम्, बालरामोदासीन कृत टिप्पणी पृ० १७२।

[२] यद्वा वैराग्यस्य सन्तोषेऽन्तर्भावः। श्रद्धावीर्याभ्यां विना तपःस्वाध्यायाऽनुष्ठानाऽसम्भवात्तयोस्तयोरन्तर्भावोऽभ्यासस्य च समाधावन्तर्भावः—इत्येवमन्तर्भावयितव्याः। एवं मैत्र्यादीनामपि धारणास्वन्तर्भावो बोध्यः—योगदर्शनम्, बालरामोदासीनकृत टिप्पणी पृ० १७२।

[३] (क) तत्र वैराग्यस्य सन्तोषे प्रवेशः श्रद्धाऽऽदीनां च तपआदिषु परिकर्मणां च धारणादित्रिक इति—यो० वा० पृ० २४७।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३०३।

[४] यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि—यो० सू० २।२९।

[५] हिंसादिभ्यो निषिद्धकर्मभ्यो योगिनं यमयन्ति निवर्तयन्तीति यमाः—यो० सु० पृ० ४२।

[६] अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः—यो० सू० २।३०।

[७] तत्राहिंसा=सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः—व्या० भा० पृ० २४७।

[८] (क) आश्रमविहितनित्यकर्माविरोधेनेति विशेषणीया—यो० वा० पृ० २४७।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३०४।

अन्यथा शौचादि नित्य कर्म में पिपीलिका आदि प्राणियों की हत्या अवश्यंभावी[१] होने से शौचादि का शास्त्र द्वारा विधान अनुपपन्न होगा। अतः अहिंसा—आश्रमविहित नित्य कर्म के अपरित्यागपूर्वक अन्य सभी प्रकार के हिंसित कर्मों का त्याग करना है। इसलिए शौचादि नित्य कर्म से अगत्या होने वाले पाप के शुद्धचर्थ योगी के लिए शास्त्र द्वारा प्राणायाम आदि क्रियाएँ कही गई हैं।[२]

अहिंसा की सर्वोत्कृष्टता—यमाङ्गों में अहिंसा का सर्वोच्च स्थान है। क्योंकि अहिंसा के अनुशीलनार्थ सत्यादि व्रतों का पालन किया जाता है।[३] अन्यथा असत्य, स्तेय अब्रह्मचर्य आदि क्षुद्र क्रियाओं से अहिंसा सुदृढ़ नहीं हो पाता है। भाष्यकार **व्यासदेव** ने अपने उपर्युक्त मत के समर्थन में **पञ्चशिखाचार्य** का वचन उद्धृत किया है।[४] वाक्य का अर्थ है—मुमुक्षु ब्राह्मण जैसे-जैसे यम, नियम आदि व्रतों का अनुष्ठान करता है वैसे-वैसे प्रमाद के कारण हुई हिंसा के मुख्य हेतु मिथ्या-भाषणादि का परित्याग करता है तथा विशुद्धरूप में अहिंसा का पालन करता है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** ने सत्यादि की अपेक्षा अहिंसा के उत्कर्ष में मोक्षधर्म से श्लोक उद्धृत किया है[५] और बतलाया है कि—नाग (हस्ती) के पद में अन्य सभी पदगामियों के पदनिमज्जन की भाँति अहिंसा में ही सत्यादि धर्मों का अन्तर्भाव होता है। अहिंसा की इस सर्वोत्कृष्टता के आधार पर महर्षि **पतञ्जलि** ने भी यमाङ्गों में अहिंसा का सर्वप्रथम नामसंकीर्तन किया है।

सत्य—मनस् एवं वचन की एकरूपता सत्य है।[६] प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम के द्वारा कोई भी पदार्थ जिस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमित अथवा श्रुत हुआ हो, दूसरे को उसका उसी रूप में बोध कराना सत्य है। घुमा-फिरा कर दूसरे को वञ्चित करने अथवा सन्देह में डालने वाली वाणी सत्य नहीं है। सत्य के लक्षण—वाणी के यथार्थत्व—की सीमा में अप्रिय सत्य का समावेश नहीं होता है।

---

[१] शौचादिषु क्षुद्रजन्तुहिंसाया अपरिहार्यत्वात्—यो० वा० पृ० २४७।

[२] (क) अत एव योगिनां प्राणायामादिकं तत्पापक्षालनाय नित्यतया शास्त्रे विहितम्—यो० वा० पृ० २४७।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३०४।

[३] उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते—व्या० भा० पृ० २४७-२४८।

[४] स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपाम् अहिंसां करोति—पंचशिखाचार्य का वचन, व्या० भा० पृ० २४८।

[५] यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपि धीयते॥ मो० ध० २४५।१८-१९।

[६] सत्यं=यथार्थे वाङ्मनसे—व्या० भा० पृ० २४८।

अस्तेय—अहिंसा एवं सत्यनिष्ठ साधक ही अस्तेय का अभ्यास कर सकता है। अतः यमाङ्गों में अस्तेय का तृतीय स्थान है। 'अस्तेय' पद स्तेय के अभाव का द्योतक है। अतः शास्त्रीय नियम के अनुलंघनपूर्वक परद्रव्य का हरण न करना अस्तेय है।[१] किसी भी प्रकार का कायिक अथवा वाचिक कर्म करने से पूर्व व्यक्ति उसके विषय में सोचता है; तदनन्तर कर्म में प्रवृत्त होता है। इसलिए वाचस्पति मिश्र आदि व्याख्याकारों के मत में दूसरों के पदार्थ-ग्रहण की अनिच्छा अस्तेय है।[२]

ब्रह्मचर्य—किसी भी प्रकार काम-विकार उद्दीप्त न होना ब्रह्मचर्य है। समस्त इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने से ही ब्रह्मचर्य का पूर्णतः पालन हो सकता है। आचार्यों ने इन्द्रियों में उपस्थ को सबसे अधिक कामोत्तेजक माना है। मादक शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध आदि विषयों के ग्रहण द्वारा श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ काम-वासना को उद्दीप्त करने में सहायता पहुँचाती हैं। अहिंसादि व्रतों के द्वारा कामोद्भावन की सहायकभूत श्रोत्रादि इन्द्रियों को संयमित करने के पश्चात् उपस्थेन्द्रिय पर नियन्त्रण किया जा सकता है। अतः अहिंसादि व्रतों द्वारा मनस्, श्रोत्र आदि इन्द्रियों पर संयम करने का उपदेश दिया जाने के पश्चात् **व्यासदेव** ने उपस्थेन्द्रिय के संयम को ब्रह्मचर्य कहा है।[३] उनका लक्ष्य ब्रह्मचर्य व्रत को उपस्थेन्द्रिय के निग्रहपर्यन्त सीमित करना नहीं था। अन्यथा **दक्षमुनि** द्वारा कथित ब्रह्मचर्य के लक्षण—आठ प्रकार के मैथुनों का त्याग ब्रह्मचर्य है'—के साथ **व्यासदेवकृत** ब्रह्मचर्य के लक्षण की एकवाक्यता नहीं हो पाती। इसीलिए भाष्य के व्याख्याकार **वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु** आदियों ने **व्यासदेवकृत** ब्रह्मचर्य के लक्षण में प्रयुक्त **'उपस्थ'** पद को समस्त इन्द्रियों का उपलक्षक मानकर इन्द्रियों के काम-दमन को ब्रह्मचर्य कहा है।[५]

ब्रह्मचर्य का अर्थ आजन्म कुंवारा रहना नहीं है। अतः ब्रह्मचर्य की शिक्षा व्यक्तियों को गृहस्थाश्रम में प्रवेश लेने में बाधा नहीं पहुँचाती है। अपितु ईश्वरोक्त वाणी—**'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय'**—के अनुसार अनासक्त एवं निष्कामभाव से सृजन-कार्य करने वाले गृहस्थी भी ब्रह्मचर्यनिष्ठ कहे जाते हैं और ब्रह्मचर्य-पालन का स्वांग रचने वाले व्रत

---

१ स्तेयं=अशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्; तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति—व्या० भा० पृ० २५०।

२ मानसव्यापारपूर्वकत्वाद्वाचनिककायिकव्यापारयोः प्राधान्यान्मनोव्यापार उक्तः—त० वै० पृ० २५०।

३ ब्रह्मचर्यम्=गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः—व्या० भा० पृ० २५०।

४ ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधालक्षणं पृथक्।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥—द० स्मृ० ७।३१-३२।

५ (क) संयम इत्यत्रोपसर्गेणान्येन्द्रियसाहित्यमुपस्थस्य ग्राह्यम्; तेनोपस्थस्य विषये सर्वेन्द्रियव्यापारोपरम इति लक्षणम्—यो० वा० पृ० २५०।

(ख) तु०—त० वै० पृ० २५०।

के भंजक समझे जाते हैं। अतः शास्त्रानुकूल विधि से सभी इन्द्रियों के निरोधपूर्वक वीर्य का भी निरोध करना ब्रह्मचर्य है।

अपरिग्रह—विषय-ग्रहण में अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग एवं हिंसादि दोषों के दर्शन द्वारा आवश्यकता से अधिक मात्रा में विषयों का संग्रह करने की प्रवृत्ति को रोकना अपरिग्रह है।[१] यद्यपि अस्तेय एवं अपरिग्रह—इन दोनों व्रतों में विषय-ग्रहण की निन्दा की गई है तथापि अन्यायपूर्वक या चोरी से किसी के धन का अपहरण न करना अस्तेय है। अपरिग्रह में आवश्यकता से अधिक मात्रा में द्रव्यों के संग्रह का निषेध किया गया है। वस्तुतः अपरिग्रह-व्रत भोगवैतृष्ण्यप्रधान है। इससे विषयों के प्रति वैराग्यबुद्धि जाग्रत् होती है।

महाव्रत के रूप में अहिंसादि व्रतों की परिपूर्णता—अहिंसा आदि व्रतों का पालन स्थान, काल, प्राणी तथा प्रयोजन सापेक्ष नहीं, अपितु सार्वत्रिक एवं सार्वकालिक होना चाहिए। किसी काल एवं देशविशेष में किसी विशेष प्रयोजन से प्राणिविशेष की हिंसादि न करना वास्तविक (सार्वभौम) अहिंसा-व्रत नहीं है। मत्स्यभोजी संकल्प करे—'एकमात्र मत्स्य को छोड़कर (वह भी एकादशी पूर्णिमा आदि पवित्र काल तथा तीर्थादि पवित्र स्थानों में नहीं) अन्य किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करूँगा'। इस प्रकार का अहिंसा-व्रत जाति, देश तथा काल से सीमित होने के कारण अनवच्छिन्न महाव्रत नहीं कहा जा सकता है। यदि ब्राह्मण अथवा देवता आदि के प्रयोजनार्थ वह उपर्युक्त व्रत भी त्याग देता है तो उसका अहिंसाव्रत समयावच्छिन्न माना जाता है। इसी प्रकार—'विवाह के प्रसङ्गों में मिथ्याभाषण करूँगा, अन्यत्र नहीं'—यह परिच्छिन्न सत्य है। 'दुर्भिक्ष के बिना चोरी नहीं करूँगा'—यह परिच्छिन्न अस्तेय है; 'ऋतुकाल को छोड़कर अन्य किसी समय स्त्रीगमन नहीं करूँगा'—यह परिच्छिन्न ब्रह्मचर्य है; तथा 'वृद्ध माता-पिता के पोषणार्थ विषयों का जैसे-तैसे परिग्रह करूँगा'—यह परिच्छिन्न अपरिग्रह है। अहिंसादि व्रत इस प्रकार जात्यादि की सीमा से अवच्छिन्न नहीं होने चाहिए[२]; क्योंकि परिच्छिन्न व्रत चरम लक्ष्य-प्राप्ति में बाधास्वरूप होते हैं। अभ्यासपूर्वक उनको महाव्रत की स्थिति में पहुँचाकर ही साधक योग-प्राप्ति के प्रथम सोपान यम का विजेता कहलाता है।

नियम—**नियमयन्ति प्रेरयन्तीति नियमाः**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार नियम प्रवृत्तिमूलक होता है।[३] प्रवृत्तिमूलक होने के कारण ही उसमें निवृत्तिपरक यम में कथित सार्वभौमता नहीं है। यम की भाँति नियम भी पाँच प्रकार का है—शौच, सन्तोष, तपस्, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान।[४]

शौच—शौच के दो अवान्तर भेद हैं—बाह्य-शौच तथा आभ्यन्तर-शौच।[५] बाह्य-शौच आभ्यन्तर-शौच का साधन है। शौच का वर्गीकरण इसी आधार पर किया गया है।

---

१ विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः—व्या० भा० पृ० २५०।

२ जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्—यो० सू० २।३१।

३ नियमयन्ति प्रेरयन्तीति नियमः—यो० सु० पृ० ४३।

४ शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः - यो० सू० २।३२।

५ (क) शौचं द्विविधम्—बाह्यमाभ्यन्तरञ्च—रा० मा० पृ० ३१।
(ख) मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथाऽन्तरम्—पा० र० पृ० २५२।

बाह्य-शौच—शास्त्रविहित आहार एवं आवास की शुद्धि बाह्य-शौच है।[१] साधक की साधना-भूमि मिट्टी, गोबर आदि से लिपी होनी चाहिए। गोबर में कृमिनाशक शक्ति निहित है। अन्यथा वे अपरिदृष्ट कृमि हवा के माध्यम से नासिका एवं कर्णादि छिद्रों द्वारा शरीर के भीतर प्रविष्ट होकर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। गोबर से स्थान के लीपने का उद्देश्य सुवासित पदार्थों के वितरण (छिड़कने) से पूर्ण नहीं हो पाता है। इसी प्रकार खाने के पात्र एवं वस्त्रादि की स्वच्छता भी मृत्तिकासाध्य कही गई है। आचार्य **व्यासदेव** ने **मृज्जलादिजनितम्**—इस वाक्यांश द्वारा उपर्युक्त आशय की ओर संकेत किया है। **वाचस्पति** आदि ने **व्यासदेव** के उक्त वाक्य में प्रयुक्त **'आदि'** शब्द का 'गोमयादि[२]' अर्थ करके उपर्युक्त विचार को स्पष्ट किया है। **मेध्याभ्यवहरणादिजनितम्**—यह वाक्यांश आहार-शुद्धि का प्रतीक है। वाक्यांश का अर्थ है—मेध्याभ्यवहरणादि से जायमान शुचिता। लेकिन कार्यकारण में अभेद होने से यहाँ कारण ही कार्य रूप माना गया है।[३] **'मेध्य'** पद का अर्थ पवित्र होता है। यहाँ पवित्र का आशय पदार्थगत बाह्य स्वच्छता से नहीं है; अपितु ऐसे पदार्थ जिनके भक्षण से सात्त्विकभाव का परिपाक होता है वे मेध्य कहे गए हैं। आचार्य **वाचस्पति मिश्र** एवं **विज्ञानभिक्षु** ने मेध्य पदार्थों में गोमूत्र, यव, यवागू आदि गिनाएँ हैं।[४] **नागेश भट्ट** एवं **भावागणेश** ने मेध्य पदार्थों का संकेत **'पंचगव्यादि'**—पद से किया है।[५] सात्त्विक आहार द्वारा मनस् अपेक्षाकृत एकाग्र रहता है। तामस् भावनाएँ उत्पन्न होकर निरामिष को उद्विग्न नहीं करती हैं। इसके विपरीत उत्तेजक पदार्थ सुरा, माँसादि के सेवन से व्यक्ति के चित्त में कलुषित भाव उपजते हैं। ये योग के शत्रु हैं। इसलिए चरकसंहिता में मादक द्रव्य-भोजी की श्रेयोमार्ग से प्रच्युति कही गई है।[६] अतः शारीरिक शुचिता के लिए मेध्य पदार्थ ही भक्षणीय हैं। ये भक्ष्य पदार्थ भी सीमित मात्रा में सेव्य हैं। आवश्यकता से अधिक उदरपूर्ति होने पर योग-साधना में बाधा पहुँचती है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भाष्य की **मेध्याभ्यवहरणादिजनितम्**—पंक्ति में आए **'आदि'** पद को सीमित-परिमाण के आहार का द्योतक माना है।[७] योगाभ्यासी को निश्चित

---

[१] तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्—व्या० भा० पृ० २५२।

[२] आदिशब्देन गोमयादयो गृह्यन्ते—त० वै० पृ० २५२।

[३] मेध्याभ्यवहरणादिजनितमिति वक्तव्ये मेध्याभ्यवहरणादि चेत्युक्तम्, कार्ये कारणोपचारात्—त० वै० पृ० २५२-२५३।

[४] (क) गोमूत्रयावकादि मेध्यम्—त० वै० पृ० २५२।
(ख) मेध्यं गोमूत्रयवाग्वादि—यो० वा० पृ० २५२।

[५] (क) पञ्चगव्यादिभोजनेन च—भा० ग० वृ० पृ० ५२।
(ख) तु०—ना० ल० वृ० पृ० ५२।

[६] प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्षे च यत् परम्।
मनःसमाधौ तत् सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम्॥
मद्येन मनसश्चास्य संक्षोभः क्रियते महान्।
सुखमित्यधिगच्छन्ति रजोमोहपराजिताः॥—च० सं० II २४।५३-५४।

[७] आदिशब्दाद् ग्रासपरिमाणसंख्यानियमादयो ग्राह्याः—त० वै० पृ० २५२।

संख्यक ग्रासपरिमाणविशिष्ट भोजन करना चाहिए। तत्त्ववैशारदी के टिप्पणीकार **बालरामोदासीन** ने एक ग्रास का परिमाण कुक्कुट के अण्ड के बराबर बतलाया है। इस प्रकार के परिमित आठ ग्रास साधक के लिए विहित हैं।[१] आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने **'आदि'** पद को उपवासादि का वाचक माना है।[२] आचार्य **हरिहरानन्द आरण्यक** उसे अमेध्य पदार्थों का निवृत्तिपरक भी बतलाते हैं।[३] इस प्रकार बाह्य-शौच का विधिवत् पालन करने से कान्तियुक्त देह का निर्माण होता है। फलस्वरूप साधक आभ्यन्तर-शौच का अभ्यास करने में समर्थ होता है।

आभ्यन्तर-शौच—शरीर-प्रधान बाह्य-शौच से भिन्न आभ्यन्तर-शौच मनःप्रधान है। इसमें चित्तनिष्ठ कलुषित वृत्तियाँ निरुद्ध करते हुए उदात्त वृत्तियों को सर्वदा एवं सर्वथा स्फुरित रखने का प्रयास किया जाता है।[४] अन्यथा कलुषित वृत्तियों से विक्षिप्त (चलायमान) हुआ चित्त सन्तोष, तपस्, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान आदि क्रियाओं के साधने में समर्थ नहीं होता है। राग, ईर्ष्या, परापकारचिकीर्षा, असूया, द्वेष तथा अमर्ष ये छः चित्त के मल (कालुष्य) हैं। प्रथम पाद के तैंतीसवें सूत्र में मैत्र्यादि उपाय प्रतिपादित हुए हैं।[५] इस प्रकार चित्त-कालुष्य के प्रक्षालनपूर्वक आभ्यन्तर-शौच चित्त की स्थिरता का हेतु है।

सन्तोष—सन्तोष का फल तृष्णाक्षय है।[६] यह तृष्णाक्षय भौतिकपदार्थविषयक है; आध्यात्मिक पदार्थविषयक नहीं। इससे मुमुक्षु की मोक्षेच्छा प्रतिबद्ध नहीं होती है। अपितु जीवन-निर्वाहार्थ अत्यन्त उपयोगी पदार्थों के अतिरिक्त भौतिक पदार्थों के प्रति वैतृष्ण्य-बुद्धि जाग्रत् कराके यह मुमुक्षु की मोक्षेच्छा को बलवती बनाता है। बलवती इच्छा पौरुष-प्रधान होती है। अतः आलस्य एवं अशक्तता सन्तोष नहीं है।

यद्यपि अपरिग्रह एवं सन्तोषजनित सिद्धियाँ भिन्न-भिन्न कही गई हैं तथापि साधक में विषयवैतृष्ण्य जाग्रत कराना दोनों का मुख्य लक्ष्य है।

सन्तोष का अभ्यास आभ्यन्तर शौच के पश्चात् ही हो सकता है। जब तक दूसरों के सुख वैभव को देखकर सहज उत्पन्न होने वाली द्वेष आदि वृत्तियाँ आभ्यन्तर-शौच के द्वारा नष्ट नहीं हो जाती, तब तक साधक अपनी वर्तमान परिस्थिति से सन्तुष्ट रहते हुए योग-साधना नहीं कर सकता है। इसलिए शौच के पश्चात् सन्तोष व्रत का उपदेश दिया गया है।

---

१ कुक्कुटाण्डप्रमाणाऽष्टग्रासादिनियमः—योगदर्शनम्, बालरामोदासीनकृत टिप्पणी पृ० १७६।

२ आदिशब्दादुपवासादयो ग्राह्याः—यो० वा० पृ० २५२।

३ आदिशब्देनामेध्यसंसर्गविवर्जनमपि ग्राह्यम्—भा० पृ० २५२।

४ आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्—व्या० भा० पृ० २५२।

५ चित्तस्य मला रागद्वेषादयस्तेषां मैत्र्यादिना प्रक्षालनं प्रसाद इति प्रागुक्तम्—यो० वा० पृ० २५२।

६ सन्तोषः=सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा—व्या० भा० पृ० २५२।

तपस्, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान—नियम के अन्तिम तपसादि तीन भेद द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र में 'क्रियायोग' शब्द से परिभाषित हैं। क्रियायोग का वर्णन हो चुका है।

प्रथम पाद एवं द्वितीयपाद वर्णित ईश्वर-प्रणिधान में अन्तर—यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है—जिस प्रकार क्रियायोग में परिगणित ईश्वर-प्रणिधान एवं नियमान्तर्वर्ती ईश्वरप्रणिधान एक हैं, क्या उसी प्रकार प्रथम पाद में प्रतिपादित ईश्वर-प्रणिधान भी वही हैं अथवा उससे भिन्न हैं?

प्रथम एवं द्वितीय पाद में वर्णित ईश्वर-प्रणिधान के सूक्ष्म भेद को आचार्य **विज्ञान-भिक्षु** की दृष्टि देख पाई। उनका कहना है[१]—समाधिपाद का ईश्वर-प्रणिधान, साधनपाद के ईश्वर-प्रणिधान से भिन्न हैं। प्रथम पाद में वर्णित ईश्वर-प्रणिधान ध्यान-योग-प्रधान है तथा द्वितीय पाद में वर्णित ईश्वर-प्रणिधान कर्मयोग-प्रधान है। नियमान्तर्वर्ती ईश्वर-प्रणिधान का मुख्य विषय ईश्वर तत्त्व नहीं है क्योंकि उसमें ईश्वर का चिन्तन करना अभिप्रेत नहीं। वहाँ ईश्वर को लक्ष्य करके कर्मफलत्याग की वास्तविक भावना जाग्रत् करने का अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार का अभ्यास केवल ईश्वर को उद्देश्य करके किया जाने के कारण 'ईश्वर-प्रणिधान' शब्द से कहा गया है। यदि नियमान्तर्वर्त्ती ईश्वर-प्रणिधान प्रथम पाद के **तज्जपस्तदर्थभावनम्**—इस सूत्र द्वारा बोधित चिन्तन-प्रधान माना जाय तो चिन्तन के ध्यान रूप होने से नियमान्तर्वर्ती ईश्वर-प्रणिधान अन्तरङ्ग-साधन कहलाने लगेगा। लेकिन यह उचित नहीं है। क्योंकि **पतञ्जलि** ने नियमान्तवर्ती ईश्वर-प्रणिधान, नियम के अन्य चार प्रभेद, यम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार को बहिरङ्ग साधन कहा है। धारणा-ध्यान-समाधि ही अन्तरङ्ग साधन हैं। यम, नियम का तुरन्त अभ्यास प्रारम्भ किए व्युत्थितचित्तविशिष्ट अभ्यासी में ध्यान की शक्ति भी नहीं रहती है। यम, नियम के अग्रिम सोपान—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार तथा धारणा के विजित होने पर एकाग्रता प्राप्त उसका चित्त ध्यान के योग्य बन पाता है। इसके पश्चात् वह प्रथम पाद में उपदिष्ट ईश्वर-प्रणिधान का अभ्यास कर पाता है। समाहितचित्तविशिष्ट उत्तम साधक भी पूर्वजन्म में की गई बहिरङ्गीय-योग-साधना के बल पर ही वर्तमान जन्म में प्रथमपादवर्णित ईश्वर-प्रणिधान करता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कोटि के अधिकारियों के साधना-क्रम में अन्तर होने से दोनों ईश्वरप्रणिधान का अन्तर स्पष्ट है।

वितर्कों के दमन में पूर्ण जागरूकता—साधक सर्वदा पूर्ण मनोयोग से श्रद्धापूर्वक योगाभ्यास नहीं कर पाता है। समय-समय पर उसे योग कष्टसाध्य, तुच्छ, अनावश्यक एवं व्यावहारिक जीवन से परे की वस्तु प्रतीत होती है। तथा सामाजिक दुर्व्यवहारों से प्रतिहत हुआ उसका क्रोधी मनस् अहिंसा, सत्यादि का पालन करने से विमुख हो जाता है और उसे—मैं अपने अपकारी की हिंसा करूँगा, असत्य का आचरण करूँगा, उसके द्रव्य का अपहरण करूँगा, उसकी स्त्री के साथ व्यभिचार करूँगा—इत्यादि कलुषित वृत्तियाँ आक्रान्त करती हैं। अधः-पतन के ऐसे क्षणों में अभ्यासी को जागरूक प्रहरी के समान उपर्युक्त मानस शत्रुओं का प्रतिपक्ष

---

[१] तज्जपस्तदर्थभावनमितिप्रथमपादोक्तप्रणिधानव्यावृत्त्यर्थं····· न त्वीश्वरतत्त्वम् —यो० वा० पृ० २५३।

चिन्तन के द्वारा दमन करना होता है।[१] अन्यथा अत्यल्प असावधानी से उसका सम्पूर्ण परिश्रम (योगाभ्यास) निष्फल हो जाता है। प्रतिपक्ष-चिन्तन का अर्थ है—हिंसादि में प्रबल अनिष्टों का भूयो-भूयः दर्शन करना अर्थात् उनकी दुःखोत्पादकता का ध्यान करके उस मार्ग पर अग्रसर न होना। इस प्रकार हिंसा–अहिंसा, सत्य-असत्य आदि विरोधी वृत्तियों के द्वन्द्वयुद्ध के समय साधक को प्रतिपक्ष-चिन्तन के द्वारा अपने को विपथगामी होने से बचाना पड़ता है।

वितर्कों का स्वरूप—वितर्कों के दमनार्थ साधक को सचेत किया गया, अब वितर्कों का स्वरूपज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा अभ्यासी उपर्युक्त उपदेश के अनुसार स्वयं हिंसादि की ओर प्रवृत्त न होकर भी दूसरों को हिंसादि करने की प्रेरणा देने तथा दूसरों द्वारा किए हिंसादि कार्यों का अनुमोदन करने की त्रुटि कर सकता है।

हिंसादि वितर्कों की तीन श्रेणियाँ हैं—कृत, कारित तथा अनुमोदित। जैसे स्वकृत हिंसादि (वितर्क) गर्हित हैं, वैसे ही दूसरों को हिंसादि का आदेश देना (ऐसा करो) अथवा हिंसकों के हिंसादि कृत्यों को सुनकर प्रसन्न होना तथा उनका समर्थन करना (तुमने बिल्कुल ठीक किया, उसके साथ ऐसा ही व्यवहार होना चाहिए था इत्यादि) भी जघन्य होने से हिंसारूप है। इसी प्रकार असत्य, स्तेय आदि वितर्क तीन-तीन प्रकार के हैं।

वितर्कों की संख्या[२]—उक्त तीन प्रकार के हिंसादि वितर्क—उनके हेतु, गति एवं परिमाण के आधार पर—दो सौ तैंतालिस प्रकार के हैं। यह इस प्रकार है—कृत, कारित एवं अनुमोदित हिंसाएँ, लोभ, क्रोध एवं मोह के कारण की जाने से तीन-तीन प्रकार की हैं। इस तरह प्रकार (स्वरूप) एवं हेतु-भेद से नौ प्रकार की हिंसाएँ हुईं। कोई भी क्रिया सर्वदा समान वेग (गति) से नहीं की जाती है। ये नौ प्रकार की हिंसाएँ तीन प्रकार की गति (वेग)—मृदु, मध्य एवं अधिमात्र—भेद से सत्ताईस प्रकार की होती हैं। इन तीन प्रकार की गतियों के तीन और अवान्तर भेद—मृदु, मध्य तीव्र—होने से सत्ताईस प्रकार की हिंसा के पुनः इक्यासी भेद होते हैं। इस तरह प्रकार, हेतु एवं गति भेद से हिंसा इक्यासी प्रकार की हुई। हिंसा पुनः नियम, विकल्प एवं समुच्चय-भेद से त्रिगुण (२४३) हो जाती है। व्याख्याकारों का कहना है कि हिसादि वितर्कों की यहाँ तक संख्या गणनीय है। वस्तुतः हिंसकों एवं हिंस्यों के अनन्त होने से हिंसादि वितर्क असंख्येय (अगणनीय) हैं। असत्य, स्तेय आदि वितर्कों में भी उपर्युक्त प्रकार की विभाग-प्रणाली संयोज्य है। 'नियम' आदि शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** लिखते हैं कि हिंसक का ऐसा संकल्प कि—'मत्स्य की ही हिंसा करूँगा'—नियमप्रधान है, 'स्थावर एवं जङ्गम में से स्थावर की हिंसा करूँगा'—विकल्पप्रधान है तथा 'स्थावर एवं जङ्गम दोनों की हिंसा करूँगा'—समुच्चयप्रधान है।

वितर्कों की संख्या के सम्बन्ध में शङ्का और उसका समाधान—हिंसादि वितर्कों की उपर्युक्त संख्या के सम्बन्ध में एक शङ्का उत्पन्न होती है कि पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट वितर्क

---

१ वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्—यो० सू० २।३३।

२ वितर्का हिंसाऽऽदयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्—यो० सू० २।३४।

के भेद-प्रतिपादक सूत्र[१] से हिंसादि वितर्कों के केवल सत्ताईस भेद प्रतीत होते हैं। अतः **व्यासदेव** एवं भाष्य के **वाचस्पति मिश्र** आदि व्याख्याकार किस आधार पर वितर्कों की संख्या दो सौ तैंतालिस बतलाते हैं ?

प्रथम एवं द्वितीय पाद के तत्सम्बन्धी सूत्रों से उक्त शङ्का का समाधान हो सकता है। यह इस प्रकार है—प्रथम पाद में उपायप्रत्यय वाले योगियों के लिए श्रद्धादि उपाय बतलाते हुए **पतञ्जलि** का वक्तव्य है—साधक जिस गति से श्रद्धादि उपायों का अनुष्ठान करता है उसी अनुपात से–विलम्ब अथवा अविलम्ब से–वह लक्ष्य प्राप्त करता है। उन्होंने तीव्रसंवेगवान् योगी के लिए समाधि आसन्नतम बतलाई है।[२] 'तीव्र' पद से उससे पूर्व की दो गतियाँ–मृदु एवं मध्य–भी आक्षेप-लभ्य हैं। इस प्रकार **पतञ्जलि** के अनुसार क्रियागति तीन प्रकार की है। तदनन्तर **मृदुमध्याऽधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः**[३]—इस अग्रिम सूत्र द्वारा **पतञ्जलि** ने तीव्रसंवेग की अत्यन्त तीव्रता बतलाने के लिए गति के तीन और अवान्तरभेद—मृदु, मध्य एवं अधिमात्र—किए हैं। उनके मत में अधिमात्रतीव्रसंवेगवान् योगी सर्वप्रथम समाधि प्राप्त करता है। इस प्रकार **पतञ्जलि** के अनुसार क्रियागति के छः भेद हैं। सभी प्रकार की शुभ तथा अशुभ क्रियाओं में गति के उक्त भेद चरितार्थ होते हैं। अतः हिंसादि वितर्क के प्रतिपादक सूत्र में क्रियागति के केवल तीन भेद उल्लिखित होने पर भी **व्यासदेव** ने पूर्वपाद के सूत्रों से उसके तीन और अवान्तर भेदों की अनुवृत्ति करके हिंसादि के इक्यासी भेद किए हैं। तत्पश्चात् नियम, विकल्प एवं समुच्चय के आधार पर हिंसादि वितर्कों के दो सौ तैंतालिस भेद किए हैं यह सूत्रानुसारी है। क्योंकि अहिंसादि व्रतों की सार्वभौमता के लिए **पतञ्जलि** ने जो जाति, देश, काल एवं नियम-संज्ञक चार तत्त्व उपन्यस्त किए हैं,[४] उनमें से जाति तत्त्व ही नियम, विकल्प एवं समुच्चयभेद से तीन प्रकार का है। उदाहरणस्वरूप 'मत्स्य की हिंसा करूँगा'—इस प्रकार का नियम जातिपरक है। 'स्थावर एवं जङ्गम में से स्थावर की हिंसा करूँगा—इस प्रकार की विकल्प-बुद्धि भी जातिपरक है तथा 'दोनों प्रकार के प्राणियों की हिंसा करूँगा'—इस प्रकार की समुच्चय-बुद्धि भी जातिपरक है। इस प्रकार **पतञ्जलि**-प्रोक्त जाति तत्त्व को ध्यान में रखकर **व्यासदेव** ने जाति के नियमादि तीन भेद किए हैं। एतावता हिंसादि वितर्कों की दो सौ तैंतालिस संख्या सूत्रकार द्वारा मान्य है।

इस प्रकार वितर्कों के स्वरूप की विस्तृत जानकारी रखकर जागरूक अभ्यासी उनसे सर्वदा दूर रहता है; आवश्यक और अत्यन्त तत्परता से यम-नियम में सिद्धि प्राप्त करके आगे के आसनादि सोपान जीतने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

आसन—यम-नियम का पालन चलते-फिरते, उठते-बैठते प्रत्येक क्षण किया जा सकता है। उन्हें साधने से पूर्व अभ्यासी के लिए आसन सोपान विजित रहना आवश्यक नहीं है।

---

[१] यो० सू० २।३४।

[२] **तीव्रसंवेगानामासन्नः**—यो० सू० १।२१।

[३] यो० सू० १।२२।

[४] **जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्**—यो० सू० २।३१।

लेकिन प्राणायाम आदि का अभ्यास आसन लगाकर किया जाने से अभ्यासी को पहले आसन-जयी होना आवश्यक है। इसलिए आसन का स्थान—यम, नियम के पश्चात् और प्राणायाम से पूर्व—तृतीय है। जिस अवस्था में शरीर स्थिरतापूर्वक अपेक्षित समय तक सुख से रह सके, उसे आसन कहते हैं।[1]

शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, हठयोगसंहिता, हठयोग-प्रदीपिका तथा योग-उपनिषदों में आसन का वर्णन उपलब्ध है। आसन की संख्या अगणनीय है। क्योंकि जितने प्रकार के जीव हैं, उनके बैठने की जितनी रीतियाँ हैं वे सभी आसन हैं।[2] इसलिए तत्-तत् ग्रन्थों में आसन की व्याख्या भी न्यूनाधिकरूप से प्राप्त है। योगसूत्र के व्याख्याग्रन्थों में एकमात्र योगसिद्धान्तचन्द्रिका में आसन का विशेष विवेचन उपलब्ध होता है। अन्य व्याख्याकारों ने दो-चार मुख्य आसन ही बतलाए हैं। **नारायणतीर्थ** के अनुसार आसनों का स्वरूप इस प्रकार है :—

पद्मासन—दोनों जँघाओं के ऊपर व्युत्क्रम से दोनों पैर रखकर दाएँ हाथ से बाएँ पैर का अँगूठा तथा बाएँ हाथ से दाएँ पैर का अँगूठा पकड़ने से पद्मासन सिद्ध होता है। यह आसन सभी लोगों द्वारा मान्य है।

अथवा दोनों चरणों को उत्तान करके जँघा पर यत्नपूर्वक दृढ़ता से रक्खे। इसी प्रकार दोनों हाथों को सीधा करके उसके मध्य में रखे। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि और दांत के मूल में जिह्वा स्थित करे। वक्ष अर्थात् हृदय पर ठोड़ी स्थापित करे तदनन्तर प्राण-वायु को खींचकर अर्थात् श्वास लेकर प्राण को शनैः शनैः धारण करे। इसी को पद्मासन कहते हैं।

सिद्धासन—गुदा और जननेन्द्रिय के मध्यभाग में स्थित सीवनी पर वाम पाँव की एड़ी (पार्ष्णि) लगाए। दूसरे दक्षिण पाद को जननेन्द्रिय के ऊपर दृढ़ता से रक्खे। चिबुक (ठोड़ी) को हृदय के समीप भली प्रकार स्थिर करके अर्थात् हनु और हृदय में चार अँगुल का अन्तर रखकर इन्द्रियों की विषयोन्मुखता को रोकता हुआ स्थाणुवत् निश्चल योगी अपनी निश्चल इन्द्रिय से भ्रुकुटी का मध्यभाग देखता रहे। इसी को सिद्धासन कहते हैं। यह मोक्ष का कपाट (आवरण, अवरोध) खोलकर साधक को मोक्ष के समीप ले जाता है। इसलिए योगिजन इस आकृतिविशेष (अङ्गविन्यास) को सिद्धासन कहते हैं।

प्रकारान्तर से सिद्धासन का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य **नारायणतीर्थ** लिखते हैं—बाएँ पैर के ऊपर अण्ड के नीचे वाली दक्षिण सूक्ष्म सीवनी रखे। उस सीवनी को दक्षिण पैर के उत्तर-गुल्फ से दबाए। जंघा और उसके बीच के हिस्से को अच्छी प्रकार छेदरहित करते हुए दृढ़ता से बैठे। अपनी ग्रीवा, सिर, स्कन्ध, पीठ और उदर सीधा रखे अर्थात् कूबड़ निकालकर न बैठे। उभय नेत्रों से दक्षिण गुल्फ देखता रहे अर्थात् उसमें अपनी दृष्टि केन्द्रित करे। इसे सिद्धासन कहते हैं। इस आसन से शीघ्र सिद्धियाँ

---

[1] स्थिरसुखमासनम्—यो० सू० २।४६।

[2] यावत्यो जीवजातयस्तावन्त्येवासनानि—यो० वा० पृ० २६७।

प्राप्त होती हैं। श्रुतिस्मृतियों में सिद्धासन को योगासन कहा गया है, क्योंकि इससे अल्प-प्रयास से योग सिद्ध होता है।

भद्रासन—वृषणों के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्वभाग में गुल्फ (पादग्रन्थी) रखे जिससे योगी वाम-गुल्फ को सीवनी के वामपार्श्व में और दक्षिण गुल्फ को दक्षिणपार्श्व में स्थित कर सके। सीवनी के पार्श्व भागों में गए पादों को भुजाओं से दृढ़तापूर्वक पकड़कर स्थिर (निश्चल) रहे। ऐसा करने पर भद्रासन सिद्ध होता है। इससे शरीर-वर्ती समस्त व्याधियाँ (रोग) नष्ट हो जाती हैं।

वीरासन—एक चरण को वाम-जँघा पर और दूसरे चरण को दक्षिण जँघा पर रखने से वीरासन सिद्ध होता है।

स्वस्तिकासन—जानु (घुटना) और जँघाओं के बीच चरणतल को (पैरों के दोनों तलुओं को) अच्छी प्रकार लगाकर सावधानीपूर्वक बैठने से स्वस्तिकासन सिद्ध होता है।

प्रकारान्तर से स्वस्तिकासन का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य **नारायणतीर्थ** लिखते हैं—सीवनी के बगल (पार्श्व) में पैरों के गुल्फों को स्थित कर बाएँ पार्श्व पर दक्षिण गुल्फ रखे और दक्षिण पार्श्व पर उत्तर गुल्फ रखे। इसे स्वस्तिकासन कहते हैं। यह समस्त पापों का नाशक होता है।

सिंहासन—वृषणों (अण्डकोष) से नीचे सीवनी नाड़ी के दोनों पार्श्वभागों पर गुल्फ लगाए अर्थात् दक्षिण पार्श्व पर वाम गुल्फ और वाम पार्श्व पर दक्षिण गुल्फ लगाए। जानुओं के ऊपर दोनों हाथों के तलों को भली प्रकार लगाए। हाथों की अँगुलियों को भली प्रकार विस्तृत कर (फैलाकर) चंचल जिह्वा वाले मुख को खोलकर स्थिरचित्तवान् साधक अपनी नासिका का अग्र भाग देखे। इसे सिंहासन कहते हैं। यह योगिवृन्द में विशेषकर पूज्य है।

दण्डासन—अच्छी प्रकार मिलाकर और सम्यक् रीति से फैलाए हुए पादों को पृथ्वी पर दृढ़तापूर्वक रखे और अपने शरीर को आधा करके अर्थात् मोड़कर बैठे। इसे दण्डासन कहते हैं।

सोपाश्रयासन—दोनों पैर मोड़कर ऊपर-नीचे के दोनों तरफ से लपेटे हुए योगपट्ट पर मुट्ठी बाँधकर अपने हाथ को रखे। इसे सोपाश्रयासन कहते हैं। यह सभी विद्वानों को मान्य है।

पर्यङ्कासन—घुटनों तक दोनों हाथ फैलाकर अर्थात् उन्हें बिल्कुल सीधा करके और जमीन पर पीठ लगाकर शयन करने को पर्यङ्कासन कहते हैं।

मयूरासन—साधक भूमि पर दोनों हाथों के पंजे दृढ़ता से टेककर नाभिस्थान के दोनों पार्श्व में दोनों हाथों की कोहनियाँ स्थापित करे। तदनन्तर पैरों को पीछे और सिर को आगे ऊपर की ओर बढ़ाकर शरीर को दण्ड के समान खाली स्थान पर सन्तुलित करे। इसे मयूरासन कहते हैं। यह समस्त पापों का नाशक है। इससे शरीरान्तर्वती सभी रोग एवं विष नष्ट हो जाते हैं।

कुक्कुटासन— साधक पद्मासन लगाकर अर्थात् जँघाओं के ऊपर दोनों चरण स्थापित करके जानु (घुटना) और जँघाओं के मध्य भाग से दोनों हाथ कोहनियों तक बाहर निकाले। तदनन्तर वे दोनों हाथ भूमि पर टिकाकर उनके माध्यम से आकाश में स्थित रहे। इसे कुक्कुटासन कहते हैं। इसमें मुर्गे के समान शरीरावयवों की आकृति बनती है।

उत्तानकुक्कुटासन—कुक्कुटासन के बन्धन में स्थित होकर अर्थात् कुक्कुटासन लगाकर दोनों भुजाओं से कन्धों को भली-प्रकार पकड़कर साधक कच्छप के समान सीधा हो जाए। इसे उत्तानकुक्कुटासन या उत्तानकूर्मासन कहते हैं।

पश्चिमोत्तानासन—जिनका रूप दण्ड के समान है और जिनके गुल्फ मिले हुए हैं ऐसे दोनों चरण भूमि पर फैलाकर हाथों से पैरों का अग्रभाग इस प्रकार ग्रहण करे (पकड़े) कि जानुओं का अधोभाग भूमि से ऊपर न उठने पाए। तदनन्तर जानुओं के ऊपर ललाट रखकर साधक स्थिर रहे। इसे विद्वानों ने पश्चिमोत्तानासन कहा है।

मत्स्येन्द्रपीठासन—वाम जँघा के मूल में दक्षिण पाद रखे। जानु से बाहर वाम पाद को हाथ से लपेटकर पकड़े और परिर्वातित अंग होकर अर्थात् वाम भाग से पीठ की तरफ मुख करके जिस आकृति से स्थिर होना पड़ता है उसे मत्स्येन्द्रपीठासन कहते हैं।

मत्स्येन्द्रपीठासन से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यह प्रचण्ड रोगसमूह के नाश के लिए शस्त्र के समान है। इसके अभ्यास से (मूलाधारचक्र में प्रसुप्त) कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत् होती है और तालु के ऊपर के भाग पर स्थित क्षरणशील चन्द्र स्थिर होता है। हठयोग-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य **मत्स्येन्द्रनाथ** इस आसन के प्रवर्तक हैं। अतः उक्त प्रकार का यह देह-विन्यास मत्स्येन्द्रपीठासन नाम से प्रसिद्ध है।

चक्रासन—शवासन लगाकर अर्थात् शवासन के रूप में सीधे लेटकर दोनों पैरों को मस्तक की ओर ले जाए। विपरीत रूप से अर्थात् पैरों को सीधा करके पुनः मस्तक की ओर ले जाए। इस प्रकार शीघ्रतापूर्वक करने से चक्रासन सिद्ध होता है। यह चक्रासन गुल्म, प्लीहा और वातरोग आदि का नाशक होता है।

गोमुखासन—कटि के वामभाग में दाहिने पैर का दाहिना गुल्फ (एड़ी) लगाकर गोमुख के समान आकार बनाया जाता है। इसे गोमुखासन कहते हैं।

कूर्मासन—दोनों गुल्फों से गुदा को विपरीत क्रम से अर्थात् पैर के दक्षिण गुल्फ से गुदा के वाम भाग को और वाम गुल्फ से गुदा के दक्षिण भाग को दबाकर बैठना कूर्मासन है।

धनुरासन—दोनों पैरों के अँगूठे हाथों से पकड़कर कानपर्यन्त धनुष के समान आकर्षण करे अर्थात् खींचे। इसे धनुरासन कहते हैं। स्पष्ट शब्दों में यह इस प्रकार है— सर्वप्रथम दोनों टांगों को सामने सीधा फैलाकर बैठे। तदनन्तर बाएँ-हाथ से दक्षिण (दाएँ)— पैर का अंगूठा दृढ़ता से पकड़े। अब वामपर्यन्त को दाएँ घुटने पर रखकर दक्षिण हाथ से बाएँ पैर का अँगूठा पकड़कर दक्षिण कानपर्यन्त खींचे। इस प्रकार धनुष पर बाण रखकर खींचने के समान शरीर की आकृति बन जाती है, जिसे धनुरासन कहते हैं।

मृगस्वस्तिकासन––आसन पर स्थित योगी स्थिति-योग्य भूतल पर अपने दोनों पैरों को रखकर दक्षिण को वाम भाग में और वाम को दक्षिण भाग में करके मृगशीर्षस्थ शृङ्ग की भाँति दोनों हाथों को अन्योन्याभिमुख करे। योग की सिद्धि का हेतुभूत यही मृगस्वस्तिकासन कहा जाता है।

अर्धचन्द्रासन––बाएँ पैर के तलवे और दाहिने पैर के घुटने के बल पर स्थित (खड़े) होकर साधक दोनों हाथों को जोड़े। इसे अर्द्धचन्द्रासन कहते हैं।

अञ्जलिकासन––दोनों पैरों के घुटनों के बल पर स्थिर होकर हृदय के समीप हाथों को लाकर जोड़े। यही योगी द्वारा अञ्जलिकासन समझा जाता है।

पीठासन—आसन पर स्थिर होकर दोनों पैरों को समानरूप से पृथ्वी पर रखे और दोनों घुटनों पर हाथ की हथेलियाँ रखे। इसे पीठासन कहते हैं।

वज्रासन—सव्यगुल्फ से गुदा को पीड़ित करे। दाहिने गुल्फ से सन्धि को दबाएँ। बाईं हथेली पर दूसरा हाथ रखे और अग्नि की शिखा का ध्यान करे। इसे वज्रासन कहते हैं। विद्वान् लोग वज्रासन को गुप्तासन भी कहते हैं।

मुक्तासन—जननेन्द्रिय के ऊपर के भाग में वामगुल्फ को रखकर और सव्य (वाम) पाद के ऊपर दक्षिण गुल्फ को रखकर बैठे। इसे मुक्तासन कहते हैं।

ये दोनों वज्रासन और मुक्तासन सिद्धासन के ही अवान्तर-भेद कहे जाते हैं।

चन्द्रार्द्धासन—पद्मासन के समान दोनों पैरों को मोड़कर पैर के तलवों को एक दूसरे पर अच्छी प्रकार रखे। इसी को चन्द्रार्द्धासन कहते हैं। यह योग का उत्तम साधन है।

प्रसारितासन—पद्मासन के अनुसार दोनों पैरों को करके मुख उनकी ओर झुका दे और पीछे स्थित तकिये पर दोनों हाथों को प्रसारित करे। इस प्रकार का प्रसारितासन योग प्रदान करने वाला है।

शवासन—भूमि पर शव के समान सीधे लेटने को शवासन कहते हैं। यह शवासन परिश्रम हरता है और चित्त को स्थिर रखने में सहायक होता है।

प्रकारान्तर से शवासन इस प्रकार कहा जाता है—साधक सर्वप्रथम पीठ के बल सीधा लेटकर शरीर को श्वास से पूर्णतया भरकर उसे कड़ा बना ले। जिससे दण्ड के समान शरीर इस भाँति कठोर हो जाए कि सिर को अथवा पैर को पकड़कर खड़ा करने पर भी वह कहीं से भी मुड़े नहीं। इसे शवासन कहते हैं।

कपालासन––सर्वप्रथम भूमि पर मस्तक लगाए। तदनन्तर हाथों की दोनों कोह-नियाँ भूमि पर लगाए। दोनों पैरों को दण्ड के समान आकाश में स्थित करे। इसे कपालासन कहते हैं।

गरुडासन—गरुड के समान शरीर की स्थिति (आकृति) होना गरुडासन है। हठयोग के अन्य ग्रन्थों में गरुडासन का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—सर्वप्रथम सीधे खड़े होकर वाम पाद को सीधा रखते हुए दक्षिण पैर को लपेटे। तदनन्तर दोनों भुजाओं को परस्पर लपेट कर दोनों हाथों की अँगुलियाँ परस्पर मिलाए अथवा बाँधे। एक पैर

पर खड़े रहकर मणिबन्धों (कलाइयों) को नासाग्र पर रखकर गरुड की चञ्चु के समान आकार बनाकर यथाशक्ति खड़ा रहे। यही गरुडासन कहलाता है।

अर्द्धासन—एक पैर को दूसरे पैर के उरु पर रखकर बैठे। इसी को अर्द्धासन कहते हैं। यह योग-प्राप्ति का उत्तम साधन है।

कमलासन---(बैठकर फैलाई हुई दोनों टाँगों में से) दक्षिण टाँग मोड़कर उसी पैर की एड़ी बाईं जँघा के मूल पर दृढ़ता से जमाए। फिर बाईं टाँग को मोड़कर बाएँ पैर के दाएँ घुटने के ऊपर स्थापित करे। इसे कमलासन कहते हैं। यह अत्युत्तम है। इसका पद्मासन से यही भेद है कि इसमें हाथ से पैरों के अँगूठे नहीं पकड़ने पड़ते।

क्रौञ्चासन—जिसमें क्रौञ्च-पक्षी के समान शरीर की आकृति बनाई जाती है, उसे क्रौञ्चासन कहते हैं।

क्रौञ्चासन साधने का प्रकार यह है—सीधे खड़े होकर दोनों हथेलियाँ भूमि पर दृढ़ता से स्थापित करे। दोनों घुटने दोनों कोहनियों पर इस प्रकार जमाए कि शरीर हाथों पर तुल जाए। तदनन्तर दोनों पैरों के पंजे धीरे-धीरे मणिबन्ध (कलाई) पर लाकर दृष्टि को आकाश में स्थिर करे। ऐसा करने से क्रौञ्चासन सिद्ध होता है।

योगासन---दाहिने घुटने पर बाएँ पैर के सव्य (बाँया) गुल्म को और बाएँ घुटने पर दाहिने पैर के दाएँ घुटने को लगाकर दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करे। अथवा विपरीत रूप से योगासन—(पद्मासन) लगाकर पहिले सीधे बैठ जाए। तदनन्तर दोनों हथेलियों से दोनों पाद-तलों को इस भाँति ढके कि मणिबन्ध आगे की ओर हो जाए और हाथ की अँगुलियाँ उदर की ओर हो जाए। तदनन्तर दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करने से उत्तम योग सिद्ध होता है। यह योगासन सभी योगियों द्वारा सेवनीय है।

योन्यासन—पैर की एड़ी से गुह्य=गुप्त स्थान को अच्छी प्रकार दबाए। सीवनी पर एक पैर रखे। एकाग्रचित्त होकर शरीर को सीधा रखे और घुटनों पर रखे हुए हाथ के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करे। ऐसा करने से योन्यासन सिद्ध होता है। योनिमुद्रा का यह आसन सिद्धासन का ही अवान्तर भेद है।

समसंस्थानासन—दोनों पैर के तलवों से उरु और जंघा के बीच के हिस्से को दबाने से समसंस्थानासन सिद्ध होता है।

आसनों में श्रेष्ठत्व प्रतिपादन—आचार्य नारायणतीर्थ का कहना है—ऊपर कहे सभी आसन शरीर की स्वस्थता एवं चित्त की एकाग्रता के लिए आवश्यक हैं। लेकिन इनमें से कुछ आसन योग के सिद्धयर्थ विशेषतः उपयोगी हैं; जैसे—सिद्ध, पद्म, भद्र, स्वस्तिक तथा सिंहासन। अमृतबिन्दूपनिषद् में सिद्ध, पद्म, स्वस्तिक तथा भद्रासन को समस्त आसनों में श्रेष्ठ कहा गया है—

सिद्धं पद्मं स्वस्तिकं वा भद्रासनमथापि वा।
बद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थितः॥

हठयोगप्रदीपिका में स्वस्तिकासन को छोड़कर और सिंहासन को लेकर सिद्ध आदि चार आसन श्रेष्ठ बतलाए गए हैं।[१] गोरक्षसंहिता में सिद्धासन और पद्मासन को सबसे अधिक उपयोगी माना गया है।[२]

प्राणायाम—शील एवं तपस्या के द्योतक यम-नियम से इन्द्रिय तथा आसन द्वारा शरीर के नियन्त्रित होने पर साधक प्राणस्थैर्य के लिए प्राणायाम का अभ्यास करता है। प्राणायाम द्वारा प्राण के नियन्त्रण से मनस् को नियन्त्रित रखा जा सकता है। क्योंकि प्राण एवं मनस् का घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः चित्त की एकाग्रता के लिए प्राणायाम का अभ्यास आवश्यक है।

प्राणायाम का अर्थ—जन्म लेते ही प्राणी की श्वास-प्रश्वास रूप क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यह श्वास-प्रश्वास जीवन (प्राण) शब्द से अभिहित है। स्वभावतः प्रवहणशील इस क्रिया का अभाव मरण कहलाता है। प्राणायाम का अभ्यासी श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक वहनशीलता पर नियन्त्रण रखता है। यह नियन्त्रण गत्यभाव सा है; किन्तु मरण रूप नहीं। यह नियन्त्रण प्रयत्न-सापेक्ष है, तथा इच्छानुसार किया जाता है। यह अभ्यासी को दीर्घजीवी बनाता है। इस प्रकार प्राणायाम का सामान्य अर्थ हुआ—श्वास-प्रश्वास पर नियन्त्रण रखना।[३] बाहरी वायु को नासिका-पुटों से ग्रहण करना श्वास है। कोष्ठस्थ वायु को नासिका-पुटों से बाहर निकालना प्रश्वास है। प्राणायाम में वायु की स्वाभाविक गति का विच्छेद किया जाता है।

प्राणायाम के भेद : प्रथम प्रकार—पतञ्जलि के अनुसार प्राणायाम तीन प्रकार का है[४]—रेचक, पूरक तथा कुम्भक। पतञ्जलि प्रोक्त चतुर्थ प्राणायाम तृतीय कुम्भक प्राणायाम का ही प्रकार-भेद है।[५]

रेचक-प्राणायाम—रेचक प्राणायाम में अत्यन्त मन्दगति से प्राणवायु को हृदय से बाहर निकाल कर श्वास-प्रश्वास की गति को निरुद्ध किया जाता है। **नारायणतीर्थ** ने स्कन्दपुराण के आधार पर रेचक प्राणायाम का स्वरूप स्पष्ट किया है। स्कन्दपुराण में लिखा है[६]—'नासिका के एक सम्पुट को अङ्गुलि से दबाकर दूसरे सम्पुट से उदरस्थ वायु

---

[१] **चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च।**
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम्।
सिद्धं पद्मं तथा भद्रं सिंहं चेति चतुष्टयम्।—ह० यो० प्र० प्रथम उपदेश—३३-३४।

[२] **आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्।**
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं पद्मासनम्।—यो० सि० चं० पृ० ८७।

[३] **तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः—यो० सू० २।४९।**

[४] **बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः—यो० सू० २।५०।**

[५] **(क) बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः—यो० सू० २।५१।**
(ख) तृतीयस्यैवावान्तरभेदः—यो० सि० चं० पृ० ९०।

[६] **नासासंपुटमङ्गुल्या पीडयित्वा परेण तु।**
उदराद्रेचयेद्वायुं रेचनाद्रेचकः स्मृतः॥—स्कन्दपु०, यो० सि० चं० पृ० ८९।

का रेचन करे अर्थात् वायु को बाहर निकाले। एतावता प्राणवायु को बाहर निकालकर उसे रोकना रेचक-प्राणायाम है।

पूरक-प्राणायाम—पूरक-प्राणायाम में नासिका-पुट से श्वास को भीतर की ओर खींचकर रोका जाता है। पूरक का लक्षण है—नासिका-पुट से बहिःस्थित वायु को भीतर की ओर खींचकर उसी नासिका-पुट से शनैः-शनैः समस्त नाड़ियों में व्याप्त करे। यही पूरक नाम का महानिरोध है।[१]

कुम्भक-प्राणायाम—शरीर को निश्चल रखते हुए श्वास-प्रश्वास-रहित प्राण की स्थिति कुम्भक-प्राणायाम है। अर्थात् प्राण को जहाँ का तहाँ एकदम रोकना कुम्भक प्राणायाम है। कुम्भक प्राणायाम दो प्रकार का है[२]—सहित-कुम्भक तथा केवल-कुम्भक।

सहित-कुम्भक प्राणायाम के भेद—नारायणतीर्थ की दृष्टि में सहित कुम्भक के आठ अवान्तर भेद हैं[३]—सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा मुख्यसहित।

सूर्यभेदन—समतल प्रदेश में बिछे मृगचर्म आदि पर बैठकर सर्वप्रथम साधक द्वारा स्वस्तिकासन आदि में से कोई आसन लगाया जाता है। तदनन्तर पूरी शक्ति लगाकर दक्षिण नाड़ी पिंगला (दाहिने नासिका-पुट) से शरीर के बाहर स्थित वायु को शनैःशनैः खींचा जाता है। अर्थात् पिंगला नाड़ी से पूरक प्राणायाम किया जाता है। जब नासाग्र से लेकर सिर-प्रदेशपर्यन्त प्राणवायु व्याप्त हो जाए, तब कुम्भक-प्राणायाम किया जाता है। यह कुम्भक-प्राणायाम तब तक किया जाता है, जब तक नाखूनों के किनारे और बालों से पसीना निकलना प्रारम्भ न हो जाए। अन्त में दाएँ नासिका-पुट को अंगूठे से दबाकर चन्द्र नाड़ी (वाम नासिका पुट) के द्वारा पूरित वायु का शनैः-शनैः रेचन (विसर्जन) किया जाता है।[४]

सूर्यभेदन प्राणायाम मस्तिष्क की शुद्धि करता है। अस्सी प्रकार के वात-दोषों को दूर करता है तथा उदर-सम्बन्धी कृमि-दोषों को नष्ट करता है।[५]

उज्जायी—उज्जायी कुम्भक में मुख को भली-भाँति मुद्रित (बन्द) करके इडा और पिंगला-संज्ञक उभय दाएँ-बाएँ नासिका-पुटों से प्राणवायु को शनैः शनैः खींचा जाता है अर्थात्

---

[१] बाह्ये स्थितं नासपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात्।
नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद् यः स पूरको नाम महानिरोधः॥—यो० सि० चं० पृ० ८९।

[२] कुम्भकस्तु द्विधः—सहितः केवलश्च—यो० सि० चं० पृ० ९०।

[३] सहितस्य च सूर्यभेदनाद्यवान्तरभेदाः—यो० सि० चं० पृ० ९१।

[४] आसने सुखदे योगी बद्धवज्रासनस्ततः।
दक्षनासा समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः॥
आकेशाग्रं नखाग्रं च शिरोऽग्राऽवधिकं ततः।
शनैः शनैः सव्यनासा रेचयेत् पवनं सुधीः॥—यो० सि० चं० पृ० ९२।

[५] कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत्।
पुनः पुनरिदं कुर्यात् सूर्यभेदनमुत्तमम्॥—यो० सि० चं० पृ० ९२।

पूरक-प्राणायाम किया जाता है। फलस्वरूप प्राणवायु कण्ठ से लेकर हृदयपर्यन्त व्याप्त हो जाता है। तदनन्तर यथाशक्ति कुम्भक-प्राणायाम किया जाता है। अन्त में वाम नाड़ी से प्राणवायु का रेचन किया जाता है।[१] उज्जायी कुम्भक के लिए जालन्धर आदि बन्ध की आवश्यकता नहीं रहती है। यह किसी भी आकृति में बैठकर या चलते-फिरते अभ्यसनीय है।[२]

उज्जायी कुम्भक कण्ठ-सम्बन्धी कफ-दोषों तथा उदर-सम्बन्धी जलोदरादि-दोषों को नष्ट करता है एवं जठराग्नि को प्रदीप्त रखता है।[३]

सीत्कारी—सीत्कारी कुम्भक में कौए की चोंच के समान जिह्वा बनाकर दोनों ओष्ठों के मध्यभाग से प्राण-वायु को बाहर निकाला जाता है। तदनन्तर नली के आकार में बनी जिह्वा द्वारा सीत्कार (सी-सी) सा शब्द करते हुए प्राणवायु का पूरण किया जाता है। तदनन्तर कुम्भक किए बिना दोनों नासिका-पुटों से उसका रेचन किया जाता है। प्राणवायु का उक्त आवागमन नासिका द्वारा ही किया जाता है।[४]

सीत्कारी कुम्भक के अभ्यास से कामदेव सदृश लावण्य का आविर्भाव होता है। इसका अभ्यासी स्त्रीसमूह से पूज्य तथा संसार का उत्पत्ति-संहार करने में समर्थ होता है। सीत्कारी के छः मासपर्यन्त अभ्यास से देह-सम्बन्धी समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं।[५]

शीतली—शीतली कुम्भक में—सीत्कारी कुम्भक में कथित पद्धति से—वायु का उदरपर्यन्त आपूरण करके कुम्भक किया जाता है। बाधा प्रतीत होने पर उभय नासिका-पुटों से वायु का रेचन (विसर्जन) किया जाता है।[६] सीत्कारी और शीतली कुम्भक में अन्तर यह है कि—सीत्कारी में पूरित वायु का स्तम्भन नहीं किया जाता है; शीतली में पूरक प्राणायाम के पश्चात् कुम्भक प्राणायाम किया जाता है।

शीतली कुम्भक उदर, वात तथा पित्त-सम्बन्धी व्याधियों को नष्ट करता है। सर्पदंश के प्रभाव को दूर करता है।[७]

---

[१] मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं पुनः।
अन्तर्लगति हृत्कण्ठाद्धृदयावधि सस्वनः॥
पूर्ववत् कुम्भयेत् प्राणं रेचयेदिडया ततः॥—यो० सि० चं० पृ० ९२।

[२] गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं च कुम्भकम्—यो० सि० चं० पृ० ९२।

[३] श्लेष्मदोषहरं कण्ठे जाठरानलवर्द्धनम्।
उदरादिप्रदोषाणां विलापनमनुत्तमम्—यो० सि० चं० पृ० ९२।

[४] सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विसर्जयेत्—यो० सि० चं० पृ० ९२।

[५] एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः।
× × ×
अब्दार्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगपरिक्षयः—यो० सि० चं० पृ० ९२।

[६] जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत् कुम्भकादनु।
शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः॥—यो० सि० चं० पृ० ९२।

[७] गुल्मप्लीहोदरं वापि वातपित्तं क्षुधा तृषा।
विषाणि शीतली नाम कुम्भको विनिहन्ति च॥—यो० सि० चं० पृ० ९२।

भस्त्रिका—भस्त्रिका कुम्भक कमलासन लगाकर किया जाता है। इसमें उदर एवं ग्रीवा सीधी रखकर मुख-विवर दृढ़ता से मुद्रित किया जाता है। सर्वप्रथम हृदय एवं कण्ठप्रदेश में स्थित वायु का रेचन किया जाता है। तदनन्तर मस्तक एवं हृदयपर्यन्त वायु का पूरण किया जाता है। उक्त रेचक एवं पूरक प्राणायाम लोहकार की धौंकनी की भाँति अविरल गति से किया जाता है। यही भस्त्रिका कुम्भक है।[१]

आचार्य **नारायणतीर्थ** ने भस्त्रिका कुम्भक का द्वितीय प्रकार भी बतलाया है :—जब तक शरीर में थकान का अनुभव न हो तब तक सूर्यनाड़ी द्वारा वायु का आपूरण किया जाता है। तदनन्तर उदर में आपूरित वायु को (वाम-नासिका-विवर को अङ्गुष्ठ, अनामिका तथा कनिष्ठा से दबाकर) कुम्भक प्राणायाम के द्वारा रोका जाता है। तत्पश्चात् स्तम्भित वायु का विधिवत् रेचन किया जाता है। उक्त प्रक्रिया का कई बार अभ्यास करने से भस्त्रिका कुम्भक सिद्ध होता है।[२]

उज्जायी कुम्भक प्रायः कफ-विकार, शीतली एवं सीत्कारी कुम्भक प्रायः पित्त-विकार दूर करता है। लेकिन भस्त्रिका-कुम्भक धातुत्रय-वात-पित्त-कफ-जनित रोग हरता है। मूलाधार-चक्र में प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् करना भस्त्रिका-कुम्भक का मुख्य प्रयोजन है।[३]

भ्रामरी—भ्रामरी कुम्भक में सर्वप्रथम उभय नासिका-पुटों से भ्रमर की तरह ध्वनि करते हुए दीर्घ स्वर से पूरक प्राणायाम किया जाता है। तदनन्तर कुम्भक-प्राणायाम के पश्चात् भ्रमरी की मन्द आवाज के समान ध्वनि करते हुए कण्ठ से प्राणवायु का रेचन किया जाता है।[४]

भ्रामरी कुम्भक से योगीन्द्रों के चित्त में अपूर्व आनन्दोत्पत्ति होती है। अन्य किसी भी उत्तम साधन से जनित आनन्द भ्रामरी कुम्भक से जायमान आनन्द के समकक्ष नहीं है।[५]

मूर्च्छा—मूर्च्छा कुम्भक मनस् को मूर्छित बनाने की विशिष्ट-क्रिया है। मूर्च्छा-कुम्भक में नासिका-पुटों से वायु का पूरण कर जालन्धर-बन्ध लगाना पड़ता है। पश्चात् दृष्टि को भ्रूमध्य में केन्द्रित करके यथाशक्ति कुम्भक प्राणायाम किया जाता है। अन्त में

---

१ आसनं तु ततो बद्ध्वा सम्यक् कमलसंज्ञकम्।
यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते॥—यो० सि० चं० पृ० ९३।

२ यथोदरं भवेत् पूर्णं पवनेन तथा लघु।
धारयेन्नासिकां मध्ये तर्जनीभ्यां विना दृढम्॥
कुम्भकं पूर्ववत् कृत्वा रेचयेदिडया ततः॥—यो० सि० चं० पृ० ९३।

३ वातपित्तश्लेष्महरं × × × कुण्डलीबोधनं कुर्यात्—यो० सि० चं० पृ० ९३।

४ वेगोद्घोषं पूरकं भृङ्गनादं भृङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम्—यो० सि० चं० पृ० ९३।

५ योगीन्द्राणां नित्यमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानन्दलीला—यो० सि० चं० पृ० ९३।

मनस् के मूर्छित सदृश होने पर स्तम्भित वायु का रेचन किया जाता है।[१] मूर्च्छा कुम्भक में मनस् की लयावस्था रहती है। अर्थात् विक्षिप्तता दूर होकर मनस् एकाग्र रहता है।

मुख्य-सहित---रोगसमूह के नाशक उपर्युक्त सात प्रकार के कुम्भकों के पश्चात् मुख्य-सहित-कुम्भक का अभ्यास किया जाता है।[२]

इस प्रकार सहित-कुम्भक-प्राणायाम आठ प्रकार का है।

केवल-कुम्भक प्राणायाम—जिसमें बाह्यवृत्ति रेचक तथा आभ्यन्तरवृत्ति पूरक प्राणायाम की अपेक्षा न रखते हुए सुखपूर्वक वायु धारण किया जाता है उसे केवल-कुम्भक प्राणायाम कहते हैं।[३] सहित कुम्भक की भाँति प्राणवायु की देश, काल तथा संख्या द्वारा परीक्षित दीर्घसूक्ष्मता इसमें नहीं रहती है। इसलिए सहित-कुम्भक से केवल कुम्भक प्राणायाम पृथक् कहा गया है।[४] पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि—कुम्भक का नित्य अभ्यास करने का विधान होने से संख्या आदि की परिच्छिन्नता स्वतः दूर हो सकती है। अतः स्वतःसिद्ध चतुर्थ केवल-कुम्भक प्राणायाम पृथक् क्यों कहा गया? इस शङ्का का समाधान करते हुए **नारायणतीर्थ** लिखते हैं—अधिकारी-भेद से कुम्भक प्राणायाम का द्विविध वर्गीकरण किया गया है। कालादि से अनवच्छिन्न केवल-कुम्भक प्राणायाम मुख्य अधिकारियों द्वारा अभ्यसनीय है।[५] इसीलिए श्रुतियों में कहा गया है सहित-कुम्भक का अभ्यास तब तक किया जाता है, जब तक केवल-कुम्भक सिद्ध न हो जाए।[६] एतावता कुम्भकत्व की दृष्टि से दोनों में समानता रहने पर भी देश, कालादि अनपेक्ष केवल-कुम्भक देश, कालादि सापेक्ष सहित-कुम्भक से विलक्षण है।[७] सहित-कुम्भक के पश्चात् केवल-कुम्भक सिद्ध होने से प्रथम द्वितीय का कारण है। क्योंकि केवल-कुम्भक नाड़ीगत समस्त दोषों के दूर होने पर हो सकता है और नाड़ीगत दोष का भंजक है – सहित-कुम्भक प्राणायाम।

वाक्सिद्धि, गतिसिद्धि, दृष्टिसिद्धि, श्रवणसिद्धि, परदेह-प्रवेश-सिद्धि, सुवर्णनिर्माण-सिद्धि आदि अलौकिक शक्तियाँ केवल-कुम्भक से प्राप्त होती हैं।[८]

---

[१] पूरकान्ते गाढतरं बन्धो जालन्धरः शनैः।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्योऽयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा॥—यो० सि० चं० पृ० ९३।

[२] तस्मादेतांस्तु संसेव्यः रोगजालविनाशकान्।
मुख्यं सहितमभ्यस्य·········—यो० सि० चं० पृ० ९३।

[३] रेचकं पूरकं त्यक्त्वा यत् सुखं वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः—यो० सि० चं० पृ० ९०।

[४] देशकालाद्यवधारणकृतदीर्घसूक्ष्मत्वरूपस्य त्रितयसाधारणधर्मस्याभावाच्चतुर्थ इति पृथगुक्तः—यो० सि० चं० पृ० ९०।

[५] कालाद्यऽनवच्छिन्नतयैव मुख्याधिकारिणस्तदभ्यास उक्तः—यो० सि० चं० पृ० ९०।

[६] यावत् केवलयुक्तः स्यात् तावत् सहितमभ्यसेत्—यो० सि० चं० पृ० ९०।

[७] अतो देशकालादिविषयानपेक्षणात्तेभ्यो विलक्षणोऽयम्—यो०सि० चं० पृ० ९०-९१।

[८] वाक्सिद्धिः कामचारित्वं दूरदृष्टिस्तथैव च।
दूरश्रुतिः सूक्ष्मदृष्टिः परदेहे प्रवेशनम्॥
विण्मूत्रलेपने स्वर्णमदृष्टकरणं तथा॥—यो० सि० चं० पृ० ९१।

सहित एवं केवल कुम्भक का प्रकारान्तर से भेद—ऊपर वर्णित दो प्रकार का कुम्भक प्राणायाम सोत्कर्ष एवं सापकर्ष के भेद से दो प्रकार का है।[१]

सोत्कर्ष-कुम्भक—सोत्कर्ष-कुम्भक में प्राण तथा अपानवायु पर नियन्त्रण रखा जाता है। अपानवायु के स्तम्भित न रहने से यह सिद्ध नहीं होता है। एतावता शरीर को निश्चल रखते हुए स्तम्भित उभय वायुओं का शनैः-शनैः रेचन किया जाता है। स्तम्भित वायु का द्रुत गति से विसर्जन हानिप्रद है।[२]

सापकर्ष-कुम्भक—सापकर्ष-कुम्भक में अपानवायु का निरोध अपेक्षित नहीं है। अर्थात् इसमें अपानवायु का स्तम्भन नहीं किया जाता है। एतावता पीड़ित अपानवायु को छोड़कर प्राणवायु से कुम्भक प्राणायाम किया जाता है। इस विधि से सापकर्ष-कुम्भक सिद्ध होता है।[३] सापकर्ष-कुम्भक सोत्कर्ष-कुम्भक से पूर्व अभ्यसनीय है। सापकर्ष में अपानवायु का निरोध अपेक्षणीय न होने से यह योगपट्टासन लगाकर सुगमतया किया जा सकता है।[४]

सोत्कर्ष एवं सापकर्ष के भेद से उक्त दो प्रकार का कुम्भक प्राणायाम पुनः सात प्रकार का है[५]—रेचित-कुम्भक, पूरित-कुम्भक, शान्त-कुम्भक, प्रत्याहार-कुम्भक, उत्तर-कुम्भुक अधर-कुम्भक तथा सम-कुम्भक।

रेचित-कुम्भक—रेचित वायु को बाहर ही स्तम्भित रखना अर्थात् उसका पूरण न करना रेचित-कुम्भक है। यह सुखप्रद है।[६]

पूरित-कुम्भक—उदर में पूरित वायु का स्तम्भन पूरित-कुम्भक प्राणायाम है। अपेक्षित काल के पश्चात् वायु का रेचन (विसर्जन) किया जाता है। यह नाडी-शोधक है।[७]

---

[१] सोऽयं द्विविधकुम्भकः सोत्कर्षापकर्षभेदेन पुनर्द्विविधो भवति—यो० सि० चं० पृ० ९३।

[२] न प्राणेनाप्यपानेन तथा वायुं समुत्सृजेत्।
न सिद्धिर्जायतेऽपानविसर्गेण ततो जयेत्॥
शनैर्नासापुटे वायुमुत्सृजन्न तु वेगतः।
न कम्पयेच्छरीरं तु सोत्कर्षो मुनिभिर्मतः॥—यो० सि० चं० पृ० ९३।

[३] प्राणेन पीडितापानं मुक्त्वा कुम्भकसेवनम्।
सापकर्षो भवेद्योगः······॥ —यो० सि० चं० पृ० ९४।

[४] अपानस्यानिरोधादतो योगपट्टासने साधितोऽयं मलशोधकमात्रफलत्वात् प्रथमाभ्यास एवावश्यकः—यो० सि० चं० पृ० ९४।

[५] सोत्कर्षापकर्षभेदेन द्विविधोऽयं कुम्भको मिलित्वा पुनः सप्तविधो भवति—यो० सि० चं० पृ० ९४।

[६] रेचितस्य बहिस्तम्भो वायो रेचितकुम्भकः।
पूरकेण विना सम्यग् योगोऽयं सुखदो नृणाम्॥—यो० सि० चं० पृ० ९४।

[७] पूरितस्योदरे रोधः पश्चाद्रेचकसंयुतः।
नाडीशुद्धिकरः सम्यक् प्रोक्तः पूरितकुम्भकः॥—यो० सि० चं० पृ० ९४।

शान्त-कुम्भक—शरीर के अन्दर-बाहर प्राणवायु की व्याप्ति शान्त-कुम्भक है।[१] अर्थात् रेचक और पूरक को छोड़कर मनस् के द्वारा वायु को शरीर के अन्तःबहिः धारण किया जाता है।[२]

प्रत्याहार-कुम्भक—पादतल और गुल्फ, नाभि और हृदय, उदर और कण्ठ, घण्टिका और भ्रूमध्य तथा ललाट और ब्रह्मरन्ध्र—के अन्तरालों में वायु का जो स्तम्भन किया जाता है, उसे प्रत्याहार-कुम्भक कहते हैं।[३]

उत्तर-कुम्भक—हृदय आदि उत्तरोत्तर प्रदेशों में प्राणवायु का क्रमिक स्तम्भन उत्तर-कुम्भक प्राणायाम कहलाता है।[४]

अधर-कुम्भक—मूर्द्धा से निम्न, निम्नतर तथा निम्नतम प्रदेशों में विधीयमान वायु-निरोध अधर-कुम्भक कहलाता है।[५]

सम-कुम्भक—जिसमें रेचक तथा पूरक प्राणायाम न करते हुए मनस् के द्वारा वायु को मूर्द्धा से हृदयपर्यन्त व्याप्त किया जाता है; उसे सम-कुम्भक कहते हैं।[६] शान्त-कुम्भक एवं सम-कुम्भक के प्रयोग का प्रकार एक होने पर भी वायु की व्याप्ति का स्थान भिन्न-भिन्न है। अतः दोनों को पृथक् कहा गया है।

प्राणायाम के भेदःद्वितीय प्रकार—आचार्य नारायणतीर्थ ने नन्दीपुराण के आधार पर प्राणायाम के द्वितीय विभाजन पर भी प्रकाश डाला है। इस पक्ष के अनुसार प्राणायाम दो प्रकार का है—अगर्भ तथा सगर्भ।[७]

अगर्भ-प्राणायाम—जपध्यान के विना सम्पादित प्राणायाम अगर्भ है।[८]

सगर्भ-प्राणायाम—सगर्भ-प्राणायाम जप-ध्यान के साथ सम्पादित होता है।[९] यह अगर्भ-प्राणायाम से सौगुना श्रेष्ठ है।[१०] इसके तीन भेद हैं—सधूमक, सज्वाल तथा प्रशान्त।

---

१ कायस्यान्तर्बहिर्व्याप्तिर्या स स्याच्छान्तकुम्भकः—यो० सि० चं० पृ० ९४।

२ रेचकपूरकौ विहाय शरीरस्यान्तर्बहिश्च मनसा वायोर्धारणा व्याप्तिः—यो० सि० चं० पृ० ९४-९५।

३ पादतलगुल्फ……ललाटब्रह्मरन्ध्रादीनि स्थानानि। एतेषु स्थानेषु द्वयोर्द्वयोरन्तरे मध्ये वायोर्धारणं प्रत्याहाराख्यकुम्भकः—यो० सि० चं० पृ० ९५।

४ आपूरयेत् क्रमादूर्ध्वमूर्ध्वरोधो हृदादिषु—यो० सि० चं० पृ० ९४।

५ ……अधोऽधो मूर्द्धतोऽधरः—यो० सि० चं० पृ० ९४।

६ रेचनापूरणे त्यक्त्वा मनसा मरुतो धृतिः।
या नाभ्यादिप्रदेशेषु समः कुम्भः प्रकीर्त्तितः॥—यो० सि० चं० पृ० ९४।

७ प्राणायामो……अगर्भश्च सगर्भश्च द्विविधः सम्प्रकीर्त्तितः—यो०सि० चं० पृ० ९८।

८ जपध्यानं विनाऽगर्भः—यो० सि० चं० पृ० ९८।

९ ……सगर्भस्तत्समन्वितः—यो० सि० चं० पृ० ९८।

१० जपध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वितः।
अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः॥—यो० सि० चं० पृ० ९८।

सधूमक—ऊँकार की त्रिविध मात्राओं के ध्यानपुरस्सर सम्पादित प्राणायाम सधूमक है।[१]

सज्वाल—ऊँकारगत मात्राओं में देवता का ध्यान करते हुए निष्पन्न होने वाला प्राणायाम सज्वाल है।[२]

प्रशान्त—उक्त प्रथम एवं द्वितीय प्राणायाम के ध्यान के विषयभूत मन्त्र, मन्त्रगत मात्रा तथा मात्रा के वाच्यार्थ सगुण देवता के ध्यान से रहित प्रणव के लक्ष्यभूत आत्मतत्त्व के ध्यानपुरस्सर सम्पादित प्राणायाम प्रशान्त है।[३]

ऊपर वर्णित प्राणायाम की देश, काल तथा संख्या के द्वारा परीक्षा की जाती है।[४] प्राणायाम की परीक्षण-पद्धति निम्नाङ्कित है—

देश द्वारा प्राणायाम की परीक्षा—रेचक प्राणायाम में श्वास बहिःप्रदेश की ओर निःसृत होता है। प्राणवायु का कितने बहिः प्रदेशपर्यन्त गमन हो रहा है—इसकी परीक्षा नासिका के अग्रभाग के समीप रखी हुई धुनी रूई से की जाती है। यदि रखी हुई रूई रेचक प्राणायाम से हिलती है तो यह अनुमान किया जाता है कि श्वासवायु नासिका-देशपर्यन्त प्रवाहित हो रहा है। नासिका के अग्रभाग से बारह अंगुल दूरी पर रखी हुई रूई के हिलने से रेचक-प्राणायाम देश की दृष्टि से दीर्घसूक्ष्म समझा जाता है।[५] पूरक-प्राणायाम में प्राणवायु की गति अन्दर की ओर बढ़ाई जाती है। श्वास को अन्दर की ओर खींचने पर उसका चींटी सदृश स्पर्श प्रतीत होता है। अभ्यास द्वारा यह स्पर्श नीचे की ओर नाभि से पादतलपर्यन्त तथा ऊपर की ओर मस्तकपर्यन्त पहुँचता है। उक्त स्थिति-प्राप्त पूरक प्राणायाम देश की दृष्टि से दीर्घसूक्ष्म समझा जाता है।[६] रेचक तथा पूरक के जो बाह्य-आभ्यन्तर देश हैं, वे कुम्भक-प्राणायाम के भी हैं। अतः देश की दृष्टि से कुम्भक की दीर्घ-सूक्ष्मता का निश्चय पूर्वकथित तूल-क्रिया तथा पिपीलिका सदृश स्पर्श से किया जाता है।[७]

काल द्वारा प्राणायाम की परीक्षा-प्राणायाम का नित्य अभ्यास करते रहने से प्राणायाम का काल बढ़ता है। जब छत्तीस मात्रापर्यन्त रेचकादि प्राणायाम किया जाता है

---

[१] तस्य मात्रात्रयध्यानात् प्राणायामः सधूमकः—यो० सि० चं० पृ० ९८।

[२] कलांशे देवताध्यानात् सज्वालः परिकीर्त्तितः—यो० सि० चं० पृ० ९८।

[३] मन्त्रतदवयवतद्वाच्यसगुणध्यानरहितकेवललक्ष्यात्ममात्रध्यानात् प्रशान्तः—यो०सि० चं० पृ० ९८।

[४] बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः—यो० सू० २।५०।

[५] नासाग्रात् प्रादेशद्वादशाङ्गुलहस्तादिपरिमितो बाह्यदेशो रेचकस्य विषयः। स चेषीकातूलादिक्रियानिश्चेयः—यो० वा० पृ० २७०।

[६] पूरकस्य चापादतलमामस्तकमाभ्यन्तरो विषयः। स च पिपीलिकास्पर्शसदृशेन स्पर्शेन निश्चेयः—यो० वा० पृ० २७०।

[७] कुम्भकस्य रेचकपूरकयोः बाह्याभ्यन्तरदेशौ समुच्चितावेव विषयः, उभयत्रैव प्राणस्य विलयात्। स च तूलस्य क्रियाया उक्तस्पर्शस्य चानुपलब्ध्या निश्चेयः—यो० वा० पृ० २७०।

तब यह समझा जाता है कि काल की दृष्टि से साधक का प्राणायाम दीर्घ-सूक्ष्म है। अत्यन्त शीघ्रता या अत्यन्त मन्द गति से नहीं अपितु सामान्यगति से घुटने के चारों ओर हाथ घुमाकर चुटकी बजाने में जितना समय व्यतीत होता है, उतने काल को मात्रा कहते हैं।[1] अथवा बारह लघु वर्णों के शीघ्रता से उच्चारण का काल मात्रा कहा जाता है।[2]

संख्या द्वारा प्राणायाम की परीक्षा—संख्या के द्वारा भी प्राणायाम की दीर्घ-सूक्ष्मता का निश्चय किया जाता है। जब बारह श्वास-प्रश्वास का एक श्वास बनता है, तब प्राणायाम मृदु-दीर्घ-सूक्ष्म कहलाता है। जब चौबीस श्वास-प्रश्वास का एक श्वास बनता है, तब प्राणायाम मध्य-दीर्घ-सूक्ष्म कहलाता है। जब छत्तीस श्वास-प्रश्वास का एक श्वास बनता है, तब प्राणायाम तीव्र-दीर्घ-सूक्ष्म कहलाता है।[3] संख्या की दृष्टि से प्राणायाम की यही परीक्षण-पद्धति है।

प्राणायाम की अवस्थाएँ प्राणायाम के अभ्यास से साधक का बिन्दु उसके नियन्त्रण में आ जाता है अर्थात् वह क्षरित नहीं होता है। प्राणायाम की चार अवस्थाएँ हैं[4]—आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था तथा निष्पत्ति-अवस्था। क्रिया-क्रियावान् में अभेद विवक्षित होने से प्राणायाम की अवस्थाएँ साधक की अवस्थाएँ कही गई हैं।

आरम्भावस्था प्रातः, मध्याह्न, सायं तथा अर्द्धरात्रि—इन चार कालों में प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यास का फल है—नाड़ी-शुद्धि। यह प्राणायाम की आरम्भावस्था है।[5] इस अवस्था में योगी रूपलावण्ययुक्त, तेजस्वी, गन्धयुक्त तथा नीरोग होता है।

घटावस्था—प्राण तथा अपान, नाद तथा बिन्दु, जीवात्मा तथा परमात्मा के मिलन से जो अवस्था घटती है, वह प्राणायाम की घटावस्था कहलाती है।[6] अर्थात् प्राणायाम की घटावस्था में प्राणवायु अपने साथ अपान, नाद, बिन्दु आदि का एकीकरण करके षोडशदलात्मक विशुद्ध-चक्र के स्थान कण्ठपर्यन्त पहुँचता है। घटावस्था की उत्पत्ति होने पर साधक में अलौकिकशक्ति प्रादुर्भूत होती है। फलस्वरूप संसार की कोई भी वस्तु उसके लिए अलभ्य नहीं रहती है।[7]

---

[1] जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्।
करोति छोटिकां यावत् सा मात्रेति च गीयते॥—यो० सि० चं० पृ० ९७।

[2] त्वरितं लघुभिर्वर्णैर्मात्रा द्वादशभिः स्मृता—यो० सि० चं० पृ० ९७।

[3] द्वादशमात्रकः प्राणायामः······तीव्रः षट्त्रिंशन्मात्रकः—भा० पृ० २७१-२७२।

[4] आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः पुनः।
निष्पत्तिश्चेति योगस्य स्यादवस्थाचतुष्टयम्—यो० सि० चं० पृ० ९८।

[5] चतुष्कालिकप्राणायामाभ्यासादिना नाडीशुद्धौ आरम्भावस्था भवति—यो० सि० चं० पृ० ९८।

[6] प्राणापानौ नादबिन्दुर्जीवात्मपरमात्मनोः।
मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते॥ यो० सि० चं० पृ० ९९।

[7] यदा भवेत् घटावस्था योगिनोऽभ्यासिनः सदा।
तदा संसारचक्रेऽस्मिन् नास्ति तद्यन्न साधयेत्—यो० सि० चं० पृ० ९९।

परिचयावस्था—जब आठघड़ीपर्यन्त वायु निश्चल रहता है, तब अभ्यासरत योगी की परिचयावस्था होती है।[१] इस अवस्था में प्राणवायु सूर्य तथा चन्द्र नाड़ियों (दाएँ-बाएँ नासिका-पुटों) को छोड़कर षट्चक्र का भेदन कर सुषुम्नारूप आकाश में सञ्चरण करता है।[२] योगी को अपने त्रिविध कर्मों—प्रारब्ध, सञ्चित एवं क्रियमाण—का साक्षात्कार होता है।[३] वह अपने सञ्चित एवं क्रियमाण कर्मों को प्रणव-जप से तथा प्रारब्धकर्म को उपभोग द्वारा नष्ट करता है। धारणा-प्रकरण में वर्णित सिद्धियाँ भी परिचयावस्था-जयी को प्राप्त होती हैं।

निष्पत्ति-अवस्था—अभ्यास-क्रम से प्राणायाम की चतुर्थ निष्पत्ति अवस्था है। इस अवस्था में वेगवान् प्राणवायु क्रियाशक्ति (नाद-बिन्दु) तथा चेतनशक्ति (जीवादि) को लेकर षट्चक्रों का भेदन करता हुआ अत्यन्त शीघ्रता से ज्ञानशक्ति में लीन हो जाता है।[४] फलस्वरूप योगी मुक्त हो जाता है।[५]

उक्त प्राणायाम का अभ्यास गुरु के संरक्षण में करना निरापद् है।

कर्मयोग

आचार्य **नारायणतीर्थ** ने आसन तथा प्राणायाम के मध्य कर्मयोग का स्थान निर्धारित किया है। कर्मयोग के अन्तर्गत धौति, वस्ति आदि षट्कर्म तथा महाबन्ध आदि मुद्राएँ आती हैं।[६]

यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है—यदि विवेकख्याति के सिद्धयर्थ कर्मयोग भी साधन है तो सूत्रकार **पतञ्जलि** ने यमादि अङ्गों में कर्मयोग को क्यों नहीं रखा ? इस शङ्का के समाधानार्थ आचार्य **नारायणतीर्थ** कहते हैं—यह कर्मयोग हठयोग (प्राणायाम) का साक्षात् अङ्ग है। इसके अभ्यास से दैहिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। यह राजयोग (असम्प्रज्ञातयोग) का साक्षात् साधन नहीं है। इसलिए **पतञ्जलि** ने कर्मयोग का स्पष्ट शब्दों में संकेत नहीं किया।[७] अतः आचार्य **नारायणतीर्थ** को हठयोग (प्राणायाम) से पूर्व एवं

---

१ दण्डाष्टकं यदा वायुर्निश्चलो योगिनो भवेत्।
ततः परिचयावस्था योगिनोऽभ्यासिनो भवेत् – यो० सि० चं० पृ० ९९।

२ अस्यामवस्थायां वायुः सूर्याचन्द्रमसौ त्यक्त्वा षट्चक्राणि भित्त्वा सुषुम्नाव्योम्नि सञ्चरति—यो० सि० चं० पृ० ९९।

३ ततः कर्मणां त्रिकूटं पश्यति – यो० सि० चं० पृ० ९९।

४ गृहीत्वा चेतनां वायुः क्रियाशक्तिं च वेगवान्।
सर्वचक्रं विजित्याशु ज्ञानशक्तौ विलीयते – यो० सि० चं० पृ० ९९।

५ अनादिकर्मबीजानि यतश्छित्त्वाऽमृतं भवेत् – यो० सि० चं० पृ० ९९।

६ स च कर्मयोगः षट्कर्मरूपो मुद्रारूपश्चेति द्विविधो निरूपितः – यो० सि० चं० पृ० ६८।

७ हठयोगाङ्गत्वेन देहसिद्धमात्रफलत्वेन साक्षाद्राजयोगाऽनङ्गत्वात् कण्ठस्वरेण सूत्रकृता नोक्तमिति – यो० सि० चं० पृ० ७३।

आसन के पश्चात् कर्मयोग का विधान अभिप्रेत है। उन्होंने कर्मयोग पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया है।

कर्म—

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, योगोपनिषद् आदि ग्रन्थों में कर्मयोग का वर्णन उपलब्ध होता है। नारायणतीर्थ ने छः कर्म बतलाए हैं[१]—धौती, बस्ती, नेती, त्राटक, नौली तथा कपालभाती।

धौति-कर्म—

विधि—धौतिकर्म में चार अँगुल चौड़ी तथा पन्द्रह हाथ लम्बी अत्यन्त मुलायम तथा आर्द्र पट्टी के एक छोर को हाथ से पकड़कर अवशिष्ट भाग को मुख के रास्ते से उदरप्रदेश-पर्यन्त धीरे-धीरे प्रवेश कराके उदर को नौलि-क्रिया से घुमाया जाता है। तदनन्तर पट्टी को उसी मार्ग से शनैः-शनैः बाहर निकाला जाता है।[२]

साधारणतया धौति का अर्थ है—धोना। योगशास्त्र में धौति का तात्पर्य जल या वायु से उदर एवं अन्त्रसमूह को धोना है।

फल—धौति-कर्म से खाँसी, श्वास, दमा, तिल्ली के विकार, कुष्ठ, बीस प्रकार के कफ-विकार, फुस्फुस-विकार, पित्तादि रोग नष्ट हो जाते हैं।[३] धौति-कर्म से अन्दर डाली गई स्वच्छ पट्टी को बाहर निकालने पर साधक देखता है कि वह कफ आदि से सिक्त होती है। यदि इस विधि से कफ बाहर न निकाला जाए तो अन्दर पड़ा रहकर वह खाँसी आदि अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है। अतः धौति-कर्म शारीरिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

बस्ति-कर्म—

विधि—जिस कर्म में नाभिप्रदेशपर्यन्त आपूरित जलाशय या टब आदि में उत्कटासन लगाकर अभ्यासी को विशिष्ट आकार-प्रकार से बनी नली की सहायता से गुदा मार्ग से जल को भीतर प्रवेश कराया जाता है और नौलि-कर्म से जल को उदर में दौड़ाकर बाहर निकाला जाता है। उसे बस्ति-कर्म कहते हैं।[४]

फल—बस्ति-कर्म के प्रभाव से उदर-सम्बन्धी वायुगोला, जलोदर तथा वात-पित्त-कफ (तीनों अथवा किसी एक) से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं। धातु—

---

[१] धौती बस्ती तथा नेती त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभाती चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ॥—यो० सि० चं० पृ० ६८।

[२] चतुरङ्गुलविस्तारं सिक्तं (सूक्ष्मं) वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्।
पुनः प्रत्याहरेदेतदभ्यासाद्धौतिकर्मवित् ॥—यो० सि० चं० पृ० ६९।

[३] कासश्वासप्लीहकुष्ठकफरोगादयः क्रमात्।
धौतीकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ॥—यो० सि० चं० पृ० ६९।

[४] नाभिदघ्ने जले पायुन्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुंचनं कुर्यादभ्यासाद् बस्तिकर्म तत् ॥—यो० सि० चं० पृ० ६९।

(त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र सम्बन्धी)-दोष दूर हो जाते हैं। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा अहंकार के राजस-तामस मल, विक्षेप, शोक, मोह, गौरव आवरण, दैन्य आदि निवृत्त हो जाते हैं। फलतः सत्त्वगुण का समुद्रेक होने पर इन्द्रियाँ अपना-अपना व्यापार (आहार्य, धार्य तथा प्रकाश्य) करने में भली-भाँति समर्थ हो जाती हैं। बस्ति-कर्म के अभ्यासी का मुख-मण्डल तेजस्वी होता है तथा जठराग्नि प्रज्वलित रहती है।[1]

नेति-कर्म—

विधि—नेति-कर्म नासिका के द्वारा किया जाता है। इसमें एक हाथ लम्बे अत्यन्त स्निग्ध (योगशास्त्रोक्त विधि से निर्मित) सूत्र को गुरूपदिष्ट पद्धति से नासिका-छिद्र से प्रवेश कराके मुख से निकाला जाता है।[2]

फल—इस क्रिया से मस्तक-प्रदेश के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और कपालशुद्धि होती है। नासिका के मल को बाहर फेंकना, दिव्य दृष्टि प्रदान करना और स्कन्ध की सन्धि के ऊपर होने वाले रोग-समूह को नष्ट करना नेति-कर्म का प्रयोजन है।[3]

त्राटक-कर्म—

विधि—त्राटक-कर्म का सम्बन्ध नेत्रेन्द्रिय से है। इसमें नेत्रेन्द्रिय को व्यायाम करना पड़ता है। इसके अभ्यासी को समाहित चित्त होकर किसी सूक्ष्म पदार्थ में तब तक दृष्टि (बिना पलक झपकाए) केन्द्रित करनी पड़ती है, जब तक नेत्र अश्रुपात न करने लगे।[4]

फल—त्राटक-कर्म से नेत्रेन्द्रिय परिपुष्ट होती है। दृष्टि तीव्र होकर दूरदर्शिनी हो जाती है। साधक अनेक प्रकार के नेत्र-विकार से मुक्त हो जाता है। चित्त में तन्द्रा, निद्रा, आलस्य आदि तमोगुणी वृत्तियाँ आविर्भूत नहीं होती हैं। युक्त योगियों का कहना है कि त्राटक-क्रिया को रतिक्रिया (सम्भोग) के समान गुप्त रखना उचित है।[5]

---

[1] गुल्मोदनं चापि वातप्लीहपित्तकफोद्भवान् ।
बस्तिकर्मप्रभावेण बाध्यन्ते सकलाऽऽमयाः ॥
धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं दध्याच्च कान्ति दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ॥—यो० सि० चं० पृ० ६९।

[2] सूत्रं वितस्तिसुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेत् सा हि नेति सिद्धैर्निगद्यते ॥—यो० सि० चं० पृ० ६९।

[3] कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
तत्रोर्ध्व (जत्रूर्ध्व) जातरोगौघाञ्जरयत्याशु नेतिवित् ॥—यो० सि० चं० पृ० ६९।

[4] निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुपातादिपर्यन्तमाचार्यैस्तत् त्राटकं मतम् ॥—यो० सि० चं० पृ० ६९।

[5] मोहनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
एतच्च त्राटकं गोप्यं यथा वध्वा रतिः सदा ॥—यो० सि० चं० पृ० ६९।

नौलि-कर्म—

विधि—नौलि-कर्म उदर से किया जाता है। इसमें साधक को घुटने के बल झुककर उदरवर्ती नाड़ियों को जलभंवर (आवर्त) के समान अत्यन्त वेगपूर्वक दक्षिण तथा वाम पार्श्वों में क्रमशः घुमाना पड़ता है।[1]

फल—यह क्रिया मन्दाग्नि को प्रदीप्त करती है। अन्नादि को अच्छी प्रकार से पचाती है और साधक को सदा प्रसन्नचित्त रखती है। यह उदर-सम्बन्धी रोग, उदर की स्थूलता, आतों का विकार, कब्ज, उदरपीड़ा आदि की अचूक औषधि है। धौती आदि क्रियाओं में यह मूर्द्धन्य है; क्योंकि अन्य कतिपय क्रियाओं में इसका उपयोग होता है।[2]

कपालभाति-कर्म—

विधि—कपालभाति-क्रिया रेचक तथा पूरक प्राणायाम के समीप की है। इसमें यथेष्ट आसन लगाकर अभ्यासी लोहकार की धौंकनी के समान अत्यन्त शीघ्रता से रेचक तथा पूरक प्राणायाम करता है। इसमें एक नासिका-रन्ध्र से वायु को भीतर खींचकर दूसरे नासिका-विवर से उसे तुरन्त निकालने का विधान है।[3]

फल—कपालभाति-कर्म के अभ्यासी को कफ से उत्पन्न होने वाले विकार व्यथित नहीं करते हैं।[4] यह प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी-जागरण में सहायक होता है।

मुद्राएँ—

मुद्रा की संख्या—आचार्य नारायणतीर्थ के अनुसार मुद्राएँ नौ हैं—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, शक्तिचालन, मूलबन्ध, उड्डीयान, जालन्धरबन्ध तथा विपरीतकरणी।

महामुद्रा—

विधि—अभ्यासी सर्वप्रथम दोनों टाँगे फैलाकर बैठे। तदनन्तर वाम (बाएँ) पाद को मोड़े। इस मुड़े हुए बाएँ पैर से गुदा और मेढ्र के मध्य भाग में स्थित सीवनी को भली-भाँति पीड़ित करे अर्थात् दबाए। प्रसारित दाएँ (दक्षिण) पैर को दोनों हाथों से पकड़े। तदनन्तर शरीर के नौ द्वारों (छिद्रों) को अपने अधीन करके आगे झुके और चिबुक (ठोड़ी) को हृदयप्रदेश से लगाए (स्पर्श कराए)। इस प्रकार की मुद्रा (आकृति) बन

---

[1] **आनन्दा (अमंदा)-वर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्ययोः।**
नलांशो (नतांसो) भ्रामयेदेषा नौली योगे प्रचक्षते॥
—यो० सि० चं० पृ० ६९।

[2] **मन्दाग्निसन्दीपनपाचकाग्निसन्धायि (पि)-कानन्दकरी तथैव।**
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रिया मौलिनीयं हि नौली॥
—यो० सि० चं० पृ० ६९।

[3] **भस्त्रेव लोहकाराणां रेचपूरौ ससंभ्रमौ। —यो० सि० चं० पृ० ६९।**

[4] **कपालभाती विख्याता कफदोषप्रदाहिनी॥ —यो० सि० चं० पृ० ६९।**

जाने के पश्चात् प्राणवायु पर नियन्त्रण रखा जाता है। इस प्रकार बाएँ पैर से महा-मुद्रा का अभ्यास करके पुनः दक्षिण (दाएँ) पैर से यह मुद्रा की जाती है।[१]

फल—गुरु द्वारा उपदिष्ट महामुद्रा का स्थिर चित्त से अभ्यास करने से साधारण योगी भी सिद्ध पुरुष बन जाता है। इसका पौनःपुन्येन अभ्यास करने से जठराग्नि प्रज्वलित होती है और शरीर के समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं। महामुद्रा की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इससे बिन्दु स्थिर होता है और कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत् होकर सुषुम्ना नाड़ी के सहारे ऊपर की ओर उठती हुई ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट होती है। इस प्रकार प्राणोत्थान और कुण्डलिनी-जागरण में इसका विशेष उपयोग है।

महाबन्ध-मुद्रा—

विधि—सर्वप्रथम साधक दोनों पैरों को विस्तीर्ण कर एक पैर (दक्षिण चरण) को दूसरे (वाम) पैर के उरुप्रदेश पर स्थिर करे। तदनन्तर गुदा एवं योनि का आकुञ्चन करके (सिकोड़कर) अपानवायु को ऊर्ध्वमुखी करके समानवायु के साथ मिलाए और प्राण को अधोमुखी करे।[२] ऐसा करने से महाबन्ध-मुद्रा सिद्ध होती है।

फल—इस प्रकार का अभ्यास करने से प्राण तथा अपानवायु ऊर्ध्वगामी हो जाते हैं। अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और नाड़ियों का रससमूह ऊपर की ओर प्रवाहित होने लगता है।[३]

महावेध-मुद्रा—

विधि—महावेध-मुद्रा सिद्ध करने के लिए सर्वप्रथम महाबन्ध-मुद्रा लगायी जाती है। इस प्रकार महाबन्ध-मुद्रा में स्थित साधक योगशास्त्रोक्त विधि से पूरक-प्राणायाम द्वारा बाह्य-वायु का पूरण करके प्राणादि वायुओं की ऊर्ध्व-अधःप्रदेश प्रवहणशीलता को कण्ठ-मुद्रा के द्वारा (कुम्भक-प्राणायाम के द्वारा) निरुद्ध करे। तदनन्तर भूमि पर स्थापित हथेलियों के आश्रय से वाम पाद के सहित स्फिच (नितम्ब) को ऊपर की ओर उठाकर दूसरे

---

१ अपसव्येन संपीडच पादमूलेन सादरम्।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम्॥
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन तु।
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि॥
······वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाऽभ्यसेत् पुनः। — यो० सि० चं० पृ० ६९-७०।

२ योऽस्यां (ततः) प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि।
गुदयोनी समाकुञ्च्य नीत्वा चापानमूर्ध्वगम्॥
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम्।
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थमपानप्राणयोः सुधीः॥
कथितोऽयं महाबन्धः·········—यो० सि० चं० पृ० ७०।

३ ············सर्वसिद्धिप्रदायकः।
नाडीगलद्रसव्यूहमूर्ध्वं नयति योगिनः।— यो० सि० चं० पृ० ७०।

चरण से उसे (नितम्ब) ताड़ित करे। इस प्रकार वाम पाद से स्फिच को पीड़ित करने पर प्राणवायु इडा तथा पिंगला नाड़ियों में प्रवाहित होना छोड़कर केवल सुषुम्ना नाड़ी में ही प्रवाहित होने लगता है। फलस्वरूप चन्द्रमा, सूर्य तथा अग्निदेवता से अधिष्ठित इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना—ये तीन नाड़ियाँ एकत्रित हो जाती हैं। अर्थात् तीनों नाड़ियों का वायु एक हो जाता है। किन्तु इडा और पिंगला नाड़ियों को त्यागकर जब प्राणवायु केवल सुषुम्ना नाड़ी में प्रवाहित होता है तब मृतावस्था सी उत्पन्न होने लगती है। क्योंकि इडा और पिंगला नाड़ियों में वायु का जो संचरण है, वही जीवन है। अतः ऐसी दशा आते ही साधक पूरितवायु का रेचन (त्याग) करे। महावेध-मुद्रा साधने की यही प्रक्रिया है।[1]

फल—महावेध-मुद्रा के अभ्यास से आयु की वृद्धि होती है। अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वृद्धावस्था में शरीर झुरियों से आक्रान्त नहीं होता है। केश शीघ्र श्वेत नहीं होते और अभ्यासी का देह शीघ्र दुर्बल होकर काँपने नहीं लगता है।[2]

खेचरी-मुद्रा—

विधि—खेचरी-मुद्रा में छेदन, चालन और दोहन—इन तीन क्रियाओं द्वारा जिह्वा को इतना लम्बा किया जाता है कि पश्चिम की ओर प्रत्यावर्तित करने पर वह नाड़ियों के मार्ग—(कपाल के मध्य भाग में स्थित छिद्र)—को स्पर्श कर सके और आगे की ओर से भ्रुकुटियों के मध्यभाग को स्पर्श करने में समर्थ हो सके। जिह्वा को लम्बा करने की प्रथम विधि (छेदन) में जिह्वा के निचले तथा पतले तन्तू को थोड़ा-थोड़ा प्रतिदिन काटा जाता है। इसमें शीघ्रता करना अनुचित है, अन्यथा गूंगा होने की सम्भावना रहती है। चालन-क्रिया में हाथ के अँगूठे और तर्जनी अंगुली से जिह्वा को पकड़कर दाईं-बाईं ओर घुमाया जाता है और दोहन क्रिया में दोनों हाथों के अँगूठे और तर्जनी से गाय के थन के समान जीभ के दोनों पार्श्वों को दोहना पड़ता है अर्थात् जिह्वा को धीरे-धीरे खींचना पड़ता है। स्कन्दपुराण में खेचरी-मुद्रा सिद्ध करने का यही प्रकार बतलाया गया है।[3]

---

[1] महावेधं (महाबन्धं) स्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधा।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया॥
समहस्तयुगो भूमौ स्थितौ संताडयेच्छनैः।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः॥
सोमसूर्याग्निसन्धानं जायते……—यो० सि० चं० पृ० ७०।

[2] …………चामृतायते—यो० सि० चं० पृ० ७०।
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः॥ —यो० सि० चं० पृ० ७०-७१।

[3] कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निगद्यते॥—स्कन्दपुराण, यो० सि० चं० पृ० ७१।

फल—जो साधक खेचरी-मुद्रा के द्वारा लम्बी हुई जिह्वा को तालु के ऊपरी भाग में स्थित छिद्र से क्षण भर का स्पर्श कराने में समर्थ होता है, वह वात-पित्त-कफ धातुओं की विषमतारूप व्याधि, प्राण और देह के वियोगरूप मरण और वृद्धावस्था की जीर्णता से दूर रहता है और सर्प, बिच्छू आदि की विषमयी भेदन-क्रिया उस पर प्रभाव नहीं डालती। खेचरी-मुद्रा से तालु (लम्बिका) के ऊपरी छिद्र को आवृत कर लेने पर कामिनी के स्पर्श आदि से साधक का बिन्दु (वीर्य) क्षरित नहीं होता अर्थात् बिन्दु अपने मस्तिष्क स्थान से नहीं गिरता है और यदि चलायमान हुआ बिन्दु योनिपर्यन्त पहुँच भी जाय तो भी योनि-मुद्रा (वज्रोली-मुद्रा) से नियन्त्रित बिन्दु आकर्षण-शक्ति से ऊपर की ओर खिंचा हुआ होकर सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से ऊर्ध्वगामी हो जाता है।[१]

शक्तिचालन मुद्रा—

विधि—अभ्यासी मूलाधार-चक्र के कमल पर सुप्त कुण्डलिनी-शक्ति को अपानवायु से भूयोभूयः आकृष्ट करे। यही शक्तिचालन मुद्रा है।[२]

फल—जो साधक प्रतिदिन शक्तिचालन-मुद्रा का अभ्यास करता है, उसकी जठराग्नि प्रदीप्त होती है वह रोग से मुक्त रहता है तथा चिरकाल से मूलाधार-चक्र में सुप्त उसकी कुण्डलिनी-शक्ति अपने सर्पाकार रूप को छोड़कर सुषुम्ना-नाड़ी की सहायता से ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है।[३] अतः अणिमादि सिद्धियों के अभिलाषी को शक्तिचालन-मुद्रा का सर्वदा प्रयास करते रहना चाहिए।

मूलबन्ध-मुद्रा—

विधि—साधक गुदामार्ग को सङ्कुचित करके पादमूल (एड़ी) से उसे ताड़ित करे। तदनन्तर अपानवायु की अधोगमनशीलता को बलपूर्वक रोककर उसे ऊर्ध्वमुखी बनाए, जिससे अपानवायु का प्राणवायु के साथ संयोग हो सके। ऐसा करने से मूलबन्ध-मुद्रा सिद्ध होती है।[४]

फल—यह बन्ध जरा-मरण का नाशक है अर्थात् इसके अभ्यास से साधक स्वस्थ एवं दीर्घायु प्राप्त करता है। यह जठराग्नि को प्रदीप्त करके अपच के कारण सम्भाव्यमान रोगों को शक्ति नहीं पकड़ने देता है।

---

१ रसं समूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति।
विषयैं (विषै) मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः॥
खेचर्य्या मुद्रितं येन विवरे लम्बिकोर्ध्वतः।
....निरुद्धो योनिमुद्रया॥—यो० सि० चं० पृ० ७१।

२ आधारकमले.... ....समभ्यसेत्—यो० सि० चं० पृ० ७१।

३ विहाय मुद्रां भुजगीं स्वयमूर्ध्वं भवेत् खलु—यो० सि० चं० पृ० ७१।

४ पादमूलेन संपीडच गुदमार्गं सुयन्त्रितम्।
बलादपानमाकृष्य बलादूर्ध्वं समभ्यसेत्॥—यो० सि० चं० पृ० ७१-७२।

उड्डीयान-मुद्रा—

विधि—वज्रासन लगाकर साधक दोनों हाथों से दोनों पैरों को पकड़े। गुल्फ प्रदेश के समीप उदर को लाकर उसे पीड़ित करे। ऐसा करने से उड्डीयान-मुद्रा लगती है।[१]

फल—इसका छः माहपर्यन्त निरन्तर अभ्यास करने से साधक मृत्युंजयी हो जाता है। प्रतिदिन चार बार अभ्यास करने से नाभिप्रदेश में स्थित साधक का नाभि-चक्र शुद्ध हो जाता है। फलतः चक्र का वायु-तत्त्व उसके अधीन हो जाता है।

जालन्धर-बन्ध—

विधि—देवताओं से भी दुष्प्राप्य जालन्धर-बन्ध के लिए साधक कण्ठ से शिराजाल (नाड़ि-समूह) को बाँधकर अर्थात् कण्ठ के छिद्र को संकुचित करके चिबुक को हृदय प्रदेशपर्यन्त ले जाकर दृढ़रीति से स्थिर रखे। ऐसा करने से जालन्धर-बन्ध सिद्ध होता है।[२] हठयोगप्रदीपिका में 'जालन्धर'—पद का अर्थ करते हुए लिखा है—जो शिराओं (नाड़ियों) के समूहरूप जाल को बाँधता है और कपाल के छिद्ररूप नभ में स्थित जल को नियन्त्रित रखता है, उसे जालन्धरबन्ध कहते हैं; क्योंकि जाल नाम समुदाय एवं जलसमूह का है।

फल—जालन्धर-बन्ध का विजयी योगज-ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

विपरीतकरणी-मुद्रा—

विधि—नाम से ही प्रतीत होता है, जिसमें पदार्थों की दिशा का व्युत्क्रम (स्थानान्तरण) किया जाता है, उसे विपरीतकरणी-मुद्रा कहते हैं। विपरीतकरणी-मुद्रा सिद्ध करने का प्रकार यह है—ऊपर पैर और नीचे सिर करने से जब साधक के ऊर्ध्व भाग में नाभि और अधोभाग में तालु स्थिर हो जाता है और ऊपर के भाग में अग्निरूप सूर्य और अधोभाग में अमृतरूप चन्द्रमा आ जाते हैं, तब विपरीतकरणी-मुद्रा सिद्ध होती है।[३]

फल—इस मुद्रा का फल समस्त रोगों का समूलोन्मूलन करना है।

इस प्रकार शरीर के बाह्य एवं आन्तरिक अङ्गों को शुद्ध एवं परिपुष्ट रखने के लिए कर्मयोग का अनुशीलन अत्यावश्यक है। इससे धारणा के साक्षात् अङ्ग प्राणायाम को सिद्ध करके साधक उसे राजयोग-प्राप्ति का साधन बना सकता है।

कर्मयोग के प्रसङ्ग में नारायणतीर्थ की देन—पातञ्जल-योगसूत्र के व्याख्याग्रन्थों में कर्मयोग की चर्चा नहीं मिलती है। शास्त्रों के गम्भीर अध्येता एवं योगसिद्ध आचार्य नारायणतीर्थ ने अष्टाङ्गयोग के प्रसङ्ग में कर्मयोग की उपयोगिता युक्तिपूर्वक बतलाते हुए

---

[१] सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम्।
गुल्फदेशसमीपे च उदरं तत् प्रपीडयेत्॥ —यो० सि० चं० पृ० ७२।

[२] बद्ध्वा गले शिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्।
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः॥ —यो० सि० चं० पृ० ७२।

[३] ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरुर्ध्वभानुरधःशशी।
करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी॥—यो० सि० चं० पृ० ७२।

उसका स्वरूप एवं स्थान निर्धारित किया है। अतः कर्मयोग के सन्दर्भ में **नारायणतीर्थ** का विशेष स्थान है।

प्रत्याहार—शरीर-प्रधान आसन तथा वायु-प्रधान प्राणायाम की साधना पूर्ण होने के पश्चात् साधक के लिए इन्द्रिय-प्रधान प्रत्याहार का सोपान प्रशस्त होता है। चंचल घोड़ों की भाँति वेगवान् इन्द्रियाँ मोहनीय, रञ्जनीय एवं कोपनीय विषयों की ओर भागती रहती हैं। प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों की बाह्य-विषयाभिमुखता अवरुद्ध की जाती है। **'प्रति'** (प्रतीप) तथा **'आ'**—उपसर्गपूर्वक **'हृ'** धातु से निष्पन्न 'प्रत्याहार' पद के—विरुद्ध मार्ग से खींचना—अर्थ से भी उपर्युक्त आशय स्पष्ट है। योग-साधना के प्रथम सोपान से ही साधक की इन्द्रियाँ उसके वश में रहने लगती हैं, लेकिन इन्द्रियनिग्रह प्रथम चार सोपानों का साक्षात् फल नहीं है। वह प्रत्याहार का साक्षात् फल है। इसी अभिप्राय से प्रत्याहार को इन्द्रियनिग्रह-प्रधान कहा गया है।[1]

प्रत्याहार के माहात्म्य से निगृहीत इन्द्रियाँ चित्त के अनुरूप हो जाती हैं।[2] योगी के ध्यान की अवस्था में चित्त की भाँति निगृहीत इन्द्रियाँ भी ध्येयाकारवती हो जाती हैं तथा चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियाँ भी स्वतः (प्रयत्न के बिना) निरुद्ध हो जाती हैं। इसलिए जितेन्द्रिय योगी की इन्द्रियाँ चित्त का अनुकरण करने वाली कही गयीं हैं। यदि वे राजा के सेवक अथवा रानी मधुमक्खी की सहकारी मधुमक्खियों के समान चित्त के अधीन रहकर कार्य न करें तो साधक धारणा आदि नहीं कर सकता। विष्णुपुराण में भी प्रत्याहार का यही स्वरूप वर्णित हुआ है।[3]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि पातञ्जल-योग में प्रत्याहार इन्द्रिय का धर्म है। **नारायणतीर्थ** ने योगसिद्धान्तचन्द्रिका में **योगियाज्ञवल्क्य** के श्लोकों द्वारा प्रत्याहार की इन्द्रिय तथा प्राणवायुविषयक द्विविध मार्गीय-साधना उपन्यस्त की है।[4] वस्तुतः पातञ्जल-योग में प्राणवायुविषयक प्रत्याहार प्राणायाम के अन्तर्गत है।

---

[1] प्रत्याहार इन्द्रियधर्म इति—यो० वा० पृ० २७८।

[2] स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः—यो०सू०२।५४।

[3] शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः॥
वश्यता परमा तेन जायते निष्कलात्मनाम्।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः—वि० पु० ६।७।४३, यो० वा० पृ० २७७।

[4] अष्टादशसु यद्वायोर्मर्मस्थानेषु धारणम्।
स्थानात् स्थानात् समाकृष्य प्रत्याहारो निगद्यते।
संपूर्य कुम्भवद्वायुमङ्गुष्ठान्मूर्ध्नि मध्यतः।
धारयत्यनिलं बुद्धया प्राणायामप्रचोदितः॥
व्योमरन्ध्रात् समाकृष्य ललाटे धारयेत् पुनः।
ललाटाद्वायुमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत्॥

पूर्वोक्त पाँच साधनों के अभ्यास द्वारा मन्दाधिकारी अपने चित्त को क्षिप्तादि तीन अवस्थाओं से ऊपर उठाकर एकाग्र-भूमि में प्रतिष्ठित करता है। योगी के लिए पूर्व की साधना का मुख्य प्रयोजन चित्त की बहिर्मुखी धारा अवरुद्ध करना रहता है। योगी आगे के धारणादि सोपान चित्त की द्वितीय अन्तर्मुखी धारा—जो अभी तक बहिर्मुखी धारा से अवरुद्ध-प्राय रहती है—को प्रवाहित करने के उद्देश्य से करता है।

धारणा –किसी देशविशेष में चित्त को बाँधना धारणा है।[1] धारणा के उपर्युक्त लक्षण में आए 'देश'—पद का अर्थ ध्यान के आधारभूत ध्येय का अधिकरण (प्रदेश) है। 'बन्ध'—पद का अर्थ सम्बन्ध अथवा स्थापन है।[2] चित्त को समस्त विषयों से हटाकर किसी स्थान-विशेष में स्थापित (स्थिर) करना धारणा है।[3]

देश दो प्रकार का है –बाह्य तथा आन्तरिक। नाभिचक्र, हृदयकमल, कण्ठ, मुख आदि आध्यात्मिक देश हैं। इनकी संख्या मुख्यतः दस है। इनमें निश्चित क्रम से धारणा के अभ्यास का विधान है। आचार्यों ने गरुडपुराण के श्लोकों द्वारा आध्यात्मिक देशों में धारणा के क्रमिक विकास को उपन्यस्त किया है। सर्वप्रथम नाभि, तदनन्तर हृदय, तदनन्तर वक्षःस्थल, तदनन्तर कण्ठ, तदनन्तर मुख (जिह्वाग्र), तदनन्तर नासिकाग्र, तदनन्तर नेत्र, तदनन्तर भ्रू का मध्यभाग, तदनन्तर मूर्धा तथा सबसे अन्त में मूर्धा से ऊपर

(टि० ३१२) भ्रूमध्याद्वायुमाकृष्य नेत्रस्थाने निरोधयेत्।
नेत्राद्वायुं समाकृष्य नासामूले निरोधयेत्॥
नासामूलात्तु जिह्वाया मूले प्राणं निरोधयेत्।
जिह्वामूलात् कण्ठकूपे ततो वायुं निरोधयेत्॥
कण्ठकूपात्तु हृन्मध्ये हृन्मध्यान्नाभिमध्यमे।
नाभिमध्यात् पुनर्मढ्रे मेढ्राद् बाह्यलये ततः॥
देहमध्याद् गुदे गार्गि गुदाद्वै ऊरुमूलके।
ऊरुमध्यात्तयोर्मध्ये तस्माज्जान्वोर्निरोधयेत्॥
चितिमूले ततस्तस्माज्जङ्घयोर्मध्यमे तथा।
जङ्घां ततः समाकृष्य वायुं गुल्फे निरोधयेत्॥
स्थानात् स्थानं समाकृष्य यस्त्वेवं धारयेद्धिया।
निष्पापः स विशुद्धात्मा जीवेदाचन्द्रतारकम्॥
एतत्तु योगसिद्ध्यर्थं अगस्त्येनापि कीर्त्तितम्।
प्रत्याहारेषु सर्वेषु प्रशस्तमिति योगिभिः॥
—याज्ञवल्क्यकृत श्लोक –यो० सि० चं० पृ० १०३।

[1] देशबन्धश्चित्तस्य धारणा –यो० सू० ३।१।

[2] (क) बन्धः=सम्बन्धः—त० वै० पृ० २८२।
(ख) ······चित्तस्य स्थापनम्—यो० वा० पृ० २८१।

[3] यत्र देशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र ध्यानाधारदेशविषये चित्तस्य स्थापनं तदैकाग्र्यं धारणा –यो० वा० पृ० १८१।

द्वादश-अँगुल-परिमित प्रदेश में चित्त की स्थापना की जाती है।[1] सूर्य, चन्द्र, अग्न्यादि धारणा के वाह्य देश हैं। इनमें ईश्वर, देवता आदि का ध्यान किया जाता है।[2] पातञ्जल-योग के प्राय: सभी व्याख्या ग्रन्थों में धारणा का उपर्युक्त स्वरूप प्रतिपादित हुआ है।

धारणा के भेद : प्रथम प्रकार—आचार्य नारायणतीर्थ ने प्रकारान्तर से धारणा के भेदों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने महाभूतविषयक चिन्तन को धारणा के अन्तर्गत रखकर उसके आधार पर धारणा के पाँच भेद किए हैं—पार्थिवी-धारणा, वारुणी-धारणा, तैजसी-धारणा वायवी-धारणा तथा नाभसी-धारणा। ये ही क्रमशः स्तम्भिनी, प्लाविनी, दहनी, भ्रामणी तथा शमनी नाम से अभिहित हैं।[3]

नाम से ये वाह्यविषयक धारणाएँ प्रतीत होती हैं। वस्तुत: ये वाह्यविषयक धारणाएँ नहीं हैं। ये आन्तरिक विषय से सम्बद्ध हैं। क्योंकि शरीरान्तर्वती चक्रों के पृथ्वी आदि नामतत्त्व को लक्षित कर ये की जाती हैं। अत: स्तम्भिनी आदि धारणाओं के सिद्धचर्थ चक्रों का स्वरूपज्ञान आवश्यक है।

स्तम्भिनी-धारणा—पैर से लेकर जानुपर्यन्त देश चतुष्कोण पृथ्वी का स्थान माना गया है। यह हरिताल के सदृश वर्ण का है। इस पर 'लं' वर्ण अंकित है। इस प्रकार के प्रदेश से विशिष्ट पृथ्वीतत्त्व पर (इस प्रकार के पृथ्वीतत्त्व से विशिष्ट प्रदेश में) चित्त को अन्य विषयों से हटाकर एकाग्र (बन्ध अथवा स्थापन) किया जाता है। यही स्तम्भिनी (पार्थिवी)-धारणा है।[4]

प्लाविनी-धारणा—जानु से लेकर पायुपर्यन्त देश में जल-भूत की स्थिति मानी गई है। यह कुन्द (सुवर्ण) सदृश आभा का है। यहाँ अर्धचन्द्र से युक्त 'व' (वं) वर्ण की निष्पत्ति होती है। यहाँ विष्णु देवता निवास करते हैं। इस प्रकार के प्रदेश से विशिष्ट जल-भूतविषयक चित्तस्थैर्य प्लाविनी (वारुणी)-धारणा है।[5]

दहनी-धारणा—पायु से लेकर हृदयपर्यन्त देश त्रिकोणाकार वह्नि का स्थान है। यह इन्द्रगोपा के सदृश अरुण आभा का है। इस स्थान पर रेफ की निष्पत्ति होती है।

---

१ प्राङ्नाभ्यां हृदये वाऽथ तृतीये च तथोरसि।
कण्ठे मुखे नासिकाऽग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूर्द्धसु ॥
किंचित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा दश कीर्त्तिताः।—ग० पु० १।२१८।२१-२२।

२ (क) बाह्ये वा विषय इति। सूर्यचन्द्राग्न्यादावीश्वरदेवताऽऽदिध्यानदेश इत्यर्थः—यो० वा० पृ० २८२।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३१७।

३ सेयं धारणा भूतानां भेदेन स्तम्भिनी प्लाविनी दहनी भ्रामणी शमनी चेति पञ्चधा भवति—यो० सि० चं० पृ० १०५।

४ तत्र पादादिजानुपर्यन्तदेशे हरितालनिभसलकारसवेधसचतुष्कोणपृथिव्यैकाग्रता स्तम्भिनी। इयमेव पार्थिवी धारणेत्युच्यते—यो० सि० चं० पृ० १०५।

५ जानुतः पायुपर्यन्ते देशे अर्द्धेन्दुनिभसवकारसविष्णुकुन्दाभजलैकाग्रता प्लाविनी। इयमेव वारुणी धारणेत्युच्यते—यो० सि० चं० पृ० १०५।

यहाँ रुद्र देवता निवास करते हैं। इस प्रकार के प्रदेश से विशिष्ट वह्निभूत पर जब चित्त स्थिर (एकाग्र) किया जाता है, तब उसे दहनी (तैजसी)-धारणा कहते हैं।[१]

भ्रामणी-धारणा हृदय से लेकर भ्रूमध्यपर्यन्त प्रदेश गोलाकार में प्रवहणशील वायु-तत्त्व का माना गया है। यह अञ्जन के सदृश नील वर्ण का है। यह ईश की निवास-भूमि है। यहाँ यकार वर्ण अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार के प्रदेश से विशिष्ट वायु-तत्त्वविषयिणी चित्त की स्थिरता भ्रामणी (वायवी)-धारणा है।[२]

शमनी-धारणा भ्रूमध्य से लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त देश आकाश-तत्त्व का है। यह प्रदेश जल के समान शुभ्र वर्ण का है। यहाँ 'ह' वर्ण की निष्पत्ति होती है। यहाँ सदाशिव देवता निवास करते हैं। इस प्रकार के प्रदेश से विशिष्ट आकाश-तत्त्वविषयिणी चित्त की स्थापना (चित्तस्थैर्य) शमनी (नाभसी) धारणा है।[3]

शाण्डिल्योपनिषद् में पृथ्वी आदि नाम की पाँच धारणाएँ उल्लिखित हैं।[४]

धारणा के भेद : द्वितीय प्रकार आचार्य नारायणतीर्थ ने अन्य शास्त्रों में कही गई पञ्चभूतविषयिणी धारणा को भी वहीं के श्लोकों द्वारा उपन्यस्त किया है। श्लोकों का आशय इस प्रकार है—

पार्थिवी-धारणा—नाभि से नीचे और गुदा से ऊपर अर्थात् नाभि और गुदा के मध्यवर्ती प्रदेश में पाँच नाड़ी (घड़ी) कालपर्यन्त प्राणवायु के स्थिर करने से पार्थिवी-धारणा सिद्ध होती है।

जलीया-धारणा—नाभि स्थान में पाँच-घड़ीपर्यन्त प्राणवायु के धारण करने से जलीया-धारणा सिद्ध होती है।

आग्नेयी-धारणा—नाभि के ऊर्ध्व मण्डल प्रदेश में पाँच-घड़ीपर्यन्त प्राणवायु के रोकने से आग्नेयी-धारणा सिद्ध होती है।

वायवीया-धारणा—नाभि और घ्राण के मध्य भाग में पाँच-घड़ीपर्यन्त प्राणवायु के नियन्त्रण से वायवीया-धारणा सिद्ध होती है।

आकाशीया-धारणा—भ्रू के मध्य भाग से ऊपर पाँच-घड़ीपर्यन्त प्राणवायु पर नियन्त्रण रखने से आकाशीया-धारणा सिद्ध होती है।

उक्त पाँच प्रकार की धारणाओं के अतिरिक्त दो अन्य प्रकार की धारणाएँ भी हैं। मनस् तथा बुद्धिविषयिणी ये धारणाएँ मूर्द्धा में वायु के स्थिर करने से सिद्ध होती हैं। इस

---

[१] आपायोर्हृदयपर्यन्ते देशे इन्द्रगोपाभत्रिकोणसरेफसरुद्रवह्न्यग्यैकाग्रता दहनी। इवमेव तैजसी धारणेत्युच्यते—यो० सि० चं० पृ० १०५।

[२] हृदयाद् भ्रूमध्यपर्यन्ते देशेऽञ्जनसन्निभसवृत्तसयकारसेशवाय्वेकाग्रता भ्रामणी। इयमेव वायवी धारणेत्युच्यते—यो० सि० चं० पृ० १०५।

[३] भ्रूमध्यात् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्ते देशे सहकारविशुद्धवारिसदृशससदाशिवाकाशैकाग्रता शमनी। इयमेव नाभसी धारणेत्युच्यते—यो० सि० चं० पृ० १०५।

[४] पृथिव्यप्तेजवाय्वाकाशेषु पंचमूर्तिधारणं चेति—शा० उप० १।९।

प्रकार धारणा के सात भेद हैं। अन्य शास्त्रों में भी उक्त सात प्रकार की धारणाओं का वर्णन उपलब्ध होता है। ऊपर प्राणवायु के नियन्त्रणपूर्वक जो सात प्रकार की धारणाएँ प्रतिपादित हुई हैं, उसका तात्पर्य समझाते हुए आचार्य नारायणतीर्थ का कहना है कि—ये शरीर के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में प्राणवायु को नियन्त्रित रखने मात्र से सिद्ध नहीं होतीं; प्रत्युत वायु के संयमनपूर्वक तत्त्वों पर चित्त के एकाग्रीकरण से सिद्ध होती है।[१]

उक्त केन्द्र विन्दुओं में चित्त-बन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य **वाचस्पति मिश्र** तथा **हरिहरानन्द आरण्यक** लिखते हैं[२]—साधक बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के देशों में तुल्य रीति से चित्त की स्थापना नहीं कर सकता। आध्यात्मिक देशों में साक्षात् अनुभव के द्वारा चित्त की स्थापना की जाती है और बाह्य विषयों में इन्द्रियवृत्ति (ज्ञानवृत्ति) के द्वारा चित्त को स्थिर किया जाता है क्योंकि चित्त का बाह्य विषयों के साथ स्वरूप-सम्बन्ध नहीं बन सकता।

देश-विशेष में चित्त की स्थिरता के न्यूनतम काल को स्पष्ट करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश, नागेश भट्ट** तथा **नारायणतीर्थ** लिखते हैं धारणा कम से कम द्वादश प्राणायाम के काल से अवच्छिन्न होनी आवश्यक है।[३] इससे न्यूनकाल (क्षणभर) विशिष्ट चित्त का देश-बन्ध धारणा नहीं कहा जाता है। इसलिए **विज्ञानभिक्षु** आदि व्याख्याकारों ने धारणा के लक्षण में **'प्राणायामद्वादशकालावच्छिन्नत्वेन'** इस विशेषणांश के सन्निवेष का परामर्श दिया है।[४] साधक अभ्यास द्वारा धारणा के काल को क्रमशः बढ़ाता हुआ चित्त को ध्यान-सोपान के योग्य बनाता है।

ध्यान—धारणा के देशविशेष (जहाँ धारणा की जाती है) में जब ध्येय वस्तु का ज्ञान एकाकाररूप से प्रवाहित होने लगता है, तब उसे ध्यान कहते हैं।[५] ध्यानकाल में चित्त ध्येय विषय में इतना लवलीन हो जाता है कि चित्त में अन्यविषयक वृत्तियाँ उदित

---

[१] वायुसंयमनपूर्वकं तत्त्वैकाग्रता कार्या यो॰ सि॰ चं॰ पृ॰ १०६।

[२] (क) बाह्ये च न स्वरूपेण चित्तस्य सम्बन्धः सम्भवतीत्युक्तं वृत्तिमात्रेण=ज्ञान-मात्रेणेत्यर्थः—त॰ वै॰ पृ॰ २८२।

(ख) तत्र साक्षादनुभवद्वारेण चित्तबन्धः, बाह्ये तु देशे वृत्तिमात्रेण बन्धः=तद्विष-यया वृत्त्या चित्तं बध्यते - भा॰ पृ॰ २८२-२८३।

[३] (क) प्राणायामैर्द्वादशभिर्यावत्कालः कृतो भवेत्।
स तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत्॥
इत्यादि एतदेव तु धारणासामान्यलक्षणम्—यो॰ वा॰ पृ॰ २८३।

(ख) तु॰—यो॰ सि॰ चं॰ पृ॰ १०६।

(ग) तु॰—ना॰ वृ॰ वृ॰ पृ॰ ३१७।

(घ) तु॰ —भा॰ ग॰ वृ॰ पृ॰ ६०।

[४] अतः सूत्रोक्तं विशेषलक्षणमपि प्राणायामद्वादशकालावच्छिन्नत्वेन विशेषणीयमिति —यो॰ वा॰ पृ॰ २८३।

[५] तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्—यो॰ सू॰ ३।२।

नहीं होतीं। एकमात्र ध्येयविषयक वृत्ति ही आविर्भूत एवं तिरोभूत होती रहती है। इस प्रकार ध्यानकाल में वृत्त्यन्तरशून्य चित्त का ध्येयविषयक सदृशप्रवाह रहता है। आचार्यों ने तेल की अखण्ड धारा से चित्त के इस सदृशप्रवाह को स्पष्ट किया है।[१] विष्णुपुराण में भी ध्यान का ऐसा ही स्वरूप प्रतिपादित हुआ है।[२]

चित्त का ध्येयविषयक चिन्तन (चित्त की ध्येयाकारता) कब ध्यान कहलाता है? इस शङ्का के समाधानार्थ आचार्य **विज्ञानभिक्षु, नागेश भट्ट, नारायणतीर्थ** आदि व्याख्याकारों ने ध्यान का न्यूनतम काल सप्रमाण प्रस्तुत किया है।[३] उनका कहना है कि द्वादशप्राणायाम के काल से अवच्छिन्न धारणा के बारह गुना कालपर्यन्त चित्त की जो अखण्ड ध्येयाकारता है, वह ध्यान है। अतः प्रत्यय की एकतानता (ध्यान) को इस न्यूनतम काल से अवच्छिन्न होना आवश्यक है।

ध्यान के भेद—ध्यान कितने प्रकार का है—यह विचार एकमात्र योगसिद्धान्तचन्द्रिका में विवेचित हुआ है। नारायणतीर्थ ने योगसिद्धान्तचन्द्रिका में ध्यान के सगुण तथा निर्गुण दो भेद[४] करके सनातनी तथा आर्यसमाजी दोनों के लिए योग-साधना का मार्ग प्रशस्त किया है।

सगुण-ध्यान[५]—साधक नील कमल की पँखुड़ी की तरह श्याम वर्ण वाले, पीत वर्ण का रेशमी वस्त्र धारण करने वाले, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म आदि से सुशोभित चतुर्भुजा वाले तथा करोड़ों सूर्य के तुल्य दीप्तिमान् तथा अविनाशी भगवान् विष्णु का (धारणा के देश-विशेष में) ध्यान करे।

---

१ प्रत्ययस्य=वृत्तेर्या एकतानता तैलधारावदेकतानप्रवाहः—भा० पृ० २८३।

२ तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद् ध्यानं षड्भिरङ्गैः प्रथमैर्निष्पाद्यते नृप॥ वि० पु० ६।७।९१, त० वै० पृ० २८३।

३ तस्यैव ब्रह्मणि प्रोक्तं ध्यानं द्वादशधारणेत्यनेन, तस्यैव द्वादशप्राणायामकालेन धारितचित्तस्य द्वादशधारणाकालावच्छिन्नं चिन्तनं ध्यानं प्रोक्तमित्यर्थः, अनेन च पूर्ववत्सूत्रोक्तं विशेषलक्षणं विशेषणीयम् यो० वा० पृ० २८३।

४ तच्च ध्यानं सगुणनिर्गुणभेदेन द्विविधम् यो० सि० चं० पृ० १०७।

५ नीलोत्पलदलश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
चतुर्भुजं शङ्खचक्रगदापद्मादिशोभितम्।
कोटिसूर्यप्रतीकाशं ध्यायेदच्युतमव्ययम्॥
अथैवं चिन्तयेद्देवं निर्मलं ज्ञानदं शुभम्।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं महादेवं महेश्वरम्॥
परात्परतरं नित्यं नीलकण्ठं त्रिलोचनम्।
ब्रह्माणं च सदा ध्यायेत् सर्वपापप्रणाशनम्॥
मकारार्थो महादेव उकारार्थो हरिर्मतः।
अकारार्थो भवेद् ब्रह्मा भावयेत्तु ततः सदा।
तेषामैक्यं ततः सद्यः क्षीणपापो भवेन्नरः॥—यो० सि० चं० पृ० १०७।

इसी प्रकार साधक निर्मल, ज्ञानदाता, कल्याणकारी तथा स्फटिकमणि के समान स्वच्छ वर्ण वाले देवाधिदेव महेश्वर का ध्यान करे।

साधक महादेवादि से भी श्रेष्ठ अर्थात् सर्वश्रेष्ठ, अविनाशी, नीलकण्ठी, त्रिनेत्री एवं समस्त पापों के नाशक ब्रह्मा का सर्वदा ध्यान करे।

ऊँकार का जापक अकार का अर्थ महादेव, उकार का अर्थ हरि तथा मकार का अर्थ ब्रह्मा है--इस प्रकार की भावना करे। तदनन्तर तीनों देवों में ऐक्यबुद्धि करे। जो साधक इस प्रकार का ध्यान करता है, उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

निर्गुण-ध्यान जो एक, ज्योतिर्मय, शुद्ध, आकाश के समान विभु, दृढ़, अव्यक्त, निर्मल, नित्य, आदि (उत्पत्ति), मध्य (स्थिति), अन्त (लय) से रहित, स्थूलरूप, सूक्ष्मरूप, अवकाशरहित, स्पर्शरहित, चक्षु से अगोचर, रस, गन्धादि से रहित, प्रमाणातीत, आनन्दस्वरूप, अजर, नित्य, सदसत् पदार्थों का कारण, सर्वाधार, जगद्रूप, अमूर्त, अज, अव्यय, अदृश्य, दृश्य पदार्थों में निवास करने वाला, ज्ञानस्वरूप, अनेक मुखवाला, सबको देखने वाला, सहस्र पादों वाला, सबको स्पर्श करने वाला तथा सहस्र सिर वाला है—इदृश ब्रह्म सदृश मैं हो जाऊँ—इस तात्त्विक चिन्तन को ही ब्रह्मवेत्ता निर्गुण ध्यान कहते हैं।[1]

धारणा तथा ध्यान में अन्तर—ध्यान की साधना धारणा के पश्चात् विहित होने से स्पष्ट है कि साधक का चित्त धारणा में अपेक्षाकृत कम एकाग्र रहता है। धारणा के अभ्यासकाल में दूसरी वृत्तियाँ भी उदित होती हैं। अर्थात् धारणा में ध्येयाकारवृत्ति विच्छिद्य-विच्छिद्य होती है। ध्यान में ध्येयाकारवृत्ति की एकतानता रहती है। अतः समान अनुपात की एकाग्रता न रहने से धारणा एवं ध्यान में अन्तर है।

धारणा तथा ध्यान के द्वितीय अन्तर को स्पष्ट करते हुए आचार्य **नारायणतीर्थ** लिखते हैं[2]—ध्यान में धारणा के आधारभूत नाभि आदि देश से उपलक्षित परमेश्वर आदि में चित्त एकाग्र किया जाता है और धारणा में ध्यान का आधार चित्त की स्थिरता का आलम्वन वनता है। कहा जा सकता है कि धारणा आधारविषयक तथा ध्यान आधेय (आधारस्थ)-विषयक

---

१ एकं ज्योतिर्मयं शुद्धं सर्वगं व्योमवद् दृढम्।
अव्यक्तममलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम्॥
स्थूलसूक्ष्ममनाकाशमसंस्पर्शमचाक्षुषम्।
न रसं न च गन्धाढ्यमप्रमेयमनूपमम्॥
आनन्दमजरं नित्यं सदसत्सर्वकारणम्।
सर्वाधारं जगद्रूपममूर्तमजमव्ययम्॥
अदृश्यं दृश्यमध्यस्थं वृत्तिस्थं सर्वतोमुखम्।
सर्वदृक् सर्वतः पादं सर्वस्पृक् सर्वतः-शिरः॥
ब्रह्म ब्रह्ममयोऽहं स्यामिति तत्त्वस्य वेदनम्।
तदेतन्निर्गुणं ध्यानमिति योगविदो विदुः॥—यो० सि० चं० पृ० १०७।

२ ध्यानस्य देशेनोपलक्षितपरमेश्वरैकाग्र्यरूपत्वात्।
धारणायास्तु ध्येयाधारैकाग्र्यरूपत्वात्—यो० सि० चं० पृ० १०५।

होता है। नाभि आदि आभ्यन्तर देश एवं सूर्यादि बाह्य देश में चित्त को बाँधना (स्थापित करना) धारणा है और उन्हीं देशों में ईश्वर, देवतादि का निरन्तर चिन्तन करना ध्यान है।

धारणा तथा ध्यान के तृतीय अन्तर को स्पष्ट करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** तथा **नागेश भट्ट** लिखते हैं[१]—धारणा में चित्त को वृत्ति द्वारा देशविशेष में स्थापित मात्र किया जाता है, वहाँ ध्येय का चिन्तन अपेक्षित नहीं रहता। अर्थात् मैं अमुक विषय का चिन्तन कर रहा हूँ—इस प्रकार के ध्येयविषयक बोध के साथ वृत्ति द्वारा देशविशेष में चित्त का बन्ध नहीं किया जाता है। ध्यान काल में ध्येयाकार वृत्ति भी रहती है। इस समय ध्याता को ध्येयचिन्तन का पूर्ण अवबोध रहता है। इन आचार्यों ने धारणा तथा ध्यान के उक्त अन्तर को स्पष्ट करने के लिए ईश्वरगीता से श्लोक भी उद्धृत किए हैं।[२] श्लोकों के **'चित्तबन्धनम्'** एवं **'देशावस्थितमालक्ष्य'**—ये पद प्रणिधान-योग्य हैं।

समाधि—ध्यान की चरमावस्था का नाम समाधि है। निरन्तर अभ्यस्त पूर्वोक्त ध्यान जब ध्येय मात्र का प्रकाशक एवं अपने ध्यानाकार रूप से रहित के सदृश हो जाता है, तब समाधि कहलाता है।[३] समाधि चित्तस्थैर्य की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। इसलिए समाधि-विशिष्ट चित्त ध्येय विषय में इतना अनुरञ्जित रहता है कि उसे 'यह जान रहा हूँ' इस प्रकार का ज्ञान नहीं रहता।[४] लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इस समय ज्ञान (ध्यान) की सत्ता ही नहीं रहती। ज्ञान की सत्ता रहने पर भी उसकी प्रतीति नहीं हो पाती। अन्यथा (परमार्थतः ज्ञान का अभाव मानने पर) ध्येय पदार्थ निर्भासित न हो सकेगा। क्योंकि ध्येय का प्रकाशक ज्ञान होता है। इसलिए सूत्रकार ने समाधि के लक्षणसूत्र में **'इव'**—पद के प्रयोग द्वारा समाधि में ज्ञानादि की शून्यसम स्थिति का ही निर्देश किया है, पारमार्थिक शून्यता का नहीं।[५] ध्यान की यह शून्यसम स्थिति उसके ध्येय के आकार से मिश्रित हो जाने के कारण होती है।[६] जैसे जल में घुला हुआ लवण जल के आकार

---

[१] (क) वृत्तिमात्रेण न तु ध्येयकल्पनयेत्यर्थः; तेन ध्यानादिव्यावृत्तिः—यो० वा० पृ० २८२।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३१७।

[२] हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके।
एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम्॥
देशावस्थितमालक्ष्य बुद्धेर्या वृत्तिसन्ततिः।
वृत्त्यन्तरैरसंस्पृष्टा तद्ध्यानं सूरयो विदुः॥ —कू०पु० ११।२९। यो० वा० २८२।

[३] तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः—यो० सू० ३।३।

[४] (क) चित्तस्य ध्येयस्वरूपावेशेनाहमिदं चिन्तयामीत्येवं प्रत्ययाकारवृत्त्यन्तरानुदयात्—यो० वा० पृ० २८४।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३१७।

[५] ध्यानस्वरूपस्य वस्तुतः सत्त्वादिवशब्दप्रयोगः—यो० वा० पृ० २८४।

[६] ध्येयस्वभावावेशात्—व्या० भा० पृ० २८४।

का हो जाने पर उससे पृथक् नहीं प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह हुआ कि ध्यान जब ध्येय के आकार से ही भासित होता है, तब वह समाधि कहलाता है। विष्णुपुराण में भी समाधि का ऐसा ही स्वरूप वर्णित है।[१]

चित्त की उपर्युक्त प्रकार की स्थिति; जब ध्यान के पूर्वनिर्दिष्ट काल से बारह गुना अधिक कालपर्यन्त निरन्तर रहती है, तब वह समाधि कही जाती है। ऐसा **विज्ञानभिक्षु** आदि व्याख्याकारों का कहना है।[२]

ध्यान तथा समाधि में अन्तर[३]—ध्यान का समाधि से यह भेद है कि ध्यान में ध्याता, ध्यान, ध्येय का एकत्रीकरण होने पर भी साधक को उनकी पृथकता का स्पष्ट अनुभव रहता है। समाधि में ध्यातृ तथा ध्यान की अस्फुट प्रतीति रहती है। केवल ध्येय वस्तु स्फुटरूप से अभिव्यक्त होता है। **सदाशिवेन्द्रसरस्वती** के शब्दों में कर्तृकरण[४] के अनुसंधान-पुरःसर उत्पन्न होने वाला प्रत्यय ध्यान है। ध्यान का उत्कर्ष होने पर कर्तृकरण के अनुसंधान के बिना ही ध्येय मात्र का विषय रूप से प्रकाशित होना समाधि है।

ऊपर वर्णित अष्टाङ्गयोग बहिरङ्गसाधन एवं अन्तरङ्गसाधन के रूप से विभक्त हुआ है। यमादि पाँच बहिरङ्ग साधन हैं तथा धारणादि तीन अन्तरङ्ग साधन हैं। साधनों की यह बहिरङ्गता एवं अन्तरङ्गता उनके योग का परम्परया एवं साक्षात् साधन बनने के कारण है। यमादि पाँच सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात योग के लिए बहिरङ्गरूप हैं। धारणादि तीन सम्प्रज्ञात के लिए अन्तरङ्गरूप हैं[५] और असम्प्रज्ञात के लिए बहिरङ्गरूप हैं।[६] असम्प्रज्ञात का अन्तरङ्ग साधन परवैराग्य है। परवैराग्य को असम्प्रज्ञात का अन्तरङ्ग साधन कहने से योग-साधना की अष्टाङ्गीयता का सिद्धान्त खण्डित नहीं होता है। क्योंकि परवैराग्य सम्प्रज्ञात योग की उत्कृष्टावस्था में अविप्लुतविवेकख्याति के पश्चात् स्वतः उत्पन्न होती है। उसके लिए अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।

———

१ तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥
—वि० पु० ६।७।९२। त० वै० पृ० २८४।

२ अत्रापि सूत्रोक्तं विशेषलक्षणं ध्यानद्वादशगुणितकालावच्छिन्नत्वेन विशेषणीयम्
—यो० वा० पृ० २८४।

३ ध्यातृध्येयध्यानकलनावद् ध्यानं तद्रहितं च समाधिः—यो० वा० पृ० २८४।

४ कर्तृकरणानुसंधानपुरःसरं जायमानः प्रत्ययो ध्यानम्। तदुत्कर्षात्कर्तृकरणानुसंधानमन्तरेणैव ध्येयमात्रगोचरतया निर्भासमानः समाधिः—यो० सु० पृ० ५६।

५ त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः—यो० सू० ३।७।

६ तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य यो० सू० ३।८।

अध्याय—११

योग

- योग का लक्षण
- योग के भेद
- सम्प्रज्ञातयोग का विषय
- समापत्ति की संख्या
- ऋतम्भरा-प्रज्ञा की आवश्यकता
- असम्प्रज्ञात में वृत्ति रहती है अथवा नहीं ?
- असम्प्रज्ञात के भेद

अध्याय—११

चित्रपट्ट सं० १

(क) वाचस्पति मिश्र, रामानन्दयति एवं बलदेव मिश्र के अनुसार—

(ख) विज्ञानभिक्षु, भावागणेश, नारायणतीर्थ (योगसिद्धान्तचन्द्रिका पर आधारित) एवं नागेश भट्ट के अनुसार—

(ग) सदाशिवेन्द्रसरस्वती के अनुसार—

सम्प्रज्ञात-समाधि

वितर्कानुगत सं स०	विचारानुगत सं० स०	आनन्दानुगत सं० स०	अस्मितानुगत सं० स०
(पञ्चमहाभूत, इन्द्रिय का ग्राहक)	(पञ्चतन्मात्र, अन्तःकरण (अहङ्कार) का ग्राहक)	(रजसृतमसूलेशानुविद्ध सत्त्वगुणप्रधान-महत्तत्त्व का ग्राहक)	(शुद्धसत्त्वप्रधानमहत्तत्त्व का ग्राहक)

(घ) नारायणतीर्थकृत सूत्रार्थबोधिनी के अनुसार—

सम्प्रज्ञात-समाधि

वितर्कानुगत सं० स०	विचारानुगत सं० स०	आनन्दानुगत सं० स०	अस्मितानुगत सं० स०
(महाभूत का ग्राहक)	(तन्मात्र का ग्राहक)	(इन्द्रिय का ग्राहक)	(अहङ्कारविशिष्ट पुरुष का ग्राहक)

(ङ) हरिहरानन्द आरण्यक के अनुसार—

सम्प्रज्ञात-समाधि

वितर्कानुगत सं० स०	विचारानुगत सं० स०	आनन्दानुगत सं० स०	अस्मितानुगत सं० स०
(भूत, इन्द्रिय का ग्राहक)	(तन्मात्र, अहङ्कार, महत्तत्त्व का ग्राहक)	(त्रयोदशकरणस्थैर्यजन्य ह्लाद का ग्राहक)	(पुरुषाकारबुद्धि का ग्राहक)

(च) भोजदेव के अनुसार—

सम्प्रज्ञात-समाधि

वितर्कानुगत सं० स०	विचारानुगत सं० स०	आनन्दानुगत सं० स०	अस्मितानुगत सं० स०
(महाभूत, इन्द्रिय का ग्राहक)	(तन्मात्र का ग्राहक)	(अहङ्कार का ग्राहक)	(बुद्धि का ग्राहक)
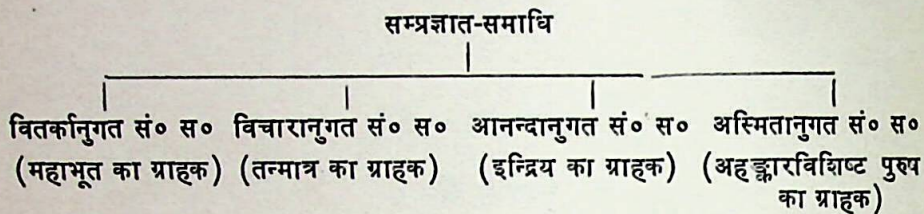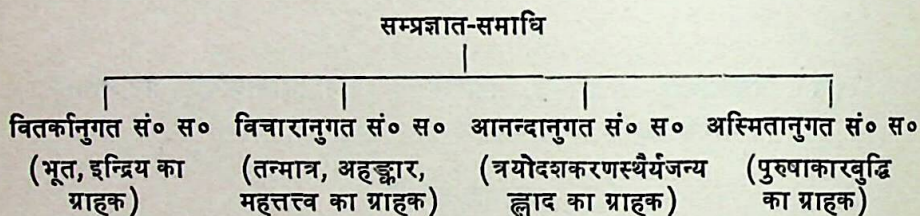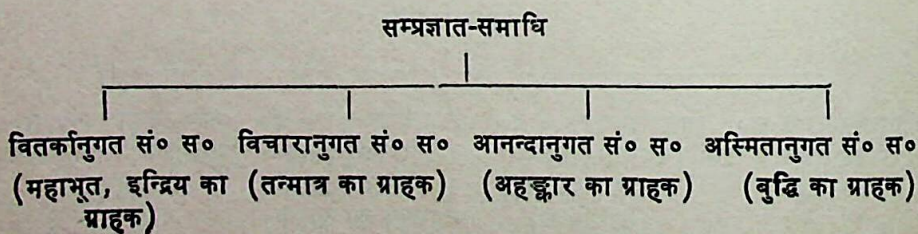
चित्रपट्ट सं० २

(क) वाचस्पति मिश्र, रामानन्दयति, राघवानन्द, नारायणतीर्थ (सूत्रार्थबोधिनीकार) एवं बलदेव मिश्र के अनुसार—
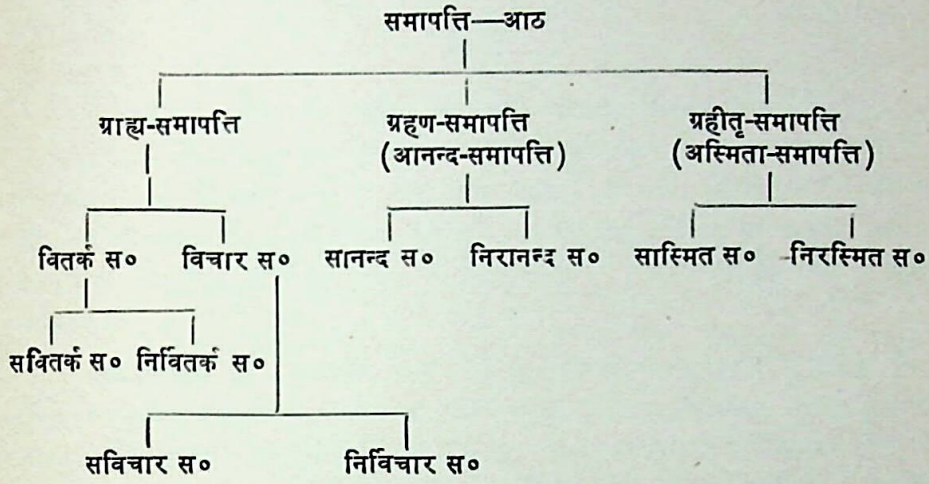
(ख) विज्ञानभिक्षु, भावागणेश एवं नागेशभट्ट के अनुसार—
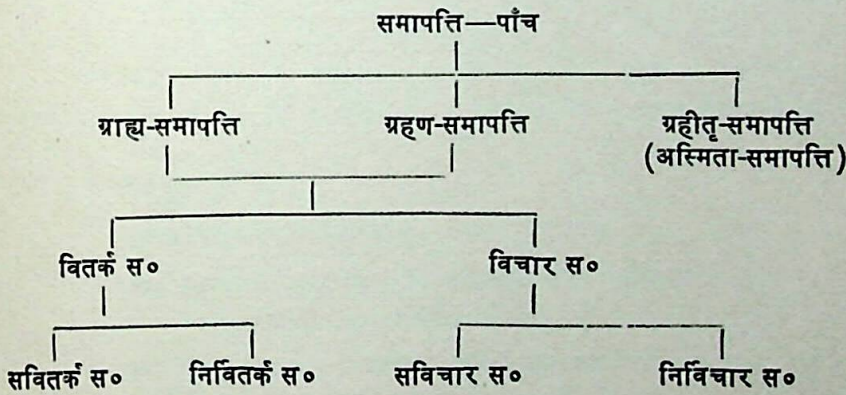
चित्रपट्ट सं० ३
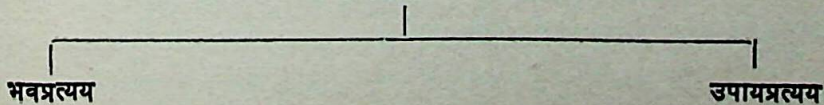
अध्याय—११

योग

पतञ्जलि ने योग का लक्षण किया है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'।[1] सूत्र का सामान्यतः अर्थ है—चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है। चित्त त्रिगुणात्मक है। चित्त की प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति—ये पाँच वृत्तियाँ हैं।[2] वृत्तियाँ चित्त का परिणाम हैं। उक्त सूत्रगत **'निरोध'**—पद का अर्थ वृत्तियों का अभाव (नाश) नहीं, प्रत्युत वृत्तियों का अपने अधिकरण में लीन होना है। वृत्ति-निरोध चित्त का अवस्था-विशेष है।[3]

पतञ्जलिकृत योग के उक्त लक्षण के सम्बन्ध में शङ्का उत्पन्न होती है—यदि वृत्तिमात्र (सम्पूर्ण वृत्तियों) के निरोध को योग कहा जाए तो सम्प्रज्ञातयोग (जिसमें ध्येयाकारात्मक अक्लिष्ट-वृत्ति रहती है)—में योग का लक्षण घटित नहीं हो पायगा और यदि किंचिद्-वृत्तिनिरोध को योग कहा जाए तो चित्त की क्षिप्त, मूढ़ तथा विक्षिप्त—इन तीन अवस्थाओं में यत्किंचिद्-वृत्तिनिरोध रहने से उन्हें भी योग करना पड़ेगा।[4] इस शङ्का के निवारणार्थ वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु एवं नागेश भट्ट ने योग का परिष्कृत लक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

योग का लक्षण

वाचस्पति मिश्र के अनुसार—व्यासभाष्य के प्रथम व्याख्याकार आचार्य वाचस्पति मिश्र योग का लक्षण करते हैं[5]—'क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थित्वे सति चित्त-

---

[1] यो० सू० १।२।

[2] प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः—यो० सू० १।६।

[3] (क) वृत्तयस्तासां निरोधस्तासां लयाख्योऽधिकरणस्यैवावस्थाविशेषः, अभावस्यास्मन्मतेऽधिकरणावस्थाविशेषरूपत्वात्—यो० वा० पृ० १२।

(ख) निरोधश्चात्र चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषावस्थारूपः·········निवृत्त्याख्ययत्नवत्कश्चिद्भावपदार्थो निरोध इत्यन्ये—ना० बृ० वृ० पृ० २२१-२२२।

(ग) सा चावस्था तारतम्यविशिष्टसंस्कारपरिणामधारा न तु वृत्त्यभाव एव—भा० ग० वृ० पृ० २।

[4] क्षिप्तादिष्वपि यत्किंचिद्वृत्तिनिरोधात्············—यो० वा० पृ० १२।

[5] यदि सर्ववृत्तिनिरोधो योग इत्युच्येत भवेदव्यापकं सम्प्रज्ञातस्य। क्लेशकर्माशयपरिपन्थी चित्तवृत्तिनिरोधस्तु तमपि सङ्गृह्णाति, तत्रापि राजसतामसचित्तवृत्तिनिरोधात् तस्य चातद्भावात्—त० वै० पृ० ११।

वृत्तिनिरोधत्वम्' अर्थात् क्लेशादि-विरोधी चित्तवृत्तिनिरोध योग है। चित्त की एकाग्रता अवस्था में होने वाला वृत्तिनिरोध—जिससे सम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है—क्लेशादि का परिपन्थी है। एकाग्र चित्त में सत्त्वगुण का उद्रेक होने से चित्त ध्येय पदार्थ के चिन्तन में स्थिर रहने लगता है और अभ्यासपूर्वक एकाग्रता की वृद्धि होने पर उसे समस्त पदार्थों का अपरोक्षज्ञान होता है। योगसम्मत छब्बीस पदार्थों का यथार्थज्ञान होने से अविद्या आदि पंच क्लेश तथा तन्निमित्तक कर्मबन्धन शिथिल होता है। अन्त में चित्त की समस्त वृत्तियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं।[1] अतः सम्प्रज्ञात में होने वाला वृत्तिनिरोध क्लेशादि का परिपन्थी है। चित्त की क्षिप्त, मूढ़ एवं विक्षिप्त अवस्थाकालिक वृत्तिनिरोध योग नहीं है। क्योंकि इन अवस्थाओं में अस्मिता, राग, द्वेष प्रधान चित्तवृत्तियों का परिणाम चलता रहता है, जिसके कारण अच्छे-बुरे कर्म किए जाते हैं और कर्माशय की तैयारी होती है। फलस्वरूप इह जन्म में कर्मजन्य फलोपभोग की समाप्ति न हो पाने के कारण उन्हें भोगने के लिए आगामी जन्म में निश्चित कालपर्यन्त मनुष्य, पशु आदि योनि धारण करनी पड़ती है।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार—आचार्य **विज्ञानभिक्षु** का कहना है[2] कि केवल **'योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः**—इस सूत्र से ही योग का लक्षण स्पष्ट नहीं होता। प्रत्युत **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'**—इस तृतीय सूत्र से हेतु को उपन्यस्त करते हुए योग का लक्षण इस प्रकार करना चाहिए – **'द्रष्टृस्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योगः'**। अर्थात् द्रष्टा के स्वरूप की अवस्थिति का हेतुभूत चित्तवृत्तिनिरोध योग है। साक्षात् अथवा परम्परया जिस चित्तवृत्तिनिरोध से द्रष्टा पुरुष औपाधिक सुख-दुःख भोग से रहित होकर अपने अनौपाधिक शुद्ध चैतन्यरूप में प्रतिष्ठित होता है, उसे योग कहते हैं। असम्प्रज्ञातयोग—जिसमें पुरुष अपने स्वरूप में रहता है—के मुख्य हेतु परवैराग्य की उत्पत्ति तभी हो पाती है जब सम्प्रज्ञात में साक्षात्कृत चौबीस तत्त्वों के प्रति अनात्मबुद्धि और अन्त में विवेकज्ञान के प्रति भी वैराग्य (हेय) बुद्धि जाग्रत् होती है। इस प्रकार असम्प्रज्ञातयोग का परम्परया कारण होने से सम्प्रज्ञातयोग पुरुष को उसके वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित करने वाला कहा जाता है। क्षिप्तादि तीन अवस्थाएँ पुरुष के स्वरूपावस्थान की हेतु नहीं हैं। क्षिप्तादि काल में चित्त एकाग्र नहीं रहता और एकाग्र न रहने से व्युत्थित चित्त की निरुद्धावस्था नहीं आ पाती है। फलतः असम्प्रज्ञातयोग सिद्ध नहीं होता है।

---

[1] यस्तु समाधिरेकाग्रे चेतसि वर्तमानोऽर्थं ध्येयं वस्तु सद्भूतं परमार्थभूतं प्रकर्षेण द्योतयति साक्षात्कारयति ततश्च क्लेशानविद्यादीन् पञ्च क्षिणोति ततोऽपि च कारणोच्छेदाद्धर्माधर्मरूपाणि बन्धनानि बुद्धिपुरुषयोर्बन्धकारणानि श्लथयति = अदृष्टोत्पादनाक्षमाणि करोति तथा निरोधमसंप्रज्ञातयोगमभिमुखं प्रत्यासन्नं करोति परवैराग्यजननेनेति शेषः; स समाधिः संप्रज्ञातो योग इति कथ्यते —यो० वा० पृ० ९।

[2] तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमिति वक्ष्यमाणसूत्रसाहित्येनैवास्य लक्षणत्वात्। तथा च द्रष्टृस्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधः क्षिप्ताद्यवस्थासु नास्तीति नातिव्याप्तिः। सम्प्रज्ञातस्य च स्वरूपावस्थितिहेतुत्वमसंप्रज्ञातद्वाराऽस्त्येव—यो० वा० पृ० १२।

नागेश भट्ट के अनुसार—बृहद्योगसूत्रवृत्तिकार आचार्य नागेश भट्ट ने वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रस्तुत योग के परिष्कृत लक्षणों[१] को स्वीकार किया एवं उन लक्षणों की निर्दुष्टता भी स्पष्ट की।[२] उन्होंने विज्ञानभिक्षुकृत योग के परिष्कृत लक्षण में 'आत्यन्तिक'—पद के प्रयोग द्वारा सर्ववृत्तिनिरोधरूप प्रलय एवं समग्र-सुषुप्ति में योग का लक्षण अतिव्याप्त होने से बचाया है।[३] प्रलय एवं समग्र-सुषुप्ति में चित्त की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। इससे पुरुष का अपने स्वरूप में स्थित होना स्वाभाविक है। लेकिन पुरुष की यह स्वरूपावस्थिति आत्यन्तिक (सार्वकालिक) नहीं है। अतः पुरुष की आत्यन्तिक स्वरूपावस्थिति का हेतु न होने से प्रलय तथा समग्र-सुषुप्तिकालिक सर्ववृत्तिनिरोध योग नहीं है।

योग के भेद

योग दो प्रकार का है—सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात।

सम्प्रज्ञात

दर्पण में दर्शक को अपनी मुखाकृति ठीक-ठीक दिखलाई दे इसके लिए दर्पण का स्वच्छ होना आवश्यक है। इसी प्रकार सूक्ष्म पदार्थों के यथार्थज्ञान के लिए चित्त का निर्मल होना अनिवार्य है।[४] एकाग्रता-काल में राजस तथा तामस वृत्तियाँ निरुद्ध होने पर चित्त स्वच्छ रहता है। सत्त्वगुणप्रधान चित्त ध्येय पदार्थ का चिन्तन करने में समर्थ होता है। अतः सम्प्रज्ञातयोग में विषय का साक्षात्कारात्मक वृत्ति-निरोध चित्त की एकाग्रता अवस्था से प्रारम्भ होता है। इस काल में पदार्थ का संशय और विपर्यय से शून्य यथार्थज्ञान होता है। अर्थात् तत्काल स्थूल पदार्थों का साक्षात्कार होता है। ध्यान के क्रमिक उत्कर्ष से चित्त अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्कार करने में भी समर्थ होता है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात योग में विषय-साक्षात्कार का क्रम स्थूल से सूक्ष्म पदार्थ की ओर बढ़ता है। इसमें श्रुतिवाक्य प्रमाण है।[५] उदाहरणस्वरूप धनुर्विद्या की शिक्षा देते समय गुरु क्षत्रियकुमार को सर्वप्रथम

---

१ द्रष्टुरात्यन्तिकस्वरूपावस्थितिहेतुचित्तवृत्तिनिरोधत्वस्यैव लक्षणत्वात्। यद्वा क्लेशकर्मादिपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधत्वं लक्षणम्—ना० बृ० वृ० पृ० २२०।

२ उक्तासु च तिसृषु भूमिषु सन्नपि निरोधो बहुलविक्षेपशेषभूतत्वान्न स्वरूपावस्थितिहेतुर्नापि क्लेशादिपरिपन्थीति नातिव्याप्तिः। एकाग्रं तु यदा विक्षेपहेतुरजस्तमोलेशेनापि रहितं बुद्ध्यात्मरूपयोः सत्त्वपुरुषयोरन्यताख्यातिरूपविवेकख्यातिमात्रवृत्तिकं तदोच्यते—ना० बृ० वृ० पृ० २२१।

३ प्रलयकालीनस्य समग्रसुषुप्तिकालिकस्य च निरोधस्य व्यावृत्तय आत्यन्तिकेति—ना० बृ० वृ० पृ० २२०-२२१।

४ चित्तस्य स्वत एव सर्वार्थसाक्षात्कारसामर्थ्यमस्ति विषयान्तरव्यासङ्गदोषादेव तु तत्प्रतिबद्धमतो वृत्त्यन्तरप्रतिबन्धस्य निःशेषतो विगमे स्वत एव ध्येयवस्तुसाक्षात्कारस्तद्रूपापत्त्याख्यो भवति—यो० वा० पृ० १०७।

५ योगारम्भे मूर्त्तहरिममूर्त्तमथ चिन्तयेत्।
स्थूले विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मे शनैर्नयेत्॥—यो० वा० पृ० ५३।

स्थूल लक्ष्य का भेदन करने का अभ्यास कराता है। अभ्यास के परिपक्व होने पर सूक्ष्म लक्ष्यपर्यन्त बाण के गतिमय होने की विधि बतलाता है।[1] इस प्रकार सम्प्रज्ञात का अभ्यासी सर्वप्रथम पाञ्चभौतिक स्थूल ध्येय का साक्षात्कार करता है, तदनन्तर सूक्ष्म पदार्थ का।[2] 'सम्प्रज्ञात' शब्द से ही संकेतित है कि यह ध्येय पदार्थ का सम्यक् रूप से साक्षात्कारात्मक है।[3] वस्तुतः सम्प्रज्ञातयोग में तत्त्वसाक्षात्कारवती प्रज्ञा उत्पन्न होती है। सम्प्रज्ञातयोग की परिपक्व अवस्था में उक्त प्रज्ञा विवेकख्याति रूप से परिणत होती है।[4] विवेकख्याति के उदित होने के पश्चात् साधक सर्वभावाधिष्ठातृत्व आदि ऐश्वर्यों में लिप्त नहीं रहता। प्रत्युत विवेकख्याति के प्रति भी हेयत्व-बुद्धि जाग्रत् होती है। इसका स्वरूप है—**इदमपि हेयम्**। यह हेयत्व-बुद्धि परवैराग्यरूप है। इस प्रकार असम्प्रज्ञातयोग का कारण सम्प्रज्ञातयोग है।[5]

सम्प्रज्ञातयोग की अवस्थाएँ—स्थूलादि तत्त्वों के साक्षात्कार का क्रम निश्चित होने से सम्प्रज्ञातयोग की चार अवस्थाएँ हैं—वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता।[6]

वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातयोग—वितर्कानुगतयोग में विराट् चतुर्भुज ब्रह्मा आदि, घटादि अथवा षड्विंश तत्त्वों के किसी भी संघात को धारणा, ध्यान एवं समाधि का आलम्बन[7] बनाकर उस पदार्थगत स्थूलरूप का साक्षात्कार होता है। अर्थात् वितर्कानुगतयोग

---

[1] यथा हि प्राथमिको धानुष्कः स्थूलमेव लक्ष्यं विध्यत्यथ सूक्ष्मम्—त० वै० पृ० ५२।

[2] (क) एवं प्राथमिको योगी स्थूलमेव पाञ्चभौतिकं चतुर्भुजादि ध्येयं साक्षात्करोत्यथ सूक्ष्मम्—त० वै० पृ० ५२।

(ख) तु०—म० प्र० पृ० ९।

[3] (क) सम्यक्-प्रज्ञावत्त्वेन भावनाविशेषरूपो योगः सम्प्रज्ञातनामा भवति—म० प्र० पृ० १९।

(ख) सम्यक्प्रज्ञाकरत्वेन योगः संप्रज्ञातनामा भवति—यो० वा० पृ० ५१।

(ग) सम्यक्प्रज्ञायते येन भाव्यं वस्तु स सम्प्रज्ञातः समाधिर्भावनाविशेषः—यो० सु० पृ० ९।

[4] तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः—व्या० भा० पृ० १४।

[5] (क) अस्यैव चात्मसाक्षात्कारस्य (अस्मितानुगतसम्प्रज्ञाते) पराकाष्ठा धर्ममेघसमाधिरित्युच्यते। यस्योदये ज्ञानेऽप्यलंप्रत्ययरूपेण परवैराग्येण असम्प्रज्ञातयोगो जायते—यो० सा० सं० पृ० २१।

(ख) तु०—भा० ग० वृ० पृ० १५।

[6] वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः—(१।१७) पातंजलसूत्र के अनुसार योग के सभी व्याख्याकारों ने सम्प्रज्ञात की चार अवस्थाएँ स्वीकार की हैं।

[7] (क) यद्विराट्शरीरं चतुर्भुजादिकं वा स्वशरीरं पुरुषेश्वरसहितं जडचतुर्विंशतितत्त्वैः प्रकृत्या पुरुषेण च षड्विंशतितत्त्वसंघातं······प्रथमं भावना प्रवर्तते तदालम्बनम्—ना० ल० वृ० पृ० १४।

(ख) तु०—यो० वा० पृ० ५२।

में स्थूलपदार्थविषयक प्रज्ञा (समापत्ति) उत्पन्न होती है। यह प्रज्ञा विकल्प से अनुविद्ध एवं अननुविद्ध होने के कारण दो प्रकार की है।

सवितर्क सम्प्रज्ञातयोग—सम्प्रज्ञातयोग की सवितर्क अवस्था शब्दमय चिन्तन से प्रारम्भ होती है। इसमें शब्द, अर्थ तथा ज्ञान अभिन्न रूप से प्रतीत होते हैं। वस्तुतः शब्दादि परस्पर भिन्न हैं।[1] ध्वनि के परिणामभूत शब्द के उदात्त, अनुदात्त अथवा तारत्व, मन्दत्व आदि धर्म हैं। पदार्थ के जड़त्व, मूर्त्तत्व आदि धर्म हैं तथा ज्ञान के प्रकाश, अमूर्त्तत्व आदि धर्म हैं। लेकिन 'गो—यह शब्द है, गो—यह अर्थ है, गो —यह ज्ञान है'—इत्याक रक प्रयोगों में शब्द, अर्थ तथा ज्ञान अभिन्न प्रतिभासित होते हैं। समाधि के विषयभूत गो आदि स्थूल पदार्थ जब शब्द, अर्थ एवं ज्ञान के विकल्प (अभेदाध्यास) से अनुविद्ध रहते हैं, तब सवितर्कयोग होता है।[2] यह उच्च कोटि की योगज-प्रज्ञा नहीं है। इस समय भेद में अभेदबुद्धिरूप अविद्या रहती है। इसलिए योगिजन उक्त सवितर्क योग को अपर-प्रत्यक्ष कहते हैं।[3]

इस पर यह शङ्का उत्पन्न होती है—सम्प्रज्ञातयोग की प्रथम अवस्था में यदि साधक को स्थूल पदार्थ का अविद्यामिश्रित ज्ञान (अविशुद्ध चिन्तन) ही होता है तो लौकिक ज्ञान की अपेक्षा समाधिज ज्ञान में कोई विशेषता ही नहीं रही। इसके उत्तर में **विज्ञानभिक्षु** आदि व्याख्याकारों का कहना है—वितर्कानुगत-योग में अभ्यासी को स्थूल पदार्थ का विशुद्ध (विकल्पहीन) ज्ञान नहीं हो पाता, फिर भी सवितर्कयोग से उसे स्थूल पदार्थगत समस्त विशेष रूपों का प्रत्यक्षज्ञान होता है।[4] तथा स्थूलपदार्थ के विशुद्ध रूप का ज्ञान कराने वाले निर्वितर्कयोग का साधन (हेतु) होने से भी सवितर्कयोग उपादेय है।

---

[1] (क) ध्वनिपरिणाममात्रस्य शब्दस्योदात्तादयो धर्माः, अन्येऽर्थस्य जडत्वमूर्त्तत्वादयः अन्ये प्रकाशमूर्तिविरहादयो ज्ञानस्य धर्मा इति—त० वै० पृ० ११०।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ११०।

[2] (क) तत्र शब्दज्ञानाभ्यामभेदेन विकल्पिते स्थूले गवाद्यर्थे समाहितचित्तस्य योगिनः समाधिजन्यसाक्षात्कारो यथा कल्पितार्थमेव गृह्णाति तथा सा समाधिप्रज्ञा शब्दार्थज्ञानानां विकल्पैः संकीर्णाः··· सवितर्का समापत्तिः—म० प्र० पृ० २१।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ११०। (ग) तु०—यो० सि० चं० पृ० ४५।
(घ) तु०—सू० बो० पृ० १५। (ङ) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २५५।

[3] (क) तदनेन योगिनोऽपरं प्रत्यक्षमुक्तम्—त० वै० पृ० ११०।
(ख) इयं च समापत्तिरपरं प्रत्यक्षमविद्यालेशसंबन्धात्—यो० वा० पृ० १११।
(ग) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २५३।

[4] (क) स्थूलयोर्भूतेन्द्रिययोरदृष्टाश्रुतामताशेषविशेषसाक्षात्कारः सवितर्कः—यो० वा० पृ० ५२।
(ख) तु०—भा० ग० वृ० पृ० १३।
(ग) तु०—ना० ल० वृ० पृ० १४।

निर्वितर्क सम्प्रज्ञातयोग सवितर्कयोग का निरन्तर अभ्यास करते रहने से स्थूल-विषयक निर्वितर्कयोग सिद्ध होता है। यह विकल्प से संकीर्ण नहीं है। **अयं गौः**—इत्याकारक शब्द तथा अर्थ के इतरेतराध्यास को शब्दसंकेत कहते हैं। इस प्रकार शब्दसङ्केत के आधार पर शाब्दबोध और शाब्दबोध के आधार पर अनुमिति होती है। अतः आगम और अनुमान प्रमाण से जो ज्ञान होता है, वह भी विकल्परूप है। इस प्रकार शब्दमय चिन्तन से उत्पन्न होने वाली सवितर्कयोगजन्य प्रज्ञा विकल्प से संकीर्ण होती है। लेकिन जब अर्थ (पदार्थ)-मात्र की ओर स्वभावतः झुकने वाले चित्त की सङ्केतस्मृति दूर हो जाती है तब (शब्दसङ्केत की स्मृति से शून्य) समाधिप्रज्ञा में स्वरूपमात्र से अवस्थित स्थूलपदार्थ विकल्प-शून्य भासित होता है। इसे निर्वितर्कयोग कहते हैं।[१] तात्पर्य यह है कि इस समय चित्त ध्येयाकार में इतना तल्लीन हो जाता है कि वह अपने ग्रहणात्मक रूप से भी शून्य सदृश प्रतिभासित होता है। अर्थात् 'मैं जान रहा हूँ'—इस प्रकार का भाव भी लुप्त हो जाता है। वस्तुतः वह ज्ञान से शून्य नहीं होता है। ज्ञातृ-ज्ञान-शून्य निर्वितर्क सम्प्रज्ञातयोग में स्थूल ज्ञेय का साक्षात्कार होता है। इस काल में होने वाले ज्ञान को परप्रत्यक्ष कहते हैं।[२] क्योंकि सवितर्क योग की विकल्पात्मक अविद्या नष्ट हो जाती है। साधक सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक समस्त स्थूल विषयों का सूक्ष्मतम ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने 'वितर्कः'—पद का अर्थ 'पदार्थ का विशेष रूप से अवधारण' किया है।[३]

विचारानुगत सम्प्रज्ञातयोग—विचारानुगत सम्प्रज्ञातयोग में साधक को सूक्ष्म पदार्थों का अपरोक्षात्मक ज्ञान होता है। सूक्ष्म पदार्थों का देश, काल तथा निमित्त से अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न ज्ञान होने के कारण विचारानुगतयोग दो प्रकार का है।

सविचार—देश, काल तथा निमित्त के अनुभव से अवच्छिन्न सूक्ष्मपदार्थविषयक सम्प्रज्ञात विचारानुगत है। उक्त योग कार्यकारणभाव के विचार से युक्त होता है। सविचार में देश, काल आदि विशेषण से रहित विशुद्ध भूतसूक्ष्म का ज्ञान नहीं हो पाता है। प्रत्युत ऊर्ध्व, पार्श्व आदि देश, वर्तमान आदि काल तथा पञ्चमहाभूत के कारण के ज्ञान से मिश्रित भूतसूक्ष्म का साक्षात्कार होता है। सविचार में साक्षात्कृत अन्य सूक्ष्म पदार्थ भी देशादि से अवच्छिन्न होते हैं।[४]

---

[१] यदा नामवाक्यरहितध्यानाभ्यासाद् वास्तवो ध्येयविषयो वाग्वियुक्तो ज्ञायते तदा शब्दसङ्केतस्मृतिपरिशुद्धिः। न तदा तत् प्रत्यक्षं विज्ञानं शब्दानुविद्धेन सविकल्पेन श्रुतानुमानज्ञानेन मलिनं भवति। तदाऽर्थः समाधिप्रज्ञायां निर्विकल्पेन स्वरूपमात्रे णावतिष्ठते······सा हि निर्वितर्का समापत्तिः—भा० पृ० १११।

[२] (क) तद् योगिनां परं प्रत्यक्षम्—त० वै० पृ० १११।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २५३।

[३] विशेषेण तर्कणमवधारणं वितर्कः—यो० वा० पृ० ५२।

[४] (क) शब्दार्थविकल्पसहितत्वेन देशकालधर्माद्यवच्छिन्नः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा सविचारा—रा० मा० पृ० १७।
(ख) तु०—भा० पृ० ११९-१२०। (ग) तु०—त० वै० पृ० ११९।
(घ) तु०—यो० वा० पृ० ११९। (ङ) तु०—यो० प्र० पृ० २०-२१।

निर्विचार—निर्विचारयोग में सूक्ष्म विषयों का उपर्युक्त संकीर्णता से रहित अपरोक्षात्मक ज्ञान होता है। तत्काल साधक को देश, काल और निमित्त (कार्य-कारण)—इन विशेषणों के ज्ञान से रहित तथा शब्द एवं ज्ञान के विकल्प से रहित सूक्ष्म पदार्थों का विशुद्ध अपरोक्षज्ञान होता है। अर्थात् इस अवस्था में ध्येय सूक्ष्म विषय का सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा सर्वधर्मयुक्त ज्ञान होता है।[1] सविचारयोग का क्षेत्र सीमित है, क्योंकि तात्कालिक प्रज्ञा देशादि से अवच्छिन्न होती है। उसमें निर्विचार की व्यापकता नहीं है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने 'विचार'—पद को मन्दसञ्चरणार्थक माना है।[2] क्योंकि तन्मात्राओं से लेकर प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम पदार्थ मन्दगति से ही साक्षात्कार योग्य होते हैं। सम्प्रज्ञातयोग की उपर्युक्त चारों अवस्थाएँ विषय की दृष्टि से ग्राह्यसमापत्ति के अन्तर्गत हैं।

आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातयोग—सम्प्रज्ञात की वितर्क और विचार अवस्थाओं के विजित होने पर साधक आनन्दानुगत अवस्था में प्रवेश करता है। यह ग्रहणसमापत्ति कही जाती है।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातयोग—सम्प्रज्ञातयोग की अन्तिम अवस्था है—अस्मिता। यहाँ पुरुष का साक्षात्कार होता है।

यहाँ एक शङ्का उपस्थित होती है—माना कि सम्प्रज्ञातयोग में पदार्थगत अशेषविशेष का साक्षात्कार कराने की योग्यता है; लेकिन शिष्यगण गुरु द्वारा साक्षात्कृत पदार्थगत अशेष-विशेष को गुरुपदेश से ही जान लेंगे; शिष्यों के लिए योग-साधना व्यर्थ है। उत्तर है, जैसे इक्षु और क्षीर के माधुर्य को शब्द के द्वारा नहीं बतलाया जा सकता, इसी प्रकार गुरु पदार्थ के अशेष-विशेष को शब्द के द्वारा स्पष्ट नहीं कर सकता है। यह स्वानुभववेद्य है।[3] स्मृतिग्रन्थों में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है।[4]

सोपान-आरोहण-न्याय से सम्प्रज्ञात की चारों अवस्थाएँ क्रमशः पार की जाती हैं।[5] पूर्व-पूर्व अवस्था में उत्तरोत्तर अवस्था के विषय का अस्पष्ट चिन्तन रहता है। लेकिन

---

१ (क) या तु सर्वथा सर्वैः स्वरूपैः सर्वतो देशकालाद्यनवच्छेदतः समापत्तिः शान्तादिव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेष्वतीतवर्तमानभविष्यद्धर्मैरनवच्छिन्नेष्वतीतवर्तमानभूतसूक्ष्मेषु जायते सा निर्विचारा—यो० वा० पृ० १२०।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २५७। (ग) तु०—यो० प्र० पृ० २०।
(घ) तु०—त० वै० पृ० १२०। (ङ) तु०—भा० पृ० १२०।

२ तत्र च विचारशब्दो मन्दचरणार्थकः—यो० वा० पृ० ५२।

३ (क) गुरोर्विशेषज्ञत्वेऽपि स विशेषः शब्देनाशेषो वक्तुं न शक्यत इक्षुक्षीरादिविशेषवत्—यो० वा० पृ० ११२।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २५४।

४ इदं तदिति निर्देष्टुं गुरुणाऽपि न शक्यते—स्मृतिवाक्य—यो० वा० पृ० ११२।

५ उच्चारोहे क्रमिकसोपानपरम्परावत्—ना० ल० बृ० पृ० १४।

उत्तरवर्ती अवस्था में पूर्व-पूर्व अवस्था के विषय का चिन्तन छूटता जाता है।[१] क्योंकि कारण में कार्य व्याप्त (अनुप्रविष्ट) रहता है, कार्य में कारण व्याप्त नहीं रहता है।[२] समुद्र में लहरें व्याप्त रहती हैं, लहरों में समुद्र व्याप्त नहीं रहता है। अतः चिन्तनधारा के स्थूल से सूक्ष्म विषय की ओर बढ़ने से स्थूलविषयक वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातयोग चतुष्टयानुगत (वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मिता से युक्त), विचारानुगत सम्प्रज्ञातयोग तृतीयानुगत (वितर्क से रहित विचार आदि तीन से युक्त), आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातयोग द्वितीयानुगत (वितर्क, विचार से विकल, आनन्द और अस्मिता से युक्त) एवं अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-योग एकानुगत (प्रथम तीन से विकल) होता है।[३] ध्यान के विषयभूत घटादि पदार्थों में पुरुष एवं ईश्वर उपादानकारणत्वेन व्याप्त नहीं रहते; प्रत्युत व्यापक होने से वे उनमें अनुस्यूत रहते हैं।[४] अतः वितर्क आदि स्थूलविषयक योग में पुरुष आदि का अव्यक्त चिन्तन रहता है।

सम्प्रज्ञातयोग की चारों अवस्थाओं में ध्यान का आलम्बन एक ही पदार्थ रहता है। अवस्थाभेद से आलम्बन परिवर्तित नहीं होता है। अन्यथा पूर्व-पूर्व उपासना के त्याग की आपत्ति आयगी और चित्त का चांचल्य बढ़ेगा। अतः सम्प्रज्ञातयोग की चारों अवस्थाएँ एक ही आलम्बन में क्रमशः अभ्यसनीय हैं।[५]

वितर्कानुगतयोग का विषय—वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातयोग स्थूलविषयक है। इस अंश में पातञ्जल-योग के सभी व्याख्याकार एक मत हैं। लेकिन स्थूल-वर्ग के अन्तर्गत कितने पदार्थ हैं—इस सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ उपलब्ध हैं।

प्रथम मत—आचार्य वाचस्पति मिश्र[६], रामानन्दयति[७], सूत्रार्थबोधिनीकार नारायणतीर्थ[८] एवं आचार्य बलदेव मिश्र ने स्थूलवर्ग के अन्तर्गत पञ्चमहाभूतों (महाभूत के

---

१ (क) पूर्वपूर्वभूमिकासूत्तरोत्तरभूमिविषयस्य चिन्तनमुत्तरोत्तरभूमिषु च पूर्वपूर्व-विषयस्य परित्यागं विदधाति —यो० वा० पृ० ५३।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २३५।

२ कार्यं कारणानुप्रविष्टं न कारणं कार्येण—त० वै० पृ० ५४।

३ तदयं स्थूल आभोगः स्थूलसूक्ष्मेन्द्रियास्मिताकारणचतुष्टयानुगतो भवति; उत्तरे तु त्रिद्व्येककारणकास्त्रिद्व्येकरूपा भवन्ति—त० वै० पृ० ५४।

४ (क) कारणरूपेण विभुत्वेन च सर्वज्ञानुगमादस्मितायाः अचेतनघटाद्यालम्बनेष्वपि सम्भव इति दिक्—भा० ग० वृ० पृ० १५।
(ख) कारणरूपेण जीवेश्वरयोः सर्वत्रानुगमात्—यो० सा० सं० २४।

५ (क) तत्र पूर्वपूर्वभूमिकात्यागेनोत्तरोत्तरभूम्यारोह एकत्रैवालम्बने कार्यः, अन्यथा पूर्वपूर्वोपासनात्यागदोषापत्तेः—ना० बृ० वृ० पृ० २३४।
(ख) एकस्मिन्नेव चतुर्भुजादिव्यष्टिसमष्टिसंघातरूपालम्बने चतुर्विधः संप्रज्ञातः क्रमेण भवति—भा० ग० वृ० पृ० १३।
(ग) तु०—यो० वा० पृ० ५२।

६ स्थूलमेव पाञ्चभौतिकम् त० वै० पृ० ५२।

७ स्थूलमेव शालग्रामादिकं ध्यानेन साक्षात्करोति—म० प्र० पृ० ९।

८ स्थलसाक्षात्कारो वितर्कः—सू० बो० पृ० ७।

कार्य होने से घट, पट आदि भी इन्हीं में अन्तर्भूत हैं) को रखा है। इनके अनुसार वितर्कानुगतयोग में केवल स्थूलमहाभूत का साक्षात्कार होता है।

द्वितीय मत—भोजदेव[1], विज्ञानभिक्षु[2], भावागणेश[3] योगसिद्धान्तचन्द्रिकाकार नारायणतीर्थ, नागेश भट्ट[4] सदाशिवेन्द्रसरस्वती[5] तथा हरिहरानन्द आरण्यक[6] ने पञ्चमहाभूतों की भाँति इन्द्रियों को भी स्थूल-वर्ग के अन्तर्गत माना है। इस पक्ष के समर्थकों का कहना है कि भाष्यकार व्यासदेव ने 'वितर्कः=स्थूलः'—इस वाक्यांश द्वारा वितर्कानुगतयोगकालिक प्रज्ञा का विषय संकेतित है। इसमें प्रयुक्त 'स्थूल'—पद केवलविकृति[7] रूप कार्य का बोधक है। एतावता विज्ञानभिक्षु आदि के अनुसार वितर्कानुगतयोग में होने वाले अपरोक्षज्ञान का विषय तत्वान्तर के अनुपादान केवलविकृतिरूप महाभूत एवं इन्द्रियाँ हैं।

विचारानुगतयोग का विषय—विचारानुगत-सम्प्रज्ञातयोगकालिक प्रज्ञा सूक्ष्मविषयक है—यह सभी व्याख्याकारों को मान्य है। किन्तु इस समय किन-किन सूक्ष्म पदार्थों का साक्षात्कार होता हो—इस विषय में मतभेद है।

प्रथम मत—आचार्य वाचस्पति मिश्र[8], रामानन्दयति[9] एवं बलदेवमिश्र[10] ने विचारानुगत-सम्प्रज्ञातयोगकालिक प्रज्ञा का विषय पञ्चतन्मात्र, महत् एवं प्रकृति माना है।

द्वितीय मत—आचार्य विज्ञानभिक्षु[11], भावागणेश[12], योगसिद्धान्तचन्द्रिकाकार[13] तथा नागेश भट्ट[14] ने भूतेन्द्रियों के सूक्ष्म अर्थ-पंचतन्मात्र, अहङ्कार, महत् तथा प्रकृति माना है। इस पक्ष के अनुसार अहङ्कार का साक्षात्कार विचारानुगतसमाधि में होता है।

---

[1] महाभूतानि इन्द्रियाणि स्थूलानि—रा० मा० पृ० ७।

[2] स्थूलयोर्भूतेन्द्रिययोः……—यो० वा० पृ० ५२।

[3] तत्र भूतेन्द्रिययोरश्रुतामताशेषविशेषसाक्षात्कारे वितर्कपरिभाषा—भा० ग० वृ० पृ० १३।

[4] स्थूलयोर्महाभूतेन्द्रिययोः—ना० ल० वृ० पृ० १४।

[5] तत्र भावनया भाव्यभूतेन्द्रियगोचर साक्षात्कारः सवितर्कः—यो० सू० पृ० १०।

[6] तत्र षोडशस्थूलविकारविषया समाधिजा प्रज्ञा…प्रतितिष्ठतिः—भा० पृ० ५२।

[7] …केवलविकृतित्वरूपस्यास्थूलत्वेन्द्रियसाधारण्यात्—यो० वा० पृ० ५३।

[8] स्थूलकारणभूतसूक्ष्मपञ्चतन्मात्रलिङ्गालिङ्गविषयो विचारः—त० वै० पृ० ५२।

[9] स्थूलस्य कारणं पञ्चतन्मात्रादिकम्…—म० प्र० पृ० ९।

[10] स्थूलकारणीभूतसूक्ष्मतन्मात्रलिङ्गालिङ्गविषयः साक्षात्कारो विचारः—यो० प्र० ९।

[11] तत्रैवालम्बने कारणत्वादिनाऽनुगता ये प्रकृतिमहदहंकारपञ्चतन्मात्ररूपा भूतेन्द्रिययोः सूक्ष्माः अर्थाः…—यो० वा० पृ० ५२।

[12] यो० वा० की उपर्युक्त पंक्ति के सदृश पंक्ति भावागणेश वृ० पृ० १३ पर आई है।

[13] स्थूलकारणपञ्चतन्मात्राहंकारमहदव्यक्तसूक्ष्मसाक्षात्कारो विचारः—यो० सि० चं० पृ० १९।

[14] ये पंचतन्मात्राहंकारमहत्प्रकृतिरूपा उत्तरोत्तरसूक्ष्मा अर्थाः…—ना० बृ० वृ० पृ० २३३।

अन्य मत—हरिहरानन्द आरण्यक ने तन्मात्र, अहङ्कार तथा महत्तत्त्व को विचारानुगत-योगकालिक प्रज्ञा का विषय माना है। भोजदेव[१] एवं सदाशिवेन्द्रसरस्वती[२] ने विचारानुगत-सम्प्रज्ञातयोगकालिक प्रज्ञा की सूक्ष्मविषयता के अन्तर्गत पञ्चतन्मात्र एवं अन्तःकरण (अहङ्कार) को रखा है। इन दोनों व्याख्याकारों ने 'आदि, 'इत्यादि'—पदों का प्रयोग नहीं किया है, जिसके आधार पर पूर्वाचार्यों की भाँति इनके मत में भी तन्मात्रादि की सूक्ष्मता प्रकृतिपर्यन्त मानी जा सके। सूत्रार्थबोधिनीकार[३] नारायणतीर्थ ने इस सन्दर्भ में विषयसाक्षात्कार के क्षेत्र को केवल तन्मात्रपर्यन्त मानकर उसे और भी संकुचित कर दिया है।

आनन्दानुगतयोग का विषय—आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातयोगकालिक प्रज्ञा के विषय (आलम्बन) के सम्बन्ध में भी व्याख्याकारों का एक मत नहीं है।

प्रथम मत—आचार्य वाचस्पति मिश्र[४], रामानन्दयति[५] तथा सूत्रार्थबोधिनीकार[६] ने आनन्दानुगत योगकालिक प्रज्ञा का विषय सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न सत्त्वगुणप्रधान इन्द्रियाँ मानी हैं।

द्वितीय मत—आचार्य विज्ञानभिक्षु[७] भावागणेश[८], योगसिद्धान्तचन्द्रिकाकार नारायणतीर्थ[९] तथा नागेश भट्ट[१०] आदि का मत है कि वितर्क और विचारानुगतयोग में स्थूलभूत से

---

१ तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मविषयम्—रा० मा० पृ० ७।

२ पञ्चतन्मात्रान्तःकरणगोचरसाक्षात्कारः सविचारः—यो० सु० पृ० १०।

३ स्थूलकारणपञ्चतन्मात्रविषयको विचारः—सू० बो० पृ० ७।

४ इन्द्रिये स्थूल आलम्बने चित्तस्याभोग आह्लादः, प्रकाशशीलतया खलु सत्त्वप्रधानात् अहङ्कारादिन्द्रियाण्युत्पन्नानि सत्त्वं सुखमिति तान्यपि सुखानीति तस्मिन्नाभोग आह्लादः—त० वै० पृ० ५२।

५ इन्द्रियाणि स्थूलानि प्रकाशकत्वात् सत्त्वरूपाणि तेषां ध्यानेन साक्षात्कार आनन्दः—म० प्र० पृ० ९।

६ इन्द्रियाणामस्थूलरूपत्वेऽपि प्रकाशकत्वेन सात्त्विकरूपत्वात्तेषां ध्यानेन साक्षात्कार आनन्दः—सू० बो० पृ० ७।

७ तत्रैवालम्बने यश्चित्तस्य विचारानुगतभूम्यारोहात्सत्त्वप्रकर्षेण जायमाने ह्लादाख्यसुखविशेष आभोगः साक्षात्कारो भवति स आनन्दविषयकत्वादानन्द इत्यर्थः—यो० वा० पृ० ५२-५३।

८ तथा तत्रैवालम्बने यश्चतुर्विंशतितत्त्वानुगतः सुखरूपः पुरुषार्थोऽस्ति, तद्गताशेषविशेषसाक्षात्कारे आनन्दसंज्ञा—भा० ग० वृ० पृ० १३।

९ तत्रारोहात् सत्त्वप्रकर्षेण जायमानाह्लादस्य साक्षात्कार आनन्दः—यो० सि० चं० पृ० १९।

१० तत्रैवालम्बने तामपि दृष्टिं दोषदर्शनेन त्यक्त्वा चतुर्विंशतितत्त्वानुगतसुखरूपपुरुषार्थे धारणादित्रयेण पूर्ववदशेषविशेषतः सुखाकारः स आनन्दः ज्ञानज्ञेययोरभेदोपचारात् तदुपहितः सानन्दः—ना० ल० वृ० पृ० १४।

लेकर प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्म पदार्थों के साक्षात्कार से जायमान हर्षोल्लास से अभ्यासी के चित्त में सत्त्वगुण का उद्रेक होता है। यही सुखविशेष आनन्दानुगतप्रज्ञा का विषय है। इस समय 'मैं सुखी हूँ'—इत्याकारक चित्तवृत्ति बनती है। अन्य कोई सूक्ष्म पदार्थ ज्ञान का विषय नहीं होता है।

आनन्दानुगत-योगकालिकप्रज्ञा को इन्द्रियविषयक मानने वाले **वाचस्पति मिश्र** आदि के मत में अरुचि प्रकट करते हुए **विज्ञानभिक्षु** आदि व्याख्याकारों का कहना है कि षड्विंशति पदार्थों (ईश्वर, जीव, प्रकृति, महत्, अहंकार, पंचतन्मात्र, एकादश-इन्द्रिय एवं पंचमहाभूत) में इन्द्रियों की गणना स्थूलजातीय तत्त्वों के अन्तर्गत की जाती है; और भाष्यकार ने वितर्कानुगतयोगकालिक प्रज्ञा को स्थूलविषयक कहा है। अतः स्थूल इन्द्रियाँ आनन्दानुगतसमाधिकालिक प्रज्ञा का विषय (आलम्बन) नहीं बन सकती हैं। ये वितर्कानुगतयोग के विषय हैं।[1] द्वितीय हेतु यह है कि **व्यासदेव** ने **'आनन्दो ह्लादः'**—ऐसा कहा है। इससे आनन्दानुगतयोगकालिकप्रज्ञा की ह्लादविषयता स्फुट है। तृतीय हेतु यह है—यदि **'ह्लाद'**-पद से ह्लादवान् इन्द्रियवर्ग को लिया जाए तो **'ह्लाद'**—पद में लक्षणा करनी पड़ेगी।[2] यह उचित नहीं है। जहाँ मुख्यार्थ सम्भव है वहाँ लक्ष्यार्थ का ग्रहण अनुचित है। चतुर्थ हेतु यह है[3]—यदि आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातयोग को इन्द्रियविषयक माना भी जाए तो इन्द्रियों का चित्त के साथ उपराग (सम्बन्ध) एवं अनुपराग (असम्बन्ध) होने से इस समापत्ति के भी सानन्द एवं निरानन्द दो अवान्तरभेद होने लगेंगे। ऐसा मानने पर सूत्र एवं व्यासभाष्य में अपूर्णता आ जायगी। क्योंकि सूत्र एवं भाष्य में तृतीय समापत्ति के दो भेदों का निर्देश नहीं किया गया है। पंचम हेतु को उपन्यस्त करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** आदि का कहना है[4]—**'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः'**—सूत्र के द्वारा तीन प्रकार की समापत्तियाँ कही गई हैं। इस सूत्र के अनुसार सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार तथा निर्विचार समाधि ग्राह्यविषयक समापत्ति के अन्तर्गत है; तथा आनन्दानुगतसमाधि ग्रहणसमापत्ति है। **गृह्यतेऽनेन इति ग्रहणम् = इन्द्रियम्**—इस व्युत्पत्ति के आधार पर आनन्दानुगत समाधि को इन्द्रियविषयक मानना उचित नहीं है। क्योंकि **'क्षीणवृत्तेः……'**—इस सूत्र के द्वारा सम्प्रज्ञातयोग में साधक को सभी विषयों का साक्षात्कार होता है'—यह बतलाना सूत्रकार को अभिप्रेत है; तथा उन्होंने प्रकारान्तर से उक्त साक्षात्कार के विषयों का संकलन भी किया है।

---

[1] **इन्द्रियस्यापि स्थूलतया तत्राभोगस्यापि वितर्कमध्य एव प्रवेशात्—यो० वा० पृ० ५३।**

[2] **आनन्दो हि ह्लादमात्रः,…न त्विन्द्रियं ह्लादशब्देन व्याख्येयं लक्षणाप्रसङ्गात्—यो० वा० पृ० १२५।**

[3] **इन्द्रियगोचरसम्प्रज्ञातस्यानन्दानुगतत्वे सति परोक्तरीत्या तत्रापि वृत्त्युपरागाभ्यां सानन्दनिरानन्दरूपावान्तरविभागसंभवात्तदवचनेनागामिसूत्रभाष्ययोर्न्यूनता स्याद्; अस्मद्व्याख्याने चावान्तरविभागो न संभवतीति न तद्वचनन्यूनता—यो० वा० पृ० ५३।**

[4] **ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु…तात्पर्यग्राहकलिङ्गाभावात्—यो० वा० पृ० ५३।**

अन्य मत—हरिहरानन्द आरण्यक के अनुसार चित्त आदि तेरह करणों में व्याप्त सात्त्विक सुखमय भावविशेष,[१] सदाशिवेन्द्रसरस्वती के अनुसार रजोगुण एवं तमोगुण के लवलेश से अनुविद्ध सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि[२] तथा भोजदेव के अनुसार अहंकार[३] आनन्दानुगत योगकालिक प्रज्ञा का विषय है।

अस्मितानुगतयोग का विषय—सम्प्रज्ञात की प्रथम तीन अवस्थाओं की भाँति चतुर्थ अस्मितानुगतकालिकप्रज्ञा के विषय में भी व्याख्याकारों का एक मत नहीं है।

प्रथम मत आचार्य वाचस्पति मिश्र,[४] रामानन्दयति,[५] नारायणतीर्थ[६] तथा बलदेव-मिश्र[७] ने अहंकारोपरक्त (अहंकारविशिष्ट) पुरुष (चैतन्य) को अस्मितानुगतयोगकालिकप्रज्ञा का विषय माना है। अर्थात् इस अवस्था में साधक को इन्द्रियों का कारणभूत अहंकार ग्रहीतृपुरुष के साथ एकीभूत हुआ प्रतिभासित होता है।

द्वितीय मत आचार्य विज्ञानभिक्षु,[८] भावागणेश एवं[९] नागेश भट्ट[१०] ने अस्मितानुगत-योग को शुद्ध-आत्मविषयक बतलाया है। उनका कहना है कि आत्मतत्त्व जीव तथा ईश्वर के भेद से दो प्रकार का है। भूमिका-क्रम से पहले जीवात्मा का साक्षात्कार होता है; पश्चात् ईश्वरतत्त्व का। अर्थात् उपाधिशून्य जीव एवं ईश्वर का साक्षात्कार होता है। शुद्ध पुरुष के साक्षात्कार का स्वरूप है—'अस्मि'। अपने पक्ष के पुष्ट्यर्थ इन व्याख्याकारों का कहना है कि भाष्य की 'एकात्मिका-संविदस्मितेति'—इस पंक्ति में प्रयुक्त 'एक'—पद केवल-

---

[१] वाच्यवाचकहीनकरणगतह्लादयुक्तप्रकाशालम्बी···अत्र स्थूलेन्द्रियाणां स्थैर्यसह-गतसात्त्विकप्रकाशजात आनन्दः प्रथममालम्बनीक्रियते, ततश्चान्तःकरणस्थैर्यजातस्य ह्लादस्याधिगमो भवति—भा० पृ० ५४।

[२] रजस्तमोलेशानुविद्धसत्त्वप्रधानबुद्धिगोचरसाक्षात्कारः सानन्दः—यो० सु० पृ० १०।

[३] यदा तु रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते, तदा गुणभावाच्चितिशक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात् सानन्दः समाधिर्भवति—रा० मा० पृ० ७।

[४] अस्मिताप्रभवाणीन्द्रियाणि; तेनैषामस्मिता सूक्ष्मं रूपम्; सा चात्मना ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेकात्मिका संवित्—त० वै० पृ० ५३-५४।

[५] तेषां कारणं बुद्धिः पुरुषेण ग्रहीत्रैकीभूता सती अस्मिता। तस्या ध्यानेन साक्षात्कारोऽप्यस्मिता—म० प्र० पृ० ९।

[६] तेषां कारणं बुद्धिः सा ग्रहीत्रैकीभूताऽस्मितेत्युच्यते—यो० सि० चं० पृ० १९।

[७] तु०—यो० प्र० पृ० ९।

[८] एकालम्बने या चित्तस्य केवलपुरुषाकारा संवित् साक्षात्कारोऽस्मीत्येतावन्मात्रा-कारत्वादस्मितेत्यर्थः। सा च जीवात्मविषया परमात्मविषया चेति द्विधा वक्ष्यते—यो० वा० पृ० ५३।

[९] तत्रैवालम्बने जीवेश्वररूपं यत्पुरुषद्वयमस्ति तदन्यतरस्याशेषविशेषसाक्षात्कारे अस्मिता संज्ञा—भा० ग० वृ० पृ० १३।

[१०] तु०—ना० ल० वृ० पृ० १५।

वाची है। अर्थात् एक ही आत्मविषयक ज्ञान एकात्मिका संवित् है—ऐसा भाष्यकार का मत है। इन व्याख्याकारों ने सोपाधिक चेतन के साक्षात्कार को विचारानुगतयोग के अन्तर्गत रखा है।

अन्य मत—**सदाशिवेन्द्रसरस्वती**[१] एवं **भोजदेव** ने अस्मितानुगतयोग को महत्तत्त्व-विषयक माना है। इनके अनुसार इस समय शुद्धसत्त्वप्रधान महत्तत्त्व का साक्षात्कार होता है। हरिहरानन्द आरण्यक का मत है, वस्तुतः पुरुष उक्त समाधिकालिकप्रज्ञा का विषय नहीं होता; प्रत्युत अस्मितामात्र अर्थात् **'अहम्'** (मैं)—ऐसा ही विषय होता है। शब्दान्तर से सास्मित समाधि का आलम्बन द्रष्टा (शुद्ध पुरुष) नहीं है। अपितु व्यावहारिक ग्रहीता या महान् आत्मा ही उसका आलम्बन है।

मूल्यांकन—ऊपर वर्णित अनेक पक्षों में से आचार्य **वाचस्पति मिश्र** एवं उनके मतानुयायियों का पक्ष ही सूत्र एवं भाष्यानुसारी प्रतीत होता है। विषय की दृष्टि से सम्प्रज्ञातयोग को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—स्थूलविषयक सम्प्रज्ञातयोग तथा सूक्ष्मविषयक सम्प्रज्ञातयोग। उपरिनिर्दिष्ट दो प्रकार का सम्प्रज्ञातयोग विषयस्वभाव के आधार पर त्रिविध है—ग्राह्यविषयक सम्प्रज्ञातयोग, ग्रहणविषयक सम्प्रज्ञातयोग तथा ग्रहीतृविषयक सम्प्रज्ञातयोग। सम्प्रज्ञातयोग के उक्त तीन भेद ही प्रज्ञाप्रकर्ष से चार प्रकार के हैं—वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातयोग, विचारानुगत सम्प्रज्ञातयोग, आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातयोग तथा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातयोग।

स्थूलविषयक सम्प्रज्ञातयोग के समकक्ष वितर्कानुगत-सम्प्रज्ञातयोग है तथा सूक्ष्मविषयक सम्प्रज्ञातयोग के समकक्ष विचार, आनन्द तथा अस्मितासे अनुगत-सम्प्रज्ञातयोग है। ग्राह्य-विषयक सम्प्रज्ञातयोग के समकक्ष वितर्क एवं विचार से अनुगत-सम्प्रज्ञातयोग है। ग्रहणविषयक सम्प्रज्ञात योग के समकक्ष आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातयोग है तथा ग्रहीतृविषयक सम्प्रज्ञातयोग के समकक्ष अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातयोग है। उक्त वर्गीकरण से वितर्कादि के ज्ञानघटक सवितर्क, निर्वितर्क आदि अवान्तरभेदों की समकक्षता भी आ जाती है।

वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातयोग की अवस्था में साधक को केवल पञ्चमहाभूत का साक्षात्कार होता है—ऐसा मानना चाहिए। यह दृष्टिकोण सूत्र एवं भाष्य के अनुरूप है। **वाचस्पति** एवं उनके मतानुयायियों ने इसी पक्ष का समर्थन किया है। **विज्ञानभिक्षु** आदि ने व्यासभाष्य की **'स्थूलः वितर्कः'**—इस पंक्ति में प्रयुक्त **'स्थूल'**—पद का अर्थ **'विकृतिमात्रत्वं स्थूलत्वम्'** करते हुए केवलविकृतिरूप ग्यारह इन्द्रियों के भी साक्षात्कार का काल वितर्कानुगतयोग बतलाया है। वस्तुत यहाँ 'स्थूल'—पद का अर्थ है—जो इन्द्रिय का विषय हो सके। इस प्रकार की इन्द्रियगोचरता इन्द्रियों में नहीं है। इसीलिए शास्त्रों में सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा इन्द्रियों का अनुमित्यात्मक ज्ञान माना गया है। ध्येय-साक्षात्कार की प्रथम अवस्था वितर्कानुगतयोग में साधक को अतीन्द्रिय इन्द्रियों का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। अतः सूक्ष्म इन्द्रियों को स्थूल-वर्ग में लाकर उन्हें वितर्कानुगतयोगकालिक प्रज्ञा का विषय नहीं बतलाना चाहिए। सुतरां प्रथम वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातयोग में साधक को पञ्चमहाभूत का ही साक्षात्कार होना उचित है।

---

[१] **शुद्धसत्त्वप्रधानमहत्तत्त्वगोचरसाक्षात्कारः सास्मिता**—यो० सु० पृ० १०।

द्वितीय विचारानुगत-सम्प्रज्ञातयोग में 'सूक्ष्म'–कोटि के पञ्चतन्मात्र, बुद्धि एवं प्रकृति तत्त्व का साक्षात्कार होता है। आचार्य **वाचस्पति** आदि का यह मत सूत्र एवं भाष्यानुसारी है। **वाचस्पति मिश्र** के परवर्ती व्याख्याकार **भोजदेव** एवं **विज्ञानभिक्षु** आदि को विचारानुगत-सम्प्रज्ञातयोग में अहंकार तत्त्व का भी साक्षात्कार मान्य है। लेकिन **व्यासदेव** ने ग्रहीतृसमापत्तिस्थानीय अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञातयोग में अहंकारविशिष्टपुरुष का साक्षात्कार माना है। यदि अहंकार तत्त्व का साक्षात्कार विचारानुगत-सम्प्रज्ञातयोग में ही माना जाए तो अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञातयोग के लिए कोई अतिरिक्त विषय नहीं रह जायेगा। क्योंकि शुद्ध-पुरुष का साक्षात्कार नहीं होता है।

शङ्का हो सकती है कि **व्यासदेव** ने **सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्**[1]—इस सूत्र के भाष्य द्वारा विचारानुगतयोग के सूक्ष्म विषयों को बतलाया है। इसमें अहंकार तत्त्व की भी गणना की गई है। अतः सूक्ष्मविषयक विचारानुगतयोग में अहंकार तत्त्व का साक्षात्कार भाष्यसम्मत है। इसका उत्तर है कि आनन्द एवं अस्मितानुगतयोग भी सूक्ष्मविषयक है। **पतञ्जलि** एवं सूत्र के व्याख्याकार **व्यासदेव** ने **'सूक्ष्मविषयत्वम्···'** के द्वारा विचारानुगत-सम्प्रज्ञातयोगकालिक प्रज्ञा के सूक्ष्म विषयों का संग्रह नहीं किया है। उन्होंने योगशास्त्रानुमोदित सूक्ष्म पदार्थों में विद्यमान उत्तरोत्तर सूक्ष्मता का ही सामान्यतः निर्देश किया है। अन्यथा इन्द्रियाँ भी (जो भाष्य में 'तन्मात्र' पद से उपलक्षित हैं) सूक्ष्म होने से विचारनुगतयोग के अन्तर्गत आ जातीं। फलस्वरूप सूत्रकार एवं भाष्यकार द्वारा इन्द्रियों को ग्रहणसमापत्ति अर्थात् आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातयोगकालिक प्रज्ञा का विषय कहना अनुपपन्न हो जाता। अतः **सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्**—के आधार पर विचारानुगतयोग में अहंकार तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कहा जा सकता है।

आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातयोगकालिक प्रज्ञा का विषय सत्त्वगुणप्रधान इन्द्रियाँ हैं, यह सिद्धान्त पक्ष है। **विज्ञानभिक्षु** आदि ने इन्द्रियों के स्थान पर ह्लाद को इस समाधि का विषय बतलाया है। यह सम्यक् प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि सम्प्रज्ञातसमाधि में तत्त्वसाक्षात्कारवती प्रज्ञा उत्पन्न होती है। तत्त्व का अर्थ है—ध्येय। ध्येयकोटि में तत्त्व आते हैं। ह्लाद स्वयं तत्त्व नहीं है। वह तत्त्व का धर्म है। इसलिए आनन्दानुगतसमाधि का विषय ह्लाद नहीं हो सकता है। आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातयोग के स्थानापन्न ग्रहणसमापत्ति के विषय का निर्देश करते हुए **व्यासदेव** ने लिखा है—**तथा ग्रहणेष्वपि = इन्द्रियेष्वपि द्रष्टव्यम्**। इससे स्पष्ट है कि **व्यासदेव** ने ग्रहणसमापत्ति को इन्द्रियविषयक माना है। अतः **व्यासदेव** ने **'आनन्दो ह्लादः'**—इन शब्दों द्वारा आनन्दानुगतयोग की जो ह्लादविषयता कही है, वह इन्द्रियपरक ही है। **व्यासदेव** ने इन्द्रियों को 'ह्लाद' शब्द से इसलिए कहा है कि सत्त्वगुणप्रधान होने से ये सुखात्मक हैं और सुखात्मक होने से ये आनन्दात्मक हैं। आनन्दात्मक इन्द्रियों के साक्षात्कार से साधक के चित्त में विलक्षण प्रकार के आनन्द का स्फुरण होता है। अतः इन्द्रियाँ 'ह्लाद'—शब्द से अभिहित हैं। अतः आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातयोग प्रज्ञा को इन्द्रियविषयक मानने वाले **वाचस्पति** आदि व्याख्याकारों का पक्ष श्रेयान् है।

---

[1] **यो० सू १।४५।**

अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञातयोगकाल में इन्द्रियों की अपेक्षा सूक्ष्म अहंकार तत्त्व पुरुष-तत्त्व के साथ अभिन्नतया प्रतिभासित होता है। अर्थात् इस समय साधक को अहंकार-विशिष्ट पुरुष का साक्षात्कार होता है। यह सिद्धान्तपक्ष है। **व्यासदेव** ने इस सम्प्रज्ञातयोग के विषय का निर्देश जिन शब्दों (**एकात्मिकता संवित् अस्मिता**) में किया है उससे स्पष्ट है कि अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञातयोग में अहंकार के साथ एकापन्न आत्मा का ज्ञान होता है। यदि भाष्यकार को इस समाधि में अहंकाररहित शुद्ध पुरुष का साक्षात्कार अभिप्रेत होता तो वे '**अस्मिता=पुरुषः**'—ऐसी व्याख्या करते तथा अहंकार तत्त्व के साक्षात्कार को वितर्क, विचार या आनन्द से अनुगत सम्प्रज्ञातयोग में ही अन्तर्भावित करते। इससे स्पष्ट है कि अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञातयोग में उन्हें अहंकारविशिष्ट पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार अभिप्रेत है।

इस सन्दर्भ में **विज्ञानभिक्षु** आदि व्याख्याकारों द्वारा शुद्ध पुरुष के साक्षात्कार की मान्यता उचित नहीं है। **विज्ञानभिक्षु** आदि ने अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञातयोग में पुरुष साक्षात्कार के पश्चात् ईश्वर तत्त्व का साक्षात्कार होता है—ऐसा कहा है। वह भी सूत्रानुसारी एवं भाष्यानुसारी नहीं है। योगशास्त्र में चित्त को एकाग्र बनाने के लिए ईश्वर-ध्यान का उपदेश दिया गया है। ईश्वर सम्प्रज्ञात आदि अवस्थाओं को प्राप्त करने का साधन है, साध्य नहीं।

समापत्ति की संख्या

'समापत्ति' शब्द का अर्थ है—सम्यक् रूप से चित्त का ध्येयाकार परिणाम होना। चित्त का विषयाकार परिणाम क्षिप्त, मूढ़ आदि सभी अवस्थाओं में होता है। किन्तु यहाँ चित्त की एकाग्र अवस्था में विषयान्तरवृत्ति के निरोधपूर्वक प्रज्ञा (प्रत्यक्षज्ञान) के अर्थ में 'समापत्ति' शब्द पर्यवसित है। सम्प्रज्ञात होने पर यह समापत्ति होती है। इसलिए 'समापत्ति' शब्द सम्प्रज्ञातयोग का पर्याय है। वस्तुतः दोनों में कार्यकारणभावसम्बन्ध है।

विषय-भेद से समापत्ति तीन प्रकार की है—ग्राह्यसमापत्ति, ग्रहणसमापत्ति एवं ग्रहीतृसमापत्ति। समापत्ति के सवितर्क, निर्वितर्क आदि भेदों की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है। आचार्य **वाचस्पति मिश्र, रामानन्दयति, राघवानन्दसरस्वती, सूत्रार्थबोधिनीकार नारायणतीर्थ** तथा **बलदेव मिश्र** ने आठ समापत्तियाँ स्वीकार की हैं। **विज्ञानभिक्षु, भावा-गणेश** एवं **नागेश भट्ट** ने समापत्तियों की संख्या पाँच बतलाई है।

प्रथम मत : आठ समापत्तियाँ—आठ समापत्तियों की मान्यता के समर्थक **वाचस्पति मिश्र** आदि ने वितर्क एवं विचार समापत्ति के सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार तथा निर्विचार संज्ञक दो-दो भेदों (प्रकारों) की भाँति आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत समापत्ति के भी दो-दो प्रकार—सानन्द, निरानन्द (आनन्दमात्र), तथा सास्मिता एवं निरस्मिता (अस्मिता-मात्र[१])—माने हैं। इनका कहना है '**ता एव सबीजः समाधिः**'—इस सूत्र में आए **एवकार**

---

[१] (क) ग्रहणग्रहीत्रोरपि सविकल्पत्वनिर्विकल्पत्वभेदेन सानन्दा, आनन्दमात्रा, सास्मिता, अस्मिता चेति चतस्रः समापत्तयो भवन्ति उक्तन्यायसाम्यात्। एवमष्ट समापत्तयः···म० प्र० पृ० २३।

(ख) तु०—म० प्र० पृ० १६।

पद का यदि पाठक्रम परिवर्तित न किया जाए तो इस सूत्र से पूर्ववर्ती सूत्रों में प्रतिपादित सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार एवं निर्विचार को ही सबीज समापत्ति कहना पड़ेगा। लेकिन यह ठीक नहीं है। क्योंकि विषय (ध्येय) रूप बीज आनन्द और अस्मिता समापत्ति में भी विद्यमान रहता है। अतः सम्प्रज्ञात के ग्रहीतृ और ग्रहण में सबीजत्व का संग्रह करने के लिए सूत्रस्थ **एवकार** का भिन्न क्रम अपरिहार्य है।[1] इसी अभिप्राय से सम्प्रज्ञातमात्र को सबीज कहा गया है और ध्येयरूप बीज न रहने से असम्प्रज्ञात को निर्बीज कहा गया है।

इस पर शङ्का हो सकती है—यदि सम्प्रज्ञात के सभी भेदों में सबीजत्व है तो सूत्रकार ने उक्त सूत्र में एवकार का प्रयोग क्यों किया? इसका उत्तर **वाचस्पति मिश्र** ने दिया है—सम्प्रज्ञात के सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार एवं निर्विचार—इन चार भेदों (समापत्तियों) में नियमित-सबीजता बतलाने के उद्देश्य से सूत्रकार ने 'एव' पद का प्रयोग किया है[2]। फलतः अनियमित-बीज समापत्तियों से नियमित (नियत)-बीज समापत्तियों का भेद स्पष्ट हो जाता है। अतः सूत्र में **एवकार** के प्रयोग से समापत्तिमात्र में सबीजत्व का सन्देह नहीं होना चाहिए।[3] क्योंकि अभेदाध्यास और अभेदानध्यास रूप विकल्प एवं अविकल्प सभी समापत्तियों में उपलब्ध होता है। उदाहरणस्वरूप **'व्रीहीनवहन्ति'**—वाक्य द्वारा यह विधान किया गया है कि व्रीहि से तुषविमोक अवघातपूर्वक किया जाना चाहिए, नखविदलन आदि से नहीं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि याग के साधनभूत अन्य द्रव्यों के लिए अवघात निषिद्ध है। इसी प्रकार सूत्रकार द्वारा ग्राह्यविषयक समापत्तियों में सबीजता है—ऐसा नियम करने पर भी ग्रहीतृ एवं ग्रहणविषयक समापत्तियों में सबीजता का निषेध प्राप्त नहीं होता है। उपर्युक्त तर्कों के आधार पर **वाचस्पति मिश्र**[4], **रामानन्दयति** आदि ने समापत्तियों की संख्या आठ निर्धारित की है।

द्वितीय मत : पाँच समापत्तियाँ – **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश** एवं **नागेश भट्ट** का कहना है कि समापत्तियाँ पाँच हैं। ग्राह्यविषयक चार (सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार) समापत्तियाँ एवं ग्रहीतृविषयक एक (अस्मिता) समापत्ति है। इस प्रकार कुल पाँच समापत्तियाँ हैं।[5] ग्रहणविषयक समापत्ति (जो आनन्दानुगतयोग के समकक्ष है) वस्तुतः ग्राह्यविषयक समापत्ति है। आनन्द सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि का धर्म है। अतः धर्मिरूप बुद्धितत्त्व का साक्षात्कार कराने वाली विचारानुगत समापत्ति में उसके धर्म आनन्द का

---

[1] एवकारो भिन्नक्रमः सबीज इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः—त० वै० पृ० १२४।

[2] ततश्चतस्रः समापत्तयो ग्राह्यविषयाः सबीजतया नियम्यन्ते—त० वै० पृ० १२४।

[3] सबीजता त्वनियता ग्रहीतृग्रहणगोचरायामपि समापत्तौ विकल्पाविकल्पभेदेनानिषिद्धा व्यवतिष्ठते—त० वै० पृ० १२४।

[4] तेन ग्राह्ये चतस्रः समापत्तयो ग्रहीतृग्रहणयोश्च चतस्र इत्यष्टौ ते भवन्तीति निगदव्याख्यातं भाष्यम्—त० वै० पृ० १२४।

[5] तस्मादवान्तरभेदेन पञ्चैव समापत्तयः—ग्राह्यग्रहणयोः स्थूलसूक्ष्मभेदेन सवितर्काद्याश्चतस्रः पञ्चमी च ग्रहीतृष्विति—यो० वा० पृ० १२५।

साक्षात्कार कराने वाली आनन्दानुगत समापत्ति का अन्तर्भाव हो जाता है।[१] अतः ग्रहण-विषयक समापत्ति पृथक् नहीं हैं।

इस पक्ष के समर्थकों ने आठ समापत्तियों के कथन को असमीचीन घोषित किया है। इनका कहना है कि ह्लादयुक्त समापत्ति ह्लादशून्य एवं अस्मितानुगत समापत्ति निरस्मिता नहीं हो सकती है। अतः सवितर्क एवं निर्वितर्क की भाँति आनन्दानुगत और अस्मितानुगत समाधि के दो-दो भेद बतलाना उचित नहीं है।

मूल्यांकन—ऊपर समापत्ति की संख्या को लेकर व्याख्याकारों में जो मतभेद दृष्टि-गोचर हुआ उसका प्रारम्भ सम्प्रज्ञातयोग के अवान्तरभेदों के आलम्बन के विभाजन के समय ही हो गया था। वस्तुतः वितर्कादि के आलम्बन-विभाजन का दृष्टिभेद ही समापत्ति की संख्या के मतभेद का कारण है। **वाचस्पति** आदि व्याख्याकारों द्वारा प्रतिपादित वितर्कादि के आलम्बन-विभाजन की दृष्टि उचित है। अतः तदाधारित आठ समापत्तियों की मान्यता समीचीन है।

ऊपरिनिर्दिष्ट आठ समापत्तियों में से सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार एवं निर्विचार संज्ञक चार समापत्तियों का स्वरूप निर्णीत हुआ। यहाँ अवशिष्ट समापत्तियों का स्वरूप प्रसङ्गतः कथनीय है। जिस समाधि में इन्द्रियों के कार्यकारणभावसम्बन्ध, उनकी विषय-व्यञ्जकता तथा इन्द्रियनिष्ठ सुखात्मकता के साथ इन्द्रियों का साक्षात्कार होता है, उसे सविकल्प आनन्दानुगत (सानन्द) सम्प्रज्ञातसमापत्ति कहते हैं। जिस समय उपर्युक्त विकल्प से रहित शुद्ध-ह्लादपरक इन्द्रियों का साक्षात्कार होता है, उसे निर्विकल्पक आनन्दानुगत (निरानन्द) सम्प्रज्ञातसमापत्ति कहते हैं। जिस समय विशेष्यविशेषणभाव से विशिष्ट अहङ्कारापन्नपुरुष का साक्षात्कार होता है, उसे सास्मितासमापत्ति कहते हैं। जिस समय विशेष्यविशेषण भाव से रहित शुद्ध रूप से विषय भासित होता है, उसे निरस्मिता समापत्ति कहते हैं।

व्याख्याकारों ने सम्प्रज्ञातयोग के प्रसङ्ग में ऋतम्भरा-प्रज्ञा[२] की चर्चा की है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा के व्याख्यान-सन्दर्भ में **नारायणतीर्थ** ने वेदान्त के **तत्त्वमसि** आदि वाक्यों से होने वाले महावाक्यार्थबोध के लिए ऋतम्भरा-प्रज्ञा की आवश्यकता बतलाते हुए उसका स्वरूप एवं स्थान निर्धारित किया है।[३]

ऋतम्भरा-प्रज्ञा की आवश्यकता

योग के प्रभाव से उत्पन्न ऋतम्भरा-प्रज्ञा सत्त्व-विषयिणी है। इन्द्रियजन्य लौकिक प्रत्यक्षप्रमाण में प्रकृति, पुरुष आदि सूक्ष्म पदार्थों का अपरोक्षज्ञान कराने का सामर्थ्य नहीं है। उसी पदार्थ का लौकिक प्रत्यक्ष होता है, जिसका महत्-परिमाण एवं उद्भूत-रूप होता है। अनुमान तथा आगमप्रमाण से सूक्ष्म पदार्थों का परोक्षज्ञान सामान्यरूप से हो पाता

---

[१] आनन्दोऽपि बुद्धिधर्मत्वाद् ग्राह्यमध्य इत्यानन्दानुगतस्यापि संग्रहः—ना० बृ० वृ० पृ० २५८।

[२] ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा—यो० सू० १।४८।

[३] वेदान्तिनस्तु···न भावनाजन्यत्वेनेति भावः—यो० सि० चं० पृ० ४७-४८।

है। शब्दान्तर से अनुमिति-ज्ञान व्याप्तिमूलक होता है। व्याप्तिज्ञान पदार्थगत सामान्य-रूप—जैसे वह्नित्वेन वह्नि तथा धूमत्वेन धूम—को लेकर पर्यवसित होता है। व्याप्तिग्रह के आधार पर पर्वतीय वह्नि का ज्ञान वह्नित्व (व्यापकतावच्छेदक) रूप से होता है। शाब्दबोध भी हमेशा घटत्वादि पदार्थतावच्छेदक पुरस्कारेण हुआ करता है। इस प्रकार अनुमान और आगमप्रमाण, पुरुष आदि (ईश्वर, जीव=पुरुष) सूक्ष्म विषयों का परोक्षज्ञान करा पाते हैं।[१] वे विशेष्यविशेषणभाव से रहित शुद्धपुरुष का अपरोक्षज्ञान कराने में समर्थ नहीं होते हैं। निर्विचारसमापत्ति की पराकाष्ठा में उत्पन्न ऋतम्भरा-प्रज्ञा सत् वस्तु (सूक्ष्म ब्रह्मादि पदार्थ) के स्वरूपमात्र का अपरोक्षज्ञान कराने में समर्थ होती है। अतः सूक्ष्म पदार्थों के अपरोक्षज्ञान के लिए ऋतम्भरा-प्रज्ञा की आवश्यकता है।[२]

वेदान्तियों का कहना है—यह सत्य है कि शक्ति-सम्बन्ध से शब्द जिस अर्थ का स्मारक होता है वह विशेष्यता-प्रकारता से शा दबोध में भासित होता है। किन्तु लक्षणा के द्वारा **तत्त्वमसि** (उपदेश वाक्य), **प्रज्ञानं ब्रह्म** (स्वरूपबोधक वाक्य), **अयमात्मा ब्रह्म** (अपरोक्षत्वबोधक वाक्य) और **'अहं ब्रह्मास्मि'** (अनुभवबोधक वाक्य)—इन चार महावाक्यों से होने वाला अखण्डब्रह्मविषयक अपरोक्षशाब्दबोध विशेष्यता-प्रकारता से शून्य होता है। क्योंकि जाति, गुण और क्रिया—ये तीनों शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त हैं; ब्रह्मात्मक अर्थ में इन तीनों का अभाव है। लक्षणा के द्वारा **तत्त्वमसि** आदि महा-वाक्यों से शुद्धब्रह्म का अपरोक्षज्ञान श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ साधक को होता है।[३] अतः योगजन्य ऋतम्भरा-प्रज्ञा में ही ब्रह्म (पुरुषादि)-विषयक निर्विकल्प अपरोक्षज्ञान कराने का सामर्थ्य है—यह उपनिषत्-सम्मत नहीं है। इसके उत्तर में **नारायणतीर्थ** का कहना है कि **तत्त्वमसि**-आदि महावाक्यों से होने वाले शुद्धब्रह्मविषयक अपरोक्षज्ञान के मूल में सम्प्रज्ञातयोगजन्य शक्तिविशेष (ऋतम्भरा प्रज्ञा) काम करता है। इसके माध्यम से ही साधक को **तत्त्वमसि**-आदि महावाक्यों द्वारा शुद्ध ब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अतः योगसम्मत उक्त सिद्धान्त वेदान्त के विरुद्ध नहीं है।

उक्त विचार इस प्रकार है—**तत्त्वमसि**—आदि महावाक्य के अर्थज्ञान के लिए अवान्तरवाक्यार्थ का ज्ञान अपेक्षित रहता है। छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में **'तत्त्वमसि'**—आदि महावाक्यार्थ बोध की चर्चा की गई है। उद्दालक आरुणि श्वेतकेतु को **तत्त्वमसि** का अर्थ समझाने के लिए तात्पर्यनिर्णायक षड्विध लिङ्गन्याय (**उपक्रमोपसंहारा-वभ्यासोऽपूर्वता फलम् अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।**) से कई अवान्तरवाक्यों को प्रस्तुत करते हैं; जिससे महावाक्यार्थज्ञान सुगमतया हो सके। महावाक्यार्थबोध के

---

[१] **शब्दानुमानयोः पदार्थतावच्छेदकव्यापकतावच्छेदकपुरस्कारेणैव धीजनकत्वनियमेन तद्ग्रहणायोग्यविशेष्यमात्रविषयकत्वात्—यो० सि० चं० पृ० ४७।**

[२] **श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्—यो० सू० १.४९।**

[३] **वेदान्तिनस्तु शब्दस्य शक्त्या पदार्थतावच्छेदकपुरस्कारेणैव धीजनकत्वनियमो, न तु लक्षणयाऽपि। अतो लक्षणया केवलस्य ब्रह्मणः शब्दगम्यत्वेऽपि न क्षतिः—यो० सि० चं० पृ० ४७।**

सहायकभूत तात्पर्यनिर्णायक अवान्तरवाक्य उपक्रम, उपसंहार आदि इस प्रकार प्रतिपादित हुए हैं:—**'सदेव सोम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'**—से प्रकरण के प्रारम्भ में जो तत्त्व बतलाया गया है, उसी का **'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा'**—इससे उपसंहार किया गया है। अत एव उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता दिखलाई गई है। जैसे कोई पुरुष अपने अभिप्राय को भिन्न-भिन्न वाक्यों द्वारा भूयोभूयः प्रकट करता है वैसे ही भिन्न-भिन्न युक्तियों से प्रत्यक् ब्रह्मैक्य का **'तत्त्वमसि'**—से नौ बार कथन करना अभ्यास है। अद्वितीय प्रत्यगभिन्न ब्रह्म वेदान्तेतर प्रमाणों से अगम्य है और स्वप्रकाश होने से नित्य अपरोक्ष भी है; **'आचार्यवान् पुरुषो वेद'**—अर्थात् गुरु-वेदान्त-वाक्य में श्रद्धामात्र रखने से वह समाधिगम्य है—इस प्रकार अपूर्वता कही गई है। **'तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये'**—इससे कार्यकारणसंघात से पृथक् कहकर **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'**—यह अद्वैत ब्रह्मभावापत्ति रूप फल पञ्चम लिङ्ग कहा गया है। **'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत'**—इत्यादि सृष्टिवाक्यों से भेदनिन्दापूर्वक अभेद का स्तुतिरूप अर्थवाद कहा गया है। प्रतिपाद्य अद्वैत के अनुकूल दृष्टान्त का प्रदर्शन उपपत्ति है। जैसे **'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्', 'यथा सोम्यैकेन लोहमणिना……', 'यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन……', 'एवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुंगेन तेजो मूलमन्विच्छ; तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ; सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतना सत्यप्रतिष्ठाः'**—इत्यादि वचनों का भाव यह है—सद्रूपकारण से भिन्न कार्य नहीं है, यह दृश्य मायामात्र है। कुम्भकार आदि के दृष्टान्त से सकल जगत् प्रत्यक् चेतन ब्रह्म ही है। इस प्रकार **'तत्त्वमसि'**—महावाक्य के अर्थबोध के लिए उपर्युक्त अवान्तर - वाक्यार्थ का ज्ञान आवश्यक है।

अवान्तरवाक्यार्थबोध के लिए अवान्तरवाक्यगत पद के अर्थ का ज्ञान अपेक्षित है। पदार्थज्ञान तत्-तत् पदार्थ का स्मरणात्मक होता है। किन्तु वाक्यघटक पदों से अर्थ का स्मरण तभी हो सकता है, जब तत्-तत्-पदार्थविषयक अनुभव हो। ब्रह्मग्राही अनुभव सम्प्रज्ञात-योगजन्य सामर्थ्यविशेष (ऋतम्भरा प्रज्ञा) से ही उत्पन्न हो सकता है। यह सामर्थ्यविशेष परम्परया महावाक्यार्थबोध का कारण बनता है। इस प्रकार **तत्त्वमसि-आदि महावाक्यों** से लक्षणया होने वाले शुद्धब्रह्मविषयक निर्विकल्पक अपरोक्षज्ञान के लिए ऋतम्भरा-प्रज्ञा आवश्यक है।

पूर्वपक्षी का कहना है कि **'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'**—उस उपनिषद्-गम्य-पुरुष के विषय में पूछता हूँ[१]—इस श्रुतिवाक्य के द्वारा पुरुष (ब्रह्म) को उपनिषत्मात्रगम्य बतलाया गया है। क्योंकि विषय के समीप रहने पर बाहर निकली हुई अन्तःकरणवृत्ति के माध्यम से वृत्तिचैतन्य और विषयचैतन्य में ऐक्य होकर उस विषय का प्रत्यक्षज्ञान होता है। उदाहरणस्वरूप 'तू दसवाँ है'—इस वाक्य से 'मैं दसवाँ हूँ'—इस प्रकार के होने वाले ज्ञान का विषय सन्निकृष्ट है। अतः बाहर निकली हुई अन्तःकरणवृति का उसके साथ सम्बन्ध

---

[१] बृ० उप० ३।९।१४।

होने पर वृत्तिचैतन्य और विषयचैतन्य दोनों में ऐक्य होता है। तत्पश्चात् उस विषय का प्रत्यक्षज्ञान होता है। वैसे ही **'तत्त्वमसि'**—वाक्य से होने वाले शाब्दज्ञान का विषय ब्रह्म प्रमातृचैतन्य से अभिन्न होने के कारण सदैव सन्निहित है। इसलिए शब्द से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) मानने में कोई हानि नहीं है। **'धार्मिकः त्वमसि'** या **'ज्योष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'**—इत्यादि वाक्यों का विषय धर्म या स्वर्ग प्रत्यक्षयोग्य नहीं है। इसलिए इन वाक्यों से धर्मादि विषय का परोक्षज्ञान ही होता है। सुतरां जो पदार्थ प्रत्यक्षयोग्य हैं उनका वाक्य से अपरोक्षज्ञान हो सकता है। लेकिन अन्तःकरण में अविद्या के कारण ब्रह्म (ईश्वरादि) आदि के विषय में असम्भावना और विपरीतभावना रूप दृढसंस्कार अनादिकाल से छाया हुआ है। अतः **तत्त्वमसि** आदि वाक्यों में विद्यमान अपरोक्षज्ञान को उत्पन्न करने का सामर्थ्य रुद्ध हो जाता है। **तत्त्वमसि** आदि वाक्यों से होने वाले अपरोक्षज्ञान के प्रतिबन्धक विपरीतभावना-रूप दोष को हटाने के लिए निदिध्यासन (असम्प्रज्ञात या सम्प्रज्ञातयोग जन्य सामर्थ्य) की आवश्यकता है। निदिध्यासन का कार्य प्रतिबन्ध को दूर करना है। महावाक्यार्थज्ञान के प्रयोजकभूत अवान्तर-वाक्यार्थज्ञान, तादृश अवान्तरवाक्यार्थज्ञान के प्रयोजकभूत वाक्यगतपदार्थस्मरण, तादृश पदार्थस्मरण के हेतुभत पदार्थानुभव को उत्पन्न करने की शक्ति निदिध्यासन में निहित नहीं है। यदि निदिध्यासनरूप भावना को **तत्त्वमसि** आदि महावाक्य से होने वाले ब्रह्मविषयक निर्विकल्पक अपरोक्ष ज्ञान का हेतु (परम्परया) माना जाय, तो निदिध्यासन में ज्ञानोतपादन की करणता आयगी। तब उसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाण कहना पड़ेगा। किञ्च कामिनी का चिन्तन करते-करते व्यक्ति को कामिनी दिखलाई पड़ने लगती है। इस प्रकार का भावनाजन्य कामिनीसाक्षात्कार प्रमा नहीं माना जाता है। उसी प्रकार भावनाजन्य आत्मसाक्षात्कार को प्रमात्मक नहीं कह सकेंगे। अतः **तत्त्वमसि** आदि महावाक्य से होने वाले ब्रह्मविषयक अपरोक्षज्ञान के सन्दर्भ में विपरीतभावना रूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति करना ही निदिध्यासनरूप सम्प्रज्ञातजन्यसामर्थ्यविशेष (ऋतम्भरा प्रज्ञा) का उद्देश्य हो सकता है।

नारायणतीर्थ का कहना है[१] कि वाक्य से भी अपरोक्षज्ञान होता है इसकी पुष्टि में पूर्वपक्षी ने **'दशमस्त्वमसि'**—वाक्य प्रस्तुत किया है। यह ठीक नहीं है। क्योंकि उपदेशक के मुख **'दशमस्त्वमसि'**—वाक्य को से सुनने पर स्वयं दशम व्यक्ति को **'अहं दशमोऽस्मि'** अर्थात् मैं दशवाँ हूँ—इत्याकारक मानसप्रत्यक्ष हो सकता है और देखने वाले अन्य व्यक्तियों को 'यह दशवाँ व्यक्ति है'—इस प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सकता है। लेकिन **'तत्त्वमसि'**—वाक्य से होने वाले अपरोक्षात्मकज्ञान की यह स्थिति नहीं है। अतः मानना होगा कि इन्द्रिय में ही अपरोक्षज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति है। **'मनसैवानुद्रष्टव्यः'**—इस श्रुति के द्वारा मनस् (इन्द्रिय) से आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए कहा गया है। अतः निदिध्यासन (भावना) से सुसंस्कृत मनस् के द्वारा ही **'तत्त्वमसि'**—इस महावाक्य के अन्तर्गत आए **'तत्'** और **'त्वम्'** पद के वाच्यरूप से प्रमित ब्रह्म (परमात्मा) और

---

[१] यो० सि० चं० पृ० ४७।

जीव एवं दोनों के अभेद का अपरोक्षज्ञान हो सकता है। इस दृष्टि से ही भावनारूप समाधि अपरोक्षज्ञानफलक है ऐसा कहा जाता है।[१]

वस्तुतः भावनाजन्य आत्मसाक्षात्कार को अप्रमात्मक नहीं कहा जा सकता।[२] क्योंकि यहाँ ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) का विषय (ब्रह्म) बाधित नहीं होता है। कामिनी के चिन्तन से होने वाला कामिनी-साक्षात्कार अप्रमात्मक इसलिए है कि उस ज्ञान का विषय कामिनी बाधित है। भावनाजन्य होने से उसे अप्रमात्मक नहीं कहते हैं।[३] अतः **'तत्त्वमसि'** आदि से होने वाले अपरोक्षात्मक प्रमात्मक महावाक्यार्थबोध के लिए तपोजन्य प्रज्ञा (भावना) अपेक्षणीय है।

असम्प्रज्ञात योग साधना-क्रम की दृष्टि से आपाततः प्रतीत होता है कि सम्प्रज्ञातयोग असम्प्रज्ञातयोग का साक्षात् साधन है। लेकिन स्थिति ऐसी नहीं है। सम्प्रज्ञात सबीज-योग है; असम्प्रज्ञात निर्बीज-योग है। दोनों योगों में समानता न रहने से सबीज-योग निर्बीज-योग का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि कार्य-कारण में सजातीयता रहना आवश्यक है। परवैराग्य ही असम्प्रज्ञातयोग का साक्षात् साधन है। निर्वस्तुक ज्ञानप्रसादात्मक परवैराग्य निर्वस्तुक (निर्बीज=ध्येयार्थचिन्तनशून्य) असम्प्रज्ञातयोग का साक्षात् साधन हो सकता है।[४] परवैराग्य का उदय तभी होता है, जब साधक सम्प्रज्ञात की अन्तिम अस्मितानुगत अवस्था में बुद्धि एवं पुरुष के वास्तविक स्वरूप का भेद-ज्ञान प्राप्त कर लेता है। तत्पश्चात् बुद्धि एवं उसके कार्य (विवेकख्याति) के प्रति भी हेयत्व-बुद्धि (अलं-बुद्धि) जाग्रत् होती है। तदनन्तर सर्ववृत्तियों का निरोधात्मक असम्प्रज्ञात सिद्ध होता है। इस प्रकार परवैराग्योदय का साधनभूत सम्प्रज्ञातयोग असम्प्रज्ञातयोग के प्रति परम्परया कारण हो सकता है; जिस प्रकार ज्योतिष्टोम याग—**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**—स्वर्गप्राप्ति का साक्षात् साधन न होकर स्वजन्य अदृष्ट के द्वारा परम्परया कारण होता है।

सम्प्रज्ञातयोग में एकाग्रचित्त की सात्त्विक अक्लिष्टात्मक ध्येयाकार वृत्ति अवशिष्ट रहती है। असम्प्रज्ञातयोग में यह भी निरुद्ध हो जाती है। फलस्वरूप निर्वृत्तिक चित्त संस्कारशेष-अवस्था से रहता है। वृत्ति से संस्कार और संस्कार से वृत्ति होती है। चित्त की वृत्तियों के निरोध से तज्जन्य संस्कारों का निरोध नहीं होता है। क्योंकि वृत्तियाँ

---

[१] **इन्द्रियजन्यज्ञानस्यैवाऽपरोक्षत्वप्रतिपत्तेः। ·· मनसैव भावनासहकारेणापरोक्षप्रमा भवतीति भावनासमाधेर्ज्ञानफलकत्वकथनमेवैतन्मतानुसारेण युक्तमेव—यो० सि० चं० पृ० ४७-४८।**

[२] न वा भावनाजन्यत्वेऽप्यात्मसाक्षात्कारस्याप्रामाण्यम्—यो० सि० चं० पृ० ४८।

[३] **अबाधितविषयत्वादुक्तसाक्षात्कारस्य तु बाधितार्थविषयत्वादेवाप्रामाण्यं न तु भावनाजन्यत्वेनेति भावः—यो० सि० चं० पृ० ४८।**

[४] (क) **तस्मान्निरालम्बनादेव ज्ञानप्रसादमात्रात् तस्योत्पत्तिर्युक्ता—त० वै० पृ० ५५।**

(ख) **परवैराग्याख्य एवासंप्रज्ञातेन साधनतयाऽऽलम्बनीक्रियत आश्रीयते; स यतो निर्वस्तुकः—यो० वा० पृ० ५६।**

संस्कारों का उपादानकारण नहीं, अपितु निमित्तकारण मात्र है। संस्कारों का उपादानकारण है—चित्त। अतः असम्प्रज्ञातयोग की प्रारम्भिक अवस्था में—ध्येयाकार वृत्ति नष्ट हो जाने पर भी तज्जन्य संस्कारों के उपादानकारणभूत चित्त रहने से—वृत्तिजन्य संस्कारों की स्थिति सम्भावित है। किन्तु निरोध की परम्परा से जन्य दृढ़तर निरोध संस्कारों से चरम असम्प्रज्ञात में प्रज्ञाकृत संस्कारों का भी पूर्णरूप से अभिभव हो जाता है। फलस्वरूप निर्बीज—दुःख के कारण संस्कार आदियों से रहित—योग पूर्णतया सिद्ध होता है। पूर्व-पूर्व असम्प्रज्ञातव्यक्तियों में दुःखजनक-संस्कारों की क्रमशः तनुता होने से निर्बीजत्व गौण है। निरोध संस्कारों का अभिभव करने के लिए साधक को प्रयास नहीं करना पड़ता है। इन्धन के जल जाने पर अग्नि स्वतः बुझ जाती है। इसी प्रकार पुरुष के भोगपुरस्सर मोक्ष के सम्पादनार्थ तत्-तत् पुरुष के साथ सम्बद्ध हुआ पृथक्-पृथक् चित्त अपना-अपना उद्देश्य (कर्तव्य) पूरा कर चुकने पर (समाप्ताधिकार होने से) निरोधात्मक संस्कार के सहित अपने मूलकारण प्रकृति में स्वतः लीन हो जाता है। एतावता निरोधसंस्कारावस्थ चित्त के निरोध के लिए साधनान्तर की आवश्यकता नहीं है। प्रकृति में लीन हुए निरोधसंस्कार-विशिष्ट चित्त का पुनरुद्भव नहीं होता है, क्योंकि चित्त के पुनरुत्थान का कारण अविद्या प्रसंख्यानाग्नि से पूर्णतया दग्ध हो चुकती है।

असम्प्रज्ञात को पातञ्जल-योगशास्त्र में निर्बीज-योग कहा गया है। वाचस्पति मिश्र आदि ने निर्बीज का अर्थ किया है—अविद्या आदि क्लेशसहित कर्माशय एवं जाति, आयुष्, भोग रूप बीज का पूर्णतया समाप्त होना।[1] विज्ञानभिक्षु[2], नागेश भट्ट[3] आदि ने असम्प्रज्ञात में तत्त्वज्ञानजन्य संस्कारपर्यन्त समस्त संस्कारों के नष्ट हो जाने के आधार पर असम्प्रज्ञातयोग को निर्बीज कहा है। इस पक्ष के अनुसार क्लेशसहित कर्माशय तथा जाति, आयुष्, भोग का दाह सम्प्रज्ञातयोग में ही हो जाता है। इसलिए इस पक्ष के समर्थकों के अनुसार सम्प्रज्ञातसमाधिप्राप्त साधक भी प्रारब्धकर्मों का फलोपभोग द्वारा क्षय करके मोक्षपद पर प्रतिष्ठित हो सकता है और असम्प्रज्ञातयोग द्वारा प्रारब्धकर्म का अतिक्रमण करके मोक्ष को अतिशीघ्र प्राप्त कर सकता है।

असम्प्रज्ञात में वृत्ति रहती है अथवा नहीं ?

प्रथममत व्यासदेव[4], वाचस्पति मिश्र[5], भोजदेव, रामानन्दयति, विज्ञानभिक्षु, भावागणेश, नागेश भट्ट, सदाशिवेन्द्रसरस्वती, हरिहरानन्द आरण्यक तथा बलदेव मिश्र को असम्प्रज्ञात में समस्त वृत्तियों का निरोध अभिप्रेत है। विज्ञानभिक्षु का कहना है—वेदान्ती लोग

---

[1] क्लेशसहितः कर्माशयो जात्यायुर्भोगा बीजं तस्मान्निर्गत इति निर्बीजः—त० वै० पृ० १७।

[2] असम्प्रज्ञातयोगे चित्तबीजस्य संस्कारस्य तत्त्वज्ञानजन्यपर्यन्तस्याशेषतो दाहान्निर्बीजसंज्ञा—यो० वा० पृ० १७।

[3] बीजस्य संस्कारस्य तत्त्वज्ञानपर्यन्तस्याशेषतो दाहात्—ना० बृ० वृ० पृ० २२२।

[4] सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः—व्या० भा० पृ० १०।

[5] असम्प्रज्ञाते तु सर्वासामेव निरोधः—त० वै० पृ० १०।

असम्प्रज्ञात में निर्विकल्पक आत्मज्ञानात्मक बुद्धिवृत्ति मानते हैं। यह अप्रामाणिक एवं भाष्यविरुद्ध होने से उपेक्षणीय है।[१] व्यासभाष्य में कहा गया है कि विवेकख्याति को चितिशक्ति से भिन्न स्वभाव जानकर योगी ज्ञानप्रसादरूप परवैराग्य के द्वारा उसका भी निरोध करता है और स्वयं संस्कारमात्रशेष-चित्त होकर रहता है। मार्कण्डेयपुराण में भी इस प्रकार का वचन मिलता है—'**युञ्जीत योगी निर्जित्य त्रीन् गुणान् परमात्मनि। तन्मयश्चात्मतो भूत्वा चित्तवृत्तिमपि त्यजेत्**' अर्थात् योगी सत्त्व, रजस् और तमस् रूप तीन गुणों को जीतकर परमात्मा में मनस् लगाए और आत्मा के परमात्ममय होने पर चित्तवृत्ति को भी त्याग दे। इससे यही सिद्ध होता है कि ऐश्वर्ययोग (असम्प्रज्ञातयोग) में चित्त सर्ववृत्तिशून्य हो जाता है।[२] अतः असम्प्रज्ञात में आत्मविषयक धारावाहिक निर्विकल्पक वृत्ति नहीं रहती है। निर्विकल्पक आत्मज्ञान सम्प्रज्ञात की निर्विचार-समापत्ति-दशा कहा जा सकता है। असम्प्रज्ञात में निर्विकल्पक आत्मज्ञान होना असम्भव है, क्योंकि उस समय साक्षात्कारिणी सात्त्विकवृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है। अतः असम्प्रज्ञात में कोई ज्ञान नहीं रहता है। एतावता असम्प्रज्ञात में आत्मगोचर धारावाहिक निर्विकल्पक वृत्ति मानना अप्रामाणिक है।

द्वितीयमत—आचार्य नारायणतीर्थ ने असम्प्रज्ञातयोग में आत्मविषयक धारावाहिक निर्विकल्पक वृत्ति मानी है। उन्होंने निम्नाङ्कित विचार प्रस्तुत किया है—

(१) चित्त (अन्तःकरण=मनस्, बुद्धि, अहंकार) की बाह्य तथा आभ्यन्तरविषयणी वृत्तियाँ (जो चित्त के अवस्थापरिणाम हैं) काष्ठ के समाप्त हो जाने पर अग्नि के समान अपने कारण चित्त में प्रविलीन हो जाती हैं। उस समय अन्तःकरण से विशिष्ट चैतन्य (पुरुष) की स्थिति विघटित हो जाती है। फलतः वृत्तियों की निरोधावस्था में योगी अपने केवलचैतन्य-रूप स्थिति को प्राप्त करता है। अर्थात् असम्प्रज्ञात में चित्त का कोई दूसरा विषय न रहने से स्वयं चैतन्य ही विषय होता है। अतः असम्प्रज्ञात में आत्मविषयक निर्विकल्पकवृत्ति बनती है। असम्प्रज्ञातसमाधि भंग होने पर योगी को 'मैं इतने समय तक समाहित था'—इस प्रकार का स्मरण भी होता है। स्मरण अनुभव-मूलक होता है। जाग्रत्-अवस्था में होने वाली स्मरणात्मक वृत्ति के आधार पर असम्प्रज्ञात-कालिक आत्मविषयक धारावाहिक निर्विकल्पक अनुभवात्मक वृत्ति अनुमित होती है।[१]

---

[१] **यदाधुनिकवेदान्तिब्रुवा असम्प्रज्ञातेऽपि निर्विकल्पमात्मज्ञानं स्वरूपसद्बुद्धिवृत्तिस्वरूपं तिष्ठतीति वदन्ति, तदप्रामाणिकत्वेनैतद्भाष्यविरोधेन चोपेक्षणीयम्—यो० वा० पृ० १७।**

[२] **युञ्जीत योगी···इति मार्कण्डेयपुराणादावैश्वर्ययोगेऽपि वृत्तिशून्यत्वावगमाच्च—मा० पु० ३।४५, यो० वा० पृ० १७।**

[१] **तदा निरोधकाले द्रष्टुः प्रमातुरहमर्थस्यान्तःकरणाऽवच्छिन्नस्य स्वरूपे विशेष्ये केवलचैतन्य आत्मन्यवस्थानं विषयतयाऽवस्थितिर्विद्यमानतेत्यर्थः···। योगी यामहमेतावन्तं कालं समाहितोऽभूवमिति स्मरणेन व्युत्थानेऽनुमिनोति—यो० सि० चं० पृ० ३।**

(२) अनुमान के आधार पर ही नहीं, अपितु आगमप्रमाण से भी उपर्युक्त सिद्धान्त पुष्ट होता है। कूर्मपुराण में भगवान् शिव ने कहा है—**मय्येकचित्तता योगो वृत्त्यन्तर-निरोधतः** अर्थात् बाह्यविषयक वृत्तियों का निरोध करते हुए मुझ में (आत्मविषयक) चित्त-वृत्ति लगाना योग है। चित्त की आत्मविषयक निर्विकल्पक वृत्ति की एकतानता असम्प्रज्ञातयोग में ही सम्भव है। सम्प्रज्ञात में होने वाली आत्माकारा वृत्ति सविकल्पक होती है। इसमें ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय का त्रिपुटीभान रहता है; किन्तु असम्प्रज्ञात में आत्ममात्राकारा वृत्ति की अविरलधारा चलती है।

भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने भी यही कहा है—'**यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति**' अर्थात् जिस असम्प्रज्ञातयोग (निर्विकल्पक समाधि) में चित्त के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करके साधक आत्मविषयक ज्ञान में ही सन्तुष्ट रहता है। आत्मा में सन्तुष्ट रहने का अर्थ है—आत्माकारा वृत्ति में चित्त का तल्लीन होना। अतः श्रुति-स्मृतियों से भी सिद्ध है कि असम्प्रज्ञातयोग में अखण्डाकारा निर्विकल्पिका चित्तवृत्ति रहती है।

(३) आशङ्का हो सकती है कि असम्प्रज्ञात में वृत्ति स्वीकार करने पर व्यासभाष्य की पंक्ति के साथ **नारायणतीर्थ** के उक्त वचन की सङ्गति नहीं बैठेगी। क्योंकि **व्यासदेव** ने सम्प्रज्ञातसमाधि में घटादि से लेकर प्रकृतिपर्यन्त जड़ पदार्थ एवं चेतन पदार्थविषयक ध्येयाकार वृत्ति स्वीकार की है और असम्प्रज्ञात में सात्त्विक ध्येयाकारवृत्ति का निरोध होने से किसी भी प्रकार की वृत्ति नहीं मानी है। उक्त शङ्का के समाधानार्थ आचार्य **नारायणतीर्थ** लिखते हैं—**व्यासदेव** ने सम्प्रज्ञात के प्रकरण को प्रारम्भ करके '**तामपि ख्यातिं निरुणद्धि**'—इस उत्तरग्रन्थ के द्वारा असम्प्रज्ञात में विवेकख्यातिविषयक विशिष्टवृत्ति का निरोध बतलाया है। उन्हें चैतन्याकारा वृत्ति का लय अभिप्रेत नहीं है। अतः असम्प्रज्ञातसमाधि में आत्ममात्रविषयिणी निर्विकल्पकवृत्ति रहती है।[१]

(४) असम्प्रज्ञात में आत्माकारा निर्विकल्पकवृत्ति स्वीकार न करने पर चित्त की निरोधरूप असम्प्रज्ञात अवस्था को समाधि कहना अनुपपन्न हो जायगा।[२] 'समाधि' पद के—**आसमन्तात् ध्यायति (चैतन्यं) यस्मिन् असौ समाधिः**—इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से समाधि ध्यान की अवस्था विशेष सिद्ध होती है।

(५) 'असम्प्रज्ञात' शब्द से भी यही सिद्ध होता है कि इसमें अहन्तादिरूप से अर्थात् ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय रूप से भेद प्रतीति नहीं होती है। 'कुछ भी ज्ञान नहीं रहता'—यह असम्प्रज्ञात शब्द का अर्थ नहीं है।[३] 'असम्प्रज्ञात' पद की व्युत्पत्ति है—'**न सम्यक् प्रज्ञायते यस्मिन् समाधौ असौ असम्प्रज्ञातसमाधिः**'। **तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावद् गतक्षयम्। एतज्ज्ञानं**

---

१ **सम्प्रज्ञातं प्रक्रम्य, तामपि ख्यातिं निरुणद्धीत्युत्तरग्रन्थेन विशिष्टवृत्तिमात्रनिरोधस्यैव तदर्थत्वज्ञापनात्। एतेन ध्येयवृत्तिसत्त्वे सर्ववृत्तिनिरोधाऽसिद्धिः—यो० सि० चं० पृ० ३-४।**

२ **असत्त्वे तु समाधिशब्दार्थहानिः—यो० सि० चं० पृ० ४।**

३ **असम्प्रज्ञातशब्दादिभिरेव न तत्र किंचित् सम्यगहंत्वादिना प्रज्ञायत इत्यादिव्युत्पत्त्या तदर्थलाभाच्च—यो० सि० चं० पृ० ४।**

च मोक्षश्च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः, यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया'—इन श्रुतिस्मृति वाक्यों में भी मनस् के निरोध का अर्थ विशिष्टवृत्ति का निरोध है; चित्त को सर्वथा निर्वृत्तिक बनाना नहीं।[1] अन्यथा समाधिभंग होने पर योगी **'अहमेतावन्तं कालं समाहितोऽभूवम्'** इस प्रकार का स्मरण नहीं कर सकेगा।

(६) **पतञ्जलि** ने योग के लक्षणसूत्र—**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**—में **'सर्वपद'** का प्रयोग न करके इसी रहस्य की ओर संकेत किया है।[2]

(७) **'चित्तवृत्तयः निरुद्धयन्तेऽस्मिन् इति चित्तवृत्तिनिरोधः'**—इस व्युत्पत्ति से और **'वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि। एकीकृत्य विमुच्येत योगयुक्तः स उच्यते'**॥—इस स्मृतिवाक्य से सम्पूर्ण अनर्थों (त्रिविधदुःख) की प्रतिकूल अखण्डाकारा (चैतन्याकारा) चित्त-वृत्ति में योग को पर्यवसित समझना चाहिए। क्योंकि त्रिविध दुःखफलक बाह्यवृत्तियाँ चैतन्याकार वृत्ति से नष्ट होती हैं। घटोत्पत्तिरूप नाशक से घटाभाव नष्ट होता है। योग को वृत्त्यात्मक मानकर ही उसका सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात रूप से विभाजन सङ्गत होता है। यदि निरोध-अवस्था के योग को वृत्तिविशेषरूप न मानकर अभावरूप मानेंगे तो वह अज्ञान का उच्छेद करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। क्योंकि भावपदार्थ में ही क्रिया देखी जाती है। अतः यह स्वीकार करना चाहिए कि असम्प्रज्ञात में होने वाली अखण्डाकारा वृत्ति—अज्ञान का नाश करने में समर्थ है।

आचार्य **नारायणतीर्थ** असम्प्रज्ञातयोग का लक्षण इस प्रकार करते हैं—**'वृत्त्यन्तर-निरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्तिः योगः'** अर्थात् बाह्यविषयक वृत्तियों के निरोधपूर्वक आत्मविषयक धारावाहिक निर्विकल्पकवृत्ति योग (असम्प्रज्ञातयोग) है। उनका कहना है कि असम्प्रज्ञात के लक्षण में **'वृत्त्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकत्व'**—यह विशेषणदल इसलिए दिया गया है, जिससे आगमप्रमाण (शाब्दज्ञान) अर्थात् शास्त्रजन्य-ज्ञान से उत्पन्न होने वाली पुरुषाकारा वृत्ति में योग का लक्षण अतिव्याप्त न हो सके।[3] बाह्यविषयक वृत्तियों के निरुद्ध हुए बिना केवल शब्दजन्य आत्माकारा वृत्ति पुरुष के स्वरूपाव-स्थान की हेतु नहीं है। असम्प्रज्ञातयोग के लक्षण में विशेष्यदल—**'निर्विकल्पकवृत्तिः'**—का प्रयोग इसलिए किया गया है, जिससे निरोधरूप असम्प्रज्ञातयोग की भावरूपता सिद्ध हो सके। यदि असम्प्रज्ञातयोग को वृत्त्यभावरूप मानें तो अभाव के निर्विषयक होने से उससे (अभावरूप असम्प्रज्ञातयोग से) संस्कार उत्पन्न नहीं हो सकेगा। क्योंकि ज्ञान, इच्छा आदि में ही संस्कारजनकता है। **'निर्विकल्पकवृत्ति'** पद देने से निरोधरूप असम्प्र-ज्ञातयोग ज्ञान का एक अवस्था-विशेष सिद्ध होता है। फलस्वरूप उसमें संस्कारजनकता

---

[1] **अतएव तावन्मनो···इत्यादिस्मृतिषु च मनोनिरोधस्यैवोक्तत्वेऽपि नात्र तथोक्तम्। तत्रापि विवक्षितविवेकेन मनोनिरोधस्य विशिष्टवृत्तिनिरोधात्मकत्वलाभात्—यो० सि० चं० पृ० ४।**

[2] **सर्वपदमपठता सूत्रकारेणापि तज्ज्ञापनात्—यो० सि० चं० पृ० ४।**

[3] **तत्रौपदेशिकवृत्तिवारणाय विशेषणम्—यो० सि० चं० पृ० ३।**

भी है।[१] विशेष्यदल में भी **'निर्विकल्पक'** पद इसलिए दिया गया जिससे असम्प्रज्ञातयोग का लक्षण सम्प्रज्ञातयोग में अतिव्याप्त न हो सके। सम्प्रज्ञातयोग में भी वृत्त्यन्तरनिरोध-पूर्वक आत्मविषयक धारावाहिक वृत्ति होती है। लेकिन उसमें ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय का त्रिपुटीभान बना रहता है। असम्प्रज्ञातयोग में उक्त विकल्प (भेद) नहीं रहता है। अतः निर्विकल्पक पद देने से असम्प्रज्ञातयोग का लक्षण सम्प्रज्ञातयोग में नहीं जाता है।[२] इस प्रकार आचार्य **नारायणतीर्थ** ने असम्प्रज्ञातयोग के उपर्युक्त लक्षण द्वारा असम्प्रज्ञातयोग में आत्मविषयक धारावाहिक निर्विकल्पकवृत्ति मानी है। आचार्य नारायणतीर्थ ने अपने उक्त मौलिक सिद्धान्त के पश्चात् **वाचस्पति** आदि पूर्वाचार्यों के अनुसार असम्प्रज्ञातयोग में सर्ववृत्तियों का निरोध भी श्रुतिस्मृति के आधार पर सिद्ध किया है।[३]

असम्प्रज्ञातयोग के भेद

पूर्ववर्णित सम्प्रज्ञातयोग का चार प्रकार से वर्गीकरण 'विषय-साक्षात्कार' के क्रम पर आधारित है। असम्प्रज्ञातयोग में **'न किंचिद् प्रज्ञायते इति असम्प्रज्ञातः'**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता; इसलिए निर्विषयक असम्प्रज्ञातयोग का साधक एवं उसकी प्राप्ति के साधन (उपाय) के आधार पर विभाजन किया गया है। असम्प्रज्ञात-योग दो प्रकार का बतलाया गया है[४]—भवप्रत्ययक एवं उपायप्रत्ययक। **व्यासदेव, वाचस्पति, रामानन्दयति** आदि ने भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात को मुमुक्षुओं के लिए अनुपादेय (हेय) घोषित किया है तथा उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञातयोग को ग्राह्य (उपादेय) बतलाया है।

उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञातयोग—उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञातयोग वह है, जो शास्त्रोक्त उपायों के विधिवत् अनुष्ठान से साधारण मनुष्य अथवा मुमुक्षुओं को इहलोक में सिद्ध होता है। उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञातयोग के लिए श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा—ये पाँच उपाय बतलाए गए हैं।[६] योग (विवेकज्ञान) प्राप्त करने की उत्कट इच्छा श्रद्धा कहलाती है। विदेहलीन और प्रकृतिलीन उपासक भी इन्द्रियादि में आत्मत्व-चिन्तन श्रद्धापूर्वक किया करते हैं। फिर भी यहाँ 'श्रद्धा' पद का तात्पर्य उस चैत्तिक सम्प्रसाद (अभिरुचि, उत्कटेच्छा) से है, जो आगम, अनुमान और आचार्योपदेश द्वारा योग के माहात्म्य[७] को सुनकर यथार्थवस्तु-

---

१ अभावस्य निर्विषयत्वेन संस्काराऽजनकत्वाद् योगस्य च संस्कारजनकत्वात् तथैवाग्रे वक्ष्यमाणत्वाद्विशेष्यम्—यो० सि० चं० पृ० ३।

२ तत्र सम्प्रज्ञातासाधारण्याय निर्विकल्पकेति—यो० सि० चं० पृ० ३।

३ तत्र चित्तस्य राजसतामसवृत्तीनां निरोध उपशमः सम्प्रज्ञातः। सर्ववृत्तीनां निरोधोऽसम्प्रज्ञातः—यो० सि० चं० पृ० ४।

४ अयमसम्प्रज्ञातो द्विविधः—उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च—व्या० भा० पृ० ५६।

५ तत्र तयोर्मध्ये उपायप्रत्ययो योगिनां=मोक्षमाणानां भवति। विशेषविधानेन शेषस्य मुमुक्षुसम्बन्धं निषेधति—त० वै० पृ० ५७।

६ श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्—यो० सू० १।२०।

७ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ गी० ६।४६।

विषयक होता है। इस प्रकार का सम्प्रसाद इन्द्रिय आदि अनात्म-पदार्थों के आत्माऽभिमानियों में सम्भव नहीं है। क्योंकि उनकी अभिरुचि व्यामोहमूलक होने से असंप्रसाद-रूप है, संप्रसाद-रूप नहीं।[१] योगियों के अन्तःकरण में विद्यमान यथार्थपदार्थविषयिणी श्रद्धा, करुणार्द्र जननी की भाँति योगी को जन्म, मरण आदि कुमार्ग में गिरने से बचाती है।[२] दूसरी तरफ विदेह और प्रकृतिलयों की अनात्मपदार्थ में होने वाली आत्मविषयिणी श्रद्धा कुछ कालपर्यन्त कैवल्य-सा रसास्वाद कराने पर भी संसारागमन का हेतु होने से कल्याणकारी नहीं है। अतः योगियों की यथार्थ श्रद्धा के समकक्ष विदेह एवं प्रकृतिलयों की जड़ श्रद्धा नहीं आ सकती है। इस प्रकार उपायप्रत्ययक असंप्रज्ञातयोग के प्रथम साधन श्रद्धा का स्वरूप यथार्थपदार्थविषयिणी उत्कटेच्छा है। उक्त श्रद्धापुरःसर अभीप्सित विषय (साध्य) के प्राप्त्यर्थ देह में पौरुष (शक्ति) का संचार होता है। इसे वीर्य अथवा उत्साह कहते हैं। विज्ञानभिक्षु ने 'वीर्य'—पद का अर्थ धारणा किया है। धारणा का अर्थ है एकाग्र-चित्त का ध्येयविषयक बन्ध। तदनन्तर एकाग्र-चित्त की एकतानता-रूप ध्यानावस्था आती है। इसे सूत्र में 'स्मृति' पद से कहा गया है। चित्त निरवच्छिन्न तैलधारावत् ध्येय का निरन्तर चिन्तन करता रहता है। फलस्वरूप चित्त की विक्षिप्तता पूर्णरूप से अभिभूत हो जाती है और चित्त समाहित (समाधिस्थ) हो जाता है। इस प्रकार अष्टाङ्गयोग के अन्तिम तीन साधन धारणा (वीर्य), ध्यान (स्मृति) एवं समाधि—का अभ्यास करने से सम्प्रज्ञात-योग—जिसे सूत्र में प्रज्ञा कहा है—उत्पन्न होता है। इस प्रकार मुमुक्षुओं के लिए श्रद्धा आदि उपाय-प्रत्ययक असम्प्रज्ञातयोग की साधना उपादेय है।

उक्त उपायों के अनुष्ठाताओं में से किसी को असम्प्रज्ञातयोग अत्यन्त शीघ्र प्राप्त होता है, किसी को विलम्ब से, और कुछ साधक उपाय ही करते रह जाते हैं—यह वैषम्य कैसे? इसका समाधान है कि साधकों में स्व-स्व पूर्वजन्मीय संस्कार तथा अदृष्ट के अनुसार श्रद्धा आदि उपायों का अभ्यास करने में रूप मृदु, मध्य, और अधिमात्र से तरतमता देखी जाती है।[३] इससे फल-प्राप्ति में विलम्ब अथवा अविलम्ब होता है। तथा उपायों का विधिपूर्वक अभ्यास न करने से फल-प्राप्ति असम्भव भी होती है।

साधनानुष्ठान के तारतम्य (मन्दता, शीघ्रता) के आधार पर पतञ्जलि ने योगसाधन में आरूढ योगियों का नौ प्रकार से वर्गीकरण किया है—(१) मृदूपायमृदुसंवेगवान् योगी, (२) मृदूपायमध्यसंवेगवान् योगी, (३) मृदूपायतीव्रसंवेगवान् योगी, (४) मध्योपायतीव्रसंवेग-वान् योगी, (५) मध्योपायमध्यसंवेगवान् योगी, (६) मध्योपायतीव्रसंवेगवान् योगी, (७) अधिमात्रोपायमृदुसंवेगवान् योगी, (८) अधिमात्रोपायमध्यसंवेगवान् योगी तथा

---

[१] नेन्द्रियादिष्वात्माभिमानिनामभिरुचिः। असम्प्रसादो हि सः व्यामोहमूलत्वात्—त० वै० पृ० ६०।

[२] सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति विमार्गपातजन्मनोऽनर्थात्—त० वै० पृ० ६०।

[३] उपायाः श्रद्धाऽऽदयो मृदुमध्यधिमात्राः प्राग्भवीयसंस्कारादृष्टवशाद् येषां ते तथोक्ताः—त० वै० पृ० ६१।

(९) अधिमात्रोपायतीव्रसंवेगवान् योगी। इनमें से अधिमात्रोपायतीव्रसंवेगवान् योगी को समाधि लाभ शीघ्रतम होता है।

यहाँ 'संवेग' शब्द के अर्थ के विषय में व्याख्याकारों में मतभेद प्रतीत होता है। **वाचस्पति मिश्र, रामानन्दयति, सदाशिवेन्द्रसरस्वती, बलदेव मिश्र, सूत्रार्थबोधिनीकार नारायणतीर्थ** ने 'संवेग' शब्द का अर्थ वैराग्य किया है।[१] **भोजदेव** तथा **अनन्तदेवपण्डित** ने 'सवेग' शब्द का अर्थ क्रिया का हेतुभूत दृढ़तर संस्कार किया है।[२] **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश, नागेश भट्ट** ने 'संवेग' पद का अर्थ उपाय के अनुष्ठान में शीघ्रता बतलाया है।[३] भास्वतीकार **हरिहरानन्द आरण्यक** का कथन है कि 'संवेग' शब्द का अर्थ केवल वैराग्य नहीं, प्रत्युत वैराग्यमूलक साधनकर्म में कुशलता तथा तत्कृत अग्रसरभाव है। वस्तुतः ऊपरिनिर्दिष्ट भिन्न-भिन्न अर्थों में विरोध नहीं है। श्रद्धादि उपायों का अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक अनुष्ठान तभी किया जा सकता है जब बाह्य विषयों के प्रति उत्कट वैराग्य हो। बाह्य विषयों के प्रति पूर्णरूप से वितृष्णा तभी हो सकती है जब कि चित्त में पूर्वजन्मीय वितृष्णा के दृढ़तर संस्कार हों। इस प्रकार 'संवेग' शब्द के उक्त सभी अर्थों का समन्वय सम्भावित होने के कारण योगसिद्धान्तचन्द्रिकाकार **नारायणतीर्थ** ने 'संवेग' शब्द के तीनों अर्थ स्वीकार किए हैं।

भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञातयोग—असम्प्रज्ञातयोग के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ व्याख्याकारों ने भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञातयोग को विदेह-कैवल्य का हेतु स्वीकार किया है और कुछ व्याख्याकारों ने स्वीकार नहीं किया है।

प्रथम मत—आचार्य **वाचस्पति मिश्र, नारायणतीर्थ,** रामानन्दयति तथा **बलदेव मिश्र** ने **'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्'**—इस सूत्र में आए 'भव' पद का **'भवन्ति जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति भवोऽविद्या'**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार अविद्या अर्थ किया है।[४] किसी एक ध्येय-पदार्थ का निरन्तर चिन्तन करने से निरुद्धवृत्तिक चित्त संस्कारशेष हो जाता है। किन्तु चित्त की यह संस्कारशेष अवस्था विवेकज्ञानपूर्वक न होने से उसमें आविद्यक संस्कार भी रहता है। इससे अचरितार्थ चित्तवृत्तिनिरोध के काल तक विदेह और प्रकृतिलय साधक कैवल्य का अनुभव करते हैं। बाद में आविद्यक संस्कार उद्‌बुद्ध होने पर उन व्युत्थित विदेह आदि साधकों को पुनः संसार में आना पड़ता है। इन व्याख्याकारों के अनुसार सूत्र का अर्थ हुआ—विदेह और प्रकृतिलय साधकों का सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात अविद्यामूलक होने से जन्म का कारण है।

---

[१] (क) संवेगः=वैराग्यम्—त० वै० पृ० ६१।
(ख) तु०—म० प्र० पृ० १२। (ग) तु०—यो० सु० पृ० १२।
(घ) तु०—यो० प्र० पृ० ११। (ङ) तु०—सू० बो० पृ० ८।

[२] सवेगः क्रियाहेतुर्दृढतरः संस्कारः—रा० मा० पृ० ९।

[३] (क) संवेगश्चोपायानुष्ठाने शैघ्र्यम्—यो० वा० पृ० ६१।
(ख) तु०—भा० ग० वृ० पृ० १७। (ग) तु०—ना० ल० वृ० पृ० १७।

[४] (क) त० वै० पृ० ५६। (ख) तु०—यो० सि० चं० पृ० २०।
(ग) म० प्र० पृ० १०-११। (घ) तु०—यो० प्र० पृ० १०।

वाचस्पति, रामानन्दयति आदि ने विदेह और प्रकृतिलय पुरुषों का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—आत्मस्वरूप का यथार्थज्ञान न होने से जो केवल विकृतिरूप भूत अथवा इन्द्रियों में से किसी को आत्मा समझकर जीवन-पर्यन्त उसका ध्यान (उपासना) करते हैं और मरण के पश्चात् अपने-अपने उपास्य में लीन होते हैं ऐसे संस्कारशेष मनस् के पुरुष षाट्कौशिक स्थूल-देह से रहित होने के कारण विदेहकह लाते हैं।[१] ये विदेह लोग परिच्छिन्न अवधि तक उपास्य में लीन रहकर कैवल्यपद का अनुभव करते हैं।[२] उनको केवली-भाव होता है। अर्थात् उपाधिभूत बुद्धि के सुख, दुःख आदि धर्मों का प्रतिविम्ब न पड़ने से ये लोग अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं। लेकिन विदेहपुरुषों की यह कैवल्यावस्था शाश्वतिक न होने से कैवल्याभास है। अतः स्थूलदेहशून्य इन्द्रियचिन्तक पुरुष दस मन्वन्तर-पर्यन्त तथा स्थूलदेहशून्य भूतचिन्तक पुरुष सौ मन्वन्तर तक कैवल्यसदृश पद का रसास्वाद करते हुए अन्त में साधिकार चित्त के साथ धराधाम में लौट आते हैं।[३] यही स्थिति प्रकृतिलीन पुरुषों की भी है। ये विदेहपुरुषों से अवश्य ऊपर उठे हुए होते हैं; किन्तु अज्ञानावृत ये भी हैं। इन्हें भूत अथवा इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं—ऐसा ज्ञान रहता है। किन्तु आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न रहने से ये लोग (पञ्चतन्मात्र, अहङ्कार, महत् और प्रकृति) आठ प्रकृतियों में से किसी को आत्मा मानकर उसी के चिन्तन में फँसे रहकर अपने को आत्मबोद्धा समझते हैं। इनका भी संस्कारशेष किन्तु साधिकार चित्त शरीरपात के अनन्तर अव्यक्तादि में से अपने-अपने उपास्य में लीन रहता है।[४] वर्षा-ऋतु में प्रादुर्भूत होने वाला मण्डूक वर्षा-ऋतु के व्यतीत हो जाने पर मृत्तिकारूप को प्राप्त हो जाता है; किन्तु आगामी वर्षा-काल में मृद्भाव को त्यागकर पुनः अपने स्वरूप को ग्रहण करता है।[५]

---

१ (क) भूतेन्द्रियाणामन्यतममात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तः-करणाः पिण्डपातानन्तरमिन्द्रियेषु भूतेषु वा लीनाः संस्कारमात्रावशेषमनसः षाट्कौशिकशरीररहिता विदेहाः—त० वै० पृ० ५७-५८।

(ख) तु०—यो० सि० चं० पृ० २०।

(ग) तु०—म० प्र० पृ० १०। (घ) तु०—यो० प्र० पृ० १०।

२ (क) ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः=प्राप्नुवन्तो विदेहाः—त० वै० पृ० ५८।

(ख) तु०—यो० प्र० पृ० १०।

३ दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः॥—वा० पु०, त० वै० पृ० ५९।

४ (क) तथा प्रकृतिलयाश्च=अव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेष्वन्यतममात्मत्वेन प्रति-पन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरमव्यक्तादी-नामन्यतमस्मिँल्लीनाः—त० वै० पृ० ५९।

(ख) तु०—यो० प्र० पृ० १०।

(ग) तु०—यो० सि० चं० पृ० २०।

५ यथा वर्षातिपाते मृद्भावमुपगतो मण्डूकदेहः पुनरम्भोदवारिधारावसेकान्मण्डूकदेह-भावमनुभवति—त० वै० पृ० ५९।

इसी प्रकार प्रकृतिलय लोग भी तब तक मोक्षसदृश पद पर प्रतिष्ठित रहते हैं जब तक उनका चित्त कार्यारम्भरूप अधिकार के कारण प्रकृति से पृथक् होकर पुनः संसार में लौट नहीं आता है।[१] वायुपुराण में अव्यक्त आदि तत्त्वों के उपासकों की कैवल्यसम अवस्था का काल इस प्रकार दिया है :—अहंकार में आत्मबुद्धि रखने वाले एक हजार, बुद्धि में आत्मबुद्धि रखने वाले दस हजार तथा प्रकृति में आत्मत्व-ख्याति करने वाले सौ हजार अर्थात् एक लाख मन्वन्तरपर्यन्त कैवल्यसम पद पर प्रतिष्ठित रहते हैं।[२] वाचस्पति मिश्र आदि के अनुसार अविद्या आदि क्लेशों का दाह न कर केवल वृत्तियों का निरोध कर लेने से ही पुरुष आत्म-स्वरूप में अवस्थित होने में समर्थ नहीं होता है। क्योंकि विवेकज्ञान के अतिरिक्त अविद्यादि का बीज नष्ट करने का और कोई उपाय नहीं है। इसलिए भवप्रत्यय अवस्था में कुछ समय तक चित्त निरुद्ध रहने पर भी कालान्तर में उसका व्युत्थान अवश्यंभावी है। क्योंकि तब तक चित्त के संस्कार पूर्णरूप में वर्तमान रहते हैं। अतः भवप्रत्ययनिरोध अविद्यामूलक होने से पुनर्जन्म का कारण है।

वाचस्पति मिश्र आदि के समान **भोजदेव** ने भी भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञात को योगाभास कहकर उसमें अविद्यानिमित्तक संसारजनकता मानी है;[३] लेकिन विदेह और प्रकृतिलय पुरुषों का स्वरूप कुछ भिन्न ढंग से प्रस्तुत किया है। उनका कहना है—जिन्हें आनन्दानुगत-योग सिद्ध है, किन्तु प्रकृति तथा पुरुष का भेदज्ञान नहीं हुआ है ऐसे देहात्माभिमानी पुरुष विदेह कहलाते हैं।[४] जो अस्मितानुगत-योग को प्राप्त करने से अपने को कृतकृत्य समझ कर परमपुरुष ईश्वरतत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाते हैं और जिनका चित्त मूलकारण प्रकृति में लीन रहता है वे पुरुष प्रकृतिलीन कहे जाते हैं।[५] आचार्य भोजदेव ने 'भव' पद का अर्थ संसार किया है।[६] 'भव' पद का वाच्यार्थ संसार करने पर भी अविद्या आक्षेप-लभ्य है। क्योंकि

---

१ (क) प्रकृतिलयाश्च···अजनितसत्त्वपुरुषान्यताख्यातौ चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति तावद्यावन्न पुनरावर्त्ततेऽधिकारवशाच्चित्तम्—यो० प्र० पृ० १०।

(ख) तु०—त० वै० पृ० ५९।

२ सहस्रन्त्वाभिमानिकाः ॥
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥—वा० पु०, त० वै० पृ० ५९।

३ आविर्भूत एव संसारे ते तथाविधसमाधिभाजो भवन्ति, तेषां परतत्त्वादर्शनात् योगाभासोऽयम्। अतः परतत्त्वज्ञाने तद्भावनायाञ्च युक्तिकामेन महान् यत्नो विधेयः—रा० मा० पृ० ९।

४ तस्मिन्नेव (सानन्दे) समाधौ ये बद्धधृतयस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति, ते विगतदेहाहङ्कारत्वाद्विदेहशब्दवाच्याः—रा० मा० पृ० ७।

५ अस्मिन्नेव (सास्मिते) समाधौ ये कृतपरितोषाः परं परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति, तेषां चेतसि स्वकारणे लयमुपागते प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते—रा० मा० पृ० ८।

६ भवः संसारः; स च प्रत्ययः कारणं यस्य स भवप्रत्ययः—रा० मा० पृ० ९।

संसार अविद्याकारणक है। अतः 'भव' पद का अर्थ संसार करने पर भी किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है। इसीलिए सदाशिवेन्द्रसरस्वती ने 'भव' पद का अर्थ अविद्याख्य संसार किया है।[१]

हरिहरानन्द आरण्यक के अनुसार 'भव' पद का अर्थ केवल जन्म अथवा केवल अविद्या नहीं प्रत्युत 'जन्म का हेतुभूत अविद्यामूलक संस्कार है।'[२] इनका कहना है[३] कि स्थूलग्रहण में (इन्द्रियों) में समाहितचित्त विदेह-योगी विषय-त्याग को परम पुरुषार्थ समझकर इन्द्रियों की विषयोन्मुखता को अवरुद्ध करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इसलिए विषयभोग के प्रति अनासक्त हुए योगी की श्रोत्रादि इन्द्रियाँ अपने-अपने शब्द आदि विषय का संयोग न पाकर मृतप्राय हो जाती हैं। क्योंकि विषय-सान्निध्य के बिना करण-समूह क्षणभर के लिए भी स्थित नहीं रह पाता है। इस प्रकार इन्द्रियों को वशंगत रखकर अर्थात् चित्त आदि करणों की वृत्तियों को निरुद्ध करके अक्लिष्टवृत्तिजन्य निरोधात्मक उत्तम संस्कारों वाला विदेहयोगी शरीरत्याग के पश्चात् करणों में विलीन होकर निर्बीजयोग को प्राप्त करता है और निरोधात्मक संस्कारों की शक्ति से सीमित कालपर्यन्त कैवल्यसदृश अवस्था का अनुभव करता है; किन्तु संसारहेतुक अविद्या के कारण उपास्य करण-समूहों से वियुक्त होकर पुनः संसार में लौट आता है। उपर्युक्त प्रकार की दशा प्रकृतिलीन देवों की भी होती है। इस प्रकार भवप्रत्ययक-समाधि वैराग्य की शक्ति के दबाव के कारण उत्पन्न होती है तथा विदेह और प्रकृतिलय दोनों ही अवस्थाएँ प्रकृति में लीन होने के कारण होती हैं। आचार्य हरिहरानन्द आरण्यक के मत में दोनों प्रकार के विदेह और प्रकृतिलय देव अपने-अपने उपास्य में लय होने से कैवल्यपदसदृश अनुभव करते हैं और उससे च्युत भी होते हैं।[४] आतप से व्याकुल व्यक्ति शीतलता की इच्छा से नहर आदि में डुबकी लगाता है। जब तक जल में निमग्न रहता है तब तक शीतलता का अनुभव कर प्रसन्न रहता है किन्तु जल से बाहर आने पर उसे आतप (उष्णता) पुनः सताने लगता है। इसी प्रकार विदेह और प्रकृतिलीन साधक प्रकृति आदि पदार्थों का ही निरन्तर चिन्तन करते रहने से निरुद्धवृत्तिक चित्त से ध्येय पदार्थ का साक्षात्कार करने पर एक प्रकार के सुख का रसास्वाद

---

१ भवन्त्यस्मिन्जन्तव इति भवः संसारोऽविद्याख्यः; स प्रत्ययो हेतुर्यस्य स संसारमूलोऽसंप्रज्ञातः—यो० सु० पृ० ११।

२ भवप्रत्ययः=भवति जायतेऽनेनेति भवो=जन्महेतवः क्लेशमूलाः संस्काराः - भा० पृ० ५७।

३ देहः=स्थूलसूक्ष्मशरीरम्; तद्धीना विदेहाः। ये तु पुरुषख्यातिहीनाः किन्तु दोषदर्शनाद् देहधारणे विरागवन्तस्ते तद्वैराग्येण तद्विषयेण च समाधिना सर्वकरणकार्यं निरुन्धन्ति, कार्याभावात् करणशक्तयो न स्थातुमुत्सहन्ते। तस्मात् ताः प्रकृतौ लीयन्ते···एवमेषामपि निर्बीजः समाधिः स्यात् किन्तु वैराग्यसंस्कारजातत्वात् तत् संस्कारबलक्षये स समाधिः प्लवते। न हि पुरुषख्यातिं विना संस्कारस्य सम्यग् नाशः स्याद् चित्तातिरिक्तस्य द्रव्यस्यानधिगतत्वात्—भा० पृ० ५७।

४ ततस्तदा यो वैराग्यसंस्कारस्तिष्ठति तद्बलक्षयाच्च पुनरुत्थानम्, उक्तं च—भग्नवदुत्थानम्—भा० पृ० ५७।

लेते हैं; लेकिन उससे विरत होने पर पुनः सुख दुःख आदि वृत्तिजन्य भोगों के चक्र में फँसते हैं। अतः उपास्य में लय होने से इनमें वास्तविक कृतकृत्यता नहीं आ पाती है। **हरिहरानन्द आरण्यक** ने श्रुतिवाक्य के द्वारा अपने इस सिद्धान्त को परिपुष्ट किया है।[१]

द्वितीय मत—आचार्य **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश** तथा **नागेश भट्ट** के मत में विदेह और प्रकृतिलय देवों को होने वाला भवप्रत्ययक-असम्प्रज्ञात योगाभास न होकर वास्तविक है। उसमें कैवल्य प्रदान करने का सामर्थ्य है। भवप्रत्ययक-असम्प्रज्ञात योग के साधकों का स्वरूप बतलाते हुए **विज्ञानभिक्षु** आदि व्याख्याकारों का कहना है कि विदेह पुरुष का चित्त इन्द्रियसन्निकर्ष के विना ही बाह्यदेश में वृत्तिलाभ करता है।[२] ये स्थूल-शरीर के विना ही केवल अष्टादश-अवयवात्मक लिङ्गशरीर से अखिल बौद्धिक क्रियाएँ करने में समर्थ होते हैं। इन्हें महाविदेह सिद्धि प्राप्त रहती है। वे देवविशेष विदेह कहलाते हैं। इस वर्ग में महत्तत्त्वाभिमानी देवता के उपासक आते हैं।[३] इस प्रकार पूर्वजन्मीय योग-साधना के द्वारा विदेहत्व को प्राप्त प्राणी शरीरपात के पश्चात् जब पुनः विशिष्टशरीर (जन्म) धारण करके संसार में आते हैं तब उन्हें (विदेहदेव) पूर्वजन्मीय सांसिद्धिक ज्ञान और वैराग्य के संस्कारमात्र से प्रयत्ननिरपेक्ष असम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है।[४] पक्षियों को आकाश-गमन की शक्ति जन्म से ही प्राप्त रहती है। इसी प्रकार इन्हें साधारण मनुष्यों के समान असम्प्रज्ञातयोग के लिए श्रद्धा आदि उपायों का विधिवत् अनुशीलन नहीं करना पड़ता है। अतः विदेह देवताओं के असम्प्रज्ञातयोग को जन्ममात्रनिमित्तक कहा गया है। ये लोग विदेह अवस्था को प्राप्त कर के पुनः संसार में आने तक के सुदीर्घकाल तक कैवल्यस्थिति का अनुभव करते हैं। ब्रह्मा की रात्रिरूप दैनन्दिन प्रलय में और ब्रह्मा के दिन रूप सृष्टि काल में अपने निरोधावस्थ संस्कारशेष चित्त के द्वारा कैवल्य पद का सा अनुभव करते हैं।[५] व्युत्थानकाल में

---

[१] विवेकख्यातिहीनस्य···जन्म यतो भवेत्—श्रुतिवाक्य, भा० पृ० ५७।

[२] (क) शरीरनैरपेक्ष्येण बुद्धिवृत्तिमन्तो विदेहाः—यो० वा० पृ० ५८।
(ख) तु०—भा० ग० वृ० पृ० १६।
(ग) तत्र विदेहाः स्थूलदेहनिरपेक्षेण लिङ्गदेहेनाखिलव्यवहारक्षमा हिरण्यगर्भादयः—ना० ल० वृ० पृ० १६।
(घ) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २३५।

[३] (क) ते च महदादयो देवाः—यो० वा० पृ० ५८।
(ख) तु०—भा० ग० वृ० पृ० १६। (ग) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २३५।

[४] (क) तेषां साधनानुष्ठानं विनैवासंप्रज्ञात एतद्देहपातानन्तरं तत्तत्तत्त्वे प्रादुर्भाव-रूपजन्ममात्रनिमित्तको भवति, तत्तत्स्थानसाद्गुण्येनौत्पत्तिकाज्ज्ञानात्—ना० बृ० वृ० पृ० २३५।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ५८। (ग) तु०—ना० ल० वृ० पृ० १६।

[५] (क) ते हि दैनन्दिने प्रलये कदाचित्सर्गकालेऽपि स्वसंस्कारमात्रशेषेण निरोधावस्थेन चित्तेन कैवल्यपदमिव प्राप्नुवन्तः···—ना० बृ० वृ० पृ० २३५-२३६।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ५८। (ग) तु०—ना० ल० वृ० पृ० १६।

विदेहता का फलोपभोग समाप्त हो जाने के पश्चात् पुनः प्रारब्धभोगार्थ संसार में जन्म ग्रहण करके दैविक संस्कारों के फलस्वरूप मलिन ऐश्वर्यों का उपभोग करते हैं और भोग द्वारा संस्कारों का क्षय होने पर मुक्त भी हो जाते हैं।[१] इसी प्रकार ईश्वर अथवा प्रकृति की उपासना करने से जो लोग शरीरपात के पश्चात् महत्तत्त्व आदि आवरणों के सहित ब्रह्माण्ड को छोड़कर लिङ्ग-शरीर के साथ प्रकृत्यावरण में लीन होते हैं वे प्रकृतिलय कहलाते हैं।[२] पूर्वजन्म में प्रकृतिलयत्व को प्राप्त प्राणी जब तत्-तत् योनि के साद्‌गुण्य से नए एवं साधारण जीव की अपेक्षा उच्चकोटि का जन्म धारण करते हैं तो उन्हें जन्मतः असम्प्रज्ञातयोग सिद्ध रहता है। इसलिए प्रकृतिलय प्राणियों का भी असम्प्रज्ञातयोग जन्ममात्रनिमित्तक होने से भवप्रत्ययक कहा गया है।[3] ये लोग प्रकृतिलय (उपास्यलय) की अवस्था में साधिकार रहते हुए संस्कारमात्रविशिष्ट चित्त से कैवल्य पद का सा अनुभव करते हैं और व्युत्थान होने पर प्रारब्धकर्म से नियंत्रित होकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म भोग के द्वारा संस्कारों का क्षय करते हैं जिससे चित्त के निरधिकार हो जाने पर ये भी मुक्त हो जाते हैं।[४]

विज्ञानभिक्षु आदि का वक्तव्य है कि विदेह योगियों से प्रकृतिलीन योगियों में यह अन्तर है[५] कि विदेह योगियों का अल्प ऐश्वर्य तथा मलिन विषय होता है। किन्तु प्रकृतिलीन योगी विदेहों के भी ईश्वर कहे जाते हैं। इसलिए उनसे अधिक ऐश्वर्यसम्पन्न होते हैं और संकल्पमात्र से ही निर्मलसत्त्व विषयों का उपभोग करते हैं। अतः इनकी गणना ईश्वरकोटि में की जाती है।

मूल्यांकन—पातञ्जलयोगसूत्र के भाष्यकार **व्यासदेव** ने भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञातनिरोध और उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञातनिरोध में से उपायप्रत्ययक-असम्प्रज्ञातयोग को मुमुक्षुओं के लिए

---

१ (क) व्युत्थानकाले देवभावयोग्यं देवभावप्रापकसंस्कारफलमैश्वर्यभोगं प्रारब्धकर्म-यन्त्रिता अतिवाहयन्ति ततो मुच्यन्ते— ना० बृ० वृ० पृ० २३६।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ५८।
(ग) तु०—ना० ल० वृ० पृ० १६।

२ (क) प्रकृतिलयाश्च प्रकृत्युपासनया तच्छबलेश्वरोपासनया वा ब्रह्माण्डं भित्वा महत्तत्वपर्यन्तावरणान्यतीत्य प्रकृत्यावरणं गताः···—ना० ल० वृ० पृ १६।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ५८।

३ प्रकृत्यावरणं गताः (प्रकृतिलयाः) तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरं तत्र लीनास्तेऽपि साधनानुष्ठानं विनैव तत्राविर्भावरूपाज्जन्मत एव तथाविधा भवन्ति—ना० ल० वृ० पृ० १६।

४ (क) तेऽपि चासमाप्तकार्ये चेतसि स्वेच्छयैव प्रकृतिलीने संस्कारशेषे सत्यसंप्रज्ञातयोगे कैवल्यपदमिव प्राप्नुवन्ति यावदधिकारशेषवशात् चित्तं पुनर्व्युत्थितं न भवति···अधिकारसमाप्तौ च तेऽपि मुच्यन्ते—यो० वा० पृ० ५८।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २३६।
(ग) तु०—ना० ल० वृ० पृ० १६।

५ तेषाम् (विदेहानां)···ईश्वरकोटय इत्युच्यन्ते—ना० ल० वृ० पृ० १६।

उपादेय बतलाया है ।[१] उनके मत में भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञातयोग योगियों के लिए ग्राह्य नहीं है वह योगभ्रष्ट विदेह और प्रकृतिलयों के लिए है । अतः भाष्यकार की ओर से दो प्रकार से वर्गीकृत उपायप्रत्ययक एवं भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञातयोग का उपादेयत्व और अनुपादेयत्व कथन मोक्ष-प्राप्त कराने की सामर्थ्य तथा असामर्थ्य की दृष्टि से ही हो सकता है । इसलिए व्यासभाष्य के व्याख्याकार **वाचस्पति मिश्र** तथा **हरिहरानन्दआरण्यक** एवं वृत्तिकार **भोजदेव, रामानन्दयति, नारायणतीर्थ, सदाशिवेन्द्रसरस्वती, अनन्तदेवपण्डित** तथा **बलदेव मिश्र** ने भवप्रत्ययक निरोध को मोक्ष का कारण न मानकर उसे संसार का जनक कहा है और योगाभास, योगनिद्रा, मूर्च्छा आदि उपाधियों से उसकी हेयता बतलाई है । भाष्यानुसारी होने से यह पक्ष समीचीन है ।

यदि **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश** एवं **नागेश भट्ट** की ओर से भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात में मोक्ष-जनकता स्वीकार की जाए तो भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात को परवैराग्य (विवेकज्ञान) पूर्वक मानना पड़ेगा । क्योंकि तत्त्वज्ञान अथवा परवैराग्यजन्य असम्प्रज्ञात ही कैवल्य का हेतु है । भवप्रत्ययक और उपायप्रत्ययक दोनों को परवैराग्यजन्य मानने पर असम्प्रज्ञातयोग का भव-प्रत्ययक और उपायप्रत्ययक के रूप से वर्गीकरण नहीं किया जा सकेगा । फलस्वरूप भाष्यकार का **'स च द्विविधः उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च'**—यह कथन अनुपपन्न हो जायगा । अतः भव-प्रत्ययक असम्प्रज्ञातयोग परवैराग्यजन्य नहीं है । एतावता उसमें मोक्षजनकता भी नहीं है । भाष्यकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है[२]—**'विदेहप्रकृतिलयाः कैवल्यपदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्त्ततेऽधिकारवशाच्चित्तम् ।'** भाष्यकार ने ईश्वर-प्रणिधान की व्याख्या करते समय सदैव मुक्त ईश्वरीय पुरुष से प्रकृतिलीन पुरुषों के भेद का आधार उनका उत्तरबन्ध बतलाया है ।[३] अतः अविद्यामूलक भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञातयोग कैवल्य का हेतु नहीं है ।

विज्ञानभिक्षु, भावागणेश एवं **नागेश भट्ट** की ओर से यह प्रश्न हो सकता है कि यदि भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञातयोग का उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञातयोग के साथ सादृश्य परवैराग्य से जन्य तथा मोक्ष का जनक होने के कारण नहीं है, तो फिर एक ही असम्प्रज्ञात का दो प्रकार से वर्गीकरण किस आधार पर किया गया ? इसका उत्तर है कि दोनों प्रकार के असम्प्रज्ञात में चित्त की सर्ववृत्तियाँ निरुद्ध होने से दोनों को एक कोटि में रखा गया है । विवेकज्ञान पूर्वक होने वाले उपायप्रत्ययक निरोध में संसार के हेतुभूत अविद्या का दाह करने की क्षमता होने से मोक्षजनकता है । सत्त्वपुरुषान्यताख्याति से भिन्न किसी अन्य साधन से होने वाले सर्ववृत्तिनिरोधरूप भवप्रत्ययक-योग में संसार-बीज का क्षय करने की क्षमता न होने से मोक्ष-जनकता नहीं है ।

अतः संस्कारशेषरूप निरोध को ही भवप्रत्ययक और उपायप्रत्ययक बतलाया गया है । **विज्ञानभिक्षु** का **वाचस्पति मिश्र** आदि पर लगाया हुआ आक्षेप है कि असम्प्रज्ञातयोग का

---

[१] **तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति—व्या० भा० पृ० ५६-५७ ।**

[२] **व्या० भा० पृ० ५८-५९ ।**

[३] **यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य—व्या० भा० पृ० ६७ ।**

हेतुभूत परवैराग्य जैसा उच्चतम ज्ञान अविद्यायुक्त प्राणी में सम्भव नहीं है।[1] इसका उत्तर है कि—चित्त का सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात परवैराग्यपूर्वक ही हो—यह आवश्यक नहीं। क्योंकि कभी-कभी अपार दुःख को देखकर भी संसार के प्रति वैराग्यबुद्धि जाग्रत् हो जाती है, जिसके कारण विषयभोग से पराङ्मुख हुए एकाग्रचित्त रूप समुद्र में वृत्तिरूप उद्दाम तरङ्गे नहीं उठती हैं। सांख्यकारिका में कहा भी है—**'वैराग्यात् प्रकृतिलयः'**। अथवा आत्मज्ञान के इच्छुक किन्तु अज्ञानवशात् भूतादि अनात्मा में आत्मबुद्धि करके अपने को कृतकृत्य समझने वाले व्यक्तियों की चित्तवृत्तियाँ भी निरुद्ध देखी गई हैं। अतः उपर्युक्त दो हेतुओं से निरुद्धवृत्तिक चित्त असम्प्रज्ञातयोग प्राप्त दिखाई पड़ता है। किन्तु इन्द्रियादि-चिन्तन से असम्प्रज्ञात की सिद्धि नहीं हो सकती है। अज्ञान पर आधारित वृत्तिनिरोधावस्था विवेकज्ञानपूर्वक होने वाले असम्प्रज्ञात-योग के सदृश वास्तविक असम्प्रज्ञातदशा नहीं है।

अतः सम्यक्ज्ञानपूर्वक होने वाले चित्तवृत्तिनिरोध से जिस असम्प्रज्ञात दशा का आविर्भाव होता है, उसकी तुलना ज्ञान के अनुदयकालीन भवप्रत्ययक योग से नहीं हो सकती है। इसलिए अविद्यानिमित्तक भवप्रत्ययकनिरोध को कैवल्य का हेतु न मानने वाले व्याख्याकार वाचस्पति मिश्र आदि का पक्ष युक्तियुक्त है।

असम्प्रज्ञातयोग की साधना द्वारा जब चित्त निर्वृत्तिक हो जाता है, उस समय वृत्तिशून्य बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब संक्रान्त नहीं होता है। फलस्वरूप पुरुष अपने स्वकीयरूप में अवस्थित रह जाता है। साधक की यह अवस्था जीवन्मुक्ति कही जाती है। जब प्रारब्धकर्मों का भी फलोपभोग द्वारा क्षय हो जाता है, तब देहपात के पश्चात् साधक विदेहमुक्त कहलाता है।

———

[1] परवैराग्यस्यासंप्रज्ञातहेतुतया तस्याविदुष्यसम्भवात्—यो० वा० पृ० ५८।

[2] इन्द्रियादिचिन्तामात्रेणासंप्रज्ञातानुपपत्तेः—यो० वा० पृ० ५९।

अध्याय–१२

विभूति-विमर्श

योग-साधना के क्षेत्र में विभूति का स्थान एवं प्रयोजन
विभूतियों का विभाजन
बहिरङ्ग-साधनसाध्य विभूतियाँ
अन्तरङ्ग-साधनसाध्य विभूतियाँ
द्रव्य का स्वरूप
क्षणाख्य काल का स्वरूप

अध्याय–१२

चित्रपट्ट सं० १
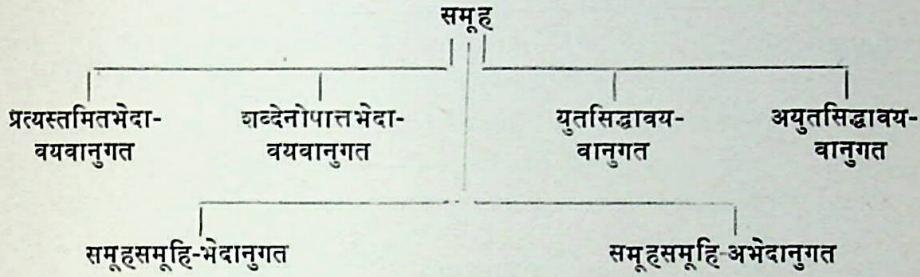
चित्रपट्ट सं० २
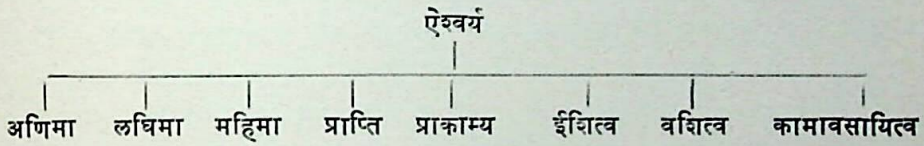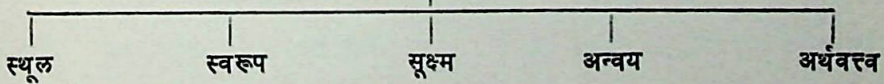
चित्रपट्ट सं० ३
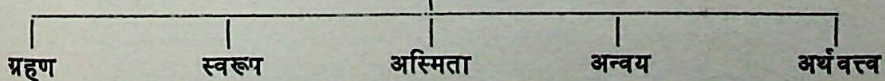
चित्रपट्ट सं० ४
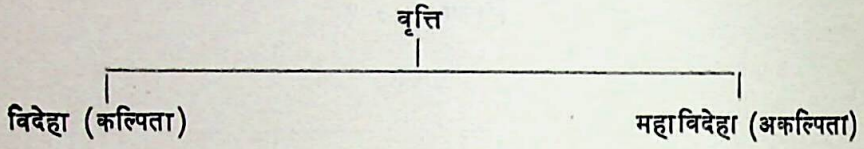
चित्रपट्ट सं० ५
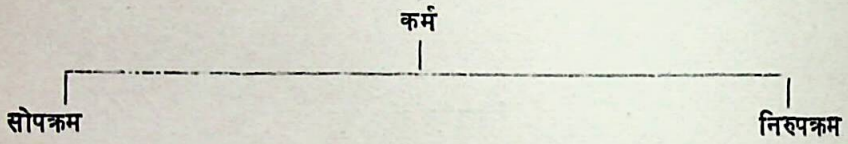
चित्रपट्ट सं० ६

चित्रपट्ट सं० ७
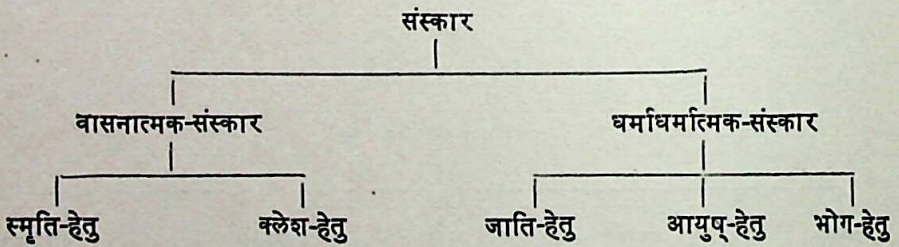
चित्रपट्ट सं० ८
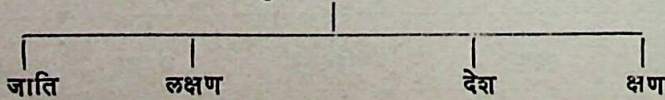
अध्याय—१२

विभूति-विमर्श

विभूति पातञ्जल-योगशास्त्र का एक महनीय विषय है। योगसूत्र के सम्पूर्ण तृतीय पाद में इसी का प्रतिपादन हुआ है। इसीलिए तृतीय पाद को विभूति नाम दिया गया है। योग-प्राप्ति के सोपानों की भाँति यह विभूति-तत्त्व अवशिष्ट पादों में भी यथास्थान वर्णित हुआ है। 'विभूति' पद का अर्थ है—क्षमता अथवा सामर्थ्यविशेष। योग-साधना के फलस्वरूप साधक में यह उत्पन्न होता है। सिद्धि, ऐश्वर्य, महाभूति आदि इसके पर्याय हैं। ये शक्तियाँ अनेक प्रकार की हैं।

योग-साधना के क्षेत्र में विभूति का स्थान एवं प्रयोजन

विभूतियाँ योग-साधना की लक्ष्य नहीं। वे योगाभ्यासकाल में साधक को आनुषङ्गिक रूप से प्राप्त होती हैं। इससे साधक की योग-साधना के प्रति निष्ठा बढ़ती है तथा उसमें आत्मविश्वास जाग्रत् होता है कि वह साधना-पथ पर ठीक चल रहा है। किन्तु आत्मोन्नति कराने में इनका साक्षात् उपयोग नहीं है। अतः विभूतियों की प्राप्ति में योग-साधना की कृतकृत्यता समझकर जो साधक प्राप्त-विभूतियों में रममाण रहने लगते हैं और योग-साधना को आगे नहीं बढ़ाते हैं वे वस्तुतः योग के चरम लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते हैं। अतः योग-साधना के प्रसङ्ग में मुमुक्षु के लिए विभूतियों का उपर्युक्त स्थान एवं प्रयोजन समझना आवश्यक है। अन्यथा मोहनीय, रञ्जनीय एवं कोपनीय विभूतियाँ उसके जीवन को नष्टप्राय कर देती हैं।[1]

विभूतियों का विभाजन

पातञ्जल-योगशास्त्र में वर्णित विभूतियों का वर्गीकरण तीन आधार पर किया जा सकता है :—

(१) योग-साधना के सोपान (साधन) के आधार पर। (२) उनके विषयों के आधार पर। (३) विभूतियों के भिन्न-भिन्न स्वरूप के आधार पर।

प्रथम प्रकार—विभूतियाँ दो प्रकार की हैं :—

(क) बहिरङ्ग-साधनसाध्य विभूतियाँ। (ख) अन्तरङ्ग-साधनसाध्य विभूतियाँ।

द्वितीय प्रकार—संसार के पदार्थ ग्राह्य, ग्रहण अथवा ग्रहीतृ रूप होने से—विभूतियाँ तीन प्रकार की हैं :—

(क) ग्राह्यविषयक विभूतियाँ। (ख) ग्रहणविषयक विभूतियाँ। (ग) ग्रहीतृविषयक विभूतियाँ।

---

१ स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्—यो० सू० ३।५१।

तृतीय प्रकार—विभूतियाँ दो प्रकार की हैं :—

(क) क्रियाप्रधान विभूतियाँ। (ख) ज्ञानप्रधान विभूतियाँ।

बहिरङ्ग-साधनसाध्य विभूतियाँ

बहिरङ्ग-साधनसाध्य विभूतियाँ यमादि साधनों के दृढ़ होने पर प्राप्त होती हैं।[1] ये साधनाभ्यास की परिपूर्णता की परिचायिका स्वरूप हैं।

यमसाध्य विभूतियाँ—यम पञ्चविध हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।

अहिंसासाध्य विभूति—अभ्यास द्वारा अहिंसाव्रत के दृढ़ होने पर साधक में दूसरों की हिंस्यवृत्ति को शान्त करने का सामर्थ्य सहज उत्पन्न होता है।[2] अहिंसाप्रतिष्ठ साधक के समक्ष महाहिंसक प्रकृति के प्राणी व्याघ्र, भेड़िया, सर्प, नेवला आदि भी परस्पर के वैर को त्याग देते हैं।[3] अहिंसाजयी की इच्छामात्र से अहिंसा की भावना सर्वत्र फैल जाती है।

सत्यसाध्य विभूति—सत्यव्रत की परिपूर्णता वाणी के यथार्थत्व के रूप में देखी जाती है।[4] सत्यंजयी के मुख से उच्चरित वचन त्रिकालाबाधित होता है। योगी द्वारा किसी पापी पुरुष के लिए उच्चरित वचन 'तू धार्मिक हो जा'—अक्षरशः यथार्थ होता है।[5] योगी अनेक प्रकार के आशीर्वाद देकर असम्भव को सम्भव करके नहीं दिखाता है। प्रत्युत सत्य की महिमा से उसका शुद्ध अन्तःकरण भवितव्य घटनाओं का अवलोकन करने में समर्थ होता है, जिससे वह भवितव्य घटना को ही मुख से निकालता है; अन्यथा मौन रहता है। इसीलिए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** ने सत्यसाध्य विभूति वागिन्द्रिय की ही नहीं अपितु मन इन्द्रिय की भी कही है।[6]

---

[1] (क) अहिंसाप्रतिष्ठायाम्···, सत्यप्रतिष्ठायाम्···, अस्तेयप्रतिष्ठायाम्··—यो० सू० २।३५-३६-३७।

(ख) प्रतिष्ठायां स्थैर्ये उक्तवितर्कैरसंस्पर्श इति यावत्···यो० वा० पृ० २६०।

[2] अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः—यो० सू० २।३५।

[3] (क) शाश्वतिकविरोधा अपि अश्वमहिषमूषकमार्जाराहिनकुलादयोऽपि भगवतः प्रतिष्ठिताहिंसस्य सन्निधानात्तच्चित्तानुकारिणो वैरं परित्यजन्तीति—त० वै० पृ० २६०।

(ख) तु०—यो० वा० पृ० २६०।

[4] सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्—यो० सू० २।३६।

[5] 'धार्मिको भूया' इति वचनात् संबोध्यो धार्मिको भवतीत्यादिरर्थः—यो० वा० पृ० २६०।

[6] (क) अत्र वाक् मनसोऽप्युपलक्षणम्—यो० वा० पृ० २६०।

(ख) मनश्च तथा भवतीति भावः—ना० बृ० वृ० पृ० ३०९।

अस्तेयसाध्य विभूति—अस्तेयसिद्ध साधक के समक्ष विना प्रयास के ही बहुमूल्य वस्तुओं का उपस्थित होना, अस्तेयसाध्य विभूति है।[१] अस्तेय की परिपक्व अवस्था में साधक के मुख-मण्डल से भौतिक पदार्थों के प्रति निस्पृहभाव इतना अधिक प्रस्फुटित होने लगता है कि दर्शकवृन्द उसे त्याग एवं तपस्या की प्रतिमूर्ति समझकर बहुमूल्य वस्तुओं के दान द्वारा अपने को कृतकृत्य मानते हैं।

ब्रह्मचर्यसाध्य विभूति—ब्रह्मचर्यव्रत के दार्ढ्यकाल में निरतिशय शक्तिविशेषरूप विभूति का अविर्भाव होता है।[२] इस सामर्थ्यविषय से ब्रह्मचर्यनिष्ठ योगी इच्छा का विघात न करने वाले अणिमादि गुणों तथा तार, सुतार आदि सिद्धियों को प्राप्त करता है।[३] वह शिष्यों को योग का ज्ञान प्रदान करने तथा उन्हें योगाङ्गानुष्ठान की ओर प्रेरित करने में भी समर्थ होता है।

नारायणतीर्थ के शब्दों में ब्रह्मचर्य-साधना का मुख्य लक्ष्य वीर्य को क्षरित होने से रोकना है। ब्रह्मचर्य के द्वारा वीर्य (चेतना-शक्ति) के क्षरित न होने से शरीर, इन्द्रिय, मनस् आदि की शक्ति बढ़ती है। अर्थात् वे कुण्ठित नहीं होते हैं।[४] इसीलिए ऊर्ध्वरेतस् का मुखमण्डल कान्तियुक्त दिखलाई पड़ता है। प्रसन्नता एवं निर्भयता उसके मुखमण्डल पर क्रीड़ा करती है।

ब्रह्मचर्य की महिमा बतलाते हुए आचार्य व्यासदेव ने **'सिद्ध'** पद का प्रयोग किया है। इस **'सिद्ध'** पद के आधार पर वाचस्पति, रामानन्दयति, हरिहरानन्द आरण्यक तथा **बलदेव मिश्र** आदि ने ब्रह्मचर्यनिष्ठ साधक की ऊहादि सिद्धियाँ कहीं हैं।[५] अर्थात् **'सिद्ध'** पद को ऊहादिसिद्धिपरक माना है। विज्ञानभिक्षु, नागेश भट्ट ने **'सिद्ध'** पद का अर्थ 'ज्ञान के सिद्ध (स्वयं ज्ञानी) होने पर' किया है।[६] व्यासभाष्य के अग्रिम वाक्यांश **विनेयेषु ज्ञानमाधातुम्**—से भिक्षु आदि द्वारा किया गया **'सिद्ध'** पद का अर्थ सम्यक् प्रतीत होता है, क्योंकि शिष्यों में ज्ञान का आधान कराने से पूर्व उपदेशक का स्वयं ज्ञानी बनना

---

[१] **अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्—यो० सू० २।३७।**

[२] **ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः—यो० सू० २।३८।**

[३] **यस्य लाभादप्रतिघान् गुणानुत्कर्षयति सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति—व्या० भा० पृ० २६१।**

[४] **वीर्यनिरोधे चेतनाशक्तेरबहिर्भावेन अकुण्ठीभावाच्छरीरेन्द्रियमनःसु सामर्थ्यप्रकर्षमायाति। दृश्यते ह्यूर्ध्वरेतस्कानां तेजोविशेषः—यो० सि० चं० पृ० ७९।**

[५] **(क) सिद्धश्च=तारादिभिरष्टाभिः सिद्धिभिरूहाद्यपरनामभिरुपेतः—त० वै० पृ० २६१।**
(ख) तथा ऊहाध्ययनादिभिर्ज्ञानसिद्धौ—भा० पृ० २६१।
(ग) तु०—यो० प्र० पृ० ४१।

[६] **(क) तथा सिद्धः स्वयं ज्ञानी भूत्वा—यो० वा० पृ० २६१।**
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३०९।

आवश्यक है। वैसे वाचस्पति आदि के अनुसार **'सिद्ध'** पद से ऊहादि सिद्धियाँ लेने पर भी उपर्युक्त वाक्यार्थ की सङ्गति लग जाती है। क्योंकि ब्रह्मचर्यनिष्ठ को प्राप्त होने वाली अध्ययन-संज्ञक तृतीय सिद्धि उसकी ज्ञानगरिमा की ओर संकेत करती है। इससे स्वयं ज्ञानी होकर वह शिष्यों को योग-विद्या का उपदेश कर सकता है। अतः **'सिद्ध'** पद के दोनों अर्थ उचित हैं।

अपरिग्रहसाध्य विभूति—अपरिग्रह में प्रतिष्ठित होने पर साधक को जन्मबोधरूप विभूति प्राप्त होती है।[1] अर्थात् अपरिग्रह से जायमान सामर्थ्यविशेष के बल पर साधक वर्तमान देह के समान स्वकीय अतीत एवं अनागत देहों का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है।

जिज्ञासा हो सकती है कि योगशास्त्र में योगी के भाविजन्म का निषेध किया गया है, फिर यहाँ—'योगी को अपने भाविजन्मों का साक्षात्कार होता है'—यह कैसे कहा जा रहा है? उत्तर है—जो सत्त्वपुरुषान्यतारूप ज्ञानाग्नि से भाविजन्म के हेतुभूत संचित एवं क्रियमाण कर्मों का दाह कर चुका है; ऐसे जीवन्मुक्त योगी के भाविजन्म का निषेध किया गया है। यमादि का अभ्यास प्रारम्भ किए साधक के भाविजन्म का निषेध नहीं किया गया है।

नियमसाध्य विभूतियाँ—नियम पञ्चविधि हैं—शौच, सन्तोष, तपस्, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान।

शौचसाध्य विभूति—अभ्यास द्वारा बाह्य-शौच के दृढ़ होने पर साधक में स्वशरीर एवं परशरीर के प्रति वास्तविक घृणाभाव जाग्रत् होता है। यही बाह्यशौचसाध्य विभूति है।[2] आभ्यन्तर-शौच के द्वारा चित्त के रागादि कालुष्य दूर होने पर चित्त परिशुद्ध होता है। सर्वदा चित्त में सात्त्विकभाव उत्पन्न होते हैं। फलतः चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता शनैः शनैः परिपुष्ट होती है।[3]

सन्तोषसाध्य विभूति—सन्तोषसाध्य विभूति से चित्त में अनुत्तम सुख की सृष्टि होती है।[4] तृष्णाक्षयप्रधान इस सुख की तुलना दिव्य अथवा अदिव्य विषयभोग से उत्पन्न सुख से नहीं की जा सकती।

तपस्साध्य विभूति—तपस्-साधना शरीर-प्रधान होने से तज्जन्य विभूति भी शरीर एवं इन्द्रिय से सम्बन्धित है। तपस् अशुद्धिक्षयरूप मध्यवर्ती व्यापार द्वारा अपने फलों को करता है।[5] अणिमादि विभूतियाँ शरीर की हैं तथा असन्निकृष्ट रूप पूर्ण शब्द आदि का दिखाई तथा सुनाई पड़ना आदि शक्तियाँ इन्द्रियों की हैं।

---

[1] **अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः—यो० सू० २।४०।**

[2] **शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः—यो० सू० २।४०।**

[3] **सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च—यो० सू० २।४१।**

[4] **सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः—यो० सू० २।४२।**

[5] **कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः—यो० सू० २।४३।**

यद्यपि चतुर्थ पाद के प्रथम सूत्र में अणिमादि विभूतियों को जन्मादिज बतलाया गया है, तथापि ये सिद्धियाँ पापशून्य व्यक्ति को सिद्ध होने से तथा पाप की निवृत्ति का मुख्य साधन तपस् होने से यहाँ अणिमादि सिद्धियाँ तपःसाध्य कही गई—ऐसा **नारायणतीर्थ** का मत है।[१]

स्वाध्यायसाध्य विभूति—स्वाध्याय में साधक की अविरल निष्ठा एवं तत्परता देखकर प्रसन्न हुए देव, ऋषि, सिद्धगण तथा महापुरुष दर्शन देने के लिए स्वयं साधक के पास चले आते हैं[२] एवं उसके सभी कार्यों को सम्पन्न करते हैं।[३]

ईश्वरप्रणिधानसाध्य विभूति—ईश्वर के द्वारा अधिकृत ईश्वरप्रणिधानसाध्य विभूति अन्य समस्त विभूतियों में श्रेष्ठ है। भक्त के ईश्वर-चिन्तन की प्रवणता देखकर प्रभु विघ्नबाधाओं से ग्रसित भक्त के जीवन-पथ को मंगलमय बनाते हैं। इस कल्याणकारी मार्ग से चलकर साधक समाधि प्राप्त करता है।[४]

आसनसाध्य विभूति—आसन का निरन्तर अभ्यास करने वाला साधक अभ्यास की पराकाष्ठा में कष्टसहिष्णुतारूप फल प्राप्त करता है। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों से वह पीड़ित नहीं होता है।[५] द्वन्द्वों को सहर्ष सहन करता हुआ योग-साधना में रत रहता है।

प्राणायामसाध्य विभूति—प्रकाशावरक एवं प्राणायाम में नाश्य-नाशक-भाव सम्बन्ध है। प्राणायाम की सफल साधना द्वारा ज्ञान के प्रतिबन्धक (आवरक) अविद्या आदि क्लेश एवं तज्जन्य पाप क्षीण हो जाते हैं। यही आवरणक्षीणता प्राणायामसाध्य विभूति है।[६]

प्रत्याहारसाध्य विभूति—प्रत्याहार की सिद्धि से इन्द्रियों की परमा वश्यता बढ़ती है। यमादि योगाङ्गों के अभ्यासकाल में भी इद्रियाँ अपेक्षाकृत संयमित-प्राय रहती हैं। फिर भी प्रत्याहार-साधना इन्द्रियों को पूर्ण नियन्त्रण में रखने के उद्देश्य से की जाती है। अतः इन्द्रियजय प्रत्याहार का मुख्य फल है।[७]

अन्तरङ्ग-साधनसाध्य विभूतियाँ

बहिरङ्ग-साधनसाध्य विभूतियों की अपेक्षा अन्तरङ्ग-साधनसाध्य विभूतियों की संख्या अधिक है। इसका कारण यह है कि बहिरङ्ग विभूतियाँ साक्षात् यमादिसाधनसाध्य हैं। अतः बहिरङ्ग साधनों की संख्या के अनुसार उतनी ही बहिरङ्ग विभूतियाँ हैं।

---

[१] एताश्च सिद्धयो यद्यपि औषधादिभिरपि सम्भवन्ति।…तथाप्यौषधादिकमपि निष्पापस्यैव फलति। पापनिवृत्तौ च मुख्यो हेतुस्तप एव भवति—यो० सि० चं० पृ० ८१।

[२] स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः—यो० सू० २।४४।

[३] कार्ये चास्य वर्त्तन्ते—व्या० भा० पृ० २६४।

[४] समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्—यो० सू० २।४५।

[५] ततो द्वन्द्वानभिघातः—यो० सू० २।४८।

[६] ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्—यो० सू० २।५२।

[७] ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्—यो० सू० २।५५।

अन्तरङ्ग-विभूतियों की स्थिति भिन्न है। ये साक्षात् अन्तरङ्ग-साधनसाध्य नहीं, प्रत्युत धारणा, ध्यान एवं समाधि संज्ञक साधनों के विषयों के सिद्ध होने पर ये प्राप्त होती हैं। अन्तरङ्ग-साधना विषय-प्रधान है। विषयों के अनन्त होने से अन्तरङ्ग-साधनसाध्य विभूतियाँ भी असंख्य हैं।

अन्तरङ्ग-साधनों की साधना अपेक्षाकृत कष्टसाध्य होने से तज्जन्य विभूतियाँ, बहिरङ्ग विभूतियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हैं। साधना-क्रम के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ तज्जन्य विभूतिरूप शक्तियों की भी क्रमशः वृद्धि होते जाना स्वाभाविक है। बहिरङ्ग-विभूतियाँ एक-एक साधनसाध्य हैं। अन्तरङ्ग-विभूतियाँ त्रिसाधनसाध्य हैं।

अन्तरङ्ग विभूतियों के तीन साधन हैं—धारणा, ध्यान एवं समाधि। तीनों का सामान्य नाम संयम है।[१] धारणादि का यह द्वितीय नामकरण फलघटित है। चित्त-संयमन के ये तीनों अन्तिम सर्वोत्कृष्ट साधन हैं। इसलिए संयम के अभ्यास द्वारा वृत्तिमालिन्य से रहित हुए शुद्ध एकाग्र-चित्त में संयम का विषय अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रतिविम्बित होने लगता है। प्रतिविम्बितपदार्थगत अशेष-विशेष के साक्षात्कार के फलस्वरूप योगी को उसी के अनुसार विशिष्ट शक्ति (विभूति) प्राप्त होती है। अतः ये विभूतियाँ संयम के विषयों से पूर्णतया सम्बद्ध रहती हैं, असम्बद्ध नहीं। इसलिए विशिष्टविशिष्ट विभूति के इच्छुक[२] को पातञ्जल-योगशास्त्र द्वारा सुनिश्चित विषय की ही साधना (धारणादि) करनी पड़ती है।

परिणामत्रयविषयक संयमसाध्य विभूति—समस्त जड़पदार्थ परिणामस्वरूप हैं। परिणाम की तीन विधाएँ हैं—धर्म, लक्षण एवं अवस्था। इनका स्वरूप पहले वतलाया जा चुका है। यदि संयम के द्वारा पदार्थनिष्ठ त्रिविध-परिणामों का साक्षात्कार किया जाय, तो उसके प्रभाव से अतीत एवं अनागत पदार्थों का प्रत्यक्षज्ञान करने की विशिष्ट शक्ति (विभूति) साधक में प्रकट होती है।[३]

उक्त-परिणामत्रयविषयक संयम एवं तत्साध्य विभूति में आपाततः विषयभेद की असम्वद्धता प्रतीत होती है कि परिणामप्रधान संयम से कालप्रधान विभूति कैसे प्राप्त होती है? लेकिन विचार करने पर यह असम्वद्धता दूर हो जाती है। विषय इस प्रकार है—लक्षणपरिणाम एवं अवस्थापरिणाम पदार्थ के कालिकपरिणाम के ही सूचक हैं। पदार्थ का अनागत से वर्तमान एवं वर्तमान से अतीत में चले जाना ही उसका लक्षणपरिणाम है। तथा कालक्रम से पदार्थ की होने वाली पुरातनता आदि दशा ही उसका अवस्था-परिणाम है। इस प्रकार कालघटक उक्त दो परिणामों में अतीत एवं अनागत काल

---

[१] **त्रयमेकत्र संयमः—यो० सू० ३।४।**

[२] **अतो योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये संयमस्य विषय उपक्षिप्यते —व्या० भा० पृ० ३१९।**

[३] **परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्—यो० सू० ३।१६।**

(वर्तमान काल भी) स्वतः अन्तर्भूत हैं।[१] अतः परिणामसाक्षात्कार के आधार पर कालप्रधान विभूति प्राप्त होने में विषयभेद की असम्बद्धता नहीं आती है। उक्त संयम एवं फल में सुनिश्चित कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है।

शङ्का उत्पन्न होती है कि लक्षण एवं अवस्था परिणाम का ही काल के साथ सम्बन्ध है; अतः उक्त विभूति (अतीत एवं अनागत का अपरोक्ष ज्ञान) की कारणता लक्षण एवं अवस्थापरिणामविषयक संयम में ही हो, क्यों तृतीय परिणाम (धर्मपरिणाम) को भी संयम का विषय कहा गया? उत्तर है कि परिणाम क्रियारूप है, द्रव्यरूप नहीं। इसलिए वह पदार्थाश्रित है। लक्षण एवं अवस्थापरिणाम का अधिकरण धर्मपरिणाम के अधिकरण का ही दूसरा रूप है। धर्मपरिणाम के अधिकरणभूत मृत्तिकाधर्मी का धर्मपरिणाम के पश्चात् जो घटत्वेन (घटरूप में) रूपान्तर होता है, वही (घटधर्म) लक्षण एवं अवस्थापरिणाम का अधिकरण है। इस प्रकार अधिकरणसहित लक्षण एवं अवस्थापरिणाम का ज्ञान होने से उनके अधिकरण के हेतुभूत धर्मपरिणाम का भी ज्ञान हो जाता है; क्योंकि कार्यकारण में अभेद माना गया है। धर्मपरिणाम के ज्ञान के लिए अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अतः अतीत एवं अनागत के ज्ञान को त्रिपरिणामसाध्य कहा गया है।

शङ्का उत्पन्न होती है कि अतीत एवं अनागतलक्षणपरिणाम के समान वर्तमानलक्षण-परिणाम भी प्रसिद्ध है। अतः उसके आधार पर वर्तमानकालिक ज्ञान को भी विभूति के अन्तर्गत क्यों नहीं रखा? उत्तर यह है कि वर्तमान काल का ज्ञान योगी तथा अयोगी सबको समान रूप से होता है। उसके ज्ञान के लिए साधना (धारणादि) की आवश्यकता नहीं है। इसलिए वर्तमानकालिक ज्ञान को संयमसाध्य नहीं कहा गया है।

शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय के प्रविभागविषयक संयमसाध्यविभूति—साधक शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय के पारस्परिक भेद को लक्ष्य करके धारणा, ध्यान एवं समाधि का अभ्यास तब तक करता है जब तक उसे शब्दादि के भेद का प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो जाता है। ऐसा करने से उसे प्राणिमात्र की बोलियों को समझने की अद्भुत शक्ति प्राप्त होती है।[२] अर्थात् काकादि के मुख से उच्चरित शब्दों का अमुक अर्थ है—ऐसा उसे यथार्थज्ञान होता है।[३] यही उक्त संयमसाध्यविभूति है। प्राणिमात्र के मुख से उच्चरित शब्दों का अर्थ होता है। लेकिन वे इतने सम्मिश्रित रहते हैं कि साधारण व्यक्तियों को उनका भेद नहीं पता चलता है। संयमाभ्यास द्वारा अभेद भ्रम को दूर किया जाता है। फलतः योगी को प्राणिमात्र की बोलियाँ समझ में आने लगती हैं। अतः उक्त विभूति एवं उसके साधन में समान-विषयता रहने से उनमें साध्य-साधनभावसम्बन्ध है।

---

[१] **तेषु परिणामेष्वनुगते ये अतीतानागते तद्विषयं ज्ञानं सम्पादयति—त० वै० पृ० ३१९-३२०।**

[२] **शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्—यो० सू० ३।१७।**

[३] **अयं काकादिरिममर्थमेवं प्रतीत्यानेन शब्देन कथयतीत्येवमित्यर्थः—यो० वा० पृ० ३२०।**

संस्कारविषयक संयमसाध्यविभूति—अतीत जन्मों का प्रत्यक्ष कराने की करणता संस्कार के साक्षात्कार में मानी गई है।[१] अधिष्ठानभूत चित्त में रहने वाले संस्कारों का यदि धारणादि के अभ्यास द्वारा साक्षात्कार हो जाए तो उस साक्षात्कार के माहात्म्य से योगी को अपने बीते हुए जन्म दृष्टिगोचर होने लगते हैं। योगिराज **जैगीषव्य** को इसी विभूति की महिमा से स्वकीय अतीत जन्मों का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हुआ था—यह व्यासभाष्य में उल्लिखित जैगीषव्य-आवटच-संवाद से स्पष्ट है।[२]

संयम के विषयभूत संस्कार एवं उसके साक्षात्कार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए **वाचस्पति** आदि व्याख्याकर लिखते हैं—संस्कार दो प्रकार के हैं—वासनारूप एवं धर्माधर्म-रूप।[३] वासनात्मक संस्कारों की उत्पत्ति के दो स्रोत हैं—ज्ञानप्रधान-वृत्तियाँ तथा अविद्यादि क्लेश। ज्ञानप्रधान-वृत्तियों से जायमान वासनारूप संस्कारों का फल स्मृति है और आविद्यक वासनारूप संस्कारों का फल क्लेश है।[४] द्वितीय प्रकार के धर्माधर्मरूप संस्कारों का फल त्रिविध है—जाति, आयुष् तथा भोग।[५] **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश** एवं **नागेश भट्ट** का कहना है कि वासनात्मक संस्कारों के द्वितीय फल 'क्लेश' का अर्थ रागादि है, अविद्या आदि नहीं। क्योंकि अविद्या और अस्मिता स्मृति के अन्तर्गत हैं।[६] अर्थात् अविद्या और अस्मिता से जायमान संस्कार का फल स्मृति है। अतः क्लेशरूप फल रागादि से जायमान संस्कार का है। पदार्थों के प्रति व्यक्तियों में दिखलाई पड़ते हुए रुचि-वैचित्र्य से रागात्मक वासना सिद्ध होती है।[७]

चित्त के उपरिर्वाणत द्विविध संस्कार घट, पट आदि की तरह सभी को दिखलाई नहीं पड़ते हैं। चित्त के चेष्टा, निरोध आदि अन्य धर्मपरिणामों की भाँति ये अपरिदृष्ट हैं।[८] अतः संयम की अभ्यास-प्रक्रिया द्वारा ही ये अपरिदृष्ट संस्कार प्रत्यक्षगम्य होते हैं।

---

[१] संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्—यो० सू० ३।१८।

[२] अत्रेदमाख्यानं श्रूयते—भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणात्···सुखमिद-मुक्तमिति—व्या० भा० पृ० ३३३-३३४।

[३] द्वये खल्वमी संस्काराः वासनारूपाः ··धर्माधर्मरूपाः—व्या० भा० पृ० ३३२।

[४] ज्ञानजा हि संस्काराः स्मृतिहेतवः, अविद्याऽऽदिसंस्कारा अविद्याऽऽदीनां क्लेशानां हेतवः—त० वै० पृ० ३३२।

[५] (क) जात्यायुर्भोगरूपः, तस्य हेतवो धर्माधर्मरूपाः—त० वै० पृ० ३३२।
(ख) जात्यायुर्भोगविपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः संस्काराः—भा० पृ० ३३३।

[६] (क) क्लेशोऽत्र रागादिरेव अविद्याऽस्मितयोः स्मृतिमध्यप्रवेशात्—यो० वा० पृ० ३३२।
(ख) तु०—भा० ग० वृ० पृ० ६९। (ग) तु०—ना० ल० वृ० पृ० ६९।

[७] कस्यचिद् दुग्ध एव प्रीतिर्न दध्नि कस्यचिद्वैपरीत्यमित्यत्र वासनां विना नियाम-कान्तराभावेन तत्सिद्धेः—यो० वा० पृ० ३३२।

[८] (क) निरोधशक्तिजीवनरूपचित्तधर्मवत्तेऽप्यतीन्द्रियाश्चित्तधर्माः — यो० प्र० पृ० ६४। (ख) तु०—त० वै० पृ० ३३२।
(ग) तु०—यो० वा० पृ० ३३२। (घ) तु०—भा० पृ० ३३३।

उक्त संयम के विषय संस्कार एवं तज्जन्य प्रत्यक्षात्मक पूर्वजातिज्ञानरूप फल में आपाततः प्रतीत साध्यसाधनभाव से सम्बन्धित असामञ्जस्य के अपसारणार्थ हरिहरानन्द आदि व्याख्याकारों का कहना है कि संयमाभ्यास के द्वारा देश, काल तथा निमित्त सहित संस्कारों का साक्षात्कार होता है।[1] संस्कार किस देश, किस काल तथा किस शरीर में उत्पन्न हुआ था इसका ज्ञान योगी को संयमाभ्यास के द्वारा होता है। ये संस्कार विभिन्नजातीय होते हैं। उदाहरणस्वरूप सत्ययुग में स्वर्णभूमि में उत्पन्न देवशरीर के संस्कार कलियुग में पाताल में उत्पन्न तिर्यक् शरीर के संस्कारों से विलक्षण होते हैं। जिसे देश, काल तथा निमित्त के सहित संस्कारों की विलक्षणता प्रत्यक्ष हो चुकी है, उसे बीते हुए अतीतजन्मों का साक्षात्कार होने में आश्चर्य नहीं है। एतावता सानुबन्ध संस्कारों के (देश-काल-निमित्त विशिष्ट संस्कारों के) साक्षात्कार में पूर्वजाति का अपरोक्षज्ञान कराने का सामर्थ्य है।[2]

दो विरोधी विचारधाराएँ एवं उनका मूल्यांकन––यहाँ व्याख्याकारों में दो विरोधी विचारधाराएँ उपलब्ध होती हैं। आचार्य **वाचस्पति मिश्र**[3] एवं उनके परवर्ती आचार्य **नारायणतीर्थ**[4], **सदाशिवेन्द्रसरस्वती**[5] तथा **हरिहरानन्द आरण्यक**[6] का मत है कि जिस प्रकार साधक स्वचित्तनिष्ठ संस्कारपुञ्ज के साक्षात्कार द्वारा अपने अतीत जन्मों की जानकारी प्राप्त करता है उसी प्रकार परचित्तनिष्ठ संस्कारसमूह के साक्षात्कार द्वारा दूसरों के बीते हुए जन्मों की भी जानकारी होती है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु**[7] एवं उनके मतानुयायी **नागेश भट्ट**[8] ने उक्त संयम से दूसरों के अतीत जन्मों का साक्षात्कार नहीं माना है। वे उक्त विभूति का क्षेत्र अभ्यासी के स्व-जन्मों के साक्षात्कारपर्यन्त बतलाते हैं। अतीतावस्थ संस्कारों के साक्षात्कार द्वारा उसे अपने अतीत जन्मों का ज्ञान होता है और भाविजन्म के हेतुभूत अनागतवस्थ संस्कारों के साक्षात्कार द्वारा उसे स्वकीय भाविजन्मों का अपरोक्षात्मक ज्ञान होता है।

---

[1] संस्कारसाक्षात्कारस्तु देशकालनिमित्तानुभवसहगतः—भा० पृ० ३३३।

[2] (क) सानुबन्धसंस्कारसाक्षात्कार एव नान्तरीयकतया जात्यादिसाक्षात्कारमाक्षिपतीत्यर्थः—त० वै० पृ० ३३३।

(ख) एतेषां संस्कारविषयतया तदनुभवैर्विना तान्यविषयीकृत्य संस्काराणां साक्षात्कारो न सम्भवति—यो० वा० पृ० ३३३।

(ग) देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तत्साक्षात्कारासंभवात्—ना० बृ० वृ० पृ० ३३८।

[3] स्वसंस्कारसंयमं परकीयेष्वतिदिशति— त० वै० पृ० ३३३।

[4] …स्वीयपरकीयपूर्वजन्मपरम्परायाः साक्षात्कारो भवति—सू० बो० पृ० ३९।

[5] यो० सु० पृ० ६४।

[6] एवं परकीयेषु संस्कारेषु संयमात् परेषां जातीनां ज्ञानमित्यपि बोध्यम्—यो० प्र० टि० पृ० ६५।

[7] भाविजन्मसंस्काराणामनागतावस्थानां साक्षात्कारात्—यो० वा० पृ० ३३३।

[8] (क) सूत्रे पूर्वजातीत्युपलक्षणं परजन्मादिज्ञानस्यापि—ना० बृ० वृ० पृ० ३३८।

(ख) तु०—ना० ल० वृ० पृ० ६९।

व्यासभाष्य की **'परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात् परजातिसंवेदनम्'**[१]—पंक्ति में प्रयुक्त अनेकार्थक 'परत्र' शब्द के कारण उपरिनिर्दिष्ट दो विरोधी विचारधाराओं का जन्म हुआ। व्याख्याकारों ने **'परत्र'** शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ किया है। **विज्ञानभिक्षु** आदि व्याख्याकारों द्वारा मान्य उक्त अर्थ युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता है। उसमें जातिज्ञान की हेतुता की सभी अर्हताएँ लागू नहीं होती हैं। यह इस प्रकार है—**विज्ञानभिक्षु** आदि ने **व्यासदेव** के अनुसार यह स्वीकार किया है कि जन्मसाक्षात्कार की हेतुता—विशुद्ध (केवल) संस्कारसाक्षात्कार में नहीं; प्रत्युत देश, काल तथा निमित्तरूप अनुबन्धविशिष्ट संस्कार के साक्षात्कार में है। संस्कारों की अनुबन्धविशिष्टता अतीतजन्मीय संस्कारों के साथ ही हो सकती है, अनागतजन्मीय संस्कारों के साथ नहीं। अनागतजन्मीय संस्कारों का देश, काल एवं निमित्त निश्चित नहीं है। अतः संस्कारसाक्षात्कार को अतीतजन्म के समान भाविजन्म के साक्षात्कार का हेतु मानना उचित नहीं है। भाष्य में आए **'परत्र'** पद का भावि-संस्कार एवं 'परजाति' पद का अर्थ अनागतजन्म करना सम्यक् नहीं है। सूत्रकार ने परजाति (अनागतजन्म) से भिन्न केवल पूर्वजाति (अतीतजन्म)-विषयक विभूति बतलाने के स्वारस्य से सूत्र में **'पूर्व'** शब्द का प्रयोग किया है।[२] यदि उन्हें संस्कार-साक्षात्कार द्वारा अतीत एवं अनागत उभय जन्मों का अपरोक्षज्ञान बताना अभिप्रेत रहता तो वे सूत्र में **'पूर्व'** पद के साथ 'अपर' पद का भी प्रयोग करते अथवा **'पूर्व'** शब्द को भी छोड़कर विभूति का स्वरूप सामान्यरूप से **'जातिज्ञानम्'** से निर्दिष्ट करते। इससे जन्म की पूर्वापर उभय अवस्थाओं का संग्रह हो पाता। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। व्यासभाष्य के हिन्दी व्याख्याकार **ब्रह्मलीनमुनि** ने भी योगी द्वारा अपने अनागत जन्मों का साक्षात्कार होने में एक नवीन दूषण की उद्भावना करके भिक्षु एवं उनके अनुयायियों के मत का खण्डन किया एवं **मिश्र** के विचार का अनुमोदन किया है।[३]

ऊपर संयमसाध्य संस्कार-साक्षात्कार का जो फल (विभूति) वर्णित हुआ है, वह कार्यकारण-भाव सम्बन्ध पर आधारित होने से निःसंदिग्ध एवं प्रामाणिक है। कर्मवाद के प्रकरण में विस्तारपूर्वक बतलाया जा चुका है कि धर्माधर्मरूप कर्माशय (संस्कार) जन्म का हेतु है। जन्म के हेतुभूत संस्कारों का साक्षात्कार होने पर उसके कार्य जन्म का साक्षात्कार होना अत्यन्त स्वाभाविक है। क्योंकि कार्यकारण में अभेदसम्बन्ध है।

प्रत्ययविषयकसंयमसाध्य विभूति—प्रत्यय में संयम करने से परचित्त का साक्षात्कार-रूप सामर्थ्य प्राप्त होता है।[४] सूत्रकार एवं भाष्यकार द्वारा अतिसंक्षेप से निर्दिष्ट

---

१ व्या० भा० पृ० ३३३।

२ **संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्**—यो० सू० ३।१८।

३ ...**वस्तुतः प्रकृत सिद्ध योगी का अनागत जन्म होता ही नहीं है, क्योंकि अनागत जन्म के कारण रागादि उनके नष्ट हो चुके हैं। अतः वाचस्पतिमिश्रकृत अर्थ ही समीचीन प्रतीत होता है, विज्ञानभिक्षुकृत नहीं।...विवृतिव्याख्यायुतव्यासभाष्यसहितं पातंजलयोगदर्शनम्**—पृ० ६०७।

४ **प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्**—यो० सू० ३।१९।

संयम के आलम्बनभूत **'प्रत्यय'**—पद के विषय में व्याख्याकारों में दो प्रकार के विचार पाए जाते हैं। आचार्य **वाचस्पति मिश्र, भोजदेव, रामानन्दयति, सदाशिवेन्द्रसरस्वती** तथा **हरिहरानन्द आरण्यक** का एक मत है।[1] **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश** एवं **नागेश भट्ट** का दूसरा मत है।[2] **नारायणतीर्थ** ने सूत्रार्थबोधिनी में **वाचस्पति मिश्र** के मत को अपनाया है।[3] और अपने द्वितीय ग्रन्थ योगसिद्धान्तचन्द्रिका में **विज्ञानभिक्षु** के मत का समर्थन करते हुए **कश्चित्तु**-से मिश्र आदि के मत का खण्डन भी किया है।[4]

प्रथम मत—**'प्रत्यय'** शब्द का अर्थ है—ज्ञान। ज्ञान वृत्त्यात्मक है। **'प्रतीयतेऽनेनार्थः'**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार चित्त के द्वारा पदार्थ का ज्ञान होने से (धर्म-धर्मी में अभेद होने से) **मिश्र** आदि आचार्यों ने **'प्रत्यय'** शब्द का अर्थ चित्त किया है तथा 'प्रत्यय' के फल परचितज्ञान के आधार पर संयम के विषयभूत प्रत्यय को पररूप माना है। परचित्त को आलम्बन करने में दूसरे व्यक्ति के मुख के रागादि चिह्न सहायक होते हैं। सुतरां **वाचस्पति मिश्र** आदि के अनुसार परचित्तविषयक संयम से परचित्त का ज्ञान होता है।

द्वितीय मत—**विज्ञान भिक्षु** आदि व्याख्याकार स्वचित्तवृत्ति को संयम का आलम्बन मानते हैं। उनके मत में रागादिमती स्वीयचित्तवृत्ति में संयम करने से आश्रयादिरूप अशेषविशेष के साथ स्वचित्त का साक्षात्कार होता है तथा संकल्पमात्र से योगी दूसरे के चित्त को भी (आश्रयादि रूप अशेषविशेष के सहित) प्रत्यक्ष करने में समर्थ होता है।

नारायणतीर्थ ने **मिश्र** आदि के मत में दोष की उद्भावना करते हुए लिखा है—संयम एवं तत्-साध्य अनुभव (फल=विभूति) में कार्यकारणभावसम्बन्ध उनके समानविषयता के आधार पर स्वीकार किया जाए (जैसा कि आचार्य **वाचस्पति मिश्र** मानते हैं) तो उक्त संयम के अविषयभूत अदृष्ट, अश्रुत तथा अमत पदार्थों का साक्षात्कार नहीं हो सकेगा। अतः केवल परिचित्त में संयम करने से आश्रयादिरूप अशेषविशेष के साथ परचित्त का साक्षात्कार नहीं हो सकेगा। इसलिए परचित्त के ज्ञान के लिए परचित्त ही संयम का विषय हो, यह आवश्यक नहीं है। स्वचित्त एवं परचित्त की चित्तत्वेन सजातीयता होने के कारण उनमें हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध बन सकता है। अतः स्वीयचित्तवृत्ति में संयम करने से परचित्त

---

[1] (क) **प्रत्ययस्य=परचित्तमात्रस्य साक्षात्करणात्** – त० वै० पृ० ३३५।
(ख) तु०—प्रत्ययस्य परचित्तस्य······रा० मा० पृ० ४६।
(ग) तु०—म० प्र० पृ० ५९।
(घ) तु०—यो० सु० पृ० ६५।

[2] (क) **प्रत्ययस्य रागादिमत्याः स्वीयचित्तवृत्तेः**—यो० वा० पृ० ३३५।
(ख) तु०—भा० ग० वृ० पृ० ६९।
(ग) तु०—ना० ल० वृ० पृ० ६९।

[3] **परचित्तसंयमात् साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः**—सू० बो० पृ० ३९।

[4] **केचित्तु सुखादिना लिङ्गेन परस्य चित्तस्य संयमेन परचितज्ञानमिति वदन्ति। तन्न युक्तम्।······परानुसरणप्रयासो व्यर्थ इति दिक्**—यो० सि० चं० पृ० ११६।

का भी साक्षात्काररूप फल (विभूति) सम्भव है। इस विभूति के लिए दूसरे के चित्त में संयम करने का प्रयास व्यर्थ है।

मूल्यांकन—उपर्युक्त दोनों पक्षों में से **वाचस्पति** आदि आचार्यों का मत अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। उक्त संयम एवं अनुभव (फल) में समानविषयत्वेन कार्यकारणभाव-सम्बन्ध सम्भव है। अतः सजातीयत्वेन उनके कार्यकारणभाव सम्बन्ध की कल्पना सम्यक नहीं है। **नारायणतीर्थ** आदि ने **मिश्र** आदि के मत के खण्डनार्थ परचित्त साक्षात्कार रूप विभूति के लिए 'आश्रयादिरूप अशेषविशेष'—इस अंश को विशेषणत्वेन सन्निविष्ट करने का परामर्श दिया है। यह भी **पातञ्जल**-सम्मत नहीं है। क्योंकि '**न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्**'—इस अग्रिम सूत्र के द्वारा **पतञ्जलि** ने इस विभूति का स्वरूप स्पष्ट किया है। अतः **विज्ञानभिक्षु** आदि का अनुसार आश्रयादि सहित परचित्त का साक्षात्कार होना उचित नहीं है।

उक्तसंयमसाध्य विभूति के माहात्म्य से योगी दूसरे की इच्छाओं को समझता है तथा 'इसने अमुक कार्य किया अथवा नहीं'—इसका भी उसे यथार्थज्ञान होता है। पूर्व सूत्र द्वारा संस्कार के साक्षात्कार से संस्कार के विषयभूत देश, काल आदि का ज्ञान भी माना गया है। लेकिन यहाँ दूसरे के चित्त के साक्षात्कार से उसके चित्त के विषय का ज्ञान होना नहीं माना गया है।[१] दूसरे का चित्त रागयुक्त है, क्रोधयुक्त है अथवा द्वेषादियुक्त है—इतना ही योगी जानता है। राग, क्रोध एवं द्वेषादि के विषय (कारण) को नहीं जान पाता है। कार्यकारण के अभेदसम्बन्ध पर आधारित उक्त संयमसाध्य-विभूति विश्वासार्ह है। संयम द्वारा दूसरे के चित्त की कार्यरूप वृत्तियों का साक्षात्कार होने से वृत्तियों के अधिकरण एवं कारणभूत चित्त का साक्षात्कार होना स्वाभाविक है।

शरीरनिष्ठ-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दविषयक संयमसाध्यविभूति—शरीर पञ्चभूतात्मक है।[२] पंचभूतों के पाँच गुण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द—यै शरीर में विद्यमान हैं। शरीर में गुणों की ग्राहक इन्द्रियाँ भी हैं। चक्षुप्, जिह्वा, घ्राण, त्वक् एवं श्रोत्रेन्द्रिय में से प्रत्येक इन्द्रिय रूप आदि एक-एक गुण की ग्राहिका है। एतावता इन्द्रियों में ग्रहणशक्ति एवं रूपादि में ग्राह्यशक्ति है। यह वस्तुस्थिति है।

जव साधक शरीर के रूप आदि किसी भी गुण को लक्ष्य करके धारणादि का अभ्यास प्रारम्भ करता है, तव अभ्यास की परिपक्व अवस्था में रूपादि गुणों की ग्राह्यशक्ति उसके अधीन हो जाती है। वह रूपादि की स्वाभाविक उद्भूतरूपता को अभिभूत करने में समर्थ होता है। योगी उक्त सामर्थ्य का प्रयोग अपने अन्तर्धान के समय करता है।[३] फलस्वरूप दर्शकवृन्द सामने खड़े योगी को उसी प्रकार नहीं देख पाते हैं, जिस प्रकार दिवसकाल में दिवान्ध को वस्तुएँ नहीं दिखलाई पड़ती हैं।[४] इसी प्रकार दर्शक उसके शब्दादि को भी

---

१ न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् यो० सू० ३।२०।

२ पाञ्चभौतिको देहः—सां० सू० ३।१७।

३ कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् - योo सू० ३।२१।

४ दिवाऽन्धेनेव केनाप्यसौ न दृश्यत इत्यर्थः - योo वा० पृ० ३३६।

नहीं सुन पाते हैं ।[१] सूत्रकार ने सूत्र में 'रूपस्तम्भन' कहा है। व्याख्याकारों ने 'रूप' पद को शरीर के अन्य सभी गुणों का उपलक्षक माना है ।[२] इस सन्दर्भ में **सदाशिवेन्द्रसरस्वती** ने **'एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम्'**—इसको पतञ्जलि का सूत्र माना है ।[३] पदार्थ-प्रत्यक्ष के प्रति पदार्थगत महत्परिमाण एवं उद्भूतरूप कारण हैं। अभ्यास द्वारा साधक प्रत्यक्ष के एक प्रयोजक को शिथिल करता है। फलतः योगी का अनुद्भूतरूपविशिष्ट शरीर दर्शकों को दिखलाई नहीं पड़ता है।

द्विविधकर्मविषयक संयमसाध्य विभूति—कर्म अत्यन्त शीघ्रता अथवा विलम्ब से फल प्रदान करता है। कर्मों की फलोन्मुखता के आधार पर कर्म को दो भागों में विभक्त किया गया है—सोपक्रम एवं निरुपक्रम ।[४] दोनों प्रकार के कर्म फल देने में सन्लग्न रहते हैं। अन्तर इतना है कि सोपक्रमकर्म शीघ्रतया फलदान के व्यापार से युक्त होता है और निरुपक्रमकर्म मन्दतया फल दान के व्यापार से युक्त होता है ।[५] उपक्रम का अर्थ है—व्यापार ।[६] 'उपक्रम' शब्द के साथ संयुक्त **'सु'** अथवा **निर्'** उपसर्ग कर्मों के उक्त व्यापार के गतिभेद के द्योतक हैं—ऐसा व्यासभाष्य में आए उद्धरणों[७] तथा तत्त्ववैशारदी, योगवार्तिक आदि की पंक्तियों से प्रतीत होता है। राजमार्तण्ड आदि वृत्तिग्रन्थों में भी 'सोपक्रम' एवं 'निरुपक्रम'—पदों का अर्थ कार्यकारण की अभिमुखता एवं निरभिमुखता किया गया है ।[८]

सोपक्रम एवं निरुपक्रमकर्म का आयुष्-विपाक से विशेषसम्बन्ध है। इसलिए आचार्यों

---

[१] यदा कायस्य शब्दस्पर्शरसगन्धसंयमात्तेषां ग्राह्यशक्तिस्तम्भो भवति तदा श्रोत्रादि-सन्निकर्षप्रतिबन्धाद्योगिनः शब्दादिकं बधिरेणेव केनापि न श्रूयत इति भावः—यो० वा० पृ० ३३६।

[२] (क) एतेन रूपान्तर्द्धानेन शास्त्रान्तरसिद्धं शब्दाद्यन्तर्द्धानमप्युपलक्षितं वेदितव्यम्—यो० वा० पृ० ३३६।

(ख) तु०—त० वै० पृ० ३३६।

[३] एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम्—३.२२ - यो० सु० पृ० ६६।

[४] ......कर्म द्विविधम्-सोपक्रमं निरुपक्रमं च—व्या० भा० पृ० ३३६।

[५] (क) सोपक्रमं तीव्रवेगेन फलदातृ......निरुपक्रमं च मन्दवेगेन फलदातृ—यो० वा० पृ० ३३६।

(ख) तु०—त० वै० पृ० ३३६।

[६] उपक्रमः=व्यापारः—त० वै० पृ० ३३६।

[७] तत्र यथाऽऽर्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम्; यथा च तदेव सम्पिण्डितं चिरेण संशुष्येद् एवं निरुपक्रमम्; यथा चाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वा तेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम्; यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमतोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम्,—व्या० भा० पृ० ३३६-३३७।

[८] तत्र सोपक्रमं यत् फलजननाय सहोपक्रमेण कार्यकरणाभिमुख्येन वर्त्तते......रा० मा० पृ० ४७।

ने सोपक्रम एवं निरुपक्रम को एकभविक आयुष्कर-कर्म कहा है।[१] आयुष् पद का अर्थ है—निश्चितकालपर्यन्त देह के साथ प्राण का संयोग।[२]

पतञ्जलि का कथन है यदि साधक आयूरूपफल दिलाने वाले कर्मों का संयम द्वारा साक्षात्कार कर लेता है अर्थात् सोपक्रम एवं निरुपक्रम में से किस कोटि के कर्मों के कारण साधक शरीर धारण किया हुआ है, इसका ज्ञान उसे हो जाए तो साधक उन कर्मों के फल-दान की अवधि (काल) की गणना करने में सक्षम हो जाता है। फलस्वरूप शीघ्र अथवा विलम्ब से होने वाली अपनी मृत्यु के विषय में ज्ञान कर लेता है।[३]

मृत्युप्राग्ज्ञानरूप विभूति के लिए अरिष्टावलोकन भी हेतु है। लेकिन यह गौण हेतु है। यह उक्त प्रथम हेतु के समान प्रयत्न-सापेक्ष नहीं है। योगी एवं योगिभिन्न किसी को भी मरण-काल में मृत्युसूचकचिह्न दिखलाई पड़ सकते हैं।

मृत्युसूचक चिह्न कौन से हैं? इसकी लम्वी-चौड़ी सूची एकमात्र योगसिद्धान्त-चन्द्रिका में उपलब्ध होती है। मृत्यु-सूचक अरिष्टों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक। आध्यात्मिक अरिष्ट निम्नाङ्कित हैं—कर्णशष्कुलि से अवच्छिन्न प्रदेश (कर्णछिद्र) को अंगुली आदि से पिहित करने पर स्वस्थ व्यक्ति को अन्दर से विशिष्ट प्रकार की ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह ध्वनि शरीररूप यन्त्रालय में सुव्यवस्थित ढंग से कार्य करने वाले मांसपेशी आदि यन्त्रों की है। मनुष्य का मृत्युकाल जव सन्निकृष्ट होता है, तव ये यन्त्र अपना काम शिथिलगति से करते हैं। एक समय ऐसा भी आता है कि यन्त्र अपना काम करना ही वन्द कर देते हैं। प्राणी की यही अवस्था मृत्यु कही जाती है। इसी प्रकार नेत्रों के बन्द करने पर नेत्रों के सन्मुख ज्योतिः का न दिखलाई पड़ना मृत्युसूचक आध्यात्मिक अरिष्ट है। अकस्मात् यमदूत, मृतपिता, पितामह, प्रपितामह आदि का दर्शन होने पर भी मृत्युकाल समीप होता है। इसी प्रकार मृत्यु के सन्निहितकाल में कल्पनातीत स्वर्ग एवं सिद्धादि पुरुषों का अनायास दर्शन होता है। ये आधिदैविक अरिष्ट हैं।

नारायणतीर्थ ने उपर्युक्त तीन प्रकार के अरिष्टों के साथ-साथ पुराणों पर आधारित मृत्यु के द्योतक अन्य चिह्नों पर भी प्रकाश डाला है। नियम है कि नासिका-पुटों से द्रुत तथा मन्द गति से प्राणवायु प्रवाहित होता है। जव प्राणवायु वाम नासिका-छिद्र से ही अहर्निश प्रवाहित होता है, तव ऐसे व्यक्ति का आयुष् (जीवनकाल) तीन वर्ष का होता है।[४]

---

१ तदेकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधम्-सोपक्रमं निरुपक्रमं च—व्या० भा० पृ० ३३७।

२ आयुश्चिरकालं देहप्राणयोर्योगः—यो० सु० पृ० ३४।

३ (क) सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म; तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा—यो० सू० ३।२२।

(ख) आयुष्करकर्मज्ञानादेव झटित्यझटितिरूपाभ्यामपरान्तस्य मरणस्य ज्ञानं भवति—यो० वा० पृ० ३३६।

४ वामनासापुटे यस्य वायुर्वाति दिवानिशम्।
अखण्डमेकं तस्यायुर्नश्यत्यब्दत्रयेण हि॥—स्क० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११८।

जिसकी सूर्यनाड़ी (दाएँ नासिकापुट) से दो या तीन अहोरात्रपर्यन्त निरन्तर प्राणवायु प्रवाहित होता है, उसकी जीवन-बेला एक या दो वर्ष की कही गई है।[१] यदि दोनों नासिका-पुटों से युगपत् दसदिवसपर्यन्त निरन्तर प्राणवायु प्रवाहित रहता है, तो ऐसा व्यक्ति तीन ऋतु तक जीवित रहता है।[२]

अरुन्धती (जिह्वा), ध्रुव (नासिकाग्र), विष्णु के तीन पाद (भ्रूकुटी का मध्यभाग) तथा मातृ-मण्डल (नेत्र-चन्द्रमा) सन्निकृष्टमृत्यु वाले व्यक्ति को दिखलाई नहीं पड़ते हैं।[३] नीलादि वर्ण तथा कटु, अम्ल आदि रस यदि अकस्मात् विपरीत रूप से प्रतिभासित एवं आस्वादित होते हैं तो ऐसा विपर्ययज्ञानवान् व्यक्ति छः मास में मर जाता है।[४] जिसका कण्ठ, ओष्ठ, जिह्वा, रसनापुट तथा तालु—ये पाँचों अतिशीघ्र सूख जाते हैं, या जिसका रेतस् (वीर्य), अंगुली तथा नेत्र नीले पड़ने लगते हैं, या जिसके मस्तक पर अकस्मात् छिपकली या गिरगिट चलता है, ऐसा व्यक्ति छः माह तक जीवित रहता है।[५] अच्छी प्रकार से नहाने पर भी जिसका हृदय, चरण तथा हाथ अतिशीघ्र सूख जाते हैं, वह व्यक्ति केवल तीन माह-पर्यन्त जीवित रहता है।[६] अत्यन्त हृष्टपुष्ट देहधारी या अच्छी प्रकार से रस्सी आदि द्वारा बँधा होने पर भी जिसके शरीर की छाया कम्पित होती है, उस पुरुष को यम के दूत चतुर्थ मास में बाँध कर ले जाते हैं; अर्थात् ऐसा व्यक्ति केवल तीन महीने जीवित रहता है।[७]

जिसका वीर्य, मल, मूत्र आदि तत्काल (अनायास) क्षरित होता है अर्थात् इनके निस्सरण पर जो संयम नहीं रख पाता है, ऐसा व्यक्ति एक वर्षपर्यन्त जीवन धारण करने में समर्थ होता है।[८] जो व्यक्ति आकाश में धनुष् के आकार के सर्पसमूह को इतस्ततः धावन

---

[१] द्व्यहोरात्रं त्र्यहोरात्रं रविर्वहति सन्ततम्।
आद्व्येकवर्षं तस्येह जीवितावधिरुच्यते ॥—स्क० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११८।

[२] वहेन्नासापुटयुगे दशाहानि निरन्तरम्।
वायुश्चेत् प्रतिसंक्रान्तिं तदा जीवेदृतुत्रयम् ॥—स्क० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११८।

[३] अरुन्धतीं ध्रुवं चैव विष्णोस्त्रीणि पदानि च।
आसन्नमृत्युर्नेक्षेत चतुर्थं मातृमण्डलम् ॥
अरुन्धती भवेज्जिह्वा ध्रुवो नासाग्रमुच्यते।
विष्णोः पदं भ्रुवोर्मध्यं नेत्रग्लौर्मातृमण्डलम् ॥—स्क० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११८।

[४] वेत्ति नीलादिवर्णस्य कट्वम्लादिरसस्य च।
अकस्मादन्यथाभावं षण्मासेन स मृत्युभाक् ॥—स्क० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११८।

[५] षण्मासमृत्योर्मर्त्यस्य कण्ठोष्ठरसनापुटाः।
....प्रयाति याति तस्यायुः षण्मासे परिसंक्षयम् ॥—स्क० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११८।

[६] सुस्नातस्यापि यस्याशु हृदयं परिशुष्यति।
चरणौ च करौ वापि त्रिमासं तस्य जीवितम् ॥ स्क० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११८।

[७] छाया प्रकम्पते यस्य देहबन्धेऽपि निश्चले।
कृतान्तदूता बध्नन्ति चतुर्थे मासि तं नरम् ॥ स्क० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११८।

[८] यस्य वीर्यं मलं मूत्रं क्षुतं सद्यः पतेदिह।
एकधैव भवेद्वर्षं जीवितं तस्य निश्चितम् ॥—स्क० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११८।

करता हुआ देखता है, वह व्यक्ति छः माहपर्यन्त जीवित रहता है।[१] जिसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाए, वाणी चंचल हो जाए (जो बोलना चाहे उसके विपरीत बोले), इन्द्रधनुष् देखे, रात्रि में दो चन्द्र तथा दिन में दो सूर्य देखे, दिन में तारों सहित चन्द्रमा देखे, रात्रि में नक्षत्रहीन आकाश देखे, चारों ओर आकाश में इन्द्रधनुष देखे, पेड़-पौधों पर अथवा पर्वत के अग्रभाग पर गन्धर्व-नगर (इमारत आदि को) देखे तथा दिन में पिशाचों (भूतों) का नृत्य देखे तो ऐसे व्यक्ति की मृत्यु एक माह के भीतर अवश्यम्भावी है।[२] जो पुरुष अकस्मात् कृष्ण एवं पिङ्गल वर्ण वाले पुरुष (यम) को देखे, तो उसी क्षण से व्यक्ति का जीवन दो वर्ष का रह जाता है।[३] जो व्यक्ति स्वप्न में पिशाच, असुर, वायस भूतप्रेत, कुत्ता, गृध, गोमायु, खर, शूकर शरभ, करभ, कीर, श्येन या किसी अन्य जीव-जन्तुओं से अपने को खाया जाता देखता है, वह व्यक्ति एक साल के अन्दर प्राणों को त्यागकर यमराज की नगरी में पहुँच जाता है।[४]

जो मनुष्य (प्राणिमात्र) स्वप्नकाल में अपने को सुगन्धित रक्त पुष्पों से सजा देखता है, वह व्यक्ति एक माहपर्यन्त जीवित रहता है।[५] जो व्यक्ति स्वप्न में धूल का ढेर, वल्मीक, यूप अथवा दण्ड में चढ़ते हुए अपने को देखता है, वह छः मास में ही पार्थिव शरीर को त्याग देता है।[६] बाल मुंडाकर तथा तेल लगाकर जो व्यक्ति अपने को गर्दभ के द्वारा यम की नगरी में ले जाया जाता हुआ देखता है, वह (पूर्वश्लोक में उद्धृत काल के अनुसार) छः मास में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।[७] जो स्वप्न में अपने मस्तिष्क एवं स्तन को तथा शुष्क काष्ठ, तृण आदि को देखता है उसकी मृत्यु छः मास में अवश्यंभावी है।[८] जो

---

[१] इन्द्रनीलनिभं व्योम्नि नागवृन्दं य ईक्षते।
इतस्ततः प्रचलितं षण्मासं स तु जीवति॥ -स्क० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११८।

[२] मतिर्भ्रश्येच्चलेद्वाणी धनुरैन्द्रं निरीक्षते।
...दिवा पिशाचनृत्यं च ह्येते पञ्चत्वहेतवः॥—स्क०पु०, यो०सि०चं०पृ० ११८-११९।

[३] अकस्माद्वीक्षते यस्तु पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्।
तस्मिन्नेव क्षणे रूपं स जीवेद् वत्सरद्वयम्॥ स्क० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११९।

[४] प्रेक्ष्यते भक्ष्यते यो हि पिशाचासुरवायसैः।
भूतैः प्रेतैः श्वभिर्गृध्रैर्गोमायुखरशूकरैः॥
शरभैः करभैः कीरैः श्येनैरन्यैश्च जन्तुभिः।
स्वप्ने स जीवितं त्यक्त्वा वर्षान्ते यममीक्षते॥—स्क०पु०, यो० सि०चं०पृ० ११९।

[५] गन्धपुष्पांशुकैः शोणैः स्वां तनुं भूषितां नरः।
यः पश्येत् स्वप्नसमये सोऽपि मासांस्तु जीवति॥—स्क० पु०, यो० सि० चं पृ ११९।

[६] पांशुराशिं च वल्मीकं यूपं दण्डमथापि वा।
योऽधिरोहति वै स्वप्ने स षष्ठे मासि नश्यति॥—स्क० पु०, यो० चं० पृ० ११९।

[७] रासभारूढमात्मानं तैलाभ्यक्तं च मुण्डितम्।
नीयमानं यमाशायां यः पश्येत् स च पूर्ववत्॥—स्क० पु०, यो० सि०चं० पृ० ११९।

[८] स्वमौलौ स्वतनौ वाऽपि यः पश्येत् स्वप्नगो नरः।
तृणानि शुष्ककाष्ठानि षष्ठे मासि स नश्यति॥—स्क० पु०, यो० सि०चं० पृ० ११९।

स्वप्निल अवस्था में लोहदण्डधारी, कृष्णवस्त्रधारी काले (श्याम) पुरुष को अपने समक्ष खड़ा देखता है, वह व्यक्ति तीन मास से अधिक काल-पर्यन्त शरीर धारण नहीं कर पाता है।[१] स्वप्न में कृष्णवर्ण वाली कन्या जिस पुरुष को अपने बाहुपाश से बाँधती है, वह व्यक्ति यम के द्वारा सञ्चालित नगरी का एक माह के अन्दर दर्शन कर लेता है अर्थात् एक मास में उसकी मृत्यु हो जाती है।[२] जो किरणरहित सूर्य तथा चन्द्रबिम्ब को देखता है, वह जीवन के ग्यारह महीने देखता है अर्थात् बारहवें मास में वह शरीर त्याग देता है।[३] जो स्वप्न में अपने को चलते-चलते मूत्रपुरीष करते हुए देखता है अथवा सुवर्ण तथा रजत धातु का प्रत्यक्ष करता है, वह व्यक्ति दस माहपर्यन्त जीवन धारण करता है।[४] जो स्वप्न में प्रेत और पिशाचों का नगर तथा स्वर्णिम आभा से युक्त वृक्ष देखता है, वह व्यक्ति नौ मासपर्यन्त जीवित रहता है।[५] जब अकस्मात् स्थूल व्यक्ति कृश (दुर्बल, पतला) तथा कृश व्यक्ति स्थूल शरीरधारी हो जाता है एवं प्रत्येक वस्तु को परिवर्तित होता देखता है, ऐसे व्यक्ति की आयु छः मास की होती है।[६] जिसके सिर पर कपोत, गृध्र, डोम कौआ, कृष्ण-काकविशेष या मांस खाने वाला अन्य पक्षी आकर बैठता है, ऐसे व्यक्ति की छः मास के अन्दर मृत्यु हो जाती है।[७]

जो काकसमूह से ताड़ित होता है (काकादि इधर-उधर मण्डराते हुए उसे तंग करते हैं), या धूल की वर्षा अर्थात् धूल के बवंडर के मध्य अपने को पाता है, या स्नान करने के पश्चात् जिसके शरीर के वाम भाग का अधोभाग तुरन्त सूख जाता है, ऐसा व्यक्ति पाँच माहपर्यन्त शरीर धारण करता है।[८] जो प्रतिबिम्बग्राहक घृत, तेल, दर्पण अथवा जल आदि

---

१ लोहदण्डधरं कृष्णं पुरुषं कृष्णवाससम्।
स्वप्ने योऽग्रे स्थितं पश्येत् स त्रीन् मासान्न लङ्घयेत्॥—स्क० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११९।

२ काली कुमारी यं स्वप्ने बन्धीयाद् बाहुपाशकैः।
स मासेन समीक्षेत नगरीं शमनोषिताम॥—स्क० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११९।

३ अरश्मिबिम्बं सूर्यं च बिम्बं सूर्यांशुमालिनम्।
दृष्ट्वैकादश मासांस्तु नरो वर्ष न जीवति॥—मा० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११९।

४ चरेन्मूत्रं पुरीषं च यः स्वर्णं रजतं तथा।
प्रत्यक्षमथवा स्वप्ने जीवितं दशमासिकम्॥—मा० पु०, यो० सि० चं० पृ० ११९।

५ दृष्ट्वा प्रेतपिशाचानां गन्धर्वनगराणि च।
सुवर्णवर्णवृक्षांश्च नव मासान् स जीवति॥—मा० पु०, यो० सि० चं० पृ० १२०।

६ स्थूलः कृशः कृशः स्थूलो योऽकस्मादेव जायते।
प्रकृतेश्च निवर्तेत तस्यायुश्चाष्टमासिकम्॥—मा० पु०, यो० सि० चं० पृ० १२०।

७ कपोतो गृध्रकाकोलौ वायसो वापि मूर्द्धनि।
क्रव्यादो वा खगस्तिष्ठेत् षण्मासायुःप्रदर्शकः॥ मा० पु०, यो० सि० चं० पृ० १२०।

८ हन्यते काकपङ्क्तिभिः पांशुवर्षेण वा नरः।
शुष्येच्च वै यस्य मर्म स्नानाद्वामादधस्तनम्।
तस्यापि पञ्चभिर्मासैर्विद्यान्मृत्युमुपस्थितम्॥—मा० पु०, यो० सि० चं० पृ० १२०।

में अपने शरीर को सिर के बिना देखता है, वह व्यक्ति एक माह से अधिक जीवित नहीं रहता है।[१] स्वप्न में रक्त तथा कृष्णवस्त्र को धारण किए, हँसती तथा गाती हुई स्त्री जिसको दक्षिण दिशा की ओर ले जाए, उस व्यक्ति का जीवनकाल अल्प होता है।[२] स्वप्न में बलशाली नग्न संन्यासी को हंसते हुए देखकर बड़बड़ाने वाले व्यक्ति का मृत्युकाल सन्निकृष्ट होता है।[३] जो स्वप्न में सिर से लेकर पैरपर्यन्त अपने शरीर को पङ्क से आप्लावित देखता है, ऐसे व्यक्ति की मृत्यु समीप होती है।[४] जिसको स्वप्न में केश, अँगारे, भस्म, सर्प तथा शुष्क (जलहीन) नदी आदि वस्तुएँ दिखलाई पड़ती हैं, वह व्यक्ति दस दिन जीवित रहकर ग्यारहवें दिन मृत्यु की गोद में चला जाता है।[५] जो स्वप्न में अपने को शस्त्र एवं पाषाणों से सन्नद्ध, कृष्णवर्ण वाले भयंकर मनुष्यों के द्वारा मारा जाता हुआ देखता है, वह अतिशीघ्र कालकवलित होता है।[६] सूर्योदय के समय जिसके समक्ष गीदड़ी चिल्लाती और नाचती हुई दिखलाई पड़ती है, वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है।[७] अच्छी प्रकार भोजन करने पर भी जो क्षुधा से त्रस्त रहता है और रात्रि में दाँत किटकिटाता है, वह व्यक्ति निःसन्देह अल्पायुः होता है।[७] दीप के बुझने पर आने वाली गन्धविशेष का जो व्यक्ति घ्राणजप्रत्यक्ष नहीं कर पाता है, रात्रि में भयभीत रहता है और दूसरों की आँख की पुतली में प्रतिबिम्बित अपनी मुखाकृति को देखने में असमर्थ होता है, वह व्यक्ति अधिक काल तक जीवित नहीं रहता है।[९] जो कानों को बन्द करने पर शरीर के अन्दर होने वाली ध्वनि को नहीं सुन पाता है और जिसके नेत्र की ज्योतिः क्षीण हो जाती है,

---

[१] घृते तैले यथाऽऽदर्शे तोये वाऽप्यात्मनस्तनुम्।
यः पश्येदशिरस्कां वा मासादूर्ध्वं न जीवति॥—मा० पु०, यो०सि०चं०पृ० १२०।

[२] रक्तकृष्णाम्बरधरा गायन्ती हसती च यम्।
दक्षिणाशां नयेन्नारी स्वप्ने सोऽपि न जीवति॥—मा० पु०, यो०सि०चं०पृ० १२०।

[३] नग्नं क्षपणकं स्वप्ने हसमानं महाबलम्।
एतं चाऽऽवीक्ष्य वलगन्तं विद्यान्मृत्युमुपस्थितम्॥—मा० पु०, यो०सि०चं०पृ० १२०।

[४] आमस्तकतलं यस्तु निमग्नं पङ्कसागरे।
स्वप्ने पश्यत्यथात्मानं स सद्यो म्रियते नरः॥—मा० पु०, यो० सि०चं०पृ० १२०।

[५] केशाङ्गारांस्तथा भस्म भुजङ्गं निर्जलां नदीम्।
दृष्ट्वा स्वप्ने दशाहानु मृत्युरेकादशेऽहनि॥—मा०पु०, यो० सि० चं०पृ० १२०।

[६] करालैर्विकटैः कृष्णैः पुरुषैरुद्यदायुधैः।
पाषाणैस्ताडितः स्वप्ने सद्यो मृत्युमवाप्नुयात्॥—मा० पु० यो० सि० चं० पृ० १२०।

[७] सूर्योदये यस्य शिवाः क्रोशन्त्यायान्ति संमुखम्।
विपरीत्यापरीत्या च स सद्यो मृत्युमृच्छति॥—मा० पु०, यो० सि० चं० पृ० १२०।

[८] यस्य वै भुक्तमात्रस्य हृदये बाधते क्षुधा।
जायन्ते दन्तघर्षाश्च स गतायुर्न संशयः॥
दीपादिगन्धं नो वेत्ति त्रस्यत्यपि तथा निशि॥—मा० पु०, यो० सि० चं० पृ० १२०।

[९] नात्मानं परनेत्रस्थं वीक्षते न स जीवति।—मा० पु०, यो० सि० चं० पृ० १२०।

ऐसे व्यक्ति की मुत्यु सन्निकृष्ट होती है।[१] स्वप्न में जो अग्नि या जल में अपने को प्रविष्ट होता हुआ देखता, किन्तु बाहर निकलता हुआ नहीं देख पाता है, ऐसा व्यक्ति भी अधिक कालपर्यन्त जीवित नहीं रहता है।[२]

स्वप्न में उष्ट्र अथवा रासभ आदि से खींची जाती हुई सवारी पर बैठकर जो व्यक्ति दक्षिण दिशा की ओर जाता है, वह अतिशीघ्र मृत्यु को प्राप्त होता है।[३] जो व्यक्ति स्वप्न में अपने शुभ्र वस्त्र को रक्त तथा काला देखता है, उसकी मृत्यु आसन्नतम होती है।[४] जो अविनीत सदैव पूज्य व्यक्तियों का अपमान तथा निन्दा करता है; देवताओं की पूजा नहीं करता है; विप्र, गुरु और ब्राह्मणों की आलोचना करता है; महात्मा, योगी, माता-पिता के प्रति अहंकार करता है और समय आने पर विद्वानों के समक्ष अहंकार करता है; वह व्यक्ति अधिक समय तक जीवित नहीं रहता है।[५] तन्त्रशास्त्र में कहे छायापुरुष के दर्शन से भी मृत्यु के काल का निश्चय किया जाता है। सूत्र में आया हुआ **'अरिष्टेभ्यो वा'**-पद छायापुरुष के दर्शन का भी उपलक्षक है—ऐसा **नारायणतीर्थ** मानते हैं। इसलिए वे तन्त्र के आधार पर भी मृत्युसूचक चिह्न प्रस्तुत करते हैं। छायानर के कान, मुख, हाथ, मुख के दोनों भाग तथा हृदय में से किसी एक अवयव को देखने वाला व्यक्ति कर्ण आदि अवयवों के दर्शन के क्रम से अर्क=बारह वर्ष, अश्व=७ वर्ष, दिक्=१० वर्ष, भू=१ वर्ष और रामाक्षि=२ वर्ष ही जीवित रहता है। हृदय में छिद्र दिखाई पड़ने से सात महीने जीवित रहता है, दो शरीर दिखाई पड़ने से उसी समय मर जाता है। यदि छायानर का सम्पूर्ण शरीर दिखलाई पड़े तो उस वर्ष वह व्यक्ति रुग्ण नहीं होता है और मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है[६]; किन्तु इसके पश्चात्

---

[१] पिधाय कर्णौ निर्घोषं न शृणोत्यात्मसम्भवम्।
नश्यते चक्षुषोर्ज्योतिर्यस्य सोऽपि न जीवति॥—मा० पु०, यो० सि० चं० पृ० १२०।

[२] स्वप्नेऽग्निं प्रविशेद्यस्तु न च निष्क्रमते पुनः।
जलप्रवेशादपि वा तदन्तं तस्य जीवितम्॥—मा० पु०, यो० सि० चं० पृ० १२०।

[३] उष्ट्ररासभयानेन यः स्वप्ने दक्षिणां दिशम्।
प्रयाति तं विजानीयात् सद्यो मृत्युं नरेश्वरः॥—मा० पु०, यो० सि० चं० पृ० १२१।

[४] स्ववस्त्रममलं शुक्लं रक्तं पश्यत्यथाऽसितम्।
यः पुमान् मृत्युमासन्नं तस्यापि हि विनिर्दिशेत्॥—मा० पु०, यो० सि० चं० पृ० १२१।

[५] यैश्चाऽऽविनीतः सततं येऽस्य पूज्यतमा मताः।
तानेव वावजानाति तानेव च विनिन्दति॥
देवान्नार्चयते वृद्धान् गुरून् विप्रांश्च निन्दति।
मातापित्रोरहङ्कारं योगिनां च महात्मनाम्॥—मा० पु०, यो० सि० चं० पृ० १२१।

[६] ···तत्कर्णास्यकरास्यपार्श्वहृदयाभावेक्षणेऽर्काऽश्वदिग्—
भूरामाक्षि समाशिरो विगमतो मासांस्तु षड् जीवति॥
हृद्रन्ध्रदृष्ट्या मुनिसंख्यमासान् द्विदेहदृष्ट्या तु मृतिस्तदैव।
सम्पूर्णदृष्ट्या तु न वर्षमध्ये रोगो मृतिर्वेति वदन्ति सत्यम्॥ तं० शा०, यो० सि० चं० पृ० १२१।

उसका जीवित रहना सम्भव नहीं होता है। तन्त्रशास्त्र में छायापुरुष के दर्शन को निम्नाङ्कित प्रकार बतलाया गया है—शुक्लपक्ष के निर्मल आकाश में रात्रि के समय प्रतिदिन भूमि पर एकाग्रचित्त बैठकर पैर से लेकर माथे तक चिरकाल तक छाया को देखे और प्रातःकाल पीछे रहने वाली छाया के अङ्ग की रेखा को मौन रहकर एक दृष्टि से चिरकाल तक देखे। इस प्रकार देखने से व्यक्ति अत्यन्त शुभ्र छायापुरुष को अपने ऊपर देख पाता है।[१]

मैत्र्यादिविषयक संयमसाध्य विभूति–बल दो प्रकार का है—मनोबल तथा शारीरिकबल। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**—इस श्रुतिवाक्य से बल की महिमा सर्वविदित है। योगशास्त्र में द्विविध बलों की साधना वर्णित है। एवं उन्हें विभूति के क्षेत्र में रखा गया है।

मैत्री, करुणा तथा मुदिता चित्त की उदात्त भावनाएँ है। संयमाभ्यास द्वारा साधक उक्त तीन भावनाओं को अपने जीवन में उतार लेता है। सुखी, दुःखी एवं पुण्यशील व्यक्तियों के प्रति जिसका अन्तःकरण सर्वदा मित्रता, करुणा एवं मुदिता की भावना से परमार्थतः ओतप्रोत रहता है और व्यवहार द्वारा आन्तरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति बाहर होती रहती है, ऐसा साधक मनोबल से समृद्ध होता है। यही मैत्र्यादिविषयक संयमसाध्य विभूति है।[२] चित्त-सरिता में उदात्त भावनाओं का मधुरजल प्रवाहित होते रहना अत्यन्त दुष्कर है। इसलिए उक्त विभूति को संयमसाध्य बतलाया गया है।

चित्त के ईर्ष्या, द्वेष आदि षट् कालुष्यों के प्रक्षालनार्थ समाधिपाद में मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा—ये चार भावनाएँ बतलाई गईं हैं।[३] इन चार भावनाओं के संस्कार से प्रस्तुत सन्दर्भ में **भोजदेव** ने उपेक्षावृत्ति को भी संयमसाध्य कहा है।[४] लेकिन **व्यासदेव** से लेकर **बलदेव मिश्र** तक के व्याख्याकारों ने उपेक्षा को संयमसाध्य नहीं माना है। यह सम्यक् है। क्योंकि उपेक्षाविषयक भावना (धारणादि) नहीं की जा सकती है। उसमें सुखित्व, करुणात्व, मुदितात्व की भाँति चिन्तनीय पदार्थ नहीं है।[५] अतः उपेक्षा में बल न होने से

---

[१] आकाशे विगताऽम्बुदे निशि सिते पक्षे पुनः प्रत्यहं
भूमावापदमाललाटफलकं ह्येकाग्रचित्तश्चिरम्।
प्रातःपृष्ठगतेरवागनिमिषं छायाङ्गलेखां चिरं
दृष्ट्वोर्ध्वं नयनेन यत् सिततरं छायानरं पश्यति॥
—तं० शा०, यो० सि० चं० पृ० १२१।

[२] मैत्र्यादिषु बलानि—यो० सू० ३।२३।

[३] मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् —यो० सू० १।३३।

[४] मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षासु यो विहितः संयमः—रा० मा० पृ० ४८।

[५] (क) उपेक्षा=औदासीन्यं न तत्र भावना, नापि सुखिताऽऽदिवद् भाव्यं किंचिदस्तीति—त० वै० पृ० ३३९।
(ख) तु० —व्या० भा० पृ० ३३८-३३९।

उसकी यहाँ गणना नहीं की गई है। **विज्ञानभिक्षु एवं नागेश भट्ट** के शब्दों में[१]—पापशील व्यक्तियों के प्रति मैत्री आदि भावनाओं का अनुदय उपेक्षा है। अतः अभावरूपिणी उपेक्षा में साक्षात्कारयोग्य भावपदार्थ न रहने से उसमें कोई वैशिष्टय नहीं है, जिसके साक्षात्कार के लिए भावना की जाए। सुतरां उपेक्षा के लिए संयम की अपेक्षा नहीं है।

ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, हिंसादि क्रियाओं में रत व्यक्तियों से पूछा जाय कि उनमें कितना मनोबल है, उनके कितने हितैषी हैं एवं कितनी स्थिरता (एकाग्रता) से कार्यों को वे कर पाते हैं? उत्तर नकारात्मक होगा। मैत्र्यादि के चिन्तकों का उत्तर स्वीकारात्मक होगा। इसलिए **पतञ्जलि** ने मनोबल को मैत्र्यादिभावनासाध्य बतलाया है।

हस्त्यादिविषयक संयमसाध्य विभूति—हस्ती, सिंह आदि सदृश शक्ति के अर्जनार्थ साधक हस्त्यादिविषयक संयम करता है।[२] सिंह आदि सदृश शरीर-गठन न रहने पर भी साधक को वैसा पौरुष प्राप्त होना आश्चर्य की बात नहीं है। शास्त्रों में कहा गया है—जो जगत् (जागतिक पदार्थों) की जिस प्रकार से भावना करता है, उसके लिए वह पदार्थ उस प्रकार का हो जाता है।[३] अतः हस्त्यादि का बल प्राप्त करने के लिए **पतञ्जलि** ने हस्त्यादिविषयक धारणा-ध्यान-समाधि कही है।

प्रवृत्त्यालोकविषयक संयमसाध्य विभूति—**पतञ्जलि** ने अत्यन्त सूक्ष्म परमाण्वादि पदार्थों, भूम्यादि में आवृत बहुमूल्य निधियों एवं अत्यन्त दूरवर्ती वस्तुओं का अपरोक्ष-ज्ञान कराने का सामर्थ्य 'ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' में माना है।[४] उक्त ज्ञान के लिए ज्योतिष्मती-प्रवृत्ति से जायमान आलोक आवश्यक रहता है। यह आलोक सूर्यालोक के समान रूपवान् नहीं; प्रत्युत नीरूप-आलोक है। यह एकाग्र-बुद्धि के सत्त्वोद्रेक से सम्बन्धित है। सत्त्वगुण के प्रकाशनशील होने से तात्कालिक विशुद्ध (सात्त्विक) बुद्धि भी प्रकाश (आलोक)-बहुल कही गई है।

उक्त विभूति के साधन के सम्बन्ध में मतभेद—उक्त विभूति के लिए प्रवृत्त्यालोक के साधनत्व में विप्रतिपत्ति नहीं है। किन्तु साधन (आलोक) के स्वरूप के विषय में मतभेद है।

---

[१] (क) **पापशीलेषु मैत्र्यादिशून्यतारूपम् उपेक्षामात्रं न तु तस्यामभावरूपिण्यामुपेक्षायां प्रतियोगित्वातिरिक्तः कश्चन विशेषोऽस्ति यस्य साक्षात्कारार्थं भावना स्यादतश्च तस्यामुपेक्षायां नास्ति समाधिः संयमोऽपेक्षित इत्यर्थः**—यो० वा० पृ० ३३८-३३९।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३४०।

[२] **बलेषु हस्तिबलादीनि**—यो० सू० ३।२४।

[३] **यो यथा भावयेदेतज्जगत्तस्य तथा भवेत्।**

—त्रि० र० ज्ञानखण्ड १२।१०।

[४] **प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्**—यो० सू० ३।२५।

प्रथम मत—आचार्य वाचस्पति मिश्र[१], भोजदेव[२] तथा राघवानन्दसरस्वती[३] का मन्तव्य है कि योगी ज्योतिष्मती-प्रवृत्ति के प्रकाश को संयम द्वारा सूक्ष्मादि पदार्थों में प्रक्षिप्त करके पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है। सूक्ष्म, व्यवहित एवं विप्रकृष्ट पदार्थों के अपरोक्षात्मक ज्ञान के लिए तत्-तद्विषयक आलोक में संयम अपेक्षणीय है।

द्वितीय मत—रामानन्दयति, विज्ञानभिक्षु, भावागणेश, नागेश भट्ट, नारायणतीर्थ, तथा **सदाशिवेन्द्रसरस्वती** ज्योतिष्मती प्रवृत्ति से जायमान सत्त्वप्रकाश में ऐसी अद्भुत शक्ति मानते हैं, जिसका सूक्ष्मादि पदार्थों में प्रक्षेप करने मात्र से आलोकित हुए पदार्थ साधक को दृष्टिगोचर होने लगते हैं।[४] उदाहरणस्वरूप चाक्षुषज्योतिः के न्यासमात्र से पुरोवर्त्ति घटादि पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं। अथवा अन्धकार में नामरूपरहित वस्तुओं को देख पाने में असमर्थ व्यक्ति प्रातःकाल सूर्यालोक में (सूर्यरश्मियों के साथ पदार्थों का संसर्ग होने पर) उनका प्रत्यक्ष कर लेता है। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति से युक्त साधक के लिए सूक्ष्मादि पदार्थों में संयम अपेक्षित नहीं है।[५] पतञ्जलि ने सूत्र में निक्षेपार्थक 'न्यास' पद के प्रयोग द्वारा उक्त तात्पर्य की ओर संकेत किया है।[६] सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप ज्योतिष्मती प्रवृत्ति बुद्ध्यादि विषय में संयम करने से सिद्ध होती है। इसलिए प्रवृत्त्यालोकसाध्य उक्त विभूति भी परम्परया संयमसाध्य होने से संयमसिद्धि के मध्य परिगणित है।[७]

मूल्यांकन—यद्यपि द्वितीय मत रमणीय प्रतीत होता है, किन्तु प्रथम मत ही युक्ति-युक्त है। पतञ्जलि ने संयम को विभूति का साक्षात् साधन माना है। अतः उक्त विभूति

---

१ सूक्ष्मे, व्यवहिते विप्रकृष्टे वाऽर्थे संयमनं विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति—त० वै० पृ० ३३९।

२ ···तस्या य आलोकः सात्त्विकप्रकाशः तस्य निखिलेषु विषयेषु न्यासात् तद्वासितानां विषयाणां भावनातः ··ज्ञानमुत्पद्यते—रा० मा० पृ० ४८-४९।

३ ज्योतिष्मत्याः प्रवृत्तेः य आलोकः स प्रवृत्त्यालोकः तस्मिन् न्यासात् संयमात् सूक्ष्मादिज्ञानं साक्षात्कार इत्यर्थः—पा० र० पृ० ३३९।

४ (क) ···य आलोकः···विप्रकृष्टे मेर्वन्तर्वर्तिरसायनादौ न्यासात् प्रक्षेपात्तेषां ज्ञानं साक्षात्कारो भवति। सौरालोकसंयोगाद् घटादिज्ञानवत्—म० प्र० पृ० ६२।
(ख) ···यः सत्वप्रकाशस्तं योगी सूक्ष्मेद्यर्थेषु विन्यस्य च साक्षात्करोति··· चक्षुर्न्यासमात्रेण घटदर्शनवद्विशुद्धसत्त्वप्रतिसंधानमात्रेणैव सूक्ष्मादिसाक्षात्कारो भवति—यो० वा० पृ० ३३९।
(ग) तु०—भा० ग० वृ० पृ० ७१। (घ) तु०—ना० ल० वृ० पृ० ७१।
(ङ) तु०—यो० सि० चं० पृ० १२२। (च) तु०—यो० सु० पृ० ६७।

५ अत्र न्यासमात्रवचनात् तेषु संयमापेक्षा नास्ति—यो० वा० पृ० ३३९।

६ उपर्युक्त टिप्पणी द्रष्टव्य।

७ (क) परम्परया बुद्ध्यादिविषयकसंयमसाध्यत्वेनैव चास्याः सिद्धेः संयमसिद्धिमध्ये निर्वचनमिति—यो० वा० पृ० ३३९।
(ख) तु०—भा० ग० वृ० पृ० ७१। (ग) तु०—ना० ल० वृ० पृ० ७१।

को भी साक्षात् संयमसाध्य मानना चाहिए। दूसरा हेतु यह है कि प्रथम पाद में वर्णित ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का फल चित्तसंवित् एवं अस्मितासंवित् के द्वारा चित्त का स्थिर होना कहा गया है।[१] सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का फल नहीं बतलाया गया है।

ज्योतिष्मती-प्रवृत्ति—'**प्रवृत्ति**' शब्द का अर्थ प्रकृष्टा (उत्कृष्टा)-वृत्ति है।[२] चित्त की यह वृत्ति ज्योतिष्मान् पदार्थों को विषय करने के कारण ज्योतिष्मती तथा शोकरहित होने के कारण विशोका कही जाती है। यह प्रकृष्टा वृत्ति दो प्रकार की है[३]—चित्त-संवित् तथा अस्मिता-संवित्। संवित् शब्द का अर्थ है—साक्षात्कार।

महर्षि **व्यासदेव** ने चित्त-साक्षात्कार के विषय में लिखा है कि हृदयपुण्डरीक में धारणा करने से चित्त का साक्षात्कार होता है।[४] शरीर में चित्त के स्थान का निर्धारण करते हुए आचार्य **वाचस्पति मिश्र** ने सर्वप्रथम उसके साक्षात्कार की प्रणाली प्रस्तुत की है।[५] यह प्रणाली उनके परवर्ती **विज्ञानभिक्षु, नागेश भट्ट, नारायणतीर्थ** आदि व्याख्याकारों द्वारा अपनाई गई है। उदर एवं वक्षःस्थल के मध्य अधोमुख अष्टदल कमल है। रेचक-प्राणायाम के द्वारा कमल को ऊर्ध्वमुख किया जाता है। इस हृदयकमल के मध्य सर्वप्रथम सूर्यमण्डल अकार तथा जाग्रत् स्थान है। उसके ऊपर चन्द्रमण्डल उकार तथा स्वप्नस्थान है। उसके ऊपर वह्निमण्डल मकार तथा सुषुप्तिस्थान है। उसके ऊपर आकाशस्वरूप ब्रह्मनाद, अर्धमात्रा तथा तुरीयस्थान है। उक्त हृदयकमल की कर्णिका में एक ऊर्ध्वमुखी ब्रह्मनाड़ी है। उसके ऊपर सुषुम्ना नाड़ी है। उस नाड़ी से बाहर के सूर्यादिमण्डल सम्बन्धित हैं। यही सुषुम्ना नाड़ी चित्त का स्थान है। चित्त के अधिष्ठानभूत सुषुम्ना नाड़ी में धारणा करने से योगी को चित्त का साक्षात्कार होता है। यह चित्तसत्त्व प्रकाशरूप है तथा सूर्यादि प्रभा के आकार में परिणत होने से नानारूप है।

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रथम भेद चित्त-संवित् में आए '**चित**' पद का क्या अर्थ है? —इसके विषय में मतभेद है। आचार्य **वाचस्पति मिश्र, रामानन्दयति, हरिहरानन्द आरण्यक**, तथा **बलदेव मिश्र** ने 'चित्त' पद से मनस् को लिया है।[६] इन आचार्यों का कथन है—

---

[१] एषा द्वयी—विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते, यथा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति—व्या० भा० पृ० १०३-१०४।

[२] प्रवृत्तिः=प्रकृष्टा वृत्तिः—भा० पृ० ९९।

[३] एषा द्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योष्मतीत्युच्यते व्या० भा० पृ० १०३-१०४।

[४] हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्—व्या० भा० पृ० १०२।

[५] उदरोरसोर्मध्ये यत्पद्मम् अधोमुखं तिष्ठति···नानारूपा भवति—त० वै० पृ० १०१-१०२।

[६] (क) मनश्चात्र बुद्धिरभिमतम्—त० वै० पृ० १०२।
(ख) तु०—म० प्र० पृ० १९। (ग) तु०—भा० पृ० १०२।
(घ) ···भावयतो बुद्धिसंवित् चित्तसाक्षात्कार उत्पद्यते—यो० प्र० पृ० १८।

सुषुम्ना नाड़ी में रहने वाले और वैकारिक अहंकार से उत्पन्न मनस् के सत्त्वगुणप्रधान होने से उसकी प्रकाशरूपता कही गई है। चित्त को तत्-तत् घट, पट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष होने से उसकी व्यापकता भी सिद्ध होती है। अतः बुद्धि-संवित् अथवा चित्त-संवित् से मनस् का साक्षात्कार लेना है। **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश, एवं नागेश भट्ट** ने **'चित्त'** पद का अर्थ महत्तत्त्व किया है।

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के द्वितीय भेद अस्मिता-संवित् के सम्बन्ध में भी एक मत नहीं है। आचार्य **वाचस्पति मिश्र, रामानन्दयति, हरिहरानन्द आरण्यक** तथा **बलदेव मिश्र** ने **'अस्मिता'** पद को मनस् के कारण अहंकार अर्थात् अहंकारास्पद आत्मा का वाचक माना है।[1] **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश** तथा **नागेश भट्ट** ने **'अस्मिता'** पद को आत्मतत्त्व का वाचक माना है। **विज्ञानभिक्षु** आदि व्याख्याकारों का कहना है[2]—इस प्रसङ्ग में **व्यासदेव** ने **पञ्चशिखाचार्य** का जो वाक्य उद्धृत किया है, उसमें प्रयुक्त **'आत्मानम्'** पद से स्पष्ट है कि **पञ्चशिखाचार्य** के अनुसार ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के साधक को आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। अस्मिता, आत्मता और अहंता तीनों पर्याय हैं। अस्मिता में भावार्थक तल् प्रत्यय निर्विशेष सामान्य बोधित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार शुद्धचैतन्यमात्र पुरुष में शुद्धचैतन्याकारता को प्राप्त हुआ चित्त तरङ्गरहित समुद्र के समान हो जाता है। पुरुषाकार होने से चित्त पुरुष के सदृश क्षोभ-रहित, आवरणरहित, व्यापक एवं अन्यविषयाकारता से शून्य केवल **'अस्मि'** इत्याकारक होता है।

उपर्युक्त दो पक्षों में से **विज्ञानभिक्षु** आदि आचार्यों का पक्ष युक्तयुक्त प्रतीत नहीं होता है। आत्मसाक्षात्कार का साधनभूत अनात्मप्रवृत्ति के मध्य उपन्यास उचित नहीं है।[3] दूसरा हेतु यह है कि **पतंजलि** के **'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता'**[4]—इस सूत्र

---

[1] (क) अस्मिताकार्ये मनसि सम्पत्तिं दर्शयित्वाऽस्मितासमापत्तेः स्वरूपमाह—त० वै० पृ० १०३।
(ख) आत्मानम्=अहङ्कारास्पदम्—त० वै० पृ० १०३।
(ग) तु०—भा० पृ० १०३।

[2] (क) अस्मिताऽत्र नाहंकारः किन्त्वात्मतत्त्वं 'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्य' इत्युत्तरवाक्यात्, अस्मिताऽऽत्मताऽहन्तानां पर्यायत्वाच्च। भावप्रत्ययश्च निर्विशेषसामान्यमात्रताबोधनाय प्रयुक्तः। तथा च चास्मितायां विविक्तचिन्मात्रे पुरुषे समापन्नं तद्रूपताऽऽपन्नमत एव निस्तरङ्गमहोदधिकल्पम् अस्मितामात्रमस्मीत्येतावन्मात्राकारमन्याकारताशून्यं भवतीत्यर्थः यो० वा० पृ० १०३।
(ख) सा चान्तःकरणस्य पुरुषस्य वा योगजसाक्षात्काररूपा वृत्तिः—भा० ग० वृ० पृ० २५। (ग) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० २५१।

[3] यत्तु विज्ञानभिक्षुणोक्तम् आत्मपदेन पुरुषो गृह्यते, नाऽहङ्कार इति तन्न पेशलम्, आत्मसाक्षात्कारस्य साध्यत्वेन साधनभूताऽनात्मप्रवृत्तिमध्य उपन्यासाऽयोगात्—योगदर्शनम्, बालरामोदासीनकृत टिप्पणी पृ० ८३।

[4] यो० सू० २।६।

से स्पष्ट है कि **'अस्मिता'** पद दृक्शक्ति एवं दर्शनशक्ति के एकात्मता अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः 'अस्मिता' का अर्थ केवल 'आत्मा' बतलाना सूत्रकार के मत के विरुद्ध प्रतीत होता है। **वाचस्पति** आदि के अनुसार ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के द्वितीय भेद अस्मिता-संवित् का स्वरूप उचित सिद्ध होने से ज्योतिष्मती के प्रथम भेद चित्त-संवित् में 'चित्त' पद का अर्थ बुद्धि नहीं अपितु मनस् है।

पदार्थज्ञान आलोक-सापेक्ष होता है। यह अनुभवसिद्ध है। सूक्ष्म व्यवहित एवं विप्रकृष्ट पदार्थों के ज्ञान का इच्छुक साधना द्वारा लब्ध विशिष्ट-आलोक को यदि पदार्थों पर न्यस्त करके आलोकविशिष्ट विषय का संयम द्वारा साक्षात्कार कर लेता है तो इसमें आश्चर्य की बात नही है।

सूर्यविषयक संयमसाध्य विभूति—तेजःपुंज सूर्य का संयम द्वारा साक्षात्कार करने से योगी को समस्त भुवनों का अपरोक्षात्मक ज्ञान होता है।[1]

प्रस्तुत विभूति का अव्यवहित पूर्ववर्णित प्रवृत्त्यालोकविशिष्ट विभूति से यह अन्तर है कि वह बुद्धयालोक (अध्यात्मलोक) द्वारा सिद्ध होती है और यह भौतिकालोक द्वारा सिद्ध होती है।[2] दूसरा अन्तर यह है कि सूर्यविषयक संयम में केवल भुवन का अपरोक्षात्मक ज्ञान कराने का सामर्थ्य है; प्रवृत्त्यालोकविषयक संयम में अत्यन्त व्यवहित भुवन-ज्ञान के साथ-साथ सूक्ष्म पदार्थों का भी ज्ञान कराने का सामर्थ्य है। अतः द्वितीय विभूति की अपेक्षा प्रथम विभूति का क्षेत्र व्यापकतर है।

चन्द्रविषयक संयमसाध्य विभूति—चन्द्रमा में संयम करने से योगी को समस्त तारागणों की स्थिति का अपरोक्षात्मक ज्ञान होता है।[3] यह शंका हो सकती है—सूर्यविषयक संयम में भुवन का अपरोक्षात्मक ज्ञान कराने का सामर्थ्य है, अतः उसी से ताराव्यूह का भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। तारागण के ज्ञान के लिए चन्द्र में धारणा, ध्यान एवं समाधि क्यों की जाए? उत्तर है कि ज्योतिःशास्त्र के अनुसार स्वीकार किया गया है कि चन्द्रमा का नक्षत्रसमूह के साथ जिस प्रकार का सम्बन्ध है, उस प्रकार का सम्बन्ध सूर्य एवं नक्षत्रों का नहीं है। अतः सूर्यविषयक संयम से नक्षत्रों का ज्ञान न हो पाने के कारण चन्द्रविषयिणी साधना (संयम) कही गई है।

चन्द्र एवं तारागणों का विशिष्ट सम्बन्ध इस प्रकार है—पृथ्वी प्रत्येक राशि के सन्मुख दो घण्टे रुक कर दिन भर में एक बार बारह राशियों के चारों ओर घूमा करती है। दूसरी तरफ महाउपग्रह चन्द्र पृथ्वी की परिक्रमा प्रतिदिन एक बार करता है और अपने केन्द्र (धुरी) में अनेक बार घूमा करता है। इस प्रकार वह एक दिन में अनेक बार नक्षत्रों का दर्शन करता है। अतः सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा का नक्षत्रों के साथ विशेषसम्बन्ध है। इसलिए संयम द्वारा चन्द्रमा का साक्षात्कार किए साधक को नक्षत्रसमूह का ज्ञान आसानी से

---

[1] भुवनज्ञानं सूर्यसंयमात्—यो० सू० ३।२६।

[2] एवं संयमेन साक्षात्कृतबुद्धयालोकद्वारा ज्ञानमुक्त्वा भौतिके तद्द्वारा तदाह—म० प्र० पृ० ६२।

[3] चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्—यो० सू० ३।२७।

होता है। अथवा ज्योतिषशास्त्र के अनुसार यह निश्चित किया गया है कि अन्य सभी ग्रहों एवं उपग्रहों की अपेक्षा चन्द्रमा प्रत्येक राशि में स्वल्पकाल के लिए ठहरता है। इस प्रकार प्रत्येक ताराव्यूहस्वरूप राशि की आकर्षण-विकर्षण शक्ति के साथ चन्द्रमा का अतिघनिष्ट सम्बन्ध है। अतः राशियों की आकर्षण-शक्ति का अवलम्बन होने से चन्द्र ताराव्यूह के अन्वेषणार्थ विशेष सहायक होता है।

ध्रुवनक्षत्रविषयक संयमसाध्य विभूति--पतञ्जलि ने नक्षत्रों के गतिज्ञान की हेतुता ध्रुवनक्षत्रविषयक संयम में बतलाई है।[1] नक्षत्रों के रूपज्ञान अर्थात् गतिज्ञान के लिए चन्द्रविषयक संयम द्वारा उनका सामान्यतया ज्ञान होना अपेक्षित रहता है। इसी उद्देश्य से विभूति का स्वरूप बतलाते हुए **व्यासदेव** ने 'ततः' पद का प्रयोग किया है।[2] ताराओं का गतिज्ञान ध्रुवविषयक-संयमसाध्य बतलाया गया है। जिस प्रकार वासरमणि (सूर्य) के साथ ग्रहों का सम्बन्ध है, उसी प्रकार ध्रुव जिसका अपर पर्याय महासूर्य है—के साथ नक्षत्रों का सम्वन्ध है। इस सम्बन्धविशेष के कारण ध्रुव में धारणा, ध्यान एवं समाधि लगाने से नक्षत्रों की गति का अपरोक्षात्मक ज्ञान सरलता से हो जाता है।

आशय इस प्रकार है—नक्षत्रों का ध्रुव के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। प्रत्येक नक्षत्रराशि के अन्तर्गत जितने तारागण आते हैं वे सभी एक-एक ब्रह्माण्ड के लिए सूर्यस्वरूप हैं। जिसमें हम सब निवास करते हैं वह ब्रह्माण्ड भी अपने चारों ओर अनेक ब्रह्माण्डों से घिरा हुआ है। इसलिए पृथ्वी के साथ राशिरूप नक्षत्रों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्रह्माण्ड के चारों ओर स्थित ब्रह्माण्ड समूह एक साथ मिलकर ही गोलाकार रूप से सुशोभित महा-सूर्यस्वरूप ध्रुव के चारों ओर घूमा करते हैं। अतः पृथ्वी का अथवा पृथ्वी के आश्रयभूत ब्रह्माण्डों का ध्रुवलोक के साथ जिस प्रकार का सम्बन्ध है, उसी प्रकार का सम्वन्ध ध्रुव-लोक के साथ तारागण का भी है। अतः सभी के केन्द्रस्वरूप ध्रुवलोक में संयम करने से नक्षत्रों की गति का अपरोक्षात्मक ज्ञान होना स्वाभाविक है।

नाभिचक्रविषयक संयमसाध्य विभूति–स्वशरीरान्तर्वर्ती त्वक्, लोहितआदि सप्त धातु एवं वात आदि तीन दोषों की ठीक-ठीक स्थिति जानने के इच्छुक के लिए नाभिचक्रविषयक भावना (संयम) कही गई है।[3] नाभि स्थान प्राणवायु, अपानवायु, ऊर्ध्वशक्ति एवं अधःशक्ति का मध्यस्थान है। अतः सभी के केन्द्रभूत नाभिस्थान में संयम करने से शारीरिक समस्त पदार्थों का ज्ञान आसानी से होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार चतुष्पथ पर खड़े व्यक्ति को चारों ओर की सड़कें दिखलाई पड़नी स्वाभाविक हैं।

---

[1] ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्--यो० सू० ३।२८।

[2] व्या० भा० पृ० ३४७।

[3] (क) नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्—यो० सू० ३।२९।
(ख) नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात्। वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः सन्ति धातवः सप्त त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि। पूर्वं पूर्वमेषां बाह्यमित्येष विन्यासः--व्या० भा० पृ० ३४७।

सुश्रुत के पित्तं पङ्गु···—इस वचन[१] के अनुसार शरीर के समस्त पदार्थों में वायु सर्वप्रधान है। वायु के विकृत होने पर रस, रक्त आदि नाना धातुओं में विकार उत्पन्न होता है। अतः जीवनी शक्ति वायु में निहित है। इस जीवनी शक्ति के ऊर्ध्व एवं अधोगति का केन्द्र नाभिचक्र है। अतः केन्द्रभूत नाभिचक्र में संयम करने से साधक को जीवनी शक्ति के गतिज्ञान के आधायक शारीरिक पदार्थों का ज्ञान सहज हो जाता है।

कण्ठकूपविषयक-संयमसाध्य विभूति—भूख-प्यास के द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त होने का उपाय है- संयम द्वारा कण्ठकूप पर नियन्त्रण रखना।[२] कण्ठ का गर्ताकार अधः-प्रदेश कण्ठकूप कहा जाता है। जिह्वा के अधोभाग में स्थित तन्त्वाख्य प्रदेश का अधोभाग कण्ठ है।[३] इस प्रकार का प्रदेश संयम का विषय है। शरीर में अनेक शक्तिकेन्द्र हैं। उदाहरणस्वरूप दर्शन का केन्द्र नेत्रेन्द्रिय है, श्रवण का केन्द्र श्रोत्रेन्द्रिय है। इसी प्रकार भूख-प्यास का केन्द्र कण्ठकूप है। वायु एवं अन्नादि आहार कण्ठकूप से होकर उदर में पहुँचते हैं। अतः कण्ठकूप के साथ क्षुत्पिपासा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कण्ठकूप के साथ प्राण का स्पर्श होने पर ही प्राणी को भूख-प्यास की अनुभूति होती है। साधक जब संयम द्वारा क्षुत्पिपासा के आधारभूत कण्ठकूप को नियंत्रित कर लेता है, तब कण्ठकूप के साथ प्राणवायु का स्पर्श होने पर भी उसे स्पर्श का भान नहीं होता है। फलस्वरूप वह क्षुत्पिपासा की व्याकुलता से मुक्त हो जाता है।

कूर्मनाड़ीविषयक-संयमसाध्य विभूति—कूर्मनाड़ी में संयम करने से साधक शारीरिक एवं मानसिक स्थिरता प्राप्त करता है।[४] उक्त नाड़ी कण्ठकूप के अधःप्रदेश में कच्छपाकार से स्थित होने के कारण कूर्म नाम से अभिहित है। शङ्का हो सकती है कि—शरीर के अन्दर असंख्य नाड़ियाँ हैं। कूर्मनाड़ी में ऐसा कौन सा वैशिष्ट्य है, जिसके कारण कूर्मनाड़ीविषयक संयम को ही मनःस्थिरता का हेतु कहा गया है? उत्तर है कि शारीरिक गतिशीलता एवं कूर्मनाड़ी का विशिष्ट सम्बन्ध है। इसलिए कूर्मनाड़ी में संयम करने से शरीर स्थिर होता है और शरीर के निश्चल होने से मनस् एकाग्र होता है।

मेरुदण्ड पर स्थित आज्ञाचक्र कण्ठकूप के प्रदेश में है। कण्ठकूप के ऊपर समीप में कूर्मनाड़ी का स्थान है। जिस प्रकार कूर्म मन्दराचल को धारण किए है, उसी प्रकार कूर्मनाड़ी सिर को धारण किए है। लययोग की अनेकविध क्रियाएँ कूर्मनाड़ी पर आधारित हैं। कूर्मनाड़ी मेरुदण्ड में धृतिशक्ति का सञ्चार करती है। इस प्रकार मस्तिष्क, मेरुदण्ड तथा वायुशक्ति के साथ कूर्मनाड़ी का विशिष्टसम्बन्ध है। अतः संयम द्वारा कूर्मनाड़ी के स्थिर होने पर स्थूल एवं सूक्ष्मशरीर स्थिरता प्राप्त करते हैं।

---

[१] पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः ॥
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्—सु० सं० उत्तरतन्त्र अ० ६६ पृ० ५२७।

[२] कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः—यो० सू० ३।३०।

[३] जिह्वाया अधस्तात् तन्तुः, ततोऽधस्तात् कण्ठः, ततोऽधस्तात्कूपः—व्या० भा० पृ० ३४७।

[४] कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्—यो० सू० ३।३१।

मूर्धज्योतिर्विषयक-संयमसाध्य विभूति—सिर तथा कपाल के मध्यभाग में स्थित जो छिद्र सुषुम्ना-नाड़ी और हृदयस्थ चित्तमणिप्रभा के संयोग से प्रद्योतित रहता है, वह मूर्धज्योतिः है।[१] इस मूर्धज्योतिः में संयम द्वारा मनस् की स्थापना करने से योगी को आकाश और पृथ्वी के अन्तराल में विचरने वाले सिद्ध पुरुष दिखलाई पड़ते हैं[२] और उससे वार्तालाप करते हैं।[३] समष्टिव्यष्टि के विचार से ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड की एकता होने से साधक अप्रतिहतगतिशील सिद्धों का दर्शन ज्योतिष्मान् ब्रह्मरन्ध्र में कर पाता है।

हृदयविषयक-संयमसाध्य विभूति—शास्त्रों में शरीर को आत्मा-परमात्मा का पुर कहा गया है। जीवात्मा-परमात्मा के पुर शरीर में अधोमुख कमल के आकार का एक गर्त है। यह हृदयवेश्म नाम से प्रसिद्ध है। इसके अन्दर विज्ञानवृत्तिक चित्त निवास करता है।[४] यदि उपर्युक्त हृदयदेश में संयम किया जाए तो साधक को चित्त का साक्षात्कार होता है।

विभूति का स्पष्ट रूप वाचस्पति ने उक्त विभूति के स्वरूप को **'स्ववृत्तिविशिष्टचित'** शब्द से स्पष्ट किया है।[५] **भोजदेव** ने हृदयविषयकसंयम का फल स्वपरचित्त का साक्षात्कार बतलाया है।[६] अर्थात् साधना द्वारा साधक स्वचित्तगत वासनाओं एवं परचित्तगत रागादियों का साक्षात्कार करता है।[७] **नारायणतीर्थ** ने **भोजदेव** के मत का अनुसरण किया है।[८] अन्य व्याख्याकार 'चित्त का साक्षात्कार होता है'—इतना कहकर मौन हो गए हैं।

समन्वय—'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्' सूत्र के समान **'हृदये चित्तसंवित्'** सूत्र में **'स्वपर'** शब्द का उल्लेख न होने से सूचित होता है कि सूत्रकार को दोनों के चित्त का साक्षात्कार अभीप्सित होगा। स्वहृदय में संयम करने से साधक को स्वचित्त का साक्षात्कार होता होगा एवं परहृदय में संयम करने से परचित्त का साक्षात्कार होता होगा। ऊपर चित्त-साक्षात्कार रूप विभूति हृदयविषयक-संयमसाध्य बतलाई गई है। यह उनके आधार-आधेयभाव सम्बन्ध पर आधारित है।

---

१ शिरःकपाले यच्छिद्रं ब्रह्मरन्ध्राख्यं सुषुम्नायोगाद् हृदयस्थचित्तमणिप्रभायोगाच्च भास्वरं मूर्द्धज्योतिः—म० प्र० पृ० ६३।

२ तत्र संयमात् सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनम्—व्या० भा० पृ० ३४८।

३ तैश्च स सम्भाषत इत्यर्थः—रा० मा० पृ० ५०।

४ अस्मिन् ब्रह्मणः परमात्मनो जीवस्य च पुरे शरीरे यदिदं दहरं सगर्त्तं पुण्डरीकाकारं ब्रह्मणो वेश्म तत्र विज्ञानं विज्ञानवृत्तिकमन्तःकरणं···तिष्ठति–यो० वा० पृ० ३४९।

५ तत्र संयमाच्चित्तं विजानाति स्ववृत्तिविशिष्टम्—त० वै० पृ० ३४९।

६ तत्र कृतसंयमस्य स्वपरचित्तज्ञानमुत्पद्यते—रा० मा० पृ० ५१।

७ स्वचित्तगताः सर्वा वासनाः, परचित्तगतांश्च रागादीं जानातीत्यर्थः–रा० मा० पृ० ५१।

८ तस्मिन् संयमात् सवासनस्य स्वपरचित्तस्य साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः—यो० सि० चं० पृ० १३२।

स्वार्थप्रत्ययविषयक-संयमसाध्य विभूति—बुद्धि एवं पुरुष भिन्न-भिन्न हैं।[१] पहला जड़, दूसरा चेतन, पहला परिणामी दूसरा अपरिणामी, पहला भोग्य दूसरा भोक्ता, पहला सादि दूसरा अनादि, पहला त्रिगुण दूसरा त्रिगुणरहित, पहला ज्ञानधर्मक दूसरा ज्ञान-स्वरूप है। इतना होने पर भी सुख-दुःख, घट-पटादि विषयाकार बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष अविद्या के कारण बुद्धिगत सुख-दुःखादि धर्मों को अपना समझता हुआ सुखी-दुःखी होता है और पुरुष की संक्रान्ति से अचेतन बुद्धि अपने को चेतनवती समझती है। इस प्रकार अत्यन्त भिन्न बुद्धि तथा पुरुष का जो परस्पर विवेकाग्रह है, वही भोग है।[२] वस्तुतः भोग बुद्धि का है।[३] लेकिन संहत्यकारी बुद्धि जैसे परपुरुष के प्रयोजनार्थ है वैसे ही उसका भोग धर्म भी परार्थ है।[४] जब पुरुष बुद्धिगत भोग को अपने से भिन्न समझकर स्वार्थप्रत्यय (पुरुषप्रत्यय) में संयम करता है, तब उसे स्वकीय कूटस्थ, विभु, नित्य, शुद्ध आदि वास्तविकस्वरूप का ज्ञान होता है। सूत्रकार का कहना है कि साधक को स्वकीय स्वरूप का साक्षात्कार होना ही उसके स्वार्थप्रत्ययविषयक संयम का फल है।[५] पुरुष-साक्षात्कार के अतिरिक्त स्वार्थप्रत्ययविषयक, संयम से प्रातिभ, श्रावण वेदन, आदर्श, आस्वाद एवं वार्ता-संज्ञक सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं।[६] प्रातिभ आदि से मनस्, श्रोत्र, त्वक्, चक्षुष्, जिह्वा तथा घ्राणेन्द्रिय की दिव्यता बतलाई गई है। योगज धर्म से अनुगृहीत मनस् परमाणु आदि सूक्ष्म, स्वर्गादि व्यवहित एवं विप्रकृष्ट तथा अतीत, अनागतकालिक पदार्थों का प्रत्यक्ष करने में समर्थ होता है। इसी प्रकार साधक की सामर्थ्ययुक्त श्रोत्रादि इन्द्रियाँ दिव्य (सूक्ष्म) शब्दादि को सुन पाती हैं।

प्रातिभादि सिद्धियाँ पुरुषज्ञान से पूर्व उत्पन्न होती हैं अथवा पश्चात्? इस सम्बन्ध में व्याख्याकारों का एक मत नहीं है।

प्रथम मत—आचार्य वाचस्पति मिश्र का मत है कि स्वार्थसंयम के मुख्य एवं गौण दो फल हैं। मुख्य फल पुरुषदर्शन तथा गौण फल प्रातिभादि सिद्धियाँ हैं। जब तक स्वार्थसंयम अपने मुख्य फल पुरुषदर्शन को निष्पन्न नहीं कर पाता, तब तक स्वार्थसंयम के अभ्यासकाल में प्रातिभादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।[७] इस प्रकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्रातिभादि गौण सिद्धियों के हस्तामलक होने पर साधक साधनाभ्यास

---

[१] विवेकख्यातिरूपेण परिणतस्य बुद्धिसत्त्वस्यात्यन्तिकश्चैतन्यादसङ्करः—त० वै० पृ० ३५०।

[२] बुद्धिपुरुषयोरत्यन्तविधर्मिणोः प्रत्ययद्वयाविवेको भोगशब्दार्थः—यो०वा०पृ० ३५०।

[३] स···भोगरूपः प्रत्ययः सत्त्वस्य—त० वै० पृ० ३५१।

[४] अतः परार्थत्वाद् दृश्यो भोगः, सत्त्वं हि परार्थं संहतत्वात्, तद्धर्मश्च भोग इति सोऽपि परार्थः—त० वै० पृ० ३५१।

[५] सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्—यो० सू० ३।३५।

[६] ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते—यो० सू० ३।३६।

[७] स च स्वार्थसंयमो न यावत्प्रधानं स्वकार्यं पुरुषज्ञानमभिनिर्वर्त्तयति तावत् तस्य पुरस्ताद् या विभूतीराधत्ते ताः सर्वाः—त० वै० पृ० ३५४।

की उपयुक्तता का अनुमान करके 'मुझे मुख्यसिद्धि भी प्राप्त होगी'—ऐसी आशा रखता है। वाचस्पति के परवर्ती भोजदेव, रामानन्दयति, नारायणतीर्थ, सदाशिवेन्द्रसरस्वती एवं बलदेव मिश्र आदि व्याख्याकारों पर वाचस्पति के इस मत का प्रभाव पड़ा।[1]

द्वितीय मत—विज्ञानभिक्षु, भावागणेश तथा नागेश भट्ट के विचार से पुरुषज्ञान के पश्चात् इन्द्रियों का सामर्थ्यविशेष (प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श आदि छः सिद्धियाँ) उत्पन्न होता है।[2] ये पुरुषज्ञान से पूर्व उत्पन्न नहीं होते हैं। इन व्याख्याकारों ने स्वपक्ष के स्थापनार्थ 'कश्चित्तु'—से अपने विरोधी विचारकों के पक्ष को उपन्यस्त कर उसका निम्नांकित प्रकार से खण्डन किया है।

वाचस्पति आदि 'ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते'—इस सूत्र में प्रयुक्त 'तत्' पद से स्वार्थसंयम को ही ग्रहण करते हैं। 'तत्' पद को पुरुषज्ञान का परामर्शक नहीं बतलाते हैं। इनके अनुसार 'तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात्'—इस आगामी व्यास-भाष्य में प्रातिभादि सिद्धियाँ पुरुषज्ञान की प्रतिबन्धिका कही गई हैं। इन लोगों के अनुसार प्रातिभादि सिद्धियाँ पुरुषज्ञान से पूर्व प्राप्त होती हैं।[3] यह पक्ष उचित नहीं है। स्वार्थप्रत्ययविषयक संयम से पुरुषज्ञानरूप सिद्धि कहने के पश्चात् तत्साध्य अन्य सिद्धियाँ भी हैं, ऐसी आकांक्षा नहीं होती हैं; क्योंकि सूत्र में चकार का प्रयोग नहीं हुआ है।[4] 'तत्'—पद को पुरुषज्ञान का परामर्शक ('तत्' पद का अर्थ पुरुषज्ञान है) मानना उचित भी है। क्योंकि 'तत्'—पद के द्वारा पुरुषज्ञान मुख्यरूप से उपस्थित हो रहा है, व्यवहित स्वार्थसंयम नहीं।[5] प्रातिभादि सिद्धियाँ पुरुषज्ञान की प्रतिबन्धिका नहीं हैं। भाष्य-

---

[1] (क) संप्रत्यस्य संयमस्य पुरुषसाक्षात्कारात्प्राग्भवाः सिद्धीर्दर्शयति —म० प्र० पृ० ६४।
(ख) तु०—रा० मा० पृ० ५२। (ग) तु०—सू० बो० पृ० ४३।
(घ) तु०—यो० सु० पृ० ७०।
(ङ) तु०—यो० प्र० पृ० ६९।

[2] (क) ततः पुरुषसाक्षात्काराद् मनआदीनां प्रतिभादिसञ्ज्ञिकाः सिद्धयः सामर्थ्य-विशेषरूपा भवन्ति—यो० वा० पृ० ३५४।
(ख) तु० —भा० ग० वृ० पृ० ७४।
(ग) तु० —ना० बृ० वृ० पृ० ३४७।

[3] अत्र कश्चित्—तत इति तच्छब्देन पुरुषज्ञानं न परामृश्यते, तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वादि-त्यागामिसूत्रभाष्ये पुरुषदर्शनप्रतिबन्धकत्ववचनादपि तु स्वार्थसंयम एव परामृश्यते। तथा च पूर्वसूत्रोक्तसंयमस्यैवेदं पुरुषज्ञानात्प्राक्तनं सिद्धयन्तरम्—यो०वा०पृ० ३५४।

[4] (क) एकस्याः पुरुषज्ञानरूपसिद्धेरुक्ततया चकाराद्यभावेन सिद्धयन्तराकाङ्क्षा-विरहात्—यो० वा० पृ० ३५४।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३४७।

[5] (क) पुरुषज्ञानस्यैव मुख्यतयोपस्थितत्वेन परामर्शौचित्याच्च–यो० वा० पृ० ३५४।
(ख) तु०—ना० बृ०वृ० पृ० ३४७।

कार के मत में असम्प्रज्ञात समाधि की दृष्टि से वे विघ्नकारिणी हैं।[१] इस प्रकार **विज्ञान-भिक्षु** आदि व्याख्याकारों की दृष्टि से प्रातिभादि सिद्धियाँ पुरुषज्ञान के पश्चात् प्राप्त होती हैं।

मूल्यांकन—'तत्'-पद सामान्यतया अव्यवहित पूर्व (जो प्रधान है) का परामर्शक होता है। लेकिन अव्यवहित पूर्ववर्ती अर्थ-ग्रहण में यदि बाधा उपस्थित होती है तो सामान्य नियम का त्याग कर **'तत्'**—पद से व्यवहित पदार्थ ग्रहण किया जाता है। प्रस्तुत स्थल में **'तत्'**—पद से अव्यवहित पूर्ववर्ती पुरुषज्ञान का ग्रहण न करके व्यवहित स्वार्थसंयम का ग्रहण उचित है। क्योंकि **'तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात्'**—इस आगामी व्यासभाष्य के अनुसार प्रातिभादि पुरुषज्ञान की प्रतिबन्धिका हैं। अतः प्रातिभादि को पुरुषसाक्षात्कार का फल बतलाना सम्यक् नहीं है। नियम है, जो (प्रातिभादि) जिसका (पुरुष-ज्ञान) प्रतिबन्धक होता है वह (प्रातिभादि) उसका (पुरुषदर्शन) फल नहीं होता है। अतः प्रातिभादि सिद्धियों को पुरुषसाक्षात्कार के पूर्व उत्पन्न मानना उचित है। ऐसा मानने पर प्रातिभादि सिद्धियाँ और पुरुषसाक्षात्कार दोनों स्वार्थप्रत्ययविषयक संयम के फल—सूत्र में समुच्चयार्थक **'च'** पद का प्रयोग न रहने पर भी सिद्ध होते हैं। सूत्र में चकार का अध्याहार किया जा सकता है अथवा चकार के बिना भी पदार्थों का समुच्चय देखा जाता है। उदाहरणस्वरूप **'अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्'**[२]—यहाँ समुच्चयार्थक चकार पद न रहने पर भी गौ, अश्व, पुरुष एवं पशु का समुच्चय समझा जाता है। अतः **वाचस्पति** आदि के अनुसार यह सम्यक् प्रतीत होता है कि स्वार्थप्रत्यय-विषयक संयम के द्वारा ही पुरुषज्ञान से पूर्व प्रातिभादि छः सिद्धियाँ साधक को प्राप्त होती हैं।

बन्धकारण एवं प्रचार-विषयक-संयमसाध्य विभूति—अत्यन्त चंचल चित्त का एक स्थान पर स्थिर रहना संभव नहीं है। संस्काररूप कर्माशय का अधिष्ठानभूत यह चित्त शरीररूप भिन्न-भिन्न कारावास में बँधता रहता है।[३] साधक की इच्छा के अनुसार इस शरीररूप कारावास से चित्त के भाग निकलने का उपाय है—संयम द्वारा चित्त के बन्धनस्वरूप धर्माधर्मों पर नियन्त्रण। बन्धकारणविषयक संयम के माहात्म्य से चित्त-बन्धन की बेड़ियाँ शिथिल हो जाती हैं। फलस्वरूप चित्त स्वतन्त्रतापूर्वक शरीर से बाहर विचरण कर पाता है।[४] यदि साधक संयमानुशीलन द्वारा चित्त के आवागमन की मार्गभूत नाड़ियों (प्रचार) का भी यथार्थज्ञान प्राप्त कर लेता है अर्थात् अमुक नाड़ी से चित्त इस प्रकार प्रविष्ट होता है और इस प्रकार निकलता है तो उसका बन्धनमुक्त चित्त स्वशरीर से निकलकर परशरीर में प्रविष्ट होने में समर्थ होता है।[५] चित्त के परशरीर में प्रविष्ट होने पर चित्तानुसरण-

---

[१] पुरुषसाक्षात्काररूपपुरुषैकाग्रताप्रत्यनीकतया तु भाष्यकारः प्रातिभादेरसम्प्रज्ञात-समाधावेवोपसर्गत्वं वक्ष्यति—यो० वा० पृ० ३५४।

[२] योगदर्शनम् बालरामोदासीनकृत टिप्पणी पृ० २४६।

[३] लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्माशयवशाद्बन्धः प्रतिष्ठेत्यर्थः—व्या० भा० पृ० ३५५।

[४] तस्माच्च बन्धकारणशैथिल्यान्न तेन प्रतिबध्यते—त० वै० पृ० ३५६।

[५] कर्मबन्धक्षयात् स्वचितस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति—व्या० भा० पृ० ३५६।

शील योगी की इन्द्रियाँ भी दूसरे के शरीर में अपना-अपना स्थान ग्रहण करती हैं।[१] यह विभूति परकायप्रवेश नाम से विख्यात है।

उदानवायुविषयक-संयमसाध्य विभूति—योगी जल, पङ्क एवं कण्टकादि के ऊपर उसी प्रकार चलता है, जिस प्रकार वह पृथ्वी पर चलता है। वह जल में डूबता नहीं, पङ्क में धँसता नहीं एवं कण्टकादि उसे चुभते नहीं। वह सर्वथा उनसे असङ्ग रहता है। संयमाभ्यास द्वारा उदानवायु को स्वायत्त करने पर उक्त सामर्थ्य उपलब्ध होता है। मृत्यु भी उदानजयी के वशंगत हो जाती है।[२] वह स्वेच्छापूर्वक देहत्याग कर अर्चिरादि मार्ग से ऊर्ध्वलोक में गमन करता है।[३] भीष्मपितामह को यह शक्ति प्राप्त थी। बाणों की मृत्युशय्या पर सुखपूर्वक विश्राम करते हुए उन्होंने स्वेच्छापूर्वक देहत्याग किया था।

प्राणादि पाँच वायु, उनका स्थान एवं व्यापार प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान नाम से पाँच वायु हैं। ये शरीर के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में रहकर अपना-अपना कार्य करते हैं।

नासिका के अग्रभाग से लेकर हृदयपर्यन्त प्राणवायु रहता है। यह मुख एवं नासिका से प्रवाहित होता है।[४] अन्न-भक्षणादि द्वारा शरीर को धारण करने से वह प्राण कहलाता है। हृदय से लेकर नाभिपर्यन्त समानवायु रहता है। भुक्त एवं पीत अन्न, रसादि का एकीकरण करके उन्हें समान रूप से उचित स्थानों पर पहुँचाता है इसलिए उसे समान कहते हैं।[५] नाभि से लेकर पादतलपर्यन्त अपानवायु रहता है। मलमूत्र, गर्भादि का अपनयन अर्थात् बहिःनिःसरण करने से यह अपान कहलाता है।[६] नासिका से लेकर सिरपर्यन्त उदानवायु रहता है। यह रस आदियों को ऊपर पहुँचाता है, इसलिए उसे उदान करते हैं।[७] शरीर में सर्वतः गमन करने वाले वायु को व्यान कहते हैं।[८] यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। इस प्रकार स्थान एवं क्रिया-भेद से एक ही वायु पाँच प्रकार का है।

सांख्ययोग और वेदान्त के प्राणादि में अन्तर—वेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया के अनुसार रजोगुणविशिष्ट पाँच भूत मिलकर प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान—इन पाँच वायु

---

[१] (क) इन्द्रियाणि च चित्तानुसारीणि परशरीरे यथाऽऽधिष्ठानं निविशन्त इति—त० वै० पृ० ३५६।
(ख) तु०—व्या० भा० पृ० ३५६।

[२] उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च—यो० सू० ३।३९।

[३] उत्क्रान्तिश्चार्चिरादिमार्गेण भवति प्रयाणकाले—त० वै० पृ० ३५८।

[४] प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः—व्या० भा० पृ० ३५७।

[५] समं नयनात्समानश्चानाभिवृत्तिः—व्या० भा० पृ० ३५७।

[६] अपनयनादपान आपादतलवृत्तिः—व्या० भा० पृ० ३५७।

[७] उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः—व्या० भा० पृ० ३५७।

[८] व्यापी व्यानः—व्या० भा० पृ० ३५८।

को उत्पन्न करते हैं[१]। ये प्राणादि करणों (इन्द्रियों) के व्यापार-विशेष नहीं, प्रत्युत स्वतन्त्र तत्त्व हैं। सांख्य-योगदर्शन के सृष्टि-प्रकरण में इनका स्थान नहीं है।[२] ये स्वतन्त्र तत्त्व नहीं; प्रत्युत करणों (इन्द्रियों) के क्रियाविशेष हैं। अतः उन्हीं के अन्तर्गत हैं। प्राण आदि वायु के उक्त विरोधी मान्यता के कारण वेदान्तियों ने सूक्ष्मशरीर के अन्दर पञ्च-प्राणों को रखा है[३]; और सांख्य-योगाचार्यों ने नहीं रखा है।[४]

प्राणादि वृत्तियाँ किनकी हैं ?—ऊपर सांख्य-योगदर्शन के अनुसार करणों की वृत्तियाँ बतलाई गईं। प्राणादि के अधिकरणभूत करण कितने हैं ?—इस सम्बन्ध में सांख्ययोग में एक मत नहीं है। सांख्यदर्शन के अनुसार अन्तःकरणत्रय—बुद्धि, अहंकार एवं मनस्—की प्राणादि वृत्तियाँ हैं।[५] योगदर्शन के अनुसार अन्तःकरण एवं बाह्यकरण दोनों अर्थात् करण-सामान्य की प्राणादि वृत्तियाँ हैं।[६]

प्राणादि वृत्तियों के करणमात्रत्व की सिद्धि—प्राणादि वृत्तियाँ करणमात्र की हैं—इस पक्ष पर विज्ञानभिक्षु एवं नागेश भट्ट ने विशेष प्रकाश डाला है। उनके वक्तव्य का आशय यह है—प्राणादि वृत्तियाँ अन्तःकरण की ही नहीं; प्रत्युत बाह्यकरण की भी हैं। क्योंकि चक्षुरादि बाह्यकरणों के उपचय एवं अपचय से प्राणों का उपचय एवं अपचय देखा जाता है।[७] यह कहना कि सुषुप्ति में चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों के उपरम होने पर भी प्राणव्यापार बराबर देखा जाता है; अतः प्राणादि बाह्य इन्द्रियों के नहीं; अपितु अन्तः-करणमात्र के सामान्य व्यापार हैं—युक्तियुक्त नहीं है। सुषुप्ति में चक्षुरादि इन्द्रियों के सामान्य एवं विशेष दोनों व्यापार उपरत नहीं होते हैं। उस समय उनका ज्ञानात्मक एवं कर्मात्मक विशेषव्यापार ही अवरुद्ध रहता है।[८] अतः प्राणादि को अन्तःकरण की भाँति बाह्यकरण की भी सामान्यवृत्ति मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है।

बालरामोदासीन की भ्रान्ति का निराकरण—प्रस्तुत सन्दर्भ में तत्त्ववैशारदी के टिप्पणी-कार बालरामोदासीन को आचार्य वाचस्पति मिश्र के मत के सम्बन्ध में भ्रान्ति हुई है।

---

[१] रजोगुणोपेतपञ्चभूतैरेव मिलितैः पंच वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाख्या जायन्ते —वे० प० पृ० ३१३।

[२] (क) विशेषाविशेषलिङ्गालिङ्गानि गुणपर्वाणि—यो० सू० २।१९।
(ख) प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥—सां० का० २२।

[३] पूर्वोक्तैरपंचीकृतैर्लिङ्गशरीरं···मनोबुद्धिभ्यामुपेतं ज्ञानेन्द्रियपञ्चककर्मेन्द्रियपञ्चक-प्राणादिपञ्चकसंयुक्तं जायते वे० प० पृ० ३१५।

[४] पूर्वोत्पन्नमसक्तं···भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥—सां० का० ४०।

[५] (क) स्वालक्षण्यं वृत्तिः··प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥—सां० का० २९।
(ख) प्राणादिरूपाः पञ्च··परिणामभेदा इत्यर्थः—सां० प्र० भा० पृ० १२९।

[६] अत्रेन्द्रियशब्देन स्थूलसूक्ष्मोभयपरतया करणमात्रग्रहणम्—यो० वा० पृ० ३५६।

[७] चक्षुराद्युपचयापचयाभ्यां प्राणानामुपचयापचयदर्शनात्—यो० वा० पृ० ३५७।

[८] (क) सुप्तेन्द्रियाणां ज्ञानकर्मलक्षणवृत्त्योरेव प्रतिषेधेन प्राणादिवृत्तेः सत्त्वेप्यक्षतेः —ना० बृ० वृ० पृ० ३४८। (ख) तु०—यो० वा० पृ० ३५७।

मिश्रकृत 'समस्तेन्द्रियवृत्तिजीवनम्'—इस पंक्ति पर लिखित उनकी टिप्पणी का अर्थ इस प्रकार है[१]—"यहाँ **'समस्तेन्द्रिय'** शब्द से अन्तःकरणत्रय ही गृहीत हैं। इससे वाह्येन्द्रियों का ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि सुषुप्ति में चक्षुरादि के व्यापारों का अभाव होने पर भी प्राणनादि व्यापार देखे जाते हैं। इसलिए **कपिलाचार्य** एवं **ईश्वरकृष्ण** के अन्तःकरण के प्रस्ताव में **'त्रयाणां स्वालक्षण्यम्'** से बुद्धि आदि अन्तःकरण की अध्यवसायादि असाधारण वृत्तियाँ कहकर **'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च'**—ऐसा कहा है। अतः **'समस्तेन्द्रिय'** शब्द से वाह्य एवं आभ्यन्तर उभय इन्द्रियों को कहने वाले **विज्ञानभिक्षु** का मत उचित नहीं है। **'सामान्यकरणवृत्तिरिति'**—इस सूत्र का व्याख्यान करते समय प्राणादि को अन्तःकरणत्रय की साधारणी वृत्ति **भिक्षु** कैसे मानते हैं, यह वही वतलाएँ।" **बालारामोदासीन** की इस टिप्पणी के अनुसार **वाचस्पति मिश्र** के मत में सांख्यदर्शन की भाँति योगदर्शन में भी प्राणादि अन्तः-करणत्रय की वृत्तियाँ हैं। और **विज्ञानभिक्षु** के अनुसार प्राणादि करणसामान्य (वाह्यआभ्यन्तर उभय) की वृत्तियाँ हैं।

वस्तुतः **मिश्र** एवं **भिक्षु** में मतभेद नहीं, प्रत्युत एकता है। **बालरामोदासीन** की उक्त टिप्पणी के अनुसार यदि **वाचस्पति** को योगदर्शन में प्राणादि व्यापार अन्तरिन्द्रियों का ही मान्य होता तो वे प्रस्तुतसन्दर्भीय व्याख्यान में इन्द्रियों (अन्तरिन्द्रियों) का वाह्य एवं आभ्यन्तर रूप से विभाग करके उनके वाह्य रूप को **'अध्यवसायादि लक्षणा'**—शब्दों से संकेतित करते। परन्तु उन्होंने ऐसी व्याख्या नहीं है। उन्होंने इन्द्रियों के वाह्य व्यापार को **'रूपाद्यालोचनलक्षणा'** शब्दों द्वारा वतलाया है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने 'इन्द्रिय' पद से वाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों इन्द्रियाँ लेकर उनका वाह्य व्यापार एवं आभ्यन्तर व्यापार के रूप से विभाजन किया है।[२] प्राण को वायुविशेष कहे जाने का हेतु उपन्यस्त करते हुए उन्होंने **'सर्वकरणसाधारणः'**—शब्दों का प्रयोग किया है।[३] इससे प्राणादि वायुविशेष सभी करणों के साधारण व्यापार सिद्ध होते हैं। अतः आचार्य **वाचस्पति** ने प्राणादि को करण-सामान्य का व्यापार (वृत्ति) स्वीकार किया है। **विज्ञानभिक्षु** ने भी इसी मान्यता को युक्तिपूर्वक परिपुष्ट किया है।[४]

प्राणादि वायु के संस्थानविशेष नहीं—ऊपर प्राणादि वृत्तियों को वायु कहा गया है। अतः वाह्य वायु के संस्थानविशेष ही प्राण हों ?—इस प्रकार की शंका होने पर आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** का वक्तव्य है कि प्राणादि को वायु का संस्थानविशेष नहीं माना जा सकता। क्योंकि **'प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुः'**—इत्यादि श्रुतिवाक्यों में वायु को प्राण का

---

१ **योगदर्शनम्, बालरामोदासीनकृत टिप्पणी, पृ० २४८।**

२ **समस्तेन्द्रियवृत्तिर्जीवनं प्राणादिलक्षणा, प्राणादयो लक्षणं यस्या सा तथोक्ता, द्वयीन्द्रियाणां वृत्तिर्बाह्याऽऽभ्यन्तरी च; बाह्या रूपाद्यालोचनलक्षणा, आभ्यन्तरी तु जीवनम्—त० वै० पृ० ३५६।**

३ **स हि प्रयत्नभेदः शरीरोपगृहीतमारुतक्रियाभेदहेतुः सर्वकरणसाधारणः—त० वै० पृ० ३५६।**

४ **अत्रेन्द्रियशब्देन स्थूलसूक्ष्मोभयपरतया करणमात्रग्रहणम्—यो० वा० पृ० ३५६।**

कार्य कहा गया है।[१] तथा 'न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्'[२]—इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार वायु एवं उसकी संचरणरूप क्रिया से प्राण पूर्णतया भिन्न है।[३] **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** ने लौकिक उदाहरण द्वारा भी उक्त सिद्धान्त को पुष्ट किया है। उनका कहना है यदि करण एवं प्राण भिन्न-भिन्न होते तो मृत्युकाल में शरीर से इन्द्रियों (करणों) का वियोग होने पर जैसे करणों से भिन्न मृतदेह दिखलाई पड़ता है, वैसे करणों से भिन्न प्राण भी दृष्टिगोचर होना चाहिए।[४] अतः वायु तथा प्राण भिन्न-भिन्न हैं। दूसरा हेतु यह है कि अन्तःकरण के शोकादि से ग्रस्त होने पर उसका प्रभाव प्राण पर भी परिलक्षित होता है। प्राण भी शोकादि के कारण कम्पित होने लगता है।[५] अन्तःकरण एवं प्राणादि का उपर्युक्त कार्यकारण भावसम्बन्ध तभी बन सकता है, जब प्राणादि वृत्तियों का अधिकरण अन्तःकरण हो। अन्यथा अन्तःकरणनिष्ठ शोकादि धर्म के द्वारा वायु-अधिकरणक प्राण का कम्पनादि परिणाम मानने पर वैयधिकरण्य-दोष उपस्थित होगा। यदि पूर्वपक्षी अदृष्ट के आधार पर वैयधिकरण्य की उपपत्ति करे तो अदृष्ट-कल्पना-दोष उपस्थित होगा; तथा लिङ्गशरीर का देहबन्ध जैसे कर्मवशात् होता है, वैसे वायु का देहबन्ध भी कर्मवशात् कहना होगा। इससे गौरवदोष उपस्थित होगा।[६] अतः प्राण आदि, वायु के संस्थानविशेष नहीं, प्रत्युत करणों के ही वायुतुल्य क्रियाविशेष हैं।

विज्ञानभिक्षु एवं **नागेश भट्ट** आदि व्याख्याकारों ने यह भी स्पष्ट किया है कि प्राणादि के लिए 'वायु' शब्द का प्रयोग गौण (लाक्षणिक) है। स्थूलशरीर के अन्दर ऊर्ध्व-अधः स्थानों में लिङ्गशरीर संचरण करता है। लिङ्गशरीर के सञ्चार (गतिविशेष) से वायु उत्पन्न होता है। इस वायु के साथ प्राणादि को अभिन्न समझकर (वायु और प्राण का भेदज्ञान न होने से) व्यक्ति प्राणों को ही वायु कहने लगता है। लोह में अग्नि के परिव्याप्त होने से व्यक्ति लोह एवं अग्नि को पृथक्-पृथक् न समझकर लोहपिण्ड को ही 'अग्नि' शब्द से

---

१ (क) 'प्राणाच्छूद्धां खं वायु'-रित्यादिश्रुतिषु वायोः प्राणकार्यत्वश्रवणात्—यो० वा० पृ० ३५७।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३४८।

२ ब्र० सू० २।४।९।

३ (क) 'न वायुक्रिये-पृथगुपदेशा' दिति ब्रह्मसूत्रे वायुतत्सञ्चाराभ्यामतिरेकस्य प्राणेऽवधारणाच्च—यो० वा० पृ० ३५७।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३४८।

४ यदि करणप्राणौ भिन्नौ स्यातां तदा करणवियोगेऽपि मृतदेहवत् कदाचित् प्राणा अपि तिष्ठेयुः—यो० वा० पृ० ३५७।

५ (क) किं चान्तःकरणस्य शोकादिना प्राणस्य कम्पादिर्दृश्यते—यो० वा० पृ० ३५७।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३४८।

६ अदृष्टकल्पनाऽऽपत्तेश्च, अपि च लिङ्गशरीरस्य देहशृङ्खलया बन्ध एव कर्मादीनां हेतुत्वं कल्प्यते न तु वायुबन्धनेऽपि गौरवात्—यो० वा० पृ० ३५७।

व्यवहृत करता है।[१] 'प्राणाद्या वायवः पञ्च'—इस सांख्यसूत्र में प्राणादि के लिए 'वायु' शब्द का प्रयोग गौण है।[२] अथवा वायुदेवता से अधिष्ठित होने के कारण प्राणादि 'वायु' नाम से व्यवहृत हुए हैं। चक्षुरिन्द्रिय का देवता सूर्य होने से चक्षुष्, सूर्य कहा जाता है।[३]

उदानवायु को ऊर्ध्वगामी कहा गया। अतः उदानवायुविषयक संयम के द्वारा उदान की ऊर्ध्वगामिनी शक्ति को वर्धित किया जाता है। फलतः शरीर भी ऊर्ध्वगमन के लिए सक्षम हो जाता है। ऊर्ध्वगमनकाल में शरीर का गुरुत्व क्षीण हो जाता है। अत्यन्त हल्का योगी जल, पङ्क, कण्टकादि के ऊपर से उसी प्रकार चलकर निकल जाता है; जिस प्रकार अत्यन्त हल्की लकड़ी का टुकड़ा पानी के ऊपर तैरता हुआ बिना डूबे नदी के उस पार पहुँच जाता है।

समानवायुविषयक-संयमसाध्य विभूति—व्यासदेव द्वारा प्रयुक्त **'ज्वलति'**[४]—पद के अनुसार समानवायुविषयक-संयमसाध्य विभूति का स्वरूप साधक के शरीर का प्रद्योतित होना है। क्योंकि **'ज्वलति'**—पद दीप्त्यर्थक अकर्मक धातु **'ज्वल दीप्तौ'**—से निष्पन्न है। **विज्ञानभिक्षु, भावागणेश** एवं **नागेश भट्ट** को छोड़कर अन्य व्याख्याकारों को विभूति का उक्त स्वरूप मान्य है। लेकिन **विज्ञानभिक्षु** आदि उक्त तीन आचार्यों ने उक्तसंयमसाध्य दीप्ति की शक्ति स्वशरीर को जला डालने तक मानी है। विभूति का यह स्वरूप रमणीय प्रतीत होता है।[५] क्योंकि धारणादि का अभ्यास बहिरंग-साधन-सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता है। ऐसे संयमित व्यक्ति का कान्तियुक्त होना स्वाभाविक है।

उक्त विभूति के लिए समानवायुविषयक साधना इसलिए विहित है कि समानवायु उदर में स्थित जठराग्नि को आवृत किए रहता है। फलतः रोमकूपों से जठराग्नि की आभा बहिर्निसृत नहीं हो पाती और व्यक्ति निस्तेज दिखलाई पड़ता है। यदि साधक समानवायु पर विजय प्राप्त कर लेता है तो वह जठराग्नि पर पड़े समानवायु के आवरण को हटा पाने में समर्थ होता है। फलस्वरूप शरीर पर अनावृत अग्नि का प्रतिबिम्ब पड़ने से योगी तेजस्वी दिखलाई पड़ता है।

जहाँ समत्व रहता है, वहीं सारी शक्तियाँ खिंची चली आती हैं। मर्यादित एवं समभावयुक्त जलनिधि पृथ्वी की जलराशि को नदी के द्वारा खींच लेता है। अथवा समदर्शी भगवान् सूर्य अपनी समभावापन्न किरणों के द्वारा इधर-उधर विकीर्ण असमभावापन्न रसों

---

१ लिङ्गशरीरस्योर्ध्वाधःसञ्चारादुत्पद्यमानेन वायुना सहाविवेकात्तु तप्तायःपिण्डवत्प्राणेषु वायुव्यवहारः—योऽ वा० पृ० ३५७।

२ अनेनैव व्यवहारेण सांख्येऽपि प्राणाद्या वायवः पञ्चेत्युक्तम्—यो० वा० पृ० ३५७।

३ (क) देवतयाऽभेदात्तु सूर्यश्चक्षुरिति वायुः प्राण इति व्यवहारः—ना० बृ० वृ० पृ० ३४८। (ख) तु०—यो० वा० पृ० ३५७।

४ व्या० भा० पृ० ३५८।

५ (क) उपध्मानम् उत्तेजनं कृत्वा ज्वलति सतीवत्स्वशरीरं दहतीत्यर्थः—यो० वा० पृ० ३५८। (ख) तु०—भा० ग० वृ० पृ० ७६।
(ग) तु०—ना० ल० वृ० पृ० ७६।

को खींच लेता है। वैसे ही देह में समत्व का आपादन करने वाला समानवायु बन्धन मुक्त होकर चारों दिशाओं में विकीर्ण तेजःशक्ति को खींचकर योगी के शरीर को तेजोमय बनाता है। शारीरिकी तेजःशक्ति ही जीवन-क्रिया की साम्यावस्था की हेतु है। यह शक्ति समानवायु के अधीन है। अतः संयमाभ्यास द्वारा समानवायु को स्वायत्त किया जाय तो तेजःशक्ति का बढ़ना स्वाभाविक है।

श्रोत्राकाशसम्बन्धविषयक-संयमसाध्य विभूति—संयम द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय एवं आकाश के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होने पर योगी को सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं दूरस्थ शब्दों के सुनने की शक्ति आयत्त होती है। उसकी श्रोत्रेन्द्रिय दिव्य हो जाती है।[1] **व्यासदेव, वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु नागेशभट्ट** आदि व्याख्याकारों ने संयम के विषय श्रोत्र, आकाश एवं उनके सम्बन्ध पर विस्तारपूर्वक विचार किया है।

इन्द्रियाँ आहंकारिक हैं, भौतिक नहीं—**व्यासदेव** आदि आचार्यों ने श्रोत्र एवं आकाश के मध्य आधार-आधेय-भाव सम्बन्ध स्वीकार किया है;[2] कार्यकारणभाव-सम्बन्ध नहीं। इनके मत में अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, भूतों से नहीं।[3] सांख्य के उद्भावक **कपिल** का भी यही सिद्धान्त है।[4] लेकिन सांख्य के कुछ सम्प्रदायों में इन्द्रियों को भौतिक माना गया है। इसकी सूचना युक्तिदीपिका एवं सुवर्णसप्तति शास्त्र की टीकाओं में आई कुछ प्राचीन पंक्तियों से मिलती है। उनके एतद्विषयक तर्क क्या थे, कहा नहीं जा सकता।[5] सांख्ययोग के परवर्ती आचार्यों द्वारा सांख्य के एकदेशियों की उक्त विचारधारा मान्यता प्राप्त नहीं कर सकी।

न्याय एवं वेदान्त[6] की भाँति सांख्य-योग में इन्द्रियों को भौतिक नहीं माना गया हैं। इन्द्रियों की उत्पति अहङ्कार से न मानकर यदि अप्रकाशक भूतों से मानी जाए तो आकाशादि की भाँति वे भी प्रकाश्य होनें लगेंगी, प्रकाशक नहीं। लेकिन प्रकाशात्मक होने से इन्द्रियों को प्रकाशक (सात्त्विक) अहंकार का ही कार्य मानना युक्तियुक्त है।[7] आचार्य

---

[1] श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्—योo सूo ३।४१।

[2] (क) संयमविषयं श्रोत्राकाशयोः संबन्धमाधाराधेयभावम्—तo वैo पृo ३५८।
(ख) आहङ्कारिकस्यापि श्रोत्रस्याकाशेनाधाराधेयभावोऽस्ति—मo प्रo पृo ६६।
(ग) तुo—भाo गo वृoपृo ७६। (घ) तुo—योo सुo पृo ७३।

[3] श्रोत्रं शब्दग्राहकमाहङ्कारिकमिन्द्रियम्—राo माo पृo ५४।

[4] न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वश्रुतेः—सांo सूo ५।८४।

[5] सांख्यदर्शन का इतिहास—पृo ३३५।

[6] एतैश्च सत्त्वगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैः पृथक् पृथक् क्रमेण श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि जायन्ते···एतैरेव रजोगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैर्यथाक्रमं वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि जायन्ते—वेo पo पृo ३१२-३१३।

[7] (क) इन्द्रियाणां प्रकाशात्मकतया प्रकाशात्मकान्तःकरणोपादानकत्वस्यैवौचित्यात्—योo वाo पृo ३५९।
(ख) इन्द्रियाणां प्रकाशात्मकतया प्रकाशात्मकान्तःकरणोपादानकत्वेन भतोपादानकत्वाभावात्—नाo बृo वृo पृo ३४९।

विज्ञानभिक्षु एवं **नागेशभट्ट** का कहना है कि इन्द्रियाँ भौतिक इसीलिए कही जाती हैं कि भूत उनका आधार है। जैसे अन्न के आश्रित होने से मनस् को अन्नमय कहा जाता है, वैसे ही भूत के आश्रित होने से इन्द्रियों को भौतिक कहा जाता है।[१] श्रुति-स्मृतियों में प्रतिपादित इन्द्रियों के भौतिकत्व का आशय यही है।

आहंकारिक होते हुए भी घ्राण, रसना, त्वक्, चक्षुष् एवं श्रोत्रेन्द्रिय के आयतन (आश्रय) पृथ्वी आदि भूत हैं। पञ्चभूतों को इन्द्रियों का आधार इसलिए कहा गया है कि आकाशादि भूतों के द्वारा श्रोत्रादि इन्द्रियों का उपकार एवं अपकार देखा जाता है।[२] श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द सुनने का कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है, जब आकाश उसका आधार बने। यदि आकाश श्रोत्रेन्द्रिय का आधार न बने तो निराश्रित श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को नहीं सुन पाती है।

आकाश की सिद्धि—श्रोत्रेन्द्रिय का आश्रय आकाश है। किन्तु चार्वाक आकाश का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता है। उसका वक्तव्य है कि कर्णशष्कुली श्रोत्रेन्द्रिय का आश्रय है; आकाश नहीं। इसके उत्तर में **विज्ञानभिक्षु, नागेशभट्ट** आदि का कहना है कि कर्ण-शष्कुली श्रवणेन्द्रिय का आधार नहीं बन सकती। क्योंकि भेरी-ताड़न से उत्पन्न शब्द को सुनने के लिए श्रवणेन्द्रिय विषयदेश तक जाती है। लेकिन कर्णशष्कुली वहाँ तक नहीं पहुँचती है।[३] अतः कर्णशष्कुली को श्रोत्रेन्द्रिय का आधार माना जाय तो कर्णशष्कुली के बिना श्रोत्रेन्द्रिय का विषयदेश तक गमन नहीं हो सकेगा। कर्णशुष्कली को श्रोत्रेन्द्रिय का आधार कथमपि मान भी लिया जाए तो कर्णशुष्कली[४] के चारों ओर दिखलाई पड़ने वाले प्रदेश (विवर) को अंगुली आदि से भली प्रकार पिहित करने पर भी शब्द सुनाई पड़ना चाहिए। लेकिन उक्त स्थिति में श्रोत्रेन्द्रिय अपने विषयभूत शब्द को ग्रहण नहीं कर पाती है। अतः कर्णशष्कुली

---

१ (क) आकाशाश्रिततयाऽऽकाशप्रतिष्ठत्वं यथाऽन्नाश्रिततया मनसोऽन्नमयत्वमिति, एतेनान्येषामपीन्द्रियाणां भौतिकत्वं श्रुतिस्मृत्युदितं व्याख्यातम्—यो० वा० पृ० ३५९।

(ख) तत्तद्भूतसंसृष्टतयोत्पत्तेस्तु परेषां भौतिकत्वव्यवहारः—ना० बृ० वृ० पृ० ३४९।

२ सर्वश्रोत्राणां···कर्णशष्कुलीविवरं प्रतिष्ठा तदायतनं श्रोत्रम्, तदुपकारापकाराभ्यां श्रोत्रस्योपकारापकारदर्शनात्। शब्दानां च श्रोत्रसहकारिणाम् पार्थिवादि-शब्दग्रहणे कर्त्तव्ये कर्णशष्कुलीसुषिरवर्त्तिश्रोत्रं स्वाश्रयनभोगतासाधारणशब्दमपेक्षते, गन्धादिगुणसहकारिभिर्घ्राणादिभिर्बाह्ये पृथिव्यादिवर्त्तिगन्धाद्यालोचने कार्यं दृष्टम्; आहङ्कारिकमपि घ्राणरसनत्वक्चक्षुःश्रोत्रं भूताधिष्ठानमेव भूतोपकारापकाराभ्यां घ्राणादीनामुपकारापकारदर्शनात्—त० वै० पृ० ३५८-३५९।

३ (क) कर्णशष्कुली च न तस्याधारो लोकान्तरगमनादिकाले कर्णशष्कुल्यभावात्—यो० वा० पृ० ३५९-३६०। (ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३४९।

४ (क) कर्णविवरपिधानेऽपि शब्दश्रवणप्रसङ्गाच्च—यो० वा० पृ० ३६०।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३४९।

को श्रोत्रेन्द्रिय का आधार नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्षी अपने मन्तव्य कोस्पष्ट करता है कि कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न प्रदेश के अंगुली आदि से आवृत रहने के कारण शब्द श्रोत्रेन्द्रिय तक नहीं पहुँच पाता है, फलस्वरूप श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को नहीं सुन पाती है। अतः कर्णशष्कुली को श्रोत्रेन्द्रिय का आधार मानने पर लोकव्यवहार अनुपपन्न नहीं होता है। इसके उत्तर में आचार्य **विज्ञानभिक्षु** का वक्तव्य है कि पूर्वपक्षी ने कर्णछिद्रस्थ द्रव्य को श्रोत्रेन्द्रिय तक शब्द के पहुँचने का अवरोधक माना है, यह उचित नहीं है। जिस प्रकार शब्द के दूसरी तरफ पहुँचने में भित्ति आदि प्रतिबन्धक नहीं होते हैं, उसी प्रकार कर्णछिद्रस्थ द्रव्य भी शब्द को श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचने में बाधा उपस्थित नहीं करता है।[१] अतः कर्णविवर के पिहित रहने पर भी शब्द सुनाई पड़ना चाहिए; लेकिन सुनाई नहीं पड़ता है। सुतरां कर्णशष्कुली श्रोत्रेन्द्रिय का आधार नहीं है।

आकाश का असमर्थक (पूर्वपक्षी) अभाव (शून्य) को ही श्रोत्रेन्द्रिय का आधार कहता है। यह भी उचित नहीं है। भावपदार्थ का आश्रय अभावपदार्थ नहीं हो सकता है। अभाव स्वयं भावपदार्थ के आश्रित रहता है। दूसरी बात यह है कि सांख्य-योगशास्त्र में अभाव पदार्थ स्वीकार नहीं किया गया है।[२] अतः भावात्मक आकाश ही श्रोत्रेन्द्रिय का अधिकरण है।

कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न पुरुष भी श्रोत्रेन्द्रिय का आधार नहीं हो सकता है। कर्ण-शष्कुली से आच्छादित प्रदेश को हाथ आदि से ढक लेने पर भी कर्णशष्कुल्यवच्छेदेन चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। हस्त आदि द्वारा कर्णविवर को आवृत करने पर भी पुरुष अनावृत रहता है। अनावृत-कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न पुरुष के आश्रित रहने वाली श्रोत्रेन्द्रिय के साथ शब्द का संयोग होने में बाधा उपस्थित नहीं होती है। अतः कर्णविवर के पिधानकाल में शब्द सुनाई पड़ना चाहिए। अतः कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न पुरुष श्रोत्रेन्द्रिय का आधार नहीं है।[३]

ऐसा द्रव्य ही श्रोत्रेन्द्रिय का आधार बन सकता है, जिसका पिधान भी हो सके। इस प्रकार का द्रव्य कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश है। आकाशात्मक विवर के पिहित रहने के कारण श्रोत्रेन्द्रिय के साथ शब्द का संयोग नहीं हो पाता है। फलस्वरूप श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को विषय नहीं कर पाती है। विवर के अपिहित रहने पर वह शब्द को ग्रहण कर पाती है। अतः आकाश के उपकार तथा अपकार से श्रोत्रेन्द्रिय का उपकार एवं अपकार होता है। इस

---

[१] न च विवरपिधाने सति शब्दा एव श्रोत्रे न गच्छन्तीति वाच्यम् भित्त्यादिवत् कर्ण-छिद्रस्थद्रव्याणामपि शब्दागमनाप्रतिबन्धकत्वात्—यो० वा० पृ० ३६०।

[२] (क) नापि शून्यमाधारोऽभावानभ्युपगमात्। अभावस्य भावाधारत्वासंभवाच्च —यो० वा० पृ० ३६०।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३४९।

[३] (क) नापि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नः पुरुषादिराधारः, विवरपिधानेऽपि तदवच्छेदेन चैतन्याद्यभिव्यक्तया पुरुषादेरनावृततया शब्दग्रहणप्रसङ्गात्—यो० वा० पृ० ३०७।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३४९।

प्रकार उक्त परिशेषानुमान से श्रोत्रेन्द्रिय एवं शब्द के आश्रयरूप से आकाश की सत्ता अनुमित होती है।[१]

शब्द का कारण आकाश—श्रोत्रेन्द्रिय के आश्रयरूप से जैसे आकाश तत्त्व सिद्ध होता है, वैसे ही शब्द के आधार रूप से भी आकाश की सिद्धि होती है। शब्दोत्पत्ति के प्रति आकाश कारण है।[२] यदि पूर्वपक्षी कहे कि वायु को ही शब्द का आश्रय मान लिया जाय, तो यह उचित नहीं है। अन्यथा छड़ी आदि द्रव्यान्तर से पूरित वेणु आदि के साथ वायु का संयोग होने पर शब्दोत्पत्ति की स्थिति आयगी।[३] अतः मानना होगा कि वायु शब्द का कारण नहीं है; अपितु आकाश शब्द का कारण है। द्रव्यान्तरपूरित वेणु के साथ वायु का संयोग रहने पर भी शब्दोत्पत्ति न होने का कारण है—आकाश का अभाव। पूर्वपक्षी पुनः अपने मत को प्रस्तावित करता है कि केवल वायु शब्दोत्पत्ति का कारण नहीं है, अपितु छिद्र के साथ वायु का संयोग रहने पर शब्द उत्पन्न होता है। द्रव्यान्तरपूरित वेणु के स्थल में शब्दोत्पत्ति की कारणता न बन पाने से (छड़ी आदि से आवृत छिद्रपर्यन्त वायु का प्रवेश न हो पाने से) शब्द उत्पन्न नहीं होता है। आकाश का अभाव रहने के कारण शब्दोत्पत्ति नहीं होती है—ऐसा नहीं है।[४] इसके उत्तर में **विज्ञानभिक्षु एवं नागेशभट्ट** का कहना है—यदि पूर्वपक्षी का उपर्युक्त प्रस्ताव मान भी लिया जाए तो उससे आकाश ही अन्ततोगत्वा सिद्ध होता है। छिद्र के साथ वायु का संयोगसम्बन्ध तभी बन सकता है जब छिद्र को द्रव्य माना जाए।[५] क्योंकि संयोग के लिए दो द्रव्य आवश्यक रहते हैं। छिद्र को द्रव्य मानने का अर्थ है—आकाश को स्वीकार करना। क्योंकि छिद्र आकाशात्मक है। अतः शब्द के प्रति आकाश कारण है।

आकाश का स्वरूप—आकाश का अर्थ है—अवकाश अर्थात् अनावरण (अमूर्त)।[६] आकाश विभु है। मूर्त[७] का अर्थ परिच्छिन्न होता है और अनावरण समानदेशत्व को कहते

---

१ (क) तस्मात् पिधानयोग्यमेकं द्रव्यं श्रोत्राधारतयाऽपेक्षितम्। तच्च परिशेषात् कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभ एव श्रोत्रगोलकतया सिद्ध्यतीति भावः। शब्दाधारतायामप्येवं परिशेषः कर्त्तव्यः—यो० वा० पृ० ३६०।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३४९।

२ अवकाशस्य शब्दकारणत्वं तावत् सर्वसिद्धम्—यो० वा० पृ० ३६०।

३ नापि वायुः, द्रव्यान्तरपूरितेऽपि वेण्वादौ वायुसंयोगेन शब्दप्रसंगात्—यो० वा० पृ० ३६०।

४ न च छिद्रवायुसंयोगोऽपि शब्दकारणम्—यो० वा० पृ० ३६०।

५ (क) तथा सति संयोगाधारतया छिद्रस्य द्रव्यत्वसिद्धौ तस्यैव शब्दाश्रयत्वं युक्तम्, शब्दोत्पत्ताववकाशस्यैवाधिक्येनोपयोगदर्शनात्—यो० वा० पृ० ३६०।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३४९।

६ अनावरणं चाकाशलिङ्गम्—त० वै० पृ० ३६०।

७ मूर्त्तत्वं परिच्छिन्नत्वम्। अनावरणमनावृतत्वम्, असमानदेशत्वमिति यावत्। तथा चान्यत्र पृथिवीजलादिस्थले मूर्त्तस्य परिच्छिन्नस्य मूर्त्तान्तरासमानदेशत्वदर्शनात् घटादिसमानदेशकस्याकाशस्य विभुत्वं सिद्ध्यति—यो० वा० पृ० ३६०।

हैं। एक स्थल में दो मूर्त पदार्थ नहीं रह सकते, किन्तु दो मूर्त्त पदार्थों के समानदेश में आकाश रह सकता है। अतः आकाश विभु है।

शङ्का उत्पन्न होती है—यदि आकाश विभु है तो आकाश शब्दतन्मात्र का कार्य नहीं हो सकेगा। नियम है—कार्य विभु नहीं होता है। आकाश को विभु मानने पर व्यासभाष्य में कथित आकाश का परमाणुत्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसके उत्तर में आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेशभट्ट** का कहना है—अन्तःकरण एवं न्याय-वैशेषिकों के पृथ्वी आदि द्रव्यों के समान आकाश कार्य-कारण रूप से दो प्रकार का है।[1] उनमें से कारणाकाश तमोगुणप्रधान है। कारणाकाश में आकाश के अभिव्यञ्जक शब्दादि विशेषगुण का अभाव रहता है। उदाहरणस्वरूप कारणरूप अणु पृथ्वी में गन्धादि विशेषगुण का अभाव रहता है। यही कारणाकाश विभु कहा गया है। कारणाकाश सत्त्व तथा रजस् रूप गुणान्तर से सम्बद्ध होकर सर्वप्रथम अंशतः शब्दोत्पत्ति के सामर्थ्य से परिणत होता है। तदनन्तर महाभताकाश (स्थूल आकाश) उत्पन्न होता है। जिस प्रकार पार्थिव अणुओं के संस्थानविशेष से स्थूल पृथ्वी उत्पन्न होती है। महाभूताकाश अहंकार की अपेक्षा परिच्छिन्न है; क्योंकि यह वायु से आवृत है।[2] इस प्रकार अवस्थाभेद से आकाश विभु एवं परिच्छिन्न दोनों हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय की सिद्धि—क्रिया करणसाध्य देखी जाती है। छेदन-क्रिया कुठारादि करण से सिद्ध होती है। शब्द-साक्षात्कार क्रियारूप होने से किसी न किसी करण से निष्पन्न होता है। इसका करण है—श्रोत्रेन्द्रिय।[3] शब्द-साक्षात्काररूप ज्ञानात्मिका क्रिया का करण श्रोत्रेन्द्रिय है; चक्षुरादि नहीं। यह अन्वय-व्यतिरेक से इस प्रकार सिद्ध है—बधिर एवं अबधिर पुरुषों में से प्रथम व्यक्ति शब्द नहीं सुन पाता है और दूसरा शब्द सुन पाता है।[4]

श्रोत्र एवं आकाशविषयक संयम का फल श्रोत्र का दिव्य होना है। इसी प्रकार त्वक् एवं वायु, चक्षुष् एवं तेजस्, रसना एवं जल, घ्राण एवं पृथ्वी के आधाराधयभाव सम्बन्ध में संयम करने से त्वगादि इन्द्रियाँ दिव्यता प्राप्त करती हैं।[5]

---

[1] (क) आकाशं ह्यन्तःकरणवद् वैशेषिकाणां पृथिव्यादिवत् कार्यकारणरूपेण द्विविधम्—यो० वा० पृ० ३६१।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५०।

[2] (क) तत्र कारणाकाशं तमोगुणविशेषतयैव········वायोरावरणमुपपद्यत इति —यो० वा० पृ० ३६१।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५०।

[3] क्रिया हि करणसाध्या दृष्टा। यथा छिद्रादिर्वास्यादिसाध्या, तदिह शब्दग्रहण-क्रिययाऽपि करणसाध्यया भवितव्यम्। यच्च करणं तच्च श्रोत्रमिति—त० वै० पृ० ३६१।

[4] बधिराबधिरयोरेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति, तस्माच्छ्रोत्रमेव शब्दविषयम् —व्या० भा० पृ० ३६१।

[5] (क) त्वग्वातयोश्चक्षुस्तेजसो रसनोदकयोर्नासिकापृथिव्योः सम्बन्धसंयमात् दिव्यत्वगाद्यप्यूहनीयम्—त० वै० पृ० ३६१
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ३६१।

पुरुषप्रत्ययविषयक संयम से भी इन्द्रियों को उक्त प्रकार का सामर्थ्य प्राप्त होता है—ऐसा कहा जा चुका है। लेकिन जो साधक अधिक कष्टसाध्य पुरुषप्रत्ययविषयक संयम करने में समर्थ नहीं है, उसके लिए **पतञ्जलि** ने शब्दादि विषयों के अधिकरण आकाशादि एवं शब्दादि ज्ञान के साधन (करण) श्रोत्रादि के पारस्परिक सम्बन्ध पर संयम करना बतलाया है। एक विभूति के लिए दो प्रकार के साधन बतलाने का यही स्वारस्य है। उक्त संयम के माहात्म्य से आकाश की सूक्ष्मातिसूक्ष्म सीमा के साथ श्रोत्रेन्द्रिय का साक्षात् सम्बन्ध होता है। इससे योगी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा दूरवर्ती दिव्य शब्दों को सुनने में समर्थ होता है। महाभारत के एक उपाख्यान के अनुसार संजयकुमार को उक्तसिद्धि प्राप्त थी। उसने कुरुक्षेत्र के निवासियों के मध्य हुई मन्त्रणा हस्तिनापुर से सुनकर धृतराष्ट्र को सुनाई थी।[1]

कायाकाशसम्बन्धविषयक अथवा तूलादिक लघु-पदार्थविषय-संयमसाध्य विभूति— **पतञ्जलि** ने आकाशगमन के दो साधन बतलाए हैं[2]—कायाकाशविषयक संयम तथा लघु-तूलविषयक संयम। **विज्ञानभिक्षु** आदि व्याख्याकारों ने **कायाकाशयोः**.........सूत्र में आए 'चकार' पद को समुच्चयार्थक न मानकर विकल्पार्थक माना है।[3] काय एवं आकाश में व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध है।[4] जहाँ शरीर अथवा कोई मूर्त्त द्रव्य रहता है वहाँ आकाश अवश्य उपलब्ध होता है। शरीर (मूर्त द्रव्य) खाली स्थान में ही रह सकता है और अवकाश देना आकाश का काम है। जहाँ आकाश नहीं है; वहाँ मूर्त द्रव्य भी नहीं है। यदि साधक संयम द्वारा काय एवं आकाश के उक्त व्याप्यव्यापक-भाव सम्बन्ध पर विजय प्राप्त करता है, तो हल्का शरीर वाला हुआ वह आकाश में उड़ान भरने में समर्थ होता है। हल्की वस्तु की ऊर्ध्वगति होती है।

उक्त संयम के माहात्म्य से साधक जलादि में पृथ्वी के समान चलने में समर्थ होता है। तदनन्तर वह मकड़ी के जाले में विहार करने में समर्थ होता है। तदनन्तर वह सूर्य-किरणों में स्वच्छन्द रूप से विहार कर पाता है। सबसे अन्त में वह निराधार आकाश में विचरण करने में समर्थ होता है।[5] इस प्रकार योगज शक्ति से योगी आकाश में विचरण करता हुआ एक स्थान से दूसरे स्थान में आता-जाता रहता है।

---

[1] तेन हस्तिनापुरे स्थितेन संजयेन व्यासदत्तदिव्यश्रोत्रेण कुरुक्षेत्रनिवासिनां मन्त्रणादिकं श्रुत्वा धृतराष्ट्राय कथितमिति सङ्गच्छते—पा० र० पृ० ३५८।

[2] कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्—यो० सू० ३।४२।

[3] (क) चकारोऽत्र विकल्पार्थकः—यो० वा० पृ० ३६१।
(ख) कायाकाशसम्बन्धसंयमाद्वा लघुनि वा तूलादौ कृतसंयमात्—त० वै० पृ० ३६१। (ग) चात्र वार्थे—ना० बृ० वृ० पृ० ३५०।

[4] (क) यत्रासनादौ शरीरं तिष्ठति तत्र शरीरावच्छेदेनाप्याकाशं तिष्ठति, तत्र हेतुः तस्याकाशस्यावकाशदातृत्वादिति। अतः कायस्याकाशेन संबन्धः प्राप्तिरूपो व्यापनम् – यो० वा० पृ० ३६१-३६२।
(ख) तयोः सम्बन्धः व्याप्यव्यापकभावः—यो० सि० चं० पृ० १३५।

[5] लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति। ततस्तूर्णनाभितन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति। ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति—व्या० भा० पृ० ३६२।

महाविदेहाख्यवृत्तिविषयक-संयमसाध्य विभूति—प्रकाशरूप बुद्धि को आच्छादित करने वाले अविद्यादि क्लेश, कर्म एवं विपाक के अपनोदनार्थ **पतञ्जलि** ने महाविदेहा वृत्ति को संयम द्वारा सिद्ध करने का उपदेश दिया है।[1]

धारणा का **पतञ्जलि** सम्मत लक्षण है—**'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'**। देश आन्तर अथवा बाह्य होता है। 'बन्ध' तादृशदेशविषयक चित्त की वृत्ति है। बाह्य देशविषयक वृत्तिविशेषात्मक धारणा दो प्रकार की है—विदेहा या कल्पिता तथा महाविदेहा या अकल्पिता। आचार्य **व्यासदेव** ने इन दोनों प्रकार की धारणाओं का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—जब मनस् वृत्तिमात्र से बाह्य-देश को प्राप्त करता है, तब यह धारणा विदेहा अथवा कल्पिता कहलाती है। किन्तु जब चित्त भी वृत्ति के साथ शरीर से बाहर आकर बाह्य-विषय को ग्रहण करता है तब उस धारणा का नाम है—महाविदेहा अथवा अकल्पिता।[2]

आचार्य **रामानन्दयति** उक्त दोनों धारणाओं का निर्वचन इस प्रकार करते हैं—जब देह में अहंभाव तथा 'मेरा चित्त बाहर जाय' इत्याकारिका कल्पना—इन दोनों के आधार पर मनस् का बाह्यविषयक वृत्तिविशेष होता है, तब उसे कल्पिता विदेहा कहते हैं। धारणा की पराकाष्ठा में देहविषयक अहंभाव दूर होने पर जब चित्त वस्तुतः शरीर से बाहर निकल कर बाह्यविषय को ग्रहण करता है, तब उसे अकल्पिता महाविदेहा कहते हैं।[3]

आचार्य **व्यासदेव** तथा **रामानन्दयति** का उपरिनिर्दिष्ट दृष्टिकोण एक ही है। आचार्य **रामानन्दयति** ने **व्यासदेव** के उक्त सिद्धान्त पर सूक्ष्म चिन्तन की अवतरणा की है। **रामानन्दयति** का अभिप्राय इस प्रकार है—विदेहा तथा महाविदेहा दोनों में चित्त को देह से बाहर ले जाना ही है। इसी के आधार पर विदेहा नाम पर सार्थक्य आता है। इन दोनों में भेद इतना ही है कि विदेहा में चित्त वस्तुतः देह में ही रहता है लेकिन साधक कल्पना करता है कि उसका चित्त देह से बाहर चला गया। इसीलिए विदेहा कल्पिता है। महाविदेहा में चित्त वस्तुतः देह से बाहर चला ही जाता है। यह अवस्था विदेहा की पराकाष्ठा है और इसी में विदेहा का महत्त्व निहित होने से इस स्थिति का नाम अकल्पिता महाविदेहा है।

पतञ्जलि ने संयमसाध्य महाविदेहा धारणा का फल प्रकाशावरणक्षय बतलाया है। योगसूत्र के व्याख्याकारों ने महाविदेहवृत्तिसिद्ध साधक में परशरीरावेश का सामर्थ्य भी माना है।[4]

---

[1] **बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा; ततः प्रकाशावरणक्षयः—यो० सू० ३।४३।**

[2] **शरीराद्बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा। सा यदि शरीरप्रतिष्ठस्य मनसो बहिर्वृत्तिमात्रेण भवति सा कल्पितेत्युच्यते। या तु शरीरनिरपेक्षा बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्वृत्तिः सा खल्वकल्पिता—व्या० भा० पृ० ३६२।**

[3] **देहेऽहंभावे सत्येव मे मनो बहिरस्त्विति कल्पनया मनसो देहाद् बहिर्वृत्तिलाभो भवति, सा कल्पिता विदेहाऽऽख्या धारणा। तया देहेऽहंभावत्यागे सति स्वत एव बहिर्वृत्तिलाभो भवति सेयमकल्पिता महाविदेहाऽऽख्या धारणा—म० प्र० पृ० ६७।**

[4] **यया परशरीराण्याविशन्ति योगिनः—व्या० भा० पृ० ३६३।**

भूतों की स्थूलादिपञ्च अवस्थाविषयक संयमसाध्य विभूति—सांख्य-योगशास्त्रानुमोदित सृष्टिक्रम का अन्तिम तत्त्व भूत है। भूत पाँच हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी। प्रत्येक भूत की पाँच अवस्थाएँ हैं—स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय एवं अर्थवत्त्व। उक्त अवस्थाएँ भूतों के स्वरूप, कारण एवं प्रयोजन से सम्बन्धित हैं। यदि साधक को संयम द्वारा भूतों की ये पाँचों अवस्थाएँ साक्षात्कृत हो जाती हैं तो वह अवश्य भूतजयी हो जाता है।[1]

भूतों की स्थूल अवस्था—पृथ्व्यादि भूतों में शब्दादि विशेष गुण एवं आकारादि धर्म उपलब्ध होते हैं। ये ही यहाँ 'स्थूल' शब्द से परिभाषित हैं।[2]

पृथ्वी की स्थूल अवस्था—पृथ्वीभूत की उत्पत्ति शब्द, स्पर्श, रूप एवं रसतन्मात्र से विशिष्ट गन्धतन्मात्र से होती है। अतः पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध संज्ञक पाँचों विशेष गुण निहित हैं।[3] शब्द के षड्ज, गान्धार आदि, स्पर्श के शीत, उष्णादि, रूप के नील, पीतादि, रस के कषाय, मधुरादि तथा गन्ध के सुरभि, असुरभि आदि विशेष रूप हैं। भूतों के शब्दादि इसलिए विशेष-गुण कहे जाते हैं कि नाम, रूप एवं प्रयोजन की दृष्टि से वे परस्पर भिन्न-भिन्न हैं।[4] पृथ्वी में ग्यारह धर्म हैं[5]—आकार, गुरुता, रुक्षता, आवरण, स्थिरता, सर्वभूताधारता, विदारण, सहनशीलता, कृशता, कठिनता एवं सर्वभोग्यता।

जल की स्थूल अवस्था—जल महाभूत पृथ्वी से पूर्व उत्पन्न होता है। अतः पृथ्वी के गन्ध-संज्ञक विशेष गुण को छोड़कर जल में शेष चार—शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस—विशेष-गुण निहित हैं। जल में दस धर्म हैं[6]—स्नेह, सूक्ष्मता, प्रभा, शुक्लता, मृदुता, गौरव, शीतता, रक्षा, पवित्रता तथा सम्मेलन।

---

[1] स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः—यो० सू० ३।४४।

[2] (क) त एत ईदृशा विशेषाः सहाकारादिभिः धर्मैः स्थूलशब्देन परिभाषिताः—त० वै० पृ० ३६३-६४।

(ख) सामान्यविशेषसमूहरूपाणां पृथिव्यादिपञ्चभूतानाम् एकदेशाः शब्दादयो विशेषाः धर्मधर्म्यभेदाः तद्वन्तः पदार्थाः वक्ष्यमाणैराकारादिधर्मैः सह स्थूल-शब्देन शास्त्रे परिभाषिताः—यो० वा० पृ० ३६३-६४।

(ग) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५१।

[3] एतेषां पञ्च पृथिव्याम्—त० वै० पृ० ३६३।

[4] (क) एते हि नामरूपप्रयोजनैः परस्परतो भिद्यन्त इति विशेषाः—त० वै० पृ० ३६३।

(ख) एते हि नामकर्मभिरवान्तरं विभज्यन्त इति विशेषाः—यो० वा० पृ० ३६३।

(ग) एते हि……परस्परस्माद्भिद्यन्त इति विशेषाः—ना० बृ० वृ० पृ० ३५१।

[5] आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च।
वृत्तिर्भेदः क्षमा कार्श्यं काठिन्यं सर्वभोग्यता॥—त० वै० पृ० ३६४; यो० वा० पृ० ३६४; ना० बृ० वृ० पृ० ३५१।

[6] स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत्।
शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं सन्धानं चौदका गुणाः॥—त० वै० पृ० ३६४; यो० वा० पृ० ३६४; ना० बृ० वृ० पृ० ३५१।

अग्नि की स्थूल अवस्था—अग्नि महाभूत जल एवं पृथ्वी महाभूत से पूर्व उत्पन्न होता है। अतः इसमें शब्द, स्पर्श एवं रूप संज्ञक तीन विशेष-गुण निहित हैं।[१] अग्नि में आठ धर्म हैं[२]—ऊर्ध्वगमन, पाचकता, दाहकता, पावकता, लघुता, प्रकाशता, प्रध्वंसता तथा ओजस्विता।

वायु की स्थूल अवस्था—वायु महाभूत द्वितीय नम्बर पर शब्दतन्मात्रविशिष्ट स्पर्शतन्मात्र से उत्पन्न होता है। अतः इसमें शब्द एवं स्पर्श दो विशेष-गुण निहित हैं।[३] वायु में आठ धर्म हैं[४]—तिर्यग्गमन, पवित्रता, आक्षेप, कम्पन, सामर्थ्य, चञ्चलता, आच्छादनाभाव एवं रूक्षता।

आकाश की स्थूल अवस्था—भूतों के उत्पत्ति-क्रम में आकाश का स्थान सर्वप्रथम है। अतः शब्दतन्मात्र के परिणामभूत आकाश में केवल शब्द विशेष-गुण है।[५] इसमें तीन धर्म हैं[६]—सर्वत्रगति, अव्यह (विश्लेषण) तथा अवकाशदान।

भूतों की द्वितीय अवस्था—सूत्र में भूतों की द्वितीय अवस्था 'स्वरूप' शब्द से कही गई है। व्यासदेव ने भूतों की द्वितीय अवस्था का लक्षण एवं स्वरूप बतलाते हुए कहा है—**द्वितीयं रूपं स्वसामान्यम्। मूर्त्तिर्भूमिः, स्नेहो जलम्, वह्निरुष्णता, वायु प्रणामी, सर्वतोगति-राकाश इत्येतत्स्वरूपशब्देनोच्यते। अस्य सामान्यस्य शब्दादयो विशेषाः'।** व्यासभाष्य के व्याख्याकार वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु आदि एवं उनके मत से प्रभावित अन्य वृत्तिकारों में भूतों के द्वितीय रूप के सम्बन्ध में मतभेद है। मतभेद की मुख्यतः दो दिशाएँ हैं—

प्रथममत—आचार्य वाचस्पति मिश्र, रामानन्दयति तथा सदाशिवेन्द्रसरस्वती आदि के मत में पृथ्वी का स्वरूप सांसिद्धिक काठिन्य, जल का स्वरूप स्नेह (तरलता), वह्नि का स्वरूप उष्णता, वायु का स्वरूप वहनशीलता एवं आकाश का स्वरूप सर्वत्रविद्यमानता है।[७]

---

[१] गन्धरसवर्जं त्रयस्तेजसि—त० वै० पृ० ३६३।

[२] ऊर्ध्वभाक् पाचकं दग्धृ पावकं लघु भास्वरम्।
प्रध्वंस्योजस्वि वै तेजः पूर्वेभ्यो भिन्नलक्षणम्॥—त० वै० पृ० ३६४; यो० वा० पृ० ३६४; ना० बृ० वृ० पृ० ३५१।

[३] गन्धरसरूपवर्जं द्वौ नभसि—त० वै० पृ० ३६३।

[४] तिर्यग्यानं पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम्।
चलमच्छायता रौक्ष्यं वायोर्धर्माः पृथग्विधाः॥—त० वै० पृ० ३६४; यो० वा० पृ० ३६४; ना० बृ० वृ० पृ० ३५१।

[५] शब्द एवाकाशे—त० वै० पृ० ३६३।

[६] सर्वतो गतिरव्यूहोऽविष्टम्भश्चेति ते त्रयः।
आकाशधर्मा व्याख्याताः पूर्वपूर्वविलक्षणाः॥—त० वै० पृ० ३६४; यो० वा० पृ० ३६४; ना० बृ० वृ० पृ० ३५१।

[७] (क) गतिराकाश इत्येतत्स्वरूपशब्देनोच्यते—व्या० भा० पृ० ३६५।
(ख) तु०—त० वै० पृ० ३६५।
(ग) अथ द्वितीयं तेषां स्वरूपं क्रमेण काठिन्यस्नेहौष्ण्यप्रेरणसर्वगतत्वलक्षणम्—म० प्र० पृ० ६७। (घ) तु०—यो० सु० पृ० ७४।

द्वितीयमत—आचार्य विज्ञानभिक्षु, भावागणेश, नागेशभट्ट तथा बलदेव मिश्र का कहना है कि पृथ्वी आदि तत्-तत् भूतों में जो पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व एवं आकाशत्व जाति विद्यमान है, यही भूतों का द्वितीय रूप है।[१] पृथ्वी के सांसिद्धिक-काठिन्यात्मक मूर्ति से पृथ्वीत्व, जल के स्नेह से जलत्व, वह्नि के औष्ण्य से वह्नित्व, वायु के वहनशीलत्व रूप प्रणामित्व से वायुत्व तथा आकाश के विभु धर्म से आकाशत्व जाति की अभिव्यक्ति होती है। अतः पृथ्वीत्व आदि अभिव्यङ्ग्य के मूर्ति आदि अभिव्यञ्जक हैं।[२]

मूल्यांकन—प्रथम पक्ष व्यासभाष्यानुसारी है। प्रथम हेतु यह है कि पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु में पृथ्वीत्व आदि जातियाँ हैं, किन्तु आकाश में आकाशत्व जाति नहीं है। आकाश एक एवं विभु है। जाति अनेक पदार्थों में रहने वाला धर्म है। **विज्ञानभिक्षु** आदि ने घट, मठ आदि उपाधि भेद से आकाश में आकाशत्व जाति मानी है। द्वितीय हेतु यह है कि **व्यासदेव** ने 'मूर्त्ति' आदि शब्दों के द्वारा भूतों का द्वितीय सामान्य रूप बतलाने के पश्चात् उनके विशेष-रूप को शब्दादि के द्वारा संकेतित किया है। **विज्ञानभिक्षु** आदि के वक्तव्य के अनुसार यदि **व्यासदेव** को भूतों का सामान्य-रूप जाति अभिप्रेत होता तो वे पृथ्वीत्व आदि सामान्य के शब्द आदि विशेषरूप न कहते। क्योंकि सामान्य (जाति) का विशेष-रूप व्यक्ति होता है, पदार्थगत धर्म नहीं। घटत्वजाति का विशेष रूप घट है। **वाचस्पति** आदि के अनुसार मूर्त्ति आदि को भूतों का सामान्य रूप मानने पर उनके विशेषरूप शब्दादि हो सकते हैं। **विज्ञानभिक्षु**, **भोजदेव** ने सांसिद्धिक-काठिन्य (मूर्त्ति के स्थान पर गन्ध को पृथ्वी का स्वरूप बतलाया है) एवं सर्वत्रगति के स्थान पर अवकाशदान को आकाश का स्वरूप कहा है।[३]

भूतों की उपरिवर्णित दो अवस्थाओं के द्वारा पृथ्वी आदि भूत के काठिन्यादि सामान्य तथा शब्दादि विशेष-रूप कहे गए। अब यह जिज्ञासा होती है कि भूतात्मक द्रव्य अपने सामान्य एवं विशेष रूपों से पृथक् रहकर उनका आश्रय बनता है अर्थात् सामान्य-विशेष के आश्रय को द्रव्य कहते हैं? अथवा द्रव्य सामान्य-विशेष रूपों से अभिन्न है? अर्थात् द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है?

---

१ (क) स्वरूपाख्यं रूपं तु पृथिवीत्वजलत्वादिसामान्यपञ्चकम्—भा०ग०वृ०पृ० ७८।
(ख) तु०—यो० वा० पृ ३६५।
(ग) तु०—ना० ल० वृ० पृ० ७८।
(घ) तु०—यो० प्र० पृ० ७३।

२ (क) यथा भूमेः सांसिद्धिककाठिन्यरूपमूर्तिव्यङ्ग्या पृथिवीत्वजातिः।...... स्नेहव्यङ्ग्यजलत्वजातिर्जलस्य। औष्ण्यव्यङ्ग्यतेजस्त्वजातिस्तेजसः। वहनशीलत्वरूपप्रणामित्वव्यङ्ग्यवायुत्वजातिर्वायोः। विभुत्वव्यङ्ग्याकाशत्वजातिराकाशस्य—ना० बृ० वृ० पृ० ३५२।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ३६५।

३ स्वरूपञ्चैषां यथाक्रमं कार्यं गन्ध-स्नेहोष्णता-प्रेरणावकाशदानलक्षणम्—रा० मा० पृ० ५५।

द्रव्य का स्वरूप

सांख्य-योग-शास्त्र में द्रव्य के सामान्य एवं विशेष रूपों को द्रव्य से भिन्न नहीं, प्रत्युत अभिन्न माना गया है। न्याय-वैशेषिकों की भाँति द्रव्य अपने सामान्य एवं विशेष रूपों का आश्रय नहीं है।[1] वह सामान्य एवं विशेष का समूह रूप है।[2] सामान्य, विशेष और उनके समुदाय से अतिरिक्त उनके आधारभूत द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती है।[3] उदाहरणस्वरूप पाषाणों एवं उनके समुदाय से भिन्न उनके आधारभूत शिखर की प्रतीति नहीं होती है। दूसरा हेतु यह है कि समुदाय (समूह) का तिरस्कार करके द्रव्य सामान्य एवं विशेष दोनों का आधार नहीं हो सकता है।[4] तृतीय हेतु उपन्यस्त करते हुए आचार्य **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** कहते हैं[5]—यदि समुदाय के अतिरिक्त अवयवी माना जाए तो उसका सामान्य एवं विशेष रूप अवयवों से अभेद स्वीकार करना होगा; अन्यथा **घटो मृत्, तन्तवः पटः**—इस प्रकार का अभेदव्यवहार उपपन्न नहीं हो सकेगा और अवयवों का अपलाप होगा। अवयवों के अपलाप से अवयवी का आधार नहीं बन पायेगा।

अब यह सन्देह उपस्थित होता है कि योग में किस प्रकार का समूह विवक्षित है—समुदाय-सामान्य (समुदाय-मात्र) अथवा समुदाय-विशेष ?

समूह के भेद—सर्वप्रथम समूह के दो भेद किए जाते हैं[6]—(१) प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतसमूह (२) शब्देन उपात्तभेदावयवानुगतसमूह। समूह कई अवयवों अथवा पदार्थों की समष्टि को कहते हैं। जिसके अवयवों की पृथक्-पृथक् रूप से प्रतीति नहीं होती है वह समूह प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतसमूह कहलाता है। उदाहरणस्वरूप शरीर, वृक्ष, यूथ, वन इत्यादि। शरीर आदि समूह के अनेक अवयव हैं। लेकिन अवयवबोधक शब्दों का प्रयोग न होने से वे एक प्रतीत होते हैं।[7] द्वितीय प्रकार का समूह वह है जिसके

---

[1] (क) वैशेषिकाः सामान्यविशेषयोराश्रयमेव द्रव्यं मन्यन्ते—यो० वा० पृ० ३६५।
(ख) ये चाहुः सामान्यविशेषाश्रयो द्रव्यम्—त० वै० पृ० ३६५।

[2] (क) सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र दर्शने द्रव्यम्—त० वै० पृ० ३६५-६६।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ३६५।

[3] न तु ताभ्यां तत्समुदायाच्च तदाधारमपरं द्रव्यमुपलभामहे, ग्रावभ्यो ग्रावसमुदायादिव च तदाधारमपरं पृथग्विधं शिखरम्—त० वै० पृ० ३६६।

[4] न च तदपह्नवे तयोराधारो द्रव्यमिति भवति—त० वै० पृ० ३६६।

[5] (क) अतिरिक्तावयव्युपगमेऽपि तयोरभेदाभ्युपगमात्। अन्यथा घटो मृत्तन्तवः पटः इत्यभेदप्रत्ययानुपपत्तिः। अवयवानपलापाच्च। तदपलापे तदाधारतानुपपत्तेश्च। तदतिरिक्तावयव्यनुपलब्धेश्च……—ना० बृ० वृ० पृ० ३५२।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ३६५।

[6] द्विष्ठो हि समूहः प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतः……शब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः समूहः—व्या० भा० पृ० ३६६।

[7] शरीरवृक्षयूथवनशब्देभ्यः समूहः प्रतीयमानोऽप्रतीतावयवभेदस्तद्वाचकशब्दाप्रयोगात् समूह एकोऽवगम्यत इति—त० वै० पृ० ३६६।

अवयवों का पृथक्तया बोध शब्दप्रयोग द्वारा किया जाता है। उदाहरणस्वरूप **'उभये देव-मनुष्याः।'** यहाँ 'उभय' शब्द के वाच्य समूह के अवयव देव एवं मनुष्य शब्द के द्वारा गृहीत हैं।[१]

उपर्युक्त दो प्रकार का समूह भेद एवं अभेद की दृष्टि से पुनः दो प्रकार का है।[२] समूह का कथन दो प्रकार से किया जाता है—१–समूह एवं समूहवान् के भेद द्वारा २—अथवा उनके अभेद द्वारा। जैसे **आम्राणां वनम्, ब्राह्मणानां सङ्घः**—इन उदाहरणों में समूह-बोधक वन एवं सङ्घ को उनके अवयव आम्रों एवं ब्राह्मणों से पृथक् कहा गया है और **आम्रवनं ब्राह्मणसङ्घः**—इत्यादि स्थलों में समूह को समूहवान् से अभिन्न कहा गया है।[३]

उपरिर्वाणित समूह के दो और अवान्तर भेद हैं—(१) युतसिद्धावयवानुगतसमूह एवं (२) अयुतसिद्धावयवानुगतसमूह।[४] जिस समूह के अवयव सावकाश होने से पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, उन सावकाश अवयवों से अनुगत समुदाय को युतसिद्धावयवानुगतसमूह कहते हैं।[५] आचार्य **विज्ञानभिक्षु** के शब्दों में—जिस समूही के अवयवों का पृथक् ज्ञान कृषक आदि साधारणजन को भी हो सके उसे युतसिद्धावयवानुगत समूह कहते हैं।[६] उदाहरण के लिए 'यह वन है'। यहाँ वनात्मक समूह के अवयवभूत अनेक वृक्ष सान्तराल (थोड़ी-थोड़ी दूरी पर) होने से पूर्णतया पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। सङ्घ एवं यूथ के अवयवभूत ब्राह्मणों एवं गौओं की भी यही स्थिति है। अतः तीनों युतसिद्धावयवानुगतसमूह हैं। जिस समूह के अवयव अत्यन्त संयुक्त होने के कारण (अवयवों के मध्य अन्तराल न होने के कारण) पृथक्-पृथक् प्रतीत नहीं होते हैं, उन अवयवों से अनुगत समूह को अयुतसिद्धा-वयवानुगतसमूह कहते हैं।[७] अर्थात् साधारण मनुष्यों की बुद्धि जिस समूह के अवयवों का ज्ञान नहीं कर पाती और वे समस्त अवयव एकरूप प्रतीत होते हैं, उस समूह को अयुत-सिद्धावयव कहते हैं।[८] इस समूह के अन्तर्गत शरीर, वृक्ष परमाणु आदि आते हैं।

---

[१] अत्रोभयशब्दवाच्यस्य समूहस्यावान्तरभेदौ देवमनुष्यशब्दाभ्यामुपात्तौ--यो० वा० पृ० ३६६।

[२] स द्विविधोऽपि समुदायो भेदाभेदाभ्यां प्रयोक्तृभिर्विवक्षितो भवति--ना० बृ० वृ० पृ० ३५२।

[३] 'आम्राणां वनं ब्राह्मणानां सङ्घ'—इति भेद एव षष्ठीश्रुतेः······'आम्रवनं ब्राह्मण-सङ्घ' इति, आम्राश्च ते वनं चेति—समूहसमूहिनोरभेदं विवक्षित्वा सामानाधि-करण्यमित्यर्थः--त० वै० पृ० ३६६।

[४] स पुनर्द्विविधो युतसिद्धावयवोऽयुतसिद्धावयवश्च---व्या० भा० पृ० ३६६।

[५] युतसिद्धावयवः समूहः। युतसिद्धाः पृथक्सिद्धाः सान्तराला अवयवा यस्य स तथोक्त—त० वै० पृ० ३६७।

[६] हालिकादिष्वपि संयुक्ततया संबद्धतया सिद्धा अवयवा यस्य समूहस्य यूथवनादेः स तथा—यो० वा० पृ० ३६७।

[७] अयुतसिद्धावयवश्च समूहः···निरन्तरा हि तदवयवाः—त० वै० पृ० ३६७।

[८] लौकिकेष्वसंयुततया एकीभावेनैव सिद्धा अवयवा यस्य समूहस्य···स तथेत्यर्थः—यो० वा० पृ० ३६७।

ऊपर समूह के छः भेद वर्णित हुए। इनमें से अन्तिम अयुतसिद्धावयवानुगतसमूह को **पतञ्जलि** द्रव्य मानते हैं।[१] अर्थात् अयुतसिद्धसामान्यविशेषावयवानुगतसमूह ही द्रव्य है।

भूतों की तृतीय अवस्था—भूतों की सूक्ष्म-संज्ञक तृतीय अवस्था तन्मात्र है। **वाचस्पति मिश्र** का कहना है कि तन्मात्र का एक परिणाम परमाणु है। यह सामान्यरूप मूर्ति एवं विशेष-गुण शब्दादि से युक्त हैं। इसके सामान्य-विशेषात्मक अवयव अयुतसिद्ध हैं। जैसे परमाणु सूक्ष्म है, वैसे सर्वतन्मात्राएँ भी सूक्ष्म हैं।[२] **वाचस्पति मिश्र** के उक्त विचार से **रामानन्दयति** प्रभावित हुए। उन्होंने भी माना है कि भूतों की तृतीय अवस्था सूक्ष्म कारणरूप है। इसके अन्तर्गत परमाणु और उनके सूक्ष्म कारण तन्मात्राएँ आती है।[३]

वाचस्पति के परवर्ती व्याख्याकार **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** का विचार इससे भिन्न है। इनका वक्तव्य है कि सूत्र के 'सूक्ष्म' पद से भूतों का साक्षात् कारण गृहीत है।[४] तन्मात्राएँ भूतों की सूक्ष्म अवस्था के अन्तर्गत आती हैं, परमाणु नहीं। तन्मात्र का चरम अवयवभूत परमाणु घटादि की भाँति सावयव है। इसलिए उसे स्थूल भी कहते हैं। परमाणु को सावयव न माना जाए तो उसकी स्थूलता उपपन्न न हो सकेगी तथा उसकी शान्त आदि अवस्थाएँ भी सिद्ध नहीं हो सकेगी। क्योंकि स्थूल पदार्थों की ही शान्तादि अवस्थाएँ कही गई हैं।[५] परमाणु में शान्तादि अवस्थाएँ उपलब्ध होती हैं, इसलिए उन्हें स्थूल मानना आवश्यक है। **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेश भट्ट** के अनुसार भूतों की सूक्ष्म अवस्था में तन्मात्र की अपेक्षा स्थूल परमाणु की गणना नहीं की जा सकती।[६] आचार्य **विज्ञानभिक्षु** के परवर्ती आचार्य **बलदेव मिश्र** ने भी योगप्रदीपिका में तन्मात्र की अपेक्षा परमाणु को स्थूल वतलाया है।[७]

---

[१] अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः—व्या० भा० पृ० ३६७।

[२] तस्यैकोऽवयवः=परिणामभेदः परमाणुः ··· यथा च परमाणुः सूक्ष्मं रूपमेवं सर्वतन्मात्राणि सूक्ष्मं रूपमिति—त० वै० पृ० ३६८।

[३] अथ तृतीयं तेषां रूपं सूक्ष्मं कारणं परमाणवः; तेषां सूक्ष्माणि पञ्चतन्मात्राणि—म० प्र० पृ० ६७।

[४] (क) साक्षात्कारणत्वमेव हि सूक्ष्मत्वमत्र विवक्षितम्—यो० वा० पृ० ३६८।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५३।

[५] (क) तस्य भूतस्य एकश्चरमोऽवयवः परमाणुः सोऽपि च घटादिवदेव सावयवः अन्यथा स्थूलत्वानुपपत्तेः, शान्तघोरमूढत्वरूपविशेषानुपपत्तेश्च—यो० वा० पृ० ३६८।
(ख) तु० ना० बृ० वृ० पृ० ३५३।

[६] (क) एवं परमाणोरपि सूक्ष्मत्वात्तन्मात्राणि सूक्ष्माणीत्युक्तानि—ना० बृ० वृ० पृ० ३५३।
(ख) एतत्तन्मात्रं तृतीयं भूतानां रूपमित्यर्थः—यो० वा० पृ० ३६८।

[७] ···परमाणुस्तु एतदपेक्षया स्थूल एव यतः स तत्परिणामविशेषः सामान्यविशेषात्मा अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदायो भूतस्यैकश्चरमावयव इति यो० प्र० पृ० ७३।

उपर्युक्त दो पक्षों में **विज्ञानभिक्षु** एवं उनके मत से प्रभावित **नागेशभट्ट** का पक्ष व्यासभाष्य के प्रतिकूल है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने व्यासभाष्य की **'तस्यैकोऽवयवः परमाणुः…'**—इस पंक्ति को परमाणु के सूक्ष्मत्व के खण्डनार्थ माना है। वस्तुतः भूतों की सूक्ष्मता के प्रसङ्ग में आई **व्यासकृत** उक्त पंक्ति में परमाणु की सूक्ष्मता का खण्डन करने वाला 'नञ्' पद नहीं है तथा उक्त वाक्य के उपसंहारात्मक अन्तिम शब्दों—**एवं सर्वतन्मात्राणि**—में प्रयुक्त **'एवं'** पद से भी स्पष्ट है कि तन्मात्राएँ भूतों के सूक्ष्मरूप हैं। इस प्रकार **व्यासदेव** के अनुसार परमाणु भूतों के सूक्ष्मरूप ठहरते हैं।

भूतों की चतुर्थ अवस्था—भूतों की चतुर्थ अवस्था अन्वय है। **'अन्वेतीति अन्वयः'**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो समस्त पदार्थों में व्याप्त (अन्वित) रहता है उसे अन्वय कहते हैं। सत्त्व आदि गुण महदादि से लेकर भूतपर्यन्त समस्त पदार्थों में व्याप्त रहते हैं। गुण समस्त जड़ पदार्थों के मूलकारण हैं। अतः भूतों में अन्वित (व्याप्त) सत्त्वादि गुण भूतों की चतुर्थ अन्वय अवस्था कहे जाते हैं।[१]

पञ्चमहाभूतों के कारणभूत पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति रजःसहकृत-तमोगुणप्रधान अहंकार से होती है। तन्मात्राओं के कार्य महाभूतों में रजोगुण एवं तमोगुण होना स्वाभाविक है। किन्तु उनमें सत्त्वगुण भी रहता है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु** भूतों में सत्त्वगुण की सत्ता निम्नाङ्कित प्रकार से सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि सत्त्वगुणप्रधान प्रकाशात्मक मनस् तथा चक्षुरादि इन्द्रियाँ अन्न, रसादि के न्यूनाधिक सेवन से निर्बल अथवा सशक्त होती देखी जाती हैं। इस अन्वय-व्यतिरेक से अनुमान किया जा सकता है कि पृथ्वी आदि भूतों में मनस् आदि का नियामक सत्त्वगुण विद्यमान है।[२] तथा **'अन्नमयं हि सोम्य मनः'**—इस श्रुतिवाक्य से भी उक्त शङ्का समाहित होती है।

भूतों की पञ्चम अवस्था—भूतों की पञ्चम अवस्था अर्थवत्त्व है। अर्थवत्ता का अर्थ है—प्रयोजनवत्ता। प्रयोजन दो प्रकार का है—भोग एवं अपवर्ग। गुणात्मक प्रकृति पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के लिए सृष्टि करती है। अतः भोगापवर्ग के साधनभूत महत् से लेकर भूतपर्यन्त पदार्थों का यही प्रयोजन है।[३]

भूतों की उक्त पाँचों अवस्थाएँ यथा-क्रम संयम-साध्य हैं।[४]

---

[१] **त्रिविधा गुणा एवान्वयशब्देनोक्ताः। तत्र हेतुः कार्यस्वभावानुपातिन इति—यो० वा० पृ० ३६८।**

[२] **अन्वयव्यतिरेकौ चेति प्रतीहि—प्रकाशात्मकतया सात्त्विकानि हि मनश्चक्षुरादीन्यन्नरसाद्युपचयापचयाभ्यामुपचयापचयवन्ति दृश्यन्ते। अतः पृथिव्यादिभूतेषु मनआदिकं तदुपष्टम्भकसत्त्वं वाऽनुगतमित्युन्नीयत इति—यो० वा० पृ० ३६८।**

[३] **अथैषां पञ्चमं रूपमर्थवत्त्वं भोगापवर्गार्थता गुणेष्वन्वयिनी गुणास्तन्मात्रभूतभौतिकेष्विति सर्वमर्थवत्—व्या० भा० पृ० ३६८।**

[४] **एवं भूतानां पञ्चरूपेषु कार्यस्वरूपहेतुषु स्थूलादिक्रमेण संयमात्……—म० प्र० पृ० ६७।**

भूतजय के फल भूतजय के तीन फल हैं[१]—(१) अणिमादि ऐश्वर्य, (२) कायसम्पत्, (३) तद्धर्मानभिघात।

अष्ट ऐश्वर्य[२]—अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व एवं वशित्व—ये आठ ऐश्वर्य हैं। आचार्य **वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु** एवं **हरिहरानन्द आरण्यक** आदि ने उक्त कौन सा ऐश्वर्य किस भूत के स्वरूप (अवस्था) के साक्षात्कार से प्राप्त होता है—इस पर प्रकाश डाला है। भूतों की प्रथम स्थूल अवस्था के साक्षात्कार से अणिमा, लघिमा, महिमा एवं प्राप्ति—ये चार ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं।[३] 'अणु' शब्द से इमनिच्-प्रत्यय कर 'अणिमा' शब्द बना है। **अणोर्भावः अणिमा।** अणिमा के प्रभाव से स्थूलकाय योगी परमाणु की तरह अणु हो जाता है। इस अणुभाव से वह छिद्ररहित पाषाण में भी प्रवेश पा लेता है। 'लघु' शब्द से इमनिच्-प्रत्यय कर 'लघिमा' शब्द निष्पन्न होता है। **लघोर्भावः लघिमा।** लघिमा के प्रभाव से योगी का शरीर रुई की तरह हलका हो जाता है। फलस्वरूप उच्च उच्चतर उड़ने का सामर्थ्य प्राप्त कर पाता है। 'महत्' शब्द से इमनिच्-प्रत्यय कर 'महिमा' शब्द बना है। **महतो भावः महिमा।** इस महिमा के प्रभाव से लघु-परिमाण-योगी नाग, नग एवं नगर के भाँति महत् परिमाण वाला हो जाता है। प्राप्ति-संज्ञक ऐश्वर्य का अर्थ है—सभी पदार्थों का सन्निहित हो जाना। इस ऐश्वर्य की महिमा से भूमि पर स्थित हुआ योगी दो लाख योजन (चार कोस का एक योजन) दूरी पर स्थित चन्द्रमा को अपनी अंगुलि के अग्रभाग से स्पर्श कर लेता है। इस समय अवयवों का उपचय होने से अंगुली अतिदीर्घ हो जाती है।[४]

भूतों की द्वितीय अवस्था (स्वरूप) से प्राकाम्य-संज्ञक ऐश्वर्य प्राप्त होता है। प्राकाम्य का अर्थ है—इच्छा का अभिघात न हो पाना; अर्थात् इच्छा का सदा सर्वत्र सफल होना। इस प्राकाम्य के प्रभाव से योगी का शारीरिक संस्थानविशेष भूमि के काठिन्यादि धर्मों से कभी प्रतिबद्ध नहीं होता है। वह जल की तरह भूमि फोड़कर भी निकलता है और जल में डूबने के समान भूमि में प्रविष्ट भी हो जाता है; अर्थात् जल में निमज्जन, उन्मज्जन की तरह यह भूमि में भी निमज्जन कर लेता है।

भूतों की चतुर्थ अवस्था (अन्वय) के साक्षात्कार द्वारा योगी को ईशित्व-नामक ऐश्वर्य समुपलब्ध होता है। ईशित्व के प्रभाव से योगी पृथिव्यादि भूत पदार्थ और गो घटादि भौतिक पदार्थों का प्रभव, व्यूह एवं व्यय (उत्पाद, यथावत् अवस्थापन, नाश) करने में समर्थ होता है।

---

१ ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च —यो० सू० ३।४५।

२ अणिमा महिमा चैव लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता॥
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति -श्रीमद्भागवत ११।१५।४-५

३ एताश्चतस्रः स्थूलसंयमसिद्धयः —यो० वा० पृ० ३६९।

४ अवयवोपचयेनाङ्गुलिदैर्घ्यादिति—यो० वा० पृ० ३६९।

भूतों की तृतीय अवस्था (सूक्ष्म) में संयम करने से वशित्व-नामक ऐश्वर्य प्राप्त होता है। वशित्व के प्रभाव से पृथिव्यादि भूत एवं गो घटादि (स्थावर एवं जंगम देह) भौतिक पदार्थ योगी की इच्छा का अनुवर्तन करते हैं। किन्तु योगी इन भूतों के अधीन नहीं रहता है; क्योंकि भूतों के प्रति उसमें वैराग्य जाग्रत् हो जाता है।

भूतों की पञ्चम अवस्था (अर्थवत्त्व) में संयम करने से योगी को कामावसायित्व-संज्ञक ऐश्वर्य प्राप्त होता है। कामावसायिता को सत्यसंकल्पता भी कहते हैं। 'मुझे यह करना है', 'मुझे ऐसा होना है'—इत्यादि संकल्पों को सत्य करने का जिसका स्वभाव है, ऐसे योगी में कामावसायिता रहती है। इस सत्यसंकल्पता के प्रभाव से योगी पदार्थों के विषय में जैसी इच्छा करता है (जैसे विष भी अमृत का काम करे ऐसी इच्छा यदि करता है), वह पदार्थ वैसा ही हो जाता है (जैसे विष भी अमृत हो जाता है)। योगी इतना सामर्थ्य सम्पन्न होता है कि जिस प्रकार वह पदार्थों की शक्तियों का विपर्यास करता है; उसी प्रकार पदार्थों का भी विपर्यास कर सकता है। जैसे चन्द्रमा को सूर्य और अमावस्या को पूर्णिमा कर सकता है। लेकिन वह परमेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन कर पदार्थ का विपर्यास नहीं करता है। अन्यथा परमेश्वर की सत्यसंकल्पता को व्याघात पहुँचता है। पदार्थगत शक्तियाँ जाति, देश, काल तथा अवस्थाभेद से अनियत-स्वभाव की होती हैं। अतः पदार्थों की शक्तियों का विपर्यास (परिवर्तन) करने से परमेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन नहीं हो पाता है। इसलिए योगी पदार्थगत शक्तियों का विपर्यास करता है, पदार्थों का विपर्यास नहीं।[1]

दैहिकसम्पत्—भूतजय का द्वितीय फल दैहिकसम्पत् है।[2] भूतजयी का रूपलावण्य निखर आता है। वह शारीरिक बल अर्जित करता है। फलस्वरूप उसका शरीर वज्र की भाँति कठोर (ठोस) हो जाता है। उसके शरीर का प्रहार वज्र की भाँति कष्टकर होता है।[3]

तद्धर्मानभिघात—भूतजय का तृतीय फल तद्धर्मानभिघात है। तद्धर्मानभिघात का अर्थ है—पृथिव्यादि भूतों के काठिन्यादि धर्मों से निराकृत न होना। पृथ्वी का काठिन्य-धर्म योगी को शिला के अन्दर प्रविष्ट होने में बाधा नहीं पहुँचाता है। जल का स्नेह-धर्म योगी के शरीर को आर्द्र नहीं करता है। वह्नि का उष्ण-धर्म योगी के शरीर को नहीं जलाता है। वायु का कम्पन-धर्म योगी के शरीर को कम्पमान नहीं करता है। आकाश का अनावरण-धर्म योगी को अनावृत नहीं करता है।

तद्धर्मानभिघात-फल पृथक् क्यों कहा गया ?—पतञ्जलि ने भूतजय का प्रथम फल अणिमादि ऐश्वर्य बतलाया है। इसी में तद्धर्मानभिघात-धर्म गतार्थ हो जाता है। अतः उसका पृथक्तया उपादान व्यर्थ नहीं है।

---

[1] न च शक्तोऽपीति—न खल्वेते यत्र कामावसायिनस्तत्र भगवतः परमेश्वरस्याज्ञामुत्क्रमितुमुत्सहन्ते; शक्तयस्तु पदार्थानां जातिदेशकालावस्थाभेदेनानियतस्वभावा इति युज्यते तासु तदिच्छाऽनुविधानमिति—त० वै० पृ० ३७०-३७१।

[2] रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्—यो० सू० ३।४६।

[3] वज्रस्येव संहननं प्रहारो यस्येति वज्रवन्निबिडो दृढः संघातो यस्येति वा वज्रसंहननः—यो० वा० पृ० ३७२।

प्रथममत—आचार्य **वाचस्पति मिश्र** का कहना है[1] **अणिमादिप्रादुर्भावः**—इस सूत्रांश से तद्धर्मानभिघातरूप फल स्वतः सिद्ध है। लेकिन भूतों की स्थूलादि पाँच अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था के साक्षात्कार (जय) से जायमान पृथक्-पृथक् फल के बोधनार्थ **पतञ्जलि** ने सूत्र में कायसिद्धि की भाँति तद्धर्मानभिघात-सिद्धि को भी अलग से कहा है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है।

द्वितीयमत—**विज्ञानभिक्षु** का वक्तव्य है[2]—'**अणिमादिप्रादुर्भाव**'—सूत्रांश के 'अणिमादि' पद से सूत्रकार ने अणिमादि सिद्धियों के मध्य प्राकाम्य-संज्ञक सिद्धि की गणना नहीं की है। उन्होंने तद्धर्मानभिघात से प्राकाम्य-सिद्धि बतलाई है। किञ्च भाष्यकार ने अणिमादि सिद्धियों के मध्य प्राकाम्य-सिद्धि की चर्चा की है। उसका उद्देश्य अणिमादि अष्ट सिद्धियों की संख्या पूरी करना था। अन्यथा पुनरुक्तिदोष आयगा।

तृतीयमत आचार्य **नागेशभट्ट** का कथन है[3]—संयम-साधना की अतिशयावस्था में साधक को तद्धर्मानभिघात-संज्ञक सिद्धि संकल्प के बिना उपलब्ध होती है। इसलिए सूत्रकार द्वारा प्राकाम्यादि से पृथक् तद्धर्मानभिघात-सिद्धि कही गई है।

मूल्यांकन—योग के समानतन्त्र सांख्य में बुद्धि के चतुर्थ धर्म ऐश्वर्य के प्रसङ्ग में अणिमादि आठ सिद्धियाँ कही गई हैं।[4] उनमें से एक सिद्धि है—प्राकाम्य। अतः प्रसिद्ध का त्याग कर आचार्य **विज्ञानभिक्षुसम्मत** अप्रसिद्ध की कल्पना उचित नहीं है। **नागेशभट्ट** का मत उनके परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं कर सकता। आचार्य **वाचस्पति मिश्र** का पक्ष व्यासभाष्यानुसारी होने से युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

इन्द्रियों की ग्रहणादिविषयक-अवस्था संयमसाध्य विभूति—किसी भी पदार्थ का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए पदार्थ को चार पहलुओं से देखा जाता है—पदार्थगत क्रिया, स्वरूप, कारण एवं प्रयोजन। **पतञ्जलि** ने उपर्युक्त चार दृष्टिकोणों के आधार पर इन्द्रियतत्त्व को पाँच अवस्थाओं में विभक्त किया है। इन्द्रियों की ग्रहण अवस्था से इन्द्रियों की क्रिया (व्यापार) बतलाई गई है। इन्द्रियों की द्वितीय अवस्था उनके स्वरूप से सम्बन्धित है। तृतीय एवं चतुर्थ रूप से इन्द्रियों का कारण कहा गया है। अन्तिम अर्थवत्त्व अवस्था इन्द्रियों

---

[1] **अणिमादिप्रादुर्भाव इत्यनेनैव तद्धर्मानभिघातसिद्धौ पुनरुपादानं कायसिद्धिवद् एतत्सूत्रोपबद्धसकलविषयसंयमफलवत्त्वज्ञापनाय—त० वै० पृ० ३७१।**

[2] **अणिमाद्यष्टसिद्धिव्याख्यापूरणायैव प्राकाम्यमत्र भाष्यकारैः कथितं न त्वत्र सूत्रे प्राकाम्यमणिमादिमध्ये विवक्षितं तद्धर्मानभिघात इत्यनेनैव प्राकाम्यग्रहणेन पौनरुक्त्यापत्तेरिति – यो० वा० पृ० ३७१।**

[3] **एष च संयमातिशये सति संकल्पं विनैव भवतीति प्राकाम्यादेः पृथगुक्तः—ना० बृ० वृ० पृ० ३५४।**

[4] **(क) अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं वैराग ऐश्वर्यम्।**
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥—सां० का० २३।

(ख) ऐश्वर्यमपि बुद्धिधर्मो, यतोऽणिमादिप्रादुर्भावः…—सां० त० कौ० पृ० १८२।

के मूल प्रयोजन से सम्बन्धित है। पतञ्जलि का कहना है—यदि साधक इन्द्रियों के पाँचों रूपों के साक्षात्कार द्वारा इन्द्रियों का भली-भाँति परिचय प्राप्त कर लेता है, तो इन्द्रियाँ उसके अधीन हो जाती हैं।[१]

इन्द्रियों की प्रथम अवस्था 'गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे विषय गृहीत होता है उसे ग्रहण कहते हैं। विषय-ग्रहण का कार्य इन्द्रियों का है।[२] इसलिए ग्रहण इन्द्रियों का स्वरूप है। इन्द्रियों का विषय-ग्रहण रूप व्यापार वृत्त्यात्मक है। अर्थात् इन्द्रियों की विषयकाराकारिका वृत्ति ग्रहण कही जाती है। आचार्य **विज्ञानभिक्षु एवं नागेश भट्ट** का कहना है[३]—यद्यपि चक्षुरादि इन्द्रियों की दर्शनादि आलोचनरूप वृत्तियाँ स्मरण आदि के अनुरोध से अन्तःकरण की हैं, तथापि चक्षुरादि द्वारा पूर्वानुभूत विषय का ही स्मरण होता है। इसलिए दर्शनादि वृत्तियाँ इन्द्रियों की ही कही गई हैं। अन्तःकरण चतुष्टय की चिन्ता, अवधारणादि असाधारण वृत्तियों से चक्षुरादि की दर्शन, स्पर्शन आदि वृत्तियाँ विलक्षण हैं।

इन्द्रियों के विषयभूत घट, पट आदि पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक हैं। प्रश्न हो सकता है कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ धर्मधर्मिस्वरूप पदार्थों के शब्दत्व, घटत्व आदि सामान्य धर्मों को ही ग्रहण करती हैं। धर्मिरूप शब्द, घट आदि विशेष धर्म इन्द्रिय के विषय नहीं होते हैं। उक्त शंका का खण्डन करते हुए **वाचस्पति** आदि ग्रहणात्मक इन्द्रियों के विषय को निम्नाङ्कित प्रकार से स्पष्ट करते हैं इन्द्रियाँ केवल सामान्य विषयक नहीं, अपितु सामान्य-विशेष उभय-विषयक हैं। मनस् इन्द्रियों के अधीन रह कर बाह्य विषयों में प्रवृत्त होता है, स्वतन्त्र होकर नहीं। अन्यथा अन्ध-बधिरादि के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।[४] दूसरा हेतु यह है—यदि इन्द्रियों को घटादि विशेषविषयक नहीं माना जायगा तो इन्द्रिय के अविषयभूत घटादि विशेष विषयों का अनुव्यवसायज्ञान नहीं हो सकेगा।[५] अतः मानना होगा कि पदार्थों के सामान्य एवं विशेष दोनों रूप इन्द्रियों के विषय हैं।[६]

इन्द्रियों की द्वितीय अवस्था—प्रकाशात्मक महत्तत्व का अयुतसिद्धावयवरूप परिणाम सात्त्विक अहंकार है। उसमें (अहंकार में) कार्य रूप से अनुगत जो सामान्यविशेष का

---

[१] ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः—यो० सू० ३।४७।

[२] गृह्यत इति ग्रहणम्—त० वै० पृ० ३७२।

[३] चिन्ताऽवधारणाभिमानसंशयरूपादन्तःकरणानामसाधारणवृत्तिचतुष्काद्विलक्षणो दर्शनस्पर्शननामा। यद्यपि सोऽपि स्मरणाद्यनुरोधेनान्तःकरणस्यैव तथापि चक्षुराद्युपष्टम्भेनैव भवतीति कृत्वा दर्शनादिश्चक्षुरादीनामुच्यते—यो० वा० पृ० ३७२।

[४] सामान्यमात्रगोचरं ग्रहणं बाह्येन्द्रियतन्त्रं हि मनो बाह्ये प्रवर्त्ततेऽन्यथाऽन्धबधिराद्यभावप्रसङ्गात्—त० वै० पृ० ३७२।

[५] (क) तदिह यदि न विशेषविषयमिन्द्रियं तेनासावनालोचितो विशेष इति कथम्मनसाऽनुव्यवसीयेत—त० वै० पृ० ३७२।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ३७२। (ग) तु०—भा० पृ० ३७३।
(घ) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५५।

[६] तस्मात् सामान्यविशेषविषयमिन्द्रियालोचनमिति—त० वै० पृ० ३७२।

समूहरूप द्रव्यविशेष है, वह इन्द्रिय कहा जाता है। यही इन्द्रियों की स्वरूप-संज्ञक द्वितीय अवस्था है।[१] इन्द्रियों के विशेष रूप के अन्तर्गत नील, पीतादि परिणामभेद (जो ग्रहण रूप हैं) आते हैं तथा इन्द्रियों के सामान्य रूप चक्षुप्, वाक् आदि हैं।[२]

इन्द्रियों की तृतीय अवस्था—जहाँ इन्द्रियाँ हैं वहाँ उनका कारण अहंकार अवश्य रहता है—इस व्याप्ति के अनुसार कार्यरूप इन्द्रियों में अनुगत रहने वाला कारणभूत अहंकार इन्द्रियों की अस्मिता-संज्ञक तृतीय अवस्था है।[३]

इन्द्रियों की चतुर्थ अवस्था—इन्द्रियों की चतुर्थ अवस्था अन्वय है। अन्वय के अन्तर्गत गुण आते हैं। गुण व्यवसाय एवं व्यवसेय रूप से दो प्रकार का है।[४] व्यवसेयात्मक गुणों से पञ्चतन्मात्राएँ एवं भूतभौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। व्यवसायात्मक ग्रहणरूप विशिष्ट गुणों से अहंकारसहित इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।[५] अतः महत्तत्त्वाकार से परिणत प्रकाश, क्रिया एवं स्थितिशील गुण इन्द्रियों की अन्वय नामक चतुर्थ अवस्था है।

इन्द्रियों की पञ्चम अवस्था—सत्त्वादि गुणों में पुरुष के भोग एवं अपवर्ग का सामर्थ्य निहित है। यही इन्द्रियों की अर्थवत्त्व नामक पंचम अवस्था है।[६]

इन्द्रियों की उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं का साक्षात्कार होने पर वत्स का अनुसरण करने वाली गौ की भाँति इन्द्रियाँ एवं इन्द्रियों की प्रकृतियाँ योगी के संकल्प का अनुसरण करती हैं।[७] फलस्वरूप साधक को तीन प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—(१) मनोजवित्व, (२) विकरणभाव एवं (३) प्रधान-जय।[८]

---

१ (क) प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य कार्या येऽयुतसिद्धा अवयवभेदाः सात्त्विकाहंकाररूपास्तेष्वनुगतः सामान्यविशेषरूपयोः समूहो द्रव्यमिन्द्रियम्—यो० वा० पृ० ३७२-३७३। (ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५५।

२ (क) तत्र विशेषरूपं ग्रहणरूपा नीलपीताद्याकारा वृत्तिरूपाः परिणामाः। सामान्यं च चक्षुष्ट्वादि—ना० बृ० वृ० पृ० ३५५।
(ख) तु०—यो० वा० पृ० ३७३।

३ अहङ्कारो हीन्द्रियाणां कारणमिति यत्रेन्द्रियाणि तत्र तेन भवितव्यमिति—त० वै० पृ० ३७३।

४ गुणानां हि द्वैरूप्यं व्यवसायात्मकत्वं व्यवसेयात्मकत्वं च—त० वै० पृ० ३७३।

५ (क) तत्र व्यवसेयात्मकतां ग्राह्यतामास्थाय पञ्चतन्मात्राणि भूतभौतिकानि च निर्मिमते, व्यवसायात्मकत्वं तु ग्रहणरूपमास्थाय साहङ्काराणीन्द्रियाणीत्यर्थः—त० वै० पृ० ३७४।
(ख) तु०—भा० पृ० ३७३-३७४।

६ पञ्चमं रूपमिन्द्रियेषु यद् गुणानुगतं गुणानुवर्त्तमानं पुरुषार्थवत्त्वम्—भा० पृ० ३७४।

७ (क) ततश्च वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य संकल्पानुविधायिन्य इन्द्रियप्रकृतयो भवन्ति—यो० वा० पृ० ३७४।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५५।

८ ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च—यो० सू० ३।४८।

मनोजवित्व—मनोजवित्व का अर्थ है मनस् की भाँति शरीर को अनुत्तम गति प्राप्त होना।[१] संकल्प करते ही योगी मनस् की द्रुतगति के समान सहस्रयोजन दूर देश तक अत्यन्त शीघ्रता से पहुँच जाता है। इस प्रकार मनोजवित्व-सिद्धि शरीरनिष्ठ है।

विकरणभाव—विकरणभाव-सिद्धि इन्द्रियनिष्ठ है। इन्द्रियजय से साधक में शरीर को अत्यन्त शीघ्रता से दूर देश में पहुँचाने की शक्ति उत्पन्न होती है तथा शरीर की अपेक्षा किए बिना केवल इन्द्रियों को शरीर से निकालकर अभिलषित काश्मीर आदि दूर देश, अतीतादि-काल तथा सूक्ष्म, व्यवहितादि विषयों तक पहुँचाकर उनका ज्ञान प्राप्त करने का सामर्थ्य योगी को प्राप्त होता है। इसी सामर्थ्य को विकरणभाव कहते हैं।[२] यह सिद्धि महाविदेहा सिद्धि के समकक्ष है। विकरणभावसिद्ध साधक विदेहयोगी कहे जाते हैं।[३]

प्रधानजय—इन्द्रियजय का तृतीय फल है—प्रधानजय। इन्द्रियों के कारणभूत अहंकार आदि से लेकर प्रधानपर्यन्त सभी पदार्थों का योगी के अधीन होना प्रधानजय कहलाता है।[४] इन्द्रिय-जय से केवल विषयसहित इन्द्रियाँ योगी के अधीन नहीं होती; अपितु इन्द्रियों के कारणभूत अहंकारादि भी। क्योंकि ये सिद्धियाँ इन्द्रियमात्र के जय से प्राप्त नहीं होती हैं; अपितु इन्द्रियों के पाँचों रूपों का साक्षात्कार होने पर प्राप्त होती हैं।[५] इन पाँच रूपों में प्रधानादि भी आते हैं। इसी आधार पर इन्द्रिय-जय का प्रधानजय फल कहा गया है। उक्त तीनों सिद्धियाँ योगशास्त्र में मधुप्रतीका नाम से प्रसिद्ध हैं।[६]

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिविषयक-संयमसाध्य विभूति—सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिप्रतिष्ठ (विवेकज्ञानी) साधक जगत् के पदार्थों का अधिष्ठाता (नियन्ता) एवं ज्ञाता (सर्वज्ञ) होता है।[७] जड़ एवं प्रकाशस्वरूप (व्यवसाय, व्यवसेयात्मक) जितने पदार्थ हैं, वे सब क्षेत्रज्ञ स्वामी के प्रति भोग्य तथा दृश्य रूप से उपस्थित होते हैं। उसे भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान रूप से परिणत त्रिगुणात्मक निखिल पदार्थों का युगपत् प्रत्यक्ष होता है। फलस्वरूप योगी के

---

१ (क) कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वम्—व्या० भा० पृ० ३७४।
(ख) मनोवज्जवो गतिवेगो मनोजवस्तत्त्वम्—भा० पृ० ३७४।

२ (क) शरीरनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणामभिप्रेते देशे काले विषये च वृत्तिलाभः······ —भा० पृ० ३७४।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५५।

३ (क) य एवंविधकरणभावोपपन्ना योगिनस्त एव स्थाने स्थाने विदेहा इत्युक्ताः—यो० वा० पृ० ३७४।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५६।

४ सर्वासां व्यक्तिभेदेनानन्तानां भूतेन्द्रियप्रकृतीनां सत्त्वादिगुणानां तद्विकाराणां च सर्वेषां स्वेच्छयाऽनुविधानं प्रधानजयः—यो० वा० पृ० ३७४-७५।

५ नेन्द्रियमात्रजयस्यैताः सिद्धयोऽपितु पञ्चरूपस्य तदन्तर्गतं च प्रधानात् त० वै० पृ० ३७५।

६ एतास्तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते—व्या० भा० पृ० ३७५।

७ सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च—यो० सू० ३।४९।

अविद्यादि क्लेश एवं धर्माधर्म बन्धन क्षीण हो जाते हैं।[१] सर्वभावाधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व ये दोनों सिद्धियाँ विशोका नाम से पारिभाषित हैं।

रजस् एवं तमस् रूप मल से शून्य सात्त्विकबुद्धि के वशीकार-संज्ञक वैराग्य से युक्त होने पर विवेकज्ञान (सत्त्वपुरुषान्यताख्याति) का उदय होता है। परवैराग्य द्वारा साधक में यह बोध जाग्रत् होता है कि विवेकप्रत्यय बुद्धि का धर्म है, पुरुष का नहीं। बुद्धि तथा उसके धर्म अनात्म होने से हेय कोटि में आते हैं। मैं बुद्धिसत्त्व से अत्यन्त भिन्न अपरिणामी एवं शुद्ध हूँ—यही विवेकख्याति परवैराग्य के द्वारा कैवल्य की साधिका है।[२] साधक को कैवल्यपद पर प्रतिष्ठित कराना ही विवेकख्याति का मुख्य फल है। विवेकख्यातिविषयक संयम को छोड़कर उपरिवर्णित अन्यविषयक समस्त संयम पुरुषार्थघटक नहीं हैं। आचार्यों ने पूर्ववर्णित संयमों में विवेकख्यातिविषयक संयम को सर्वशिरोमणि कहा है।[३] यह विवेक-ख्याति-संयम साधन एवं सिद्धि उभयरूप है। कैवल्य का जनक होने से वह साधन रूप है तथा स्वयं साधना द्वारा प्राप्त होने से सिद्धि रूप है।

पतञ्जलि ने सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिविषयक संयम के अतिरिक्त एक अन्य उपाय द्वारा भी विवेकज्ञान की उत्पत्ति बतलाई है। क्षण एवं उसके क्रम में संयम करने से विवेकज्ञान उत्पन्न होता है।[४]

क्षणाख्य काल

वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, नागेशभट्ट एवं हरिहरानन्द आरण्यक ने क्षण का जो लक्षण किया है, यह व्यासभाष्य पर आधारित है।

(१) जिस प्रकार भेदन किए जाते मृत्पिण्ड का चरम अवयव परमाणु कहलाता है उसी प्रकार काल के अपकर्ष का अवधिभूत अवयव क्षण कहा जाता है। पूर्वापर भाग से विकल (रहित) काल की कला क्षण कही जाती है। काल का यह लक्षण उक्त चारों व्याख्याकारों को मान्य है।[५] (२) जितने समय के द्वारा चलित परमाणु पूर्वदेश का त्यागकर उत्तरदेश को ग्रहण करता है, वह काल क्षण कहलाता है। अर्थात् चलनक्रिया-विशिष्ट परमाणु को अपने परमाणुपरिमितप्रदेश को त्यागकर अव्यवहित उत्तर के परमाणु-परिमितप्रदेश के ग्रहण करने में जितना समय लगता है, वह काल क्षण कहा जाता है। क्षण का यह द्वितीय लक्षण वाचस्पति एवं हरिहरानन्द आरण्यक के अनुसार है।[६]

विज्ञानभिक्षु एवं **नागेश भट्ट** का कहना है—भाष्यकार **व्यासदेव** ने **'यावता वा समयेन'**—से लेकर **'सम्पद्येत'**—द्वारा क्षण के दो लक्षण बतलाए हैं। चलित परमाणु

---

१ याम्प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति—व्या० भा० पृ० ३७७।

२ तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्—यो० सू० ३।५०।

३ सर्वसिद्धिमूर्द्धन्यं विवेकख्यातिरूपसंयमस्य ·····—यो० वा० पृ० ३७७।

४ क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्—यो० सू० ३।५२।

५ (क) लोष्ठस्य परमाणुर्यथा तथाऽपकर्षपर्यन्तः कालः क्षणः त० वै० पृ० ३८१। (ख) तु०—यो० वा० पृ० ३८१। (ग) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५८। (घ) तु—भा० पृ० ३८१।

६ तु०—त० वै० पृ० ३८१। भा० पृ० ३८१।

पूर्वदेश का त्याग जितने समय में करता है, वह अवच्छिन्न काल क्षण है।[१] परमाणु उत्तरदेश का ग्रहण जितने समय में करता है, वह अवच्छिन्न काल क्षण है।[२] इन व्याख्याकारों का मन्तव्य है—यदि इस प्रकार क्षण के दो लक्षण न किए जाएँ तो **व्यासदेव** द्वारा कथित काल के लक्षण का **'उत्तरदेशमुपसम्पद्येत'**—यह उत्तरांश व्यर्थ हो जायगा।[३]

मूल्यांकन- उपर्युक्त दोनों पक्षों में से **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेशभट्ट** का पक्ष असङ्गत प्रतीत होता है। व्यासभाष्य की क्षणसम्बन्धी पंक्तियों में जैसे क्षण के प्रथम लक्षण से द्वितीय लक्षण को पृथक् करने वाला **'वा'**-शब्द उपलब्ध होता है वैसे **विज्ञानभिक्षु** एवं **नागेशभट्ट** के अनुसार क्षण का उपर्युक्त तृतीय लक्षण मानने पर द्वितीय लक्षण से तृतीय लक्षण का भेद करने वाला विकल्पार्थक पद उपलब्ध नहीं होता है।[४] अतः **व्यासदेव** ने **'यावता वा समयेन'**-से लेकर **'सम्पद्येत'-पर्यन्त** भाष्य द्वारा क्षण का एक ही लक्षण किया है। इसलिए **वाचस्पति** एवं **हरिहरानन्द आरण्यक** द्वारा समर्थित पक्ष युतियुक्त प्रतीत होता है।

क्षण एवं उसके क्रम का स्वरूप—क्षणाख्य काल अभेद्य एवं वास्तविक है।[५] क्षणों की उत्तरोत्तर भाव रूप से अवस्थिति क्रम है।[६] क्षणों का उक्त पौर्वापर्यरूप क्रम अवास्तविक है।[७] क्षण क्षणिक है। अर्थात् वह अग्रिम क्षण में नष्ट हो जाता है। प्रथम क्षण के नष्ट होने पर द्वितीय क्षण उत्पन्न होता है। क्रम के आधारभूत क्षणों का एकत्रीभवन सम्भव न होने से तत्घटित क्रम अवास्तविक है। पातञ्जल-योगशास्त्र में वर्तमान कालविशिष्ट एक ही क्षण वास्तविक स्वीकार किया गया है।[८]

मुहूर्त अहोरात्रादि वास्तविक नहीं -क्रम के अवास्तविक होने से क्षणों के समूहरूप लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त, याम, अहोरात्र, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर एवं युग आदि भी वस्तुकोटि में नहीं आते हैं। लौकिक पुरुषों को विकल्प बुद्धि से मुहूर्त-आदि वास्तविक प्रतीत होते हैं।[९] यदि कोई कहे कि मुहूर्त्तादि स्थूलकाल कल्पित हैं तो क्षण में काल व्यवहार होने से उसे भी काल्पनिक मान लिया जाए? इसके उत्तर में कहना

---

१ (क) यावता वेति, जह्यादित्यनेनैकं लक्षणम्—यो० वा० पृ० ३८१।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५८।

२ (क) सम्पद्येतेति च लक्षणान्तरम्—यो० वा० पृ० ३८१।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५८।

३ अन्यथा वैयर्थ्यात्—या० वो० पृ० ३८१।

४ यावता स कालः क्षणः—व्या० भा० पृ० ३८१-३८२।

५ अभेद्यः कालविभागः सत्यः क्षणः—यो० सु० पृ० ७९।

६ तेषां क्षणानां यः प्रवाह उत्तरोत्तरभावेनावस्थानं तस्याविरलता—ना० बृ० वृ० पृ० ३५८।

७ न चेदृशः क्रमो वास्तवः—त० वै० पृ० ३८१।

८ तस्मात्सर्वदैव वर्त्तमानलक्षणः सत्वेक एक एव क्षणस्तिष्ठति—यो० वा० पृ० ३८३।

९ तस्माद् मुहूर्त्ताहोरात्रादयः क्षणसमाहारो बुद्धिनिर्माणः=शब्दज्ञानानुपाती वैकल्पिक एव पदार्थो न वास्तवः—भा० पृ० ३८२।

है कि क्षणरूप काल वस्तुकोटि में आता है। क्रम क्षणरूप अनुयोगी प्रतियोगी से घटित होता है। अर्थात् क्षण क्रम का आश्रय होता है।[१] क्रम के आधारभूत क्षण को वास्तविक मानना आवश्यक है। अतः स्थूलकाल अवास्तविक है; क्षणाख्य काल वास्तविक है।

काल के क्षणिक होने से पदार्थ क्षणिक नहीं—विज्ञानभिक्षु एवं नागेशभट्ट का कहना है—बौद्धदार्शनिकों ने समस्त पदार्थों को क्षणिक स्वीकार किया है; लेकिन योगदर्शन में धर्मिग्राहकप्रमाण के बल पर क्षण को ही अस्थिर (क्षणिक) माना गया है। क्षण की स्थिरता के सिद्धयर्थ 'यह वही क्षण है'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा किसी को नहीं होती है। क्षण के अतिरिक्त घट, पटादि भूत-भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में 'यह वही घट है'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा सभी को होती है। प्रत्यभिज्ञा पदार्थों के स्थिर होने पर ही हो सकती है। अतः योगसम्प्रदाय में क्षणाख्य काल के क्षणिक होने पर भी क्षणाश्रित पदार्थ बौद्धों की भाँति क्षणभंगुर नहीं है।[२]

काल नित्य एवं अखण्ड, क्षणादि व्यवहार औपाधिक : न्यायवैशेषिकों के इस मत का खण्डन—न्याय-वैशेषिकों की मान्यता है कि काल नित्य एवं एक अखण्ड द्रव्य है।[३] जो स्वरूपतः एक और नित्य है, उसके अपने में ही दो तीन स्वगतभेद नहीं हो सकते हैं; क्योंकि **'स्वस्य स्वभेदजनकत्वाभावात्'**—यह नियम है। इसलिए काल का क्षण, दिन, मास, संवत्सर आदि रूप से भेदव्यवहार उपाधि के कारण होता है।[४] उदाहरणस्वरूप एक ही पुरुष क्रिया-भेद से पाचक, पाठक आदि कहलाता है। उपाधियाँ चार प्रकार की हैं[५]—(१) स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नकर्म (२) पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभाग (३) पूर्वसंयोग-नाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभाव (४) उत्तरसंयोगावच्छिन्नकर्म। उपर्युक्त चारों उपाधियाँ तत्तद्विशिष्टकालरूप क्षण की हैं और दिन, मास आदि का व्यवहार क्षणों के समह के द्वारा होता है।[६] अतः क्षणादि व्यवहार औपाधिक है।

न्याय-वैशेषिकों की काल-सम्बन्धी उपर्युक्त मान्यता के खण्डनार्थ आचार्य **विज्ञानभिक्षु एवं नागेशभट्ट** का वक्तव्य है—पूर्वदेश के संयोगादि से अवच्छिन्न परमाणु की जो विभागादि क्रिया है वही क्षण है। अर्थात् पदार्थगत क्रिया (पदार्थ का पूर्वदेश त्याग एवं उत्तरदेश

---

[१] क्षणाख्यस्तु कालो वस्तुकोटौ प्रविष्टः; यतः क्रमावलक्षी क्रमेण लक्ष्यत आश्रीयते क्षणरूपप्रतियोग्यनुयोगिघटितत्वात् क्रमस्य—यो० वा० पृ० ३८२।

[२] (क) बौद्धमताच्चास्माकमयं विशेषो यदस्माभिर्धर्मिग्राहकप्रमाणबलात् क्षण एवा-स्थिर इष्यते क्षणस्थैर्यप्रत्यभिज्ञाऽऽद्यभावाद्; न क्षणातिरिक्तः क्षणिकः पदार्थः कश्चिदिष्यते। तैस्तु क्षणमात्रस्थाय्येव पदार्थः सर्व इष्यते—यो० वा० पृ० ३८२-३८३।

(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५९।

[३] अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि—वै० सू० २।२।६।

[४] परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः—का० ४६।

[५] मुक्तावली का० ४६ की व्याख्या पृ० २२६।

[६] दिनादिव्यवहारस्तु तत्तत्क्षणकूटैरेवेति—मुक्तावली का० ४६ की व्याख्या पृ० २२६।

से संयोग) के आधार पर क्षणादि व्यवहार होता है। काल क्षणों से भिन्न नित्य द्रव्य है—न्यायवैशेषिकों की यह विचारधारा युक्तियुक्त नहीं है। न्यायवैशेषिकों से प्रश्न है—परमाणुक्रियाविशिष्ट काल शुद्धकाल से भिन्न (अतिरिक्त) है अथवा उससे अभिन्न (अनतिरिक्त) है? इन दो विकल्पों में से उन्हें कौन सा विकल्प (पक्ष) मान्य है? यदि वे कहें कि परमाणुक्रियाविशिष्टकाल शुद्धकाल से भिन्न (अतिरिक्त) है तो यह उनके स्वसिद्धान्त के विरुद्ध होगा। क्योंकि **'विशिष्टः शुद्धान्नातिरिच्यते'**—अर्थात् विशिष्ट, शुद्ध से अतिरिक्त नहीं होता है—यह उनके शास्त्र का नियम है।[1] अन्यथा योगमत में आपके मत का प्रवेश भी हो जायगा। क्योंकि योगदर्शन में भी इसी प्रकार के गुणपरिणाम को क्षण कहा गया है। इस प्रकार नैयायिक प्रथम विकल्प स्वीकार नहीं कर सकते हैं।[2] यदि नैयायिक द्वितीय विकल्प (परमाणुक्रियाविशिष्टकाल एवं शुद्ध काल अभिन्न हैं) माने तो यह भी सम्यक् नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर विशेषण (परमाणुक्रिया), विशेष्य (काल) और उनका सम्बन्ध (परमाणुक्रिया और काल का सम्बन्ध) तीनों को काल की भाँति नित्य कहना होगा। यह नैयायिकों को मान्य नहीं होगा। क्योंकि इससे क्षण की क्षणभंगुरता सिद्ध नहीं हो सकेगी।[3] पूर्वदेश के संयोगादि से अवच्छिन्न परमाणुक्रिया के द्वारा क्षणव्यवहार को औपाधिक मानने पर नैयायिकों का पक्ष खण्डित हो जाता है। अतः क्षण-व्यवहार औपाधिक नहीं; अपितु काल क्षणरूप है। काल को क्षणरूप मानने पर क्षणघटित कार्यकारणभाव सम्बन्ध **(कार्योत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वं कारणत्वम्, कारणाव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तित्वं कार्यत्वम्)** भी उपपन्न हो जाता है।[4]

अपि च क्षण से भिन्न जिस काल को आप नित्य कहते हैं। वह भी उचित नहीं है। काल को नित्य मानने में प्रमाण नहीं है। इदानीं, तदानीं—इत्यादि के रूप से जो काल-व्यवहार होता है वह खण्डकालमात्रविषयक ही है।[5] श्रुति-स्मृतियों द्वारा काल की नित्यता जो कही गई है, वह भी क्षणप्रवाह की दृष्टि से है।[6] अतः काल नित्य नहीं; प्रत्युत क्षणिक है।[7]

---

[1] अतिरेके स्वसिद्धान्तविरोधात्—यो० वा० पृ० ३८३।

[2] (क) अस्मन्मतप्रवेशाच्च। अस्माभिस्तादृशस्यैव गुणपरिणामस्य क्षणत्ववचनात्—यो० वा० पृ० ३८३।
(ख) तु० ना० बृ० वृ० पृ० ३५९।

[3] (क) अनतिरेके विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धानां त्रयाणामपि स्थिरत्वेन क्षणव्यवहार-जननाक्षमत्वात्—यो० वा० पृ० ३८३।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५९।

[4] कार्यकारणभावादीनामपि क्षणघटितत्वादिति—यो० वा० पृ० ३८३।

[5] (क) नित्यकालेऽपि च प्रमाणं नास्ति; इदानीमित्याद्यखिलव्यवहाराणां खण्डकालमात्रविषयकत्वात्—यो० वा० पृ० ३८३।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३५९।

[6] कालनित्यत्वश्रुतिस्मृतयश्च प्रवाहरूपकालपराः—यो० वा० पृ० ३८२।

[7] तदस्मिन् शास्त्रे क्षण एव काल इति सिद्धान्तः—यो० वा० पृ० ३८३।

क्षणाख्यकाल पृथक् पदार्थ नहीं —न्याय-वैशेषिकों ने काल को पृथक् द्रव्य माना है।[१] यह भी योगाचार्यों को मान्य नहीं है। सांख्य-योगशास्त्रानुमोदित सृष्टि-वंश में काल नहीं आता है।[२] पंचमहाभूत के पश्चात् की घट, पटादि भौतिक सृष्टि पंचमहाभूत के अन्तर्गत आती है। इसी प्रकार काल-तत्त्व आकाश के अन्तर्गत है। **नागेश भट्ट** का वक्तव्य है—काल सत्त्वादियों के परिणामभूत शब्दतन्मात्र का परिणामविशेष है।[३] **विज्ञानभिक्षु** ने काल को सत्त्वादि गुणों का द्रव्यरूप परिणामविशेष बतलाया है।[४]

क्षणाख्यकाल के सम्बन्ध में सांख्ययोग का एक मत—'दिक्कालावाकाशादिभ्यः' सांख्यसूत्र २।१२, ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्यकारिका तैंतीस की मिश्र कृत व्याख्या तथा सांख्य के अन्य ग्रन्थों के काल-प्रकरण के अध्ययन से यह धारणा बनती है कि काल के सम्बन्ध में सांख्य-योग में एक मत नहीं है। वस्तुतः सांख्य के 'दिक्कालावाकाशादिभ्यः'—आदि प्रकरणों में यह निश्चित किया गया है कि काल तत्त्वान्तर नहीं है। उसका आकाश में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः काल के सम्बन्ध में दोनों दर्शनों की मान्यता तुल्य है।

वस्तुओं के भेदक तीन—दो तुल्य वस्तुओं के परस्पर-भेद के तीन आधार हैं[५]—जाति, लक्षण एवं देश। घटत्व, पटत्व आदि जातियाँ हैं। पदार्थगत नील, पीत आदि लक्षण हैं। पूर्व, उत्तर आदि देश हैं (१) जहाँ दो वस्तुओं का देश एवं लक्षण तुल्य होता है; वहाँ जाति के आधार पर उनका विभाग किया जाता है।[६] उदाहरणस्वरूप तुल्य देश में स्थित एवं तुल्यरूप (लक्षण) वाले गो एवं गवय का परस्पर-भेद जाति के आधार पर किया जाता है। क्योंकि गो में विद्यमान गोत्व-जाति गवय में नहीं है और गवय में विद्यमान गवयत्व-जाति गो में नहीं है। जहाँ दो पदार्थों का जाति एवं देश तुल्य होता है वहाँ लक्षण के आधार पर उनका विभाग किया जाता है।[७] उदाहरणस्वरूप पूर्वादि तुल्य देश में स्थित गोत्व-जाति वाली कालाक्षी एवं स्वस्तिमती गो का परस्पर-भेद लक्षण के आधार पर किया जाता है। क्योंकि एक कालाक्षीत्व और दूसरी स्वस्तिमतीत्व लक्षण वाली है। अतः दोनों भिन्न हैं। (३) जहाँ दो पदार्थों का जाति एवं लक्षण तुल्य होता है वहाँ देश के आधार पर उनका विभाग किया जाता है।[८] उदाहरणस्वरूप तुल्य जाति एवं लक्षण वाले दो आमलकों का देश के आधार पर भेद किया जाता है। क्योंकि एक आमलक पूर्वदेश में तथा दूसरा उत्तरदेश में स्थित है। अतः दोनों भिन्न हैं।

---

[१] क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः द्रव्याणि—का० ३।

[२] (क) प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥ सां० का० २२।
(ख) विशेषाविशेषलिङ्गालिङ्गानि गुणपर्वाणि—यो० सू० २।१९।

[३] स च सत्त्वादीनां शब्दतन्मात्रस्य परिणामविशेषः—ना० बृ० वृ० पृ० ३५९।

[४] स च क्षणाख्यः कालः सत्त्वादीनां द्रव्यरूपः परिणामविशेषः—यो० वा० पृ० ३८२।

[५] जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः—यो० सू० ३।५३।

[६] तुल्ययोर्देशलक्षणसारूप्ये जातिभेदोऽन्यताया हेतुः—व्या० भा० पृ० ३८५।

[७] तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणमन्यत्वकरम्—व्या० भा० पृ० ३८५।

[८] जातिलक्षणसारूप्याद् देशभेदोऽन्यत्वकरः—व्या० भा० पृ० ३८५।

क्षण के आधार पर पदार्थों का भेद—इस तरह साधारणजन उपरिर्वाणित तीन हेतुओं के आधार पर दो तुल्य पदार्थों का विभाग कर सकते हैं। जब पदार्थों का जाति, लक्षण एवं देश तीनों तुल्य होता है तब उनका भेदज्ञान लौकिक बुद्धि से सम्भव नहीं होता है। वह (भेदज्ञान) योगजशक्ति से ही सम्भव है। ऐसे तुल्य पदार्थों के परस्पर-भेदज्ञान के लिए क्षण एवं तत्क्रमविषयक संयम-साधना उपदिष्ट हुई है।

योगी के विवेकजज्ञान की परीक्षा के लिए जब कोई जिज्ञासु व्यक्ति पूर्व एवं उत्तर देश में स्थित तुल्य जाति एवं लक्षण वाले दो आमलकों के देश को चुपके से बदल देता है अर्थात् पूर्वदेशस्थ आमलक को उत्तरदेश में तथा उत्तरदेशस्थ आमलक को पूर्वदेश में रख देता है, तब दोनों आमलकों का देश भी तुल्य हो जाता है। तदनन्तर योगी से 'दोनों आमलकों में क्या अन्तर है?'—ऐसा पूछता है तो योगी क्षण एवं तत्क्रमविषयक-संयम की साधना के माहात्म्य से यह बतलाने में समर्थ होता है कि अमुक आमलक एतत्क्षणों में पूर्वदेश में था और अमुक आमलक एतत्क्षणों में उत्तरदेश में था। इस प्रकार क्षणविशिष्ट देश के भेद से योगी को आमलकों के भेद का यथार्थज्ञान होता है।[1] आमलक के उपर्युक्त दृष्टान्त की भाँति योगी अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं के पारस्परिक अन्तर को भी तत्-तत् परमाणु के देशविशिष्ट भिन्न-भिन्न क्षणों के साक्षात्कार द्वारा जान लेता है।[2] योगी मुक्त आत्माओं का भी परस्पर-भेद करने में समर्थ होता है। आत्मत्वेन सभी आत्माएँ समान हैं फिर भी अन्य कोणों से वे भिन्न-भिन्न हैं। योगी आत्माओं के उपाधिभूत भिन्न-भिन्न शरीरों के साक्षात्कार द्वारा उपधेय आत्माओं का अन्तर जानता है।

वैशेषिकसम्मत विशेषपदार्थ व्यर्थ—वैशेपिकों ने नित्य द्रव्यों में रहने वाला एक विशेप पदार्थ माना है, जो स्वयं सबसे व्यावृत्त है।[3] इनका कहना है कि दो घटों में घटत्व जाति विद्यमान है किन्तु फिर भी वे दो अलग-अलग व्यक्ति हैं। क्योंकि एक घट के अवयव दूसरे घट के अवयवों से भिन्न हैं। इसी प्रकार घट के अवयव अर्थात् दोनों कपालों का आपस में भेद है क्योंकि उन दोनों कपालों के अवयव परस्पर-भिन्न हैं। इस प्रकार सूक्ष्म की ओर बढ़ते हुए नैयायिक द्वचणुक तक पहुँचते हैं क्योंकि द्वचणुक सबसे सूक्ष्म कार्य है। द्वचणुक से भी सूक्ष्म अणु है पर वह कार्य नहीं, अपितु नित्य कारण रूप है। परन्तु वे दोनों परमाणु परस्पर भिन्न हैं, इसमें क्या प्रमाण है? इसके लिए वैशेषिकों ने विशेष पदार्थ की कल्पना की है। अर्थात् समानजातीय अणुओं में जहाँ अवयव भेदक नहीं हो सकते, वहाँ भेद करने वाला पदार्थ विशेष है। इस प्रकार एक परमाणु का दूसरे परमाणु से भेद दोनों के विशेष भिन्न-भिन्न होने के कारण है और प्रत्येक विशेष स्वयं व्यावृत्तरूप है। अतः एक विशेष का दूसरे विशेष से भेद करने के लिए किसी अन्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यदि परमाणुओं में विशेष पदार्थ न माना जाय तो जलीय तथा पार्थिव परमाणुओं का कोई भेद न

---

[1] पूर्वामलकसहक्षणो देश उत्तरामलकसहक्षणदेशाद्भिन्नः। ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने। अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति—व्या० भा० पृ० ३८५-३८६।

[2] एतेन दृष्टान्तेन परमाणोः...अन्यत्वप्रत्ययो भवति—व्या० भा० पृ० ३८६।

[3] अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्त्तितः—का० १०।

होने से जलीय परमाणु से पार्थिव द्व्यणुक एवं पार्थिव परमाणु से जलीय द्व्यणुक की उत्पत्ति की आपत्ति आयगी। अतः विशेषपदार्थ को मानना आवश्यक है।

व्यासदेव आदि व्याख्याकारों का कहना है कि वैशेषिकों का विशेष-पदार्थसम्बन्धी उपर्युक्त मत अप्रामाणिक है। क्योंकि परमाणुओं में देशभेद लक्षणभेद तथा मूर्त्ति, व्यवधान और जलत्व, पार्थिवत्वादि रूप से जातिभेद विद्यमान है। फलतः भेद बन सकता है।[१]

विवेकजज्ञानजन्य फल का स्वरूप—विवेकजज्ञान का मुख्य फल है—साधक को संसार सागर से पार लगाना। इसलिए विवेकजज्ञानजन्य फल का अपर पर्याय तारक-ज्ञान है। विवेकजज्ञान के माहात्म्य से योगी अतीत अनागतकालविशिष्ट समस्त पदार्थों (सर्वविषय) को उनके अशेषविशेष रूप के सहित (सर्वथाविषय) युगपत् (अक्रम) जानने में समर्थ होता है।[२] इस अवस्था में ऐसा कोई भी पदार्थ अवशिष्ट नहीं रहता है, जो साधक की ज्ञानसीमा से बाहर हो।[३] इस समय साधक पूर्णज्ञानवान् होता है। इससे अधिक और कोई परिपूर्ण ज्ञान नहीं है। सम्प्रज्ञातावस्थाकालिक ज्ञान इसी ज्ञान का अंश है, इसलिए इसे योगप्रदीप कहते हैं।[४] विष्णुपुराण में सामान्य ज्ञानों को प्रदीपतुल्य तथा विवेकजज्ञान को सूर्यतुल्य बतलाते हुए लिखा है[५]—'हे विप्र! अज्ञान घनघोर अन्धकार की तरह है। विषय-इन्द्रियजन्य ज्ञान दीपक की तरह है (अल्प यथार्थज्ञान का प्रकाश करने वाला है) लेकिन विवेक अर्थात् प्रकृति, पुरुष के भेदज्ञान से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षात्मक ज्ञान सूर्य की भाँति है।' यही विवेकजज्ञान परवैराग्य के द्वारा कैवल्य का हेतु है।

अभी तक जितनी भी सिद्धियाँ बतलाई गई हैं; वे सभी सिद्धियाँ समाधिजासिद्धि के अन्तर्गत आती हैं। पतञ्जलि ने समाधि (संयम)-जन्य सिद्धि के अतिरिक्त कैवल्यपाद में चार प्रकार की और सिद्धियाँ भी बतलाई हैं[६]—जन्मजासिद्धि, औषधिजासिद्धि, मन्त्रजासिद्धि तथा तपोजासिद्धि।

जन्मजासिद्धि—इहजन्म में किए गए उत्कट शुभ कर्म के फलस्वरूप साधक अग्रिम जन्म में दिव्य-देह प्राप्त करता है। परिणामतः दिव्य देह की परिचायिका अणिमा आदि सिद्धियाँ भी उसे जन्मतः समुपलब्ध रहती हैं।[७] उसे साधारण व्यक्तियों की भाँति अणिमादि सिद्धियों के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता है। पुत्र को प्रयत्ननिरपेक्षतः प्राप्त होने वाली

---

१ तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्त्तिव्यवधिजातिभेदश्चान्यत्वहेतुः—व्या० भा० पृ० ३८६-७।

२ तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्—यो० सू० ३।५४।

३ अतएव विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णं नास्य क्वचित्किञ्चित्कथञ्चित्कदाचिदगोचर इत्यर्थः—त० वै० पृ० ३८८।

४ अस्यैवांशो योगप्रदीपः—व्या० भा० पृ० ३८८।

५ अन्धं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम्।
यथा सूर्यस्तथा ज्ञानं यद्विप्रर्षे! विवेकजम्॥—वि० पु० ६।५।६२।

६ जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः—यो० सू० ४।१।

७ ऐहिकेन कर्मणा देवादिदेहान्तरे जन्ममात्रेण भवन्ती अणिमादिसिद्धिर्जन्मजा—यो० वा० पृ० ३९२।

पैतृक सम्पत्ति का भाँति अणिमादि सिद्धियाँ साधक को स्वतः हस्तमलक रहती हैं। परमहंस **शुकदेव, कपिल** आदि महर्षियों के विषय में प्रसिद्ध है कि वे जन्मतः दिव्य-ज्ञान सम्पन्न थे।

औषधिजासिद्धि—शास्त्रों में औषधि-विशेष के सेवन से भी सिद्धि-प्राप्ति बतलाई गई है। असुरों के भवनों में दिव्यता प्रदान करने वाले पारा आदि रसायनों का उपयोग बहुधा होता है, क्योंकि वे ही इस साधन (विद्या) के ज्ञाता होते हैं। इसलिए **व्यासदेव, वाचस्पति** आदि व्याख्याकारों का कहना है कि किसी प्रकार असुरों के भवन में गया हुआ व्यक्ति जब असुर-कन्याओं द्वारा सादर-समर्पित रसायन का पान करता है, तब रसायन की दिव्य-शक्ति से वह अजर-अमर हो जाता है। तथा अन्य कई प्रकार की सिद्धियाँ भी प्राप्त करता है।[1] **वाचस्पति** एवं **बलदेव मिश्र** ने लिखा है कि **माण्डव्य मुनि** रसायन के उपयोग द्वारा इहजन्म में ही **विन्ध्यवासी** हो गए थे।[2] **सदाशिवेन्द्रसरस्वती** ने रसायन के सेवन द्वारा **माण्डव्य** आदि मुनियों की कामादि (वज्रसंहननादि) सिद्धियाँ बतलाई हैं।[3] ऐसा भी कहा जाता है कि रसायन प्रभृति औषधियों के द्वारा साधक ताम्र, सुवर्ण आदि का निर्माण करने में समर्थ होता है। तथा कायाकल्पकारक औषधियों के सेवन से दीर्घ-आयुष् प्राप्त करता है।

मन्त्रजासिद्धि—मन्त्रों में अद्भुत शक्ति निहित है। मन्त्रों का विधिपूर्वक जप करने से साधक आकाश-गमन तथा अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त करता है।[4] **सदाशिवेन्द्रसरस्वती** ने त्रैपुरादि मन्त्रों[5] तथा **नारायणतीर्थ** ने शिव, विष्ण्वादि[6] मन्त्रों के जप करने का उपदेश दिया है। **नारायणतीर्थ** का कहना है कि होम, पूजा आदि जनित सिद्धियाँ मन्त्रप्रधान होने से मन्त्रजासिद्धि के अन्तर्गत आती हैं।[7] उदाहरणस्वरूप **नन्दीश्वर** को **महादेव** की आराधना से दिव्य देह प्राप्त हुआ था।

तपोजासिद्धि—तपस् के अनुष्ठान से संकल्पसिद्धि प्राप्त होती है।[8] संकल्प करते ही तपस्वी संकल्पित पदार्थ (देह अणुभाव को प्राप्त हो इत्यादि) को हस्तामलक करता है। तपोजन्य सिद्धि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए **वाचस्पति** लिखते हैं कि साधक जहाँ पर जो कुछ देखने, सुनने और मनन करने की कामना करता है वहाँ पर उसी पदार्थ को देख, सुन और मनन कर पाता है।[9] **विश्वामित्र** के लिए प्रसिद्ध है कि उन्हें तपोजन्य सिद्धि प्राप्त थी।

---

[1] मनुष्यो हि कुतश्चिन्निमित्तादसुरभवनमुपसम्प्राप्तः कमनीयाभिरसुरकन्याभिरुपनीतं रसायनमुपयुज्याजरामरणत्वमन्याश्च सिद्धीरासादयति—त० वै० पृ० ३९२।

[2] (क) माण्डव्यो मुनी रसोपयोगाद्विन्ध्यवासीति—त० वै० पृ० ३९२।
(ख) तु०—यो० प्र० पृ० ७९।

[3] तत्सेवया माण्डव्यादीनां कायादिसिद्धिः—यो० सु० पृ० ८२।

[4] मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिलाभः—व्या० भा० पृ० ३९३।

[5] मन्त्रस्त्रैपुरादिः—यो० सु० पृ० ८२।

[6] मन्त्रेण शिवविष्ण्वादिमन्त्रजपेन—यो० सि० चं० पृ० १४१।

[7] होमपूजादिसिद्धिस्तु मन्त्रप्रधानत्वान्मन्त्रान्तर्गतैव—यो० सि० चं० पृ० १४१।

[8] तपसा सङ्कल्पसिद्धिः—व्या० भा० पृ० ३९३।

[9] यत्र कामयते श्रोतुं वा मन्तुं वा तत्र तदेव श्रृणोति मनुते चेति—त० वै० पृ० ३९२-३।

उपरिवर्णित चार प्रकार की जन्मादिज सिद्धियों में से तपोजा एवं मन्त्रजा सिद्धियों का—वहिरङ्गसाधनसाध्य सिद्धियों में परिगणित नियम के तृतीय एवं चतुर्थ भेद से प्राप्त होने वाली सिद्धियों में अन्तर्भाव किया जा सकता है। क्योंकि तपःसाध्य सिद्धि तपःप्रधान है एवं स्वाध्यायसाध्य सिद्धि मन्त्रप्रधान है। समाधिजासिद्धि से संयम (धारणादि) साध्य सिद्धियाँ ली गई हैं,[१] लेकिन यम, नियमादि, धारणादि की पूर्व-अवस्थाएँ होने से तत्साध्य (यमादिसाध्य) सिद्धियाँ समाधिजासिद्धि के अन्तर्गत आ सकती हैं। इसी प्रकार वहिरङ्ग साधन यमादि—की अपेक्षा औषधि रूप साधन पूर्णतया वहिरङ्ग है, फिर भी वहिरङ्गता समान होने से औषधिजासिद्धियाँ तद्रूप ही हैं। इस प्रकार मुख्य रूप से सिद्धियाँ दो प्रकार की हैं—प्रयत्नसापेक्ष समाधिजासिद्धियाँ एवं प्रयत्ननिरपेक्ष जन्मजा सिद्धियाँ।

उपरिवर्णित निखिल सिद्धियों के अतिरिक्त निर्माणचित्त-संज्ञक सिद्धि का भी वर्णन योगशास्त्र में उपलब्ध होता है। वस्तुतः यह सिद्धि ऊपर कही सिद्धियों की भाँति किसी विशेष साधनाभ्यास से प्राप्त नहीं होती है। योग-साधना के पूर्ण होने पर जीवन्मुक्त योगी में निर्माणचित्त की शक्ति स्वतः प्रादुर्भूत होती है। अतः यह सिद्धि योगाभ्यासियों के लिए नहीं अपितु युक्तयोगियों के लिए है। इसलिए योगशास्त्र में निर्माणचित्तसंज्ञक विभूत्यर्थ साधन उपदिष्ट नहीं हुआ है। योग के **व्यासदेव, वाचस्पति** आदि व्याख्याकारों ने निर्माणचित्त की उत्पत्ति, क्रिया (व्यापार), एवं प्रयोजन के बारे में निम्नाङ्कित प्रकार से विचार किया है।

निर्माणकायविभूति निर्माणकाय का अर्थ है योगी द्वारा अनेक शरीरों का युगपत् निर्माण किया जाना। ये निर्मित देह साधारण देह की तरह बुद्धयादि सभी करणों से युक्त रहते हैं। इसीलिए भाष्यकार व्यासदेव ने योगसूत्र[२] की अवतरणिका में प्रश्न उठाया है कि जब योगी सिद्धि के बल पर एक ही समय नाना शरीरों का निर्माण करता है, तब वे सब शरीर क्या एक (प्राचीन) मनस् वाले होते हैं अथवा अनेक (नूतन) मनस् वाले? उत्तर है[३]---योगी नूतन शरीरों का निर्माण चित्तसहित करता है।[४] अर्थात् निर्माण-शरीरों की संख्या के बराबर चित्तों की भी रचना करता है। सूत्र एवं भाष्य में प्रयुक्त चित्त पद के द्वारा यह नहीं कहा गया है कि योगी के नवीन देहों के साथ केवल नवीन चित्तों की ही उत्पत्ति होती है, अन्य करणों की नहीं। भाष्य के व्याख्याकार **विज्ञानभिक्षु, नागेशभट्ट** आदि ने स्पष्ट लिखा है—देह एवं मनस् की भाँति निर्माणबुद्धि तथा निर्माण

---

१ संयमजाः सिद्धयो व्याख्याताः—भा० पृ० ३९३।

२ यदा तु योगी बहून् कायान् निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति—व्या० भा० पृ० ३९६।

३ निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्—यो० सू० ४।४।

४ (क) ततः सचित्तानि भवन्ति - व्या० भा० पृ० ३९७।
(ख) भाष्ये सचित्तानि शरीराणीत्यर्थः—यो० वा० पृ० ३९७।
(ग) स्वेच्छयैकमनेकं वा चित्तं कायं च निर्मिमीते—भा० पृ० ३९७।

अहंकारादि भी समान युक्ति से अपने-अपने उपादानकारणों से उत्पन्न होते हैं।[१] अतः कर्मवशात् प्राप्त देह की भाँति योगी के संकल्प से निर्मित नूतन देहों को भी बुद्ध्यादि करणों से उक्त समझना चाहिए। अन्यथा योगी के निर्माणदेह का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। श्रुति में योगी द्वारा निर्मित देहों (चित्तों) का सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है।[२]

निर्माणकायादि का उपादानकारण—यद्यपि देहों के निर्माण में योगी का संकल्प प्रधान है किन्तु वह उपादानकारण नहीं, निमित्तकारण है। उपादानकारण तत्-तत् तत्त्वों की प्रकृतियाँ हैं।[३] सभी शरीरों की प्रकृति पृथ्वी आदि भूत हैं। समस्त इन्द्रियों की प्रकृति अहंकार है। अहंकार की प्रकृति बुद्धि एवं बुद्धि की प्रकृति प्रधान है। योगी के संकल्प करते ही तत्तत् भूतादि प्रकृतियाँ उसी प्रकार कार्य-व्यापृत हो जाती हैं जैसे राजा की आज्ञा से सेवक। अतः योगी के संकल्प से निर्मित शरीर भौतिक होता है; अभौतिक नहीं।

निर्माणकाय की उत्पत्ति का प्रयोजन—व्यक्ति देह का त्याग तभी कर पाता है जब उसकी प्रारब्ध-कर्मराशि, सुख-दुःखादि भोग को प्रदान करके नष्ट हो जाती है। देहत्याग का अन्य कोई उपाय नहीं है। लेकिन साधारण व्यक्ति से योगी में इतना अन्तर है कि वह इच्छानुसार मरने के लिए कायव्यूह (निर्माणकाय) का सहारा लेता है। वह निर्मित अनेक शरीरों के द्वारा कर्मफल का युगपत् उपभोग करके अचिरात् देहत्याग (मृत्यु) का वरण करता है। कायव्यूह निर्माण का यही प्रयोजन है।[४] सांख्य में भी नाना प्रकार के दुःखों से घिर हुए प्राणियों को उपदेश देने के लिए योगी द्वारा देहनिर्माण की बात आती है। यह प्रसिद्ध है कि परमर्षि कपिल ने आसुरि को सांख्यशास्त्र का उपदेश देने के लिए निर्माणचित्त का आश्रय लिया था।[५]

निर्माणचित्तों की कार्य-व्यवस्था[६]—योगी के संकल्पमात्र से निर्मित नूतन चित्त उच्छृंखल ढंग से स्वेच्छानुसार व्यापार (क्रियाएँ) नहीं करते हैं। वे योगी के पूर्ण नियन्त्रण में रहते

---

[१] (क) बुद्ध्यहङ्कारा अपि अनेके स्वप्रकृतिप्रधानबुद्ध्यापूराद्भवन्तीति प्रत्येतव्यं युक्तिसाम्यात्—यो० वा० पृ० ३९७।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३६५।

[२] एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः।
भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येकः पुनस्तु सः॥
तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि।
एकधा तद् द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः॥
योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च।—यो० वा० पृ० ३९७।

[३] निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्—यो० सू० ४।४।

[४] ततश्च योगी……बहून् कायान् निर्माय सहसा फलं भुक्त्वा स्वेच्छया म्रियते—त० वै० पृ० ३३७।

[५] आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच—पंचशिखाचार्य का वचन। व्या० भा० पृ० ७८-७९।

[६] प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्—यो० सू० ४।५।

हैं। योगी अपने पुरातन चित्त (निर्मातृचित्त) को नायक (प्रेरक) के रूप में नियुक्त करता है। इस नायक (अधिष्ठातृ) चित्त की देखरेख में अवान्तर-चित्त कार्य करते हैं।[१] इस प्रकार नियन्त्रित चार-पाँच नवीन (निर्माण) चित मिलकर एक ही समय में परस्पर विरोधी कई कार्यों को सम्पन्न करते हैं।[२]

देह के (अण्वादि) परिणामान्तर का हेतु—साधक की देह का अणु या महत् रूप से परिणामान्तर संकल्प-मात्र से नहीं अपितु देह के उपादानकारण (प्रकृति) के आधार पर होता है।[३] देह का अणु एवं लघ्वादि परिणामविशेष देहगत अवयवों के अपचय (ह्रास) से होता है[४] तथा महदादि (महिमा आदि सिद्धि) रूप परिणामविशेष देहगत अवयवों के उपचय (वृद्धि) से होता है। श्रीवामन भगवान् के शरीर का क्षण भर में त्रिभुवनव्यापी परिणाम और श्रीकृष्ण भगवान् के वपुष् का क्षण भर में विश्व-रूप परिणाम प्रकृति (शरीर के उपादानकारणों) के अवयवों के उपचय से हुआ था। महर्षि अगस्त्य के समुद्र-पान करते समय समुद्र का स्वल्प परिणाम प्रकृति के अवयवों के अपगम से हुआ था। प्रकृतिगत अवयवों के उपचय को सूत्र में **'प्रकृत्यापूर'**—शब्द से कहा गया है।[५] अतः उपादानकारणों का एकत्रीकरण **'प्रकृत्यापूर'**—शब्द का अर्थ है। इसी प्रकार मनुष्यादि रूप से प्राप्त देह का देव, तिर्यक् आदि जाति रूप से परिणाम (परिवर्तन) अथवा एक देह का नाना देह रूप परिणाम (कायव्यूह) प्रकृति (उपादानकारण) के आपूरण से होता है।[६] देह की प्रकृति भूत एवं इन्द्रियों की प्रकृति अहंकार है।[७]

प्रकृत्यापूर में धर्मादि निमित्तकारण—कार्य पर कारण का अनुग्रह निरपेक्ष नहीं; अपितु धर्मादि निमित्त सापेक्ष होता है।[८] अतः सदा सभी को नूतन शरीर आदि का लाभ

---

१ (क) योगी पूर्वसिद्धं यच्चित्तं तदेव सर्वचित्तानां प्रयोजकं निर्मिमीते नियामकं करोति ततस्तु चित्ताभिप्रायात् तेषामवान्तरचित्तानां प्रवृत्तिरित्यर्थः—यो० वा० पृ० ३९८।
(ख) तु०—ना० बृ० वृ० पृ० ३६५।
(ग) तु०—त० वै० पृ० ३९८।

२ प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् पुराणवाक्य त० वै० पृ० ३९८।

३ मनुष्यादिजातिरूपः परिणामः स प्रकृत्यापूराद् भवति न तु सङ्कल्पमात्रादित्यर्थः—यो० वा० पृ० ३९३।

४ अणिमादिरूपपरिणामविशेषश्च प्रकृत्यपगमात्—यो० वा० पृ० ३९३।

५ आपूरशब्देनापि प्रकृतीनां संहननमपि ग्राह्यम्—यो० वा० पृ० ३९४।

६ मनुष्यजातिपरिणतानां कायेन्द्रियाणां यो देवतिर्यग्जातिपरिणामः स खलु प्रकृत्यापूरात्—त० वै० पृ० ३९३-३९४।

७ कायस्य हि प्रकृतिः पृथिव्यादीनि भूतानि, इन्द्रियाणां च प्रकृतिरस्मिता—त० वै० पृ० ३९४।

८ कायेन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण धर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणा इति व्या० भा० पृ० ३९४।

नहीं होता है; अपितु जो योग-साधना करता है उसी के देह में योगजधर्म के बल से प्रकृतियाँ अपने-अपने अवयवों के उपचय एवं अपचय द्वारा अनुग्रह करती हैं।[1] अतः प्रकृत्यापूर का सिद्धान्त धर्मादिनिमित्तक है, स्वाभाविक नहीं। तथापि इससे प्रकृति के स्वातन्त्र्य का नियम खण्डित नहीं होता है।

यदि धर्मादि को प्रकृत्यापूर का प्रयोजक कहा जाता तो प्रकृति की स्वतन्त्रता भंग हो हो सकती थी; लेकिन धर्मादि को प्रकृत्यापूर का प्रयोजक नहीं कहा गया है। उसे निमित्त-मात्र बतलाया गया है।[2] जो निमित्त होता है वह प्रयोजक (प्रेरक) नहीं होता है। धर्मादि प्रयोजक बन भी नहीं सकते; क्योंकि धर्मादि भी अपने-अपने कारण के कार्य हैं। कार्य कारण को उत्पन्न नहीं करता है अर्थात् कार्य के द्वारा कारण प्रवृत्त नहीं होता है। कारण के अधीन रहकर कार्य की उत्पत्ति होती है। अतः कारण के प्रति कार्य परतन्त्र है। जो स्वतन्त्र होता है, वही कार्योत्पत्ति के प्रति प्रयोजक होता है।[3] कुम्हार के बिना मृत्, दण्ड, चक्र, सलिल आदि घटादि कार्य के लिए प्रवृत्त नहीं होते हैं, अपितु स्वतन्त्र कुलाल के द्वारा ही वे कार्योत्पत्ति के लिए अग्रसर होते हैं।[4] अतः दण्ड चक्रादि की भाँति धर्मादि प्रकृत्यापूर के प्रयोजक नहीं, अपितु निमित्तमात्र हैं। अतः प्रकृति की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त भंग नहीं होता है।

व्यासदेव, वाचस्पति आदि ने प्रकृत्यापूर के प्रति धर्मादि की निमित्तकारणता को लौकिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है।[5] उनका कहना है कि कृषक जल से भरी उच्चतर क्यारी से जल को निम्न से निम्नतर क्यारियों में अपने हाथ के द्वारा नहीं पहुँचाता है। केवल जल के बाहर जाने के प्रतिबन्धक आलवाल को हटा देता है। आलवाल के भेदन

---

[1] योगजधर्मबलात् प्रकृतय आकृष्यन्त इति—यो० वा० पृ० ३९४।

[2] (क) सत्यं धर्मादयो निमित्तं न तु प्रयोजकाः त० वै० पृ० ३९५।
(ख) धर्मादिरूपं निमित्तकारणं न प्रकृतीनां प्रेरकम् ना० बृ० वृ० पृ० ३६४।

[3] (क) तेषामपि प्रकृतिकार्यत्वाद्। न च कार्यं कारणं प्रयोजयति, तस्य तदधीनोत्पत्तितया कारणपरतन्त्रत्वात्, स्वतन्त्रस्य च प्रयोजकत्वात् त० वै० पृ० ३९५।
(ख) परतन्त्रं स्वतन्त्रस्य प्रवर्त्तकमयुक्तमित्यर्थः - यो० वा० पृ० ३९४-३९५।
(ग) धर्मादिनिमित्तं न प्रकृतिं कार्यान्तरजननाय प्रयोजयति विकारस्थत्वात्—भा० पृ० ३९५।
(घ) परतन्त्रेण कार्येण स्वतन्त्रस्य कारणस्याप्रवर्तनात् ना० बृ० वृ० पृ० ३६४।

[4] न खलु कुलालमन्तरेण मृद्दण्डचक्रसलिलादय उत्पित्सितेनोत्पन्नेन वा घटेन प्रयुज्यन्ते, किन्तु स्वतन्त्रेण कुलालेन—त० वै० पृ० ३९५।

[5] निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् - यो० सू० ४।३।

होते ही जल स्वतः निम्न, निम्नतर, निम्नतम क्यारियों में पहुँच जाता है[१]। इसी प्रकार धर्म भी प्रकृत्यापूर के प्रतिवन्धस्वरूप अधर्म का भेदन मात्र करता है। प्रतिबन्धक के हटने पर प्रकृति स्वयं ही प्रकृत्यापूर में प्रवृत्त होती है।[२] उदाहरणस्वरूप नन्दीश्वर कुमार ने महादेव की उत्कृष्ट भक्ति द्वारा जिस धर्म का संचय किया उस (धर्म) के द्वारा अधर्म की निवृत्ति हुई। अधर्मरूप आवरण के क्षीण होते ही मानवशरीररूप क्षुद्र-परिणाम के अपाय-पूर्वक देवशरीररूप उत्कृष्ट परिणाम की प्राप्ति नन्दीश्वर को प्रकृत्यापूर के सिद्धान्तानुसार हुई। ठीक इसी प्रकार अधर्म भी धर्म की निवृत्ति द्वारा प्रकृत्यापूर में निमित्त होता है।[३] देव नहुष के सर्पभावरूप प्रकृत्यापूर में अधर्म निमित्त था। इस प्रकार प्रकृत्यापूरणार्थ धर्माधर्म की निमित्तता आवरण भंग करने तक स्वीकृत है।

---

१ यथा क्षेत्रिकः केदारादपाम्पूरणात् केदारान्तरं पिप्लावयिषुः समं निम्नं निम्नतरं वा नापः पाणिनाऽपकर्षति, आवरणं त्वासां भिनत्ति, तस्मिन् भिन्ने स्वयमेवापः केदारान्तरमाप्लावयन्ति व्या० भा० पृ० ३९५।

२ तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणधर्मं भिनत्ति; तस्मिन् भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति—व्या० भा० पृ० ३९५-३९६।

३ विपर्येणाप्यधर्मो धर्मं बाधते—व्या० भा० पृ० ३९६।

अध्याय—१३

कैवल्य

विज्ञानवादि-बौद्धसम्मत आत्मवाद तथा निर्वाण (मोक्ष) का खण्डन

जैनसम्मत आत्मवाद तथा मोक्ष का खण्डन

वेदान्तसम्मत आत्मवाद तथा मोक्ष का खण्डन

न्यायसम्मत आत्मवाद तथा मोक्ष का खण्डन

मीमांसकसम्मत आत्मवाद तथा मोक्ष का खण्डन

शैवागमसम्मत आत्मवाद तथा मोक्ष का खण्डन

योगसम्मत आत्मवाद तथा मोक्ष की स्थापना
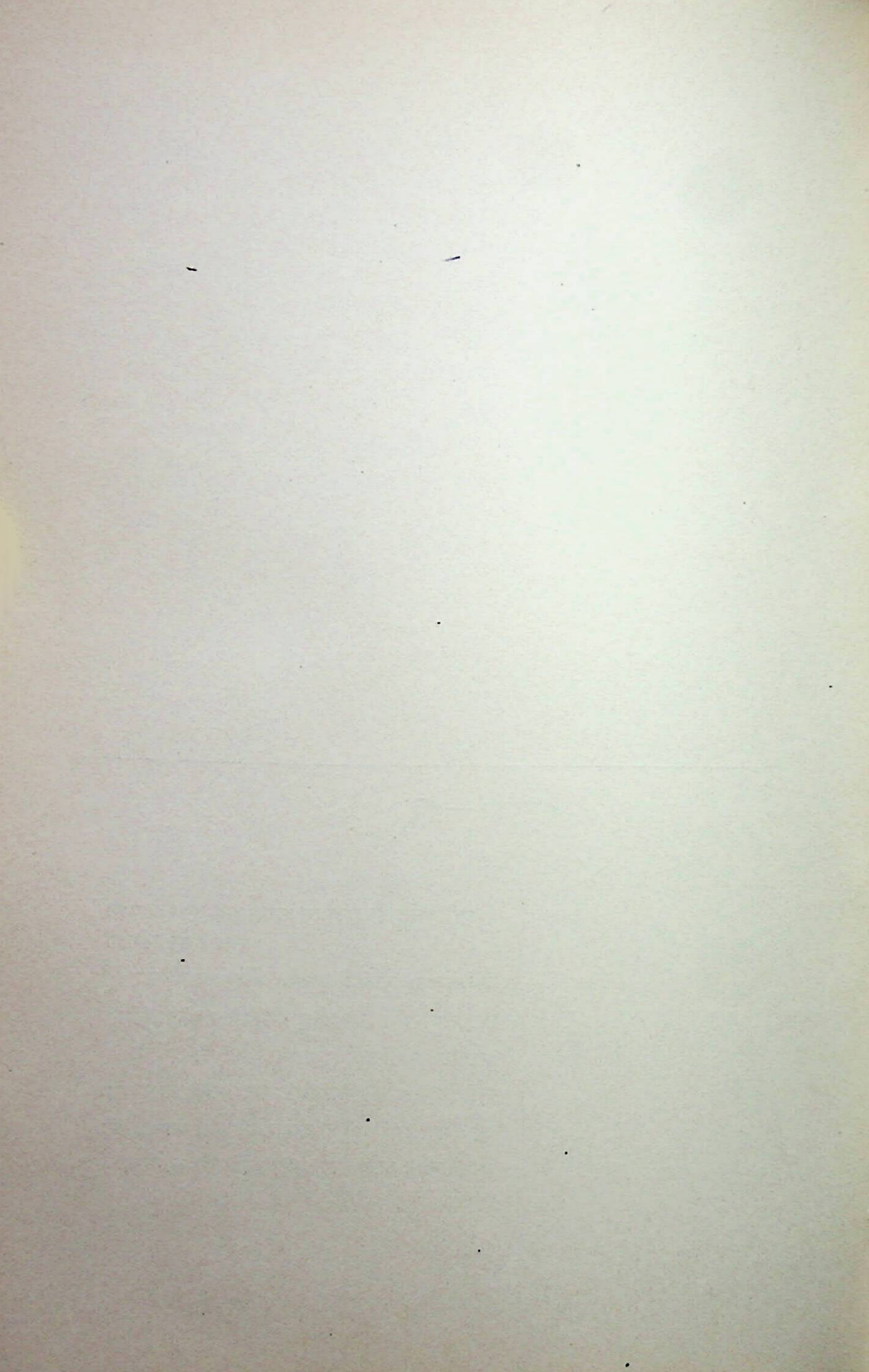
अध्याय—१३

कैवल्य

योगसम्मत कैवल्य के प्रतिष्ठापनार्थ आचार्य **भोजदेव** ने नास्तिक दर्शनशास्त्री बौद्ध तथा जैन एवं आस्तिक दर्शनशास्त्री वेदान्त, न्याय, मीमांसक तथा शैवागम के आत्म-सिद्धान्त पर आधारित मोक्ष-प्रकरण की समालोचना की है। परमतखण्डनपुरस्सर योगानुमोदित कैवल्य की स्थापना का यह दृष्टिकोण पातञ्जल-योग की अन्य टीकाओं में उपलब्ध नहीं होता है।

विज्ञानवादी बौद्धसम्मत आत्मवाद तथा निर्वाण (मोक्ष) का खण्डन

विज्ञानवाद के उद्भावक **असङ्ग, वसुबन्धु** आदि आचार्य संवित् पदार्थ को आत्मा मानते हैं। यह संवित् दो प्रकार का है[1] आलयविज्ञान तथा प्रवृत्तिविज्ञान। इनमें से अहमाकार संवित्-धारा आलयविज्ञान है। आलयविज्ञान स्वप्रकाश है। विज्ञानवादी विज्ञान-सन्तान के उच्छेद को निर्वाण अर्थात् मुक्ति कहते हैं।

इसके उत्तर में आचार्य **भोजदेव** का वक्तव्य है कि आलयविज्ञानात्मक क्षणिक ज्ञान को आत्मा नहीं माना जा सकता; अन्यथा कर्मफलभोग की व्यवस्था नहीं बन पायगी। एक क्षणिक विज्ञान कर्म करे और द्वितीय क्षणिक विज्ञान फल का उपभोग करे, यह व्यवहारविरुद्ध है।[2] किञ्च अनुभव एवं स्मरण के सामानाधिकरण्य का सिद्धान्त उच्छिन्न होगा। विज्ञानरूप आत्मा को सुख-दुःख आदि का वास्तविक भोक्ता एवं घट, पट आदि विषयों का वास्तविक ज्ञाता मानने पर उसे परिणामी कहना पड़ेगा। क्योंकि जिस काल में विज्ञानरूप आत्मा में समवायसम्बन्ध से दुःख उत्पन्न होता है, उसी काल में सुखानुभूति नहीं हो सकती। अतः ज्ञान आदि अवस्थाभेद से अवस्थावान् में भेद मानना पड़ेगा। फलतः आत्मा का परिणामित्व सिद्ध होगा। इससे आत्मा को चैतन्यरूप नहीं कहा जा सकेगा।[3] क्योंकि परिणामी पदार्थ जड़ होता है। योगाचार्य बौद्धसम्मत विज्ञानरूप आत्मा का उच्छेदरूप निर्वाण (मोक्ष) भी पुरुषार्थप्रद न होने से अयुक्त है। क्योंकि किसी के अपने स्वरूप का नाश उसका पुरुषार्थ नहीं हो सकता।

---

[1] तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम्।
तत्स्यात् प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत्। —स० द० सं० पृ० ८२।

[2] कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च—रा० मा० पृ० ७६।

[3] यदि पुनरेवंभूतमार्गव्यतिरेकेण पारमार्थिकमात्मनः कर्तृत्वाद्यङ्गीक्रियेत, तदाऽस्य परिणामित्वप्रसङ्गः। परिणामित्वाच्चानित्यत्वे तस्य आत्मत्वमेव न स्यात्। यथा ह्येकस्मिन्नेव समये एकेनैकरूपेण न परस्परविरुद्धावस्थानुभवः सम्भवति......—रा० मा० पृ० ७७।

जैनसम्मत आत्मवाद तथा मोक्ष का खण्डन

जैनसम्प्रदाय में आत्मा को अणुपरिमाण अथवा विभुपरिमाण नहीं, प्रत्युत मध्यम-परिमाण का माना गया है। हस्ती, मच्छर आदि के शरीरावच्छेद से भिन्न-भिन्न परिमाण धारण करने से आत्मा परिणामी भी है। उक्त प्रकार के आत्मा का अलोकाकाश-गमन मोक्ष है।[1]

इसके उत्तर में आचार्य **भोजदेव** का कहना है कि आत्मा को परिणामी मानने पर उसकी चैतन्यरूपता नहीं बन सकेगी। वह जड़ हो जायगा। क्योंकि परिणामित्व एवं अचेतनत्व का अविनाभाव सम्बन्ध है। उदाहरणस्वरूप परिणामशील घट, पट आदि पदार्थ जड़ हैं। आत्मा को जड़ मानने पर उसकी आत्मत्वेन सिद्धि नहीं हो सकेगी।[2] अतः जैनसम्मत आत्मस्वरूप युक्तियुक्त न होने से तदाधारित मोक्ष की अयुक्तता स्पष्ट है।

वेदान्तसम्मत आत्मवाद तथा मोक्ष का खण्डन

वेदान्तदर्शन के अनुसार आत्मा चिदानन्दस्वरूप है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा चिदानन्द रूप में प्रतिष्ठित होता है।[3]

आचर्य **भोजदेव** वेदान्तियों के उक्त मत से सहमत नहीं हैं। इनका कहना है कि मोक्ष की अवस्था में आत्मा स्वकीय चैतन्यरूप से ही रहता है, आनन्द रूप से नहीं। आनन्द पुरुष का स्वरूप नहीं, प्रत्युत औपाधिक धर्म है। अखण्ड स्वगतभेदहीन आत्मा का आनन्द-रूपत्व तथा चिद्रूपत्व सम्भव नहीं है। क्योंकि इन दोनों में भेद है।[4] आनन्द सत्त्वगुण का कार्य है। यह बुद्धि का धर्म है, पुरुष का नहीं। द्वितीय हेतु यह है कि आत्मा को सुखस्वरूप नहीं माना भी जा सकता। क्योंकि सुख सर्वदा ज्ञेयरूप है और ज्ञेयता ज्ञान के विना नहीं हो सकती। अतः मोक्ष की अवस्था में ज्ञान तथा ज्ञेय रूप दो पदार्थों के मानने पर वेदान्तियों का अद्वैतवाद सिद्ध नहीं हो सकेगा।[5] अतः चैतन्यरूपता (ज्ञानरूपता) ही पुरुष की मोक्षावस्था है। तृतीय हेतु यह है कि अद्वैतवेदान्तियों को आत्मा के दो भेद स्वीकृत हैं—कर्मात्मा (जीवात्मा) तथा परमात्मा।[6] आत्मत्वेन दोनों एक हैं। अतः वेदान्ती

---

[1] गत्वा गत्वा निवर्तन्ते चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः।
अद्यापि न निवर्तन्ते त्वलोकाकाशमागताः ॥—स० द० सं० पृ० १६८।

[2] यैरपि द्रव्यबोधपर्यायभेदेन आत्मनोऽव्यापकस्य शरीरपरिमाणस्य परिणामित्वमिष्यते, तेषाम् उत्थानपराहत एव पक्षः, परिणामित्वे चिद्रूपताहानेः; चिद्रूपताऽभावे किमात्मन आत्मत्वम् ?—रा० मा० पृ० ७९।

[3] ये तु वेदान्तवादिनश्चिदानन्दमयत्वमात्मनो मोक्षं मन्यन्ते—रा० मा० पृ० ७७।

[4] नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात्—सां० सू० ५।६६।

[5] आनन्दस्य सुखस्वरूपत्वात् सुखस्य च सदैव संवेद्यमानतयैव प्रतिभासात्। संवेद्यमान-त्वञ्च संवेदनव्यतिरेकेणानुपपन्नमिति संवेद्य-संवेदनयोर्द्वयोरभ्युपगमाद् अद्वैतहानिः —रा० मा० पृ० ७८।

[6] अद्वैतवादिभिः कर्मात्म-परमात्मभेदेन आत्मा द्विविधः स्वीकृतः—रा० मा० पृ० ७८।

जिस प्रकार जीवात्मा को सुख-दुःख का वास्तविक भोक्ता मानते हैं, उसी प्रकार यदि परमात्मा को भी सुख-दुःख का अनुभविता स्वीकार किया जाए तो जीवात्मा के समान परमात्मा भी अज्ञानी एवं परिणामी कहलाने लगेगा।[१] अतः मानना होगा कि आत्मा साक्षात्‌रूप से सुख-दुःख का भोक्ता नहीं है। बुद्धि में प्रतिसंक्रमित स्वकीय प्रतिबिम्ब के फलस्वरूप आत्मा बुद्धिगत धर्मों को अपना समझता है—ऐसा स्वीकार करने पर अद्वैतवेदान्ती योगाभिमत आत्मवाद के ही समर्थक ठहरेंगे।[२] चतुर्थ हेतु यह है कि अविद्या को जीवात्मा का स्वरूप मानना उचित नहीं है। अन्यथा अविद्या, दुःख आदि से मुक्ति दिलाने वाले शास्त्र का उपदेश व्यर्थ होगा।[३] क्योंकि जो जिसका स्वभाव होता है, वह यावद्-द्रव्यभावी होता है। आत्मा के नित्य होने से उसका अविद्यात्व-स्वरूप सर्वदा बना रहेगा। अतः वेदान्त की आत्म-मीमांसा पर आधारित आत्मा की मोक्षकालीन चिदानन्दमयता सम्यक् प्रतीत नहीं होती है।

न्यायसम्मत आत्मवाद तथा मोक्ष का खण्डन

न्यायदर्शन का सिद्धान्त है कि ज्ञान (बुद्धि) आत्मा में समवायसम्बन्ध से रहता है। अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं, प्रत्युत ज्ञानाधिकरण है। इसलिए आत्मा स्वरूपतः जड़ है। आत्ममनःसंयोग से आत्मा में चैतन्य की उत्पत्ति होती है।[४] मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने पर अविद्यामूलक ज्ञान आदि विशेषगुण आत्मा में नहीं रहते हैं। अतः ज्ञानादि विशेष गुणों की आत्यन्तिक निवृत्ति होने पर आत्मा अपने वास्तविक जड़ रूप में प्रतिष्ठित होता है।[५]

इसके उत्तर में आचार्य भोजदेव का कहना है कि आकाश, काल, दिक् आदि द्रव्यों से आत्मतत्त्व भिन्न है—ऐसा न्याय-वैशेषिकाचार्यों को भी मान्य है। तदर्थ न्याय-वैशेषिक ऐसा कहें—मोक्ष की अवस्था में अन्य द्रव्यों से आत्मतत्त्व का भेद सिद्ध करने के लिए आत्मा में नित्यत्व, व्यापकत्व आदि भेदक गुण रहते हैं। फलतः जड़ होते हुए भी आत्मा का अन्य जड़ पदार्थों से भेद बना रहता है। न्याय-वैशेषिकों की यह मान्यता उचित नहीं है। क्योंकि

---

१ इत्थञ्च तत्र येनैव रूपेण सुखदुःखभोक्तृत्वं कर्मात्मनः तनैव रूपेण यदि परमात्मनः स्यात्, तदा कर्मात्मवत् परमात्मनः परिणामित्वमविद्यास्वभावत्वं च स्यात्—रा० मा० पृ० ७८।

२ अथ न तस्य साक्षाद् भोक्तृत्वम्, किन्तु तदुपढौकितमुदासीनतया अधिष्ठातृत्वेन स्वीकरोति, तदा अस्मद्दर्शनानुप्रवेशः—रा० मा० पृ० ७८।

३ नापि अविद्यास्वभावत्वात् कर्मात्मा, ततश्च सकलशास्त्रवैयर्थ्यप्रसङ्गः—रा० मा० पृ० ७८।

४ यैरपि नैयायिकादिभिरात्मा चेतनायोगाच्चेतन इत्युच्यते, चेतनापि तस्य मनःसंयोगजा—रा० मा० पृ० ७८।

५ तेषां बुद्ध्यादीनां विशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिः, स्वरूपमात्रप्रतिष्ठत्वमात्मनोऽङ्गीकृतम्—रा० मा० पृ० ७८।

नित्यत्व, व्यापकत्व आदि गुण आकाश, दिक् आदि में भी रहते हैं। अतः आकाश आदि द्रव्यों से आत्मतत्त्व को पृथक् सिद्ध करने के लिए आत्मा को चैतन्यस्वरूप मानना आवश्यक है।[१] आत्मा के चैतन्यस्वरूप के सिद्धान्त को स्वीकार न करते हुए यदि नैयायिक मोक्षापन्न जड़रूप आत्मा का अन्य जड़ात्मक द्रव्यों से भेद उसमें स्थित आत्मत्वजाति के आधार पर करें तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि आत्मत्वजाति बद्ध तथा मुक्त उभय आत्माओं का साधारणधर्म है। अतः मुक्तिकालीन आत्मा का सांसारिक आत्मा से भेद सिद्ध करने के लिए नैयायिकों को यह मानना होगा कि मोक्षावस्था में जीवात्मा, सांसारिक अवस्था में अविद्यानिमित्तक जो सुख, दुःख आदि का अनुभव करता है, उससे मुक्त हो जाता है और अपने शाश्वतिक चिद्रूप में सर्वदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाता है।[२]

मीमांसकसम्मत आत्मवाद तथा मोक्ष का खण्डन

भाट्टमीमांसक सम्प्रदाय में आत्मा स्वयंप्रकाशरूप नहीं है। आत्मा जड़ और चेतन; कर्त्ता और कर्म उभयरूप है। **घटमहं जानामि**—इत्यादि स्थलों में आत्मा 'अहम्'—प्रत्यय से गृहीत होता है। इस 'अहम्'—प्रतीति के स्थल में आत्मा में ज्ञानाश्रयत्व के कारण कर्तृत्व एवं ज्ञानविषयत्व के कारण कर्मत्व रहता है।[३]

इसके उत्तर में आचार्य **भोजदेव** का वक्तव्य है कि एक ही समय एक पदार्थ में प्रमातृत्वरूप कर्तृत्व तथा प्रमेयत्वरूप कर्मत्व धर्म नहीं रह सकते हैं। ज्ञाता और ज्ञेय अथवा कर्तृत्व और कर्मत्व धर्मों का परस्पर विरोध है। जिस प्रकार परस्पर-विरोधी घट और उसका अभाव तुल्य काल में भूतल पर नहीं रह सकता है उसी प्रकार 'अहम्'—प्रत्यय के विषयभूत आत्मा में कर्तृत्व तथा कर्मत्व रूप विरुद्ध धर्मों का अध्यास स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः आत्मा को चिद्रूप अधिष्ठाता मानना ही उचित है।[४]

प्रभाकरमीमांसक आत्मा को साक्षात् कर्तृरूप ही मानते हैं। उनका कहना है कि विषय के सन्निहित रहने पर ज्ञानरूप क्रिया उत्पन्न होती है। इस ज्ञान-क्रिया

---

१ यतस्तस्यां दशायां नित्यत्वव्यापकत्वादयो गुणा आकाशादीनामपि सन्ति, अतस्तद्वैलक्षण्येनात्मनश्चिद्रूपत्वमवश्यमङ्गीकार्यम्—रा० मा० पृ० ७८-७९।

२ आत्मत्वलक्षणजातियोग इति चेत्, न; सर्वस्यैव तज्जातियोगः सम्भवति। अतो जातिभ्यो वैलक्षण्यमात्मनोऽवश्यमङ्गीकर्त्तव्यम्। तस्याधिष्ठातृत्वं चिद्रूपतयैव घटते नान्यथा - रा० मा० पृ० ७९।

३ यैरपि मीमांसकैः कर्मकर्त्तृरूप आत्मा अङ्गीक्रियते, तेषामपि न युक्तः पक्षः। तथाहि-अहं-प्रत्ययग्राह्य आत्मेति तेषां प्रतिज्ञा; अहं-प्रत्यये च कर्त्तृत्वं कर्मत्वञ्चात्मन एव—रा० मा० पृ० ७९।

४ न कर्त्तृत्वकर्मत्वयोर्विरोधः, किन्तु कर्तृत्वकरणत्वयोः। केन एतदुक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासस्य तुल्यत्वात् कर्तृत्वकरणत्वयोरेव विरोधः, न कर्तृत्वकर्मत्वयोः? तस्मादहं-प्रत्ययग्राह्यत्वं परिहृत्य आत्मनोऽधिष्ठातृत्वमेवोपपन्नम्; तच्च चेतनत्वमेव—रा० मा० पृ० ७९।

में आत्मा कारकरूप से प्रतिभासित होता है। आत्मा कर्तृरूप होने से भोक्तृरूप भी है।[१]

आचार्य भोजदेव के विचार में आत्मा को कर्तृरूप मानना उचित नहीं है।[२] विचारणीय है—आत्मा संवित्तिरूप फल का कर्त्ता एक काल में होता है अथवा क्रम से? प्रथम विकल्प के अनुसार यदि किसी एक विशेषकाल में सभी संवित्तिरूप फलों का कर्ता आत्मा को माना जाय तो अन्य क्षणों में वह कर्त्ता नहीं रह सकेगा। द्वितीय विकल्प के अनुसार व्यापक होने से एक रूप आत्मा सर्वदा विषय के सन्निहित रहेगा। फलतः घट, पट आदि विषयक समस्त ज्ञानों का मिश्रण होने से वे सभी ज्ञान एकरूप हो जायगें। यदि आत्मा को कनेक रूप से ज्ञानक्रिया का कंर्ता माना जाय तो आत्मा परिणामी हो जायगा। फलतः उसकी चैतन्यरूपता नहीं बन पायगी। क्योंकि परिणामी पदार्थ जड़ एवं अनित्य होता है। अतः आत्मा में तात्त्विक कर्तृत्व नहीं है।

शैवागमसम्मत आत्मवाद तथा मोक्ष का खण्डन

शैवागमसम्प्रदाय में आत्मा को विमर्शरूप से चेतन माना गया है। विमर्शरूप आत्मा चिद्रूप होने से निखिल जड़ पदार्थों से भिन्न है।[३]

भोजदेव की दृष्टि में शैवागमिकों का यह मत सम्यक् नहीं है। 'यह इस प्रकार का ही है'—इत्याकारक विचार को विमर्श कहते हैं।[४] यह विचार (विमर्श) अस्मितारूप विपर्ययज्ञान के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता।[५] अन्तःकरण (बुद्धितत्त्व) में उत्पन्न होने वाले विमर्श का स्वरूप है—'अहमेवं भूतः' अर्थात् मैं ऐसा हूँ। इस प्रतीति में आत्मा को अहम्—से अभिन्न समझा जाता है। यही मिथ्याज्ञान है; क्योंकि निश्चय बुद्धि का धर्म है। अर्थात् निश्चयात्मिका वृत्ति बुद्धि की है, पुरुष की नहीं। नित्यज्ञानस्वरूप पुरुष सदा एकरस है। पुरुष का वृत्त्यात्मक परिणाम नहीं होता है। अतः पुरुष का अहंकार में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। एतावता विमर्शरूप बुद्धि है, पुरुष नहीं।[६]

---

१ केचित् कर्त्तृरूपमेवात्मानमिच्छन्ति···क्रियायाश्च कारणं कर्त्तैव भवति, इत्यतः कर्त्तृत्वं भोक्तृत्वञ्चात्मनो रूपम् —रा० मा० पृ० ७९।

२ तदनुपपन्नम्···अतश्चिद्रूपत्वमात्मन इच्छद्भिर्न साक्षात्कर्तृत्वमङ्गीकर्त्तव्यम्—रा० मा० पृ० ७९।

३ न विमर्शव्यतिरेकेण चिद्रूपत्वमात्मनो निरूपयितुं शक्यम्; जगद्वैलक्षण्यमेव चिद्रूपत्वमुच्यते—रा० मा० पृ० ७९।

४ इदमित्थमेव रूपमिति यो विचारः सः विमर्श इत्युच्यते—रा० मा० पृ० ७९-८०।

५ स चास्मिताव्यतिरेकेण नोत्थानमेव लभते—रा० मा० पृ० ८०।

६ आत्मन्युपजायमानो विमर्शः 'अहमेवम्भूत' इत्यनेन आकारेण संवेद्यते। ततश्चाहंशब्दभिन्नस्य आत्मलक्षणस्य अर्थस्य तत्र स्फुरणान्न तत्र विकल्पस्वरूपताऽतिक्रमः। विकल्पश्चाध्यवसायात्मा बुद्धिधर्मः, न चिद्धर्मः; कूटस्थनित्यत्वेन चितेः सदैकरूपत्वाद् नित्यत्वान्नाहङ्कारानुप्रवेशः—रा० मा० पृ० ८०।

योगसम्मत आत्मवाद तथा मोक्ष का समर्थन

आचार्य भोजदेव का कहना है कि आत्मा का अधिष्ठातृत्व से अतिरिक्त स्वरूप नहीं है। 'अधिष्ठातृत्व' का अर्थ है—चिद्रूपत्व।[१] चैतन्यरूप होने के कारण आत्मा जड़ पदार्थों से भिन्न है। चिद्रूप से अधिष्ठित पुरुष (आत्मा) प्रतिबिम्बविधया बुद्धि को भोग्य बनाता हुआ बुद्धिगत सुख, दुःख आदि धर्मों का भोक्ता बनता है।

योगदर्शन की मान्यता के अनुसार त्रिगुणात्मक-सृष्टि के दो प्रयोजन हैं—भोग तथा मोक्ष। कार्यकारणात्मक त्रिगुण बुद्ध्यादि द्वारा पुरुष के लिए प्रथमतः विषयोपभोग उपस्थित करते हैं। भोग के बाद उसका कर्तव्य है—पुरुष के लिए मोक्ष का सम्पादन करना। बुद्धि, पुरुष के लिए भोग का सम्पादन प्रतिबिम्बविधया करती है। सुख, दुःखादि विषयाकार बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष भ्रमवशात् बुद्धि से तादात्म्य स्थापित कर बुद्धिगत धर्मों को अपना समझकर सुखी एवं दुःखी होता है। वह अपने को कर्त्ता एवं भोक्ता मानकर सुख-प्राप्ति एवं दुःख-निवृत्ति के लिए शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है। अच्छे एवं बुरे कर्मों से शुभाशुभ कर्माशय संचित होता है। फलस्वरूप जाति, आयुष् एवं भोग रूप विपाक निष्पन्न होता है। इस प्रकार अविवेकी पुरुष का चित्त नानाविध वृत्तियों से संकुलित रहता है। उपाधिभूत चित्त के साथ सम्पर्क होने पर पुरुष की केवलता (शुद्धता) नहीं रह पाती है। यही पुरुष का बन्ध है। पुरुष के इसी औपाधिक रूप की शाश्वतिक निवृत्ति को कैवल्य (मोक्ष) कहते हैं। **केवलस्य भावः कैवल्यम्**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार पुरुष का अपने शुद्ध (उपाधिशून्य) स्वरूप में प्रतिष्ठित होना कैवल्य है। उदाहरणस्वरूप जपाकुसुम के अपसारण से स्फटिक स्वकीय श्वेतिम-स्वरूप में आ जाता है।

बुद्धि, पुरुष के लिए कैवल्य का सम्पादन भी प्रतिबिम्बविधया करती है। योग-साधना की पद्धति के अनुसार जिस समय साधक के चित्त में सत्त्वपुरुषान्यताख्याति का उदय होता है, उस समय वृत्तिविशिष्ट पुरुष अपने को बुद्धि से पृथक् समझने लगता है। जब साधक का विवेकज्ञान अत्यन्त परिपक्व (अविप्लुत) हो जाता है, तब उसकी जीवन्मुक्त अवस्था होती है। जीवन्मुक्ति की दशा में ज्ञानाग्नि के द्वारा अविद्या आदि क्लेश दग्धबीज हो जाते हैं। किन्तु प्रारब्धकर्म के अनुसार भोग होता रहता है। भोग द्वारा प्रारब्धकर्म के क्षयित होने पर निरधिकार (कृतकृत्य) चित्त अपने मूलकारण प्रकृति में लीन हो जाता है और पुरुष सर्वदा के लिए देह-बन्धन से मुक्त हो जाता है। यही पुरुष की विदेहमुक्त अवस्था कही जाती है। विदेहमुक्त पुरुष का पुनः संसार में प्रत्यावर्तन नहीं होता है। योगशास्त्र में पुरुषार्थशून्य गुणों के प्रतिप्रसव को भी कैवल्य कहा गया है।[२] इसका तात्पर्य तत्-तत् पुरुषीय बुद्धि आदि उपाधियों का—पुरुषोद्देश्यक प्रयोजन समाप्त कर चुकने पर—अपने मूलकारण में आत्यन्तिक रूप से लय होना है।

---

[१] अधिष्ठातृत्वञ्च चिद्रूपत्वम्—रा० मा० पृ० ८०।

[२] पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं, स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः—यो० सू० ४।३४।

योगशास्त्र की मान्यता के अनुसार पुरुष का वास्तविक भोग तथा मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता है।[१] भोग विषयाकाराकारित चित्तवृत्ति है और मोक्ष स्वरूपाकाराकारित चित्तवृत्ति है। वृत्ति अर्थात् परिणाम चित्त का धर्म है। अतः विषयोपभोग भी चित्त का धर्म है। तत्त्वसाक्षात्कार ज्ञान है। यह भी चित्त का ही धर्म है। विवेकख्याति भी ज्ञानरूप है। यह भी चित्त का ही धर्म है। विवेकख्याति का हान (निरोध) भी चित्त का ही धर्म है। विवेकख्याति के निरोध से जायमान निरोधात्मक संस्कार भी चित्त का ही धर्म है। अतः चित्त का ही परमार्थतः बन्ध एवं मोक्ष होता है। पुरुष में बन्ध एवं मोक्ष का व्यवहार औपचारिक है। जिस प्रकार जय एवं पराजय वस्तुतः सेना की हुआ करती है लेकिन वह राजा की समझी जाती है, इसी प्रकार विवेकाग्रह के कारण स्वाश्रयप्रतिबिम्बत्व-सम्बन्ध से पुरुष का भोग एवं मोक्ष समझा जाता है। **सत्त्वपुरुषयोर्शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्**—इस सूत्र की व्याख्या करते समय व्याख्याकारों ने उपर्युक्त सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है।

---

[१] तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥
रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥—सां० का० ६२-६३।

उपसंहार

योगदर्शन प्रायोगिक शास्त्र है। पातञ्जल-योगशास्त्र की सेवा करने वाले मनीषियों में जहाँ एक ओर **वाचस्पति** सरीखे पण्डित हुए, वहाँ **विज्ञानभिक्षु** एवं **सदाशिवेन्द्रसरस्वती** जैसे योगी भी हुए हैं। अतः योगी एवं पण्डित उभय के बुद्धि-वैभवरूप दण्डों ने योग-समुद्र का मन्थन कर जिस नवनीत को खोज निकाला, वह वस्तुतः अनमोल है।

योग सांख्यशास्त्र का पूरक है। यह सांख्यदर्शन पर आधारित है। सांख्य के सिद्धान्तों का परीक्षण योग की प्रयोगशाला में किया जा सकता है। योगशास्त्र की तत्त्व-मीमांसा सांख्य से मिलती-जुलती है। केवल ईश्वरतत्त्व को लेकर दोनों दर्शनों में मतभेद है। जहाँ एक ओर योगाचार्यों ने ईश्वर की विरदावलियाँ गाई हैं, वहाँ सांख्य के आचार्य मौन हैं। योगाचार्यों ने ईश्वर में महायोगी के दिग्दर्शन किए और उसे परमगुरु की उपाधि से विभूषित किया। इस मान्यता के मूल में यह सन्देश छिपा हुआ है कि योग-साधना गुरु के संरक्षण में ही की जानी चाहिए।

आगे चलकर **नारायणतीर्थ** सरीखे व्याख्याकारों ने **पतञ्जलि** के उक्त सन्देश का विस्तार अवतारवाद के रूप में किया। उन्होंने ईश्वर के लीलाविग्रह रूप की विहङ्गम झाँकी प्रस्तुत की है। श्रीमद्भागवत, गीता आदि ग्रन्थों में ईश्वर के लीलाविग्रह रूप के दर्शन जगह-जगह होते हैं।

आचार्य **नारायणतीर्थ** ने राजयोग (असम्प्रज्ञातयोग) के साथ हठयोग का मिश्रण कर तान्त्रिक योग-साधना का मार्ग प्रशस्त किया है। **नारायणतीर्थोक्त** योग-साधना-पद्धति का यह नवीन दृष्टिकोण है। इसमें शरीर के शुद्धयर्थ धौती, बस्ती आदि कर्म तथा महाबन्ध आदि मुद्राएँ वर्णित हुई हैं।

आचार्य **नारायणतीर्थ** ने योग तथा ज्योतिषशास्त्रसम्मत भुवनविज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। तथा बौद्ध दार्शनिकों के एतत्सम्बन्धी मतवादों का खण्डन भी किया है।

कैवल्य-मार्ग के पथिकों का मार्ग अलौकिक सिद्धियों से आकीर्ण है। साधक अपनी योग्यतानुसार सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। लेकिन जो साधक प्राप्त सिद्धियों (अलौकिक शक्तियों) को ही लक्ष्य मानकर उनमें रममाण रहने लगता है, वह लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है। उत्तम साधक इन अलौकिक शक्तियों में हेयता के दर्शन कर उनमें अनुलिप्त नहीं रहता है। पातञ्जल-योगशास्त्रोक्त अलौकिक शक्तियों की प्रामाणिकता में योगियों का स्वानुभव ही प्रमाण है। वैसे तर्क के आधार पर भी इनकी प्रामाणिकता का आकलन किया जा सकता है।

योग का कैवल्य सांख्य के कैवल्य से भिन्न है। सांख्यशास्त्र के अनुसार कैवल्य तत्त्वसाक्षात्कारप्रधान है। योग के अनुसार कैवल्य सर्ववृत्तियों के निरोधपूर्वक पुरुष की स्वस्वरूपावस्थितिरूप है। द्वितीय ज्ञान (वृत्ति) तभी उत्पन्न होता है, जब प्रथम ज्ञान (वृत्ति) का निरोध हो जाता है। लेकिन पुरुष का आत्मज्योतिःस्वरूप ज्ञान शाश्वत है।

शास्त्रान्तरों में विकीर्ण योग के तत्त्वों को संकलित करने का श्रेयस् महर्षि **पतञ्जलि** को है लेकिन उसके प्रचार एवं प्रसार का पूर्ण श्रेय पातञ्जल-योग के व्याख्याकारों को है। उन्होंने अपनी-अपनी मनीषा एवं दृष्टि के आधार पर योग के सिद्धान्तों का प्रकाशन किया है।

ग्रन्थ-सूची

क्रम सं०	ग्रन्थ	ग्रन्थकार	प्रकाशन स्थल	प्रकाशन काल
१	अथर्ववेद	सं० सातवलेकर	स्वाध्यायमण्डल, पारडी, बलसाड	···
२	अमरकोप	व्या०हरगोविन्द शास्त्री	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी	१९५७
३	ऋग्वेद	सं० सातवलेकर	स्वाध्यायमण्डल, पारडी बलसाड	···
४	कारिकावली (न्याय-सिद्धान्त मुक्तावली)	ज्वालाप्रसाद गौड़	कल्पना प्रेस, वाराणसी	१९६०
५	कूर्मपुराण	सं० आनन्दस्वरूप गुप्त	सर्वभारतीय काशीराजन्यास दुर्ग रामनगर, वाराणसी	१९७२
६	कैवल्योपनिषद् (उपनिषत्-संग्रह)	सं० जगदीशशास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी	१९७०
७	गरुड़पुराण	सं० रामशंकरभट्टाचार्य	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी	१९६४
८	गीता(श्रीमद्भगवद्गीता)	सं० कृष्णपन्तशास्त्री	अच्युत ग्रन्थमाला, काशी	सं० २०२३
९	चरकसंहिता (II)	सं० गंगासहाय पाण्डेय	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी	१९७०
१०	छान्दोग्योपनिषद् (उपनिषत्-संग्रह)	सं० जगदीशशास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी	१९७०
११	जैमिनिन्यायमाला-विस्तर	सं० शिवदत्तशर्मा	आनन्दाश्रममुद्रणालय, पूना	शक १८१४
१२	तत्त्ववैशारदी (साङ्गं योगदर्शनम्)	सं० दामोदरशास्त्री	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी	१९३५
१३	तैत्तिरीय आरण्यक		आनन्दाश्रममुद्रणालय, पूना	१९५९
१४	दक्षस्मृति (स्मृतीनां समुच्चयः)	सं० विनायक गणेश आप्टे	आनन्दाश्रममुद्रणालय, पूना	शक १८५१
१५	नागेशभट्टीय बृहद्योग-सूत्रवृत्ति	सं० वासुदेव शास्त्री	डिपार्टमैण्ट आफ पब्लिक इन्सट्रक्शन, बम्बई	१९१७
१६	नागेशभट्टीय लघुयोग-सूत्रवृत्ति	सं० महादेवशास्त्री	निर्णयसागर, बम्बई	१९१७
१७	न्यायभाष्य	व्या० सुदर्शनाचार्य	गुजराती प्रेस, बम्बई	ख्रि० १९२२
१८	पञ्चपादिकाविवरण	सं० चन्द्रशेखरन्	गवर्नमेण्ट ओरियन्टल मैनि-स्क्रिप्टस् लाइब्रेरी, मद्रास, भारती विजयम प्रेस, मद्रास	१९५८
१९	पदचन्द्रिका	अनन्तदेवपण्डित	वाणीविलास यन्त्रालय, श्रीरङ्गम्	१९११
२०	पाणिनि शिक्षा	मनमोहन घोष	कलकत्ता यूनीवर्सिटी प्रेस	१९३८
२१	पातञ्जलरहस्य (साङ्गं योगदर्शनम्)	सं० दामोदरशास्त्री	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी	१९३५

२२ बृहदारण्यकोपनिषद् (उपनिषत्संग्रह)	सं० जगदीश शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी	१९७०
२३ ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्	सं० रामचन्द्रशास्त्री	निर्णयसागर, बम्बई	शक १८३०
२४ भामती (ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्यम्)	सं० रामचन्द्रशास्त्री	निर्णयशागर, बम्बई	शक १८३०
२५ भावागणेशीय योगसूत्रवृत्ति	सं० महादेवशास्त्री	निर्णयसागर, बम्बई	१९१७
२६ भावार्थदीपिका (श्रीमद्भागवत-महापुराण)	सं० कृष्णशंकर शास्त्री	संसारप्रेस, वाराणसी	१९६६
२७ भास्वती (साङ्गं योगदर्शनम्)	सं० दामोदरशास्त्री	चौखम्वा प्रकाशन, वाराणसी	१९३५
२८ मणिप्रभा	रामानन्दयति	विद्याविलास प्रेस, वाराणसी	१९०३
२९ मनुस्मृति	सं० गोपालशास्त्री नेने	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी	१९७०
३० माण्डूक्यकारिका	सं० रत्नगोपाल भट्ट	विद्याविलास प्रेस, वाराणसी	१९१०
३१ मार्कण्डेयपुराण		मनसुखराय मोर संस्करण ५ क्लाइवरोड कलकत्ता-१	१९६२
३२ मीमांसान्यायप्रकाश	आपदेव	निर्णयसागर, बम्बई	१९४३
३३ मुक्तावली (प्रत्यक्ष खण्ड)	धर्मेन्द्रनाथशास्त्री	मोतीलाल वनारसीदास, वाराणसी	१९५३
३४ मैत्रायणी उपनिषद् (उपनिषत्-संग्रह)	सं० जगदीशशास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी	१९७०
३५ मोक्षधर्म (महाभारत, शान्तिपर्व)		गीताप्रेस, गोरखपुर	
३६ योगप्रदीपिका	वलदेव मिश्र	चौखम्वा प्रकाशन, वाराणसी	१९८७
३७ योगवार्त्तिक (साङ्गं योगदर्शनम्)	सं० दामोदरशास्त्री	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी	१९३५
३८ योगवासिष्ठ		अच्युतग्रन्थमाला, काशी	सं० २००५
३९ योगसारसंग्रह	स्वामी सनातनदेव	मोतीलाल वनारसीदास, वाराणसी	सं० २०१४
४० योगसिद्धान्तचन्द्रिका	नारायणतीर्थ	...	...
४१ योगसुधाकर	सदाशिवेन्द्रसरस्वती	वाणीविलास प्रेस, श्रीरङ्गम्	१९१२
४२ योगसूत्र (साङ्गं योग दर्शनम्)	सं० दामोदरशास्त्री	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी	१९३५
४३ राजमार्तण्ड	भोजदेव	भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी	१९६३
४४ वाक्यपदीय	सं० के० वी० अभ्यंकर	यूनीवर्सिटी आफ पूना संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरिज (II)	१९६५

४५ वायुपुराण		मनसुखराय मोर संस्करण ५ क्लाइवरोड कलकत्ता-१	१९५९
४६ विज्ञानामृतभाष्य	सं० मुकुन्द शास्त्री	विद्याविलास प्रेस, वाराणसी	१९०१
४७ विष्णुपुराण	...	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० १९९०
४८ वेदान्तपरिभाषा	डा० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर	चौखम्वा प्रकाशन, वाराणसी	सं० २०२०
४९ व्यासभाष्य (साङ्गं योगदर्शनम्)	सं० दामोदरशास्त्री	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी	१९३५
५० शतपथ ब्राह्मण (१-५)	...	लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई	१९४०
५१ शाण्डिल्योपनिषद् (उपनिषत्-संग्रह)	सं० जगदीश शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी	१९७०
५२ श्वेताश्वतरोपनिषद् (उपनिषत्-संग्रह)	सं० जगदीश शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी	१९७०
५३ सर्वदर्शन संग्रह	उमाशंकर शर्मा ऋषि	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी	१९६४
५४ सांख्यकारिका	ढुण्ढिराज शास्त्री	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी	१९५३
५५ सांख्यतत्त्वकौमुदी	डा० गजाननशास्त्री मुसलगांवकर	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी	१९७१
५६ सांख्यदर्शन का इतिहास	उदयवीर शास्त्री	सार्वदेशिक प्रेस पाटौदी हाउस, दिल्ली	२००७
५७ सांख्यप्रवचनभाष्य	सं०रामशङ्कर भट्टाचार्य	भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी	सं० २०२२
५८ सिद्धान्तमुक्तावली	ज्वालाप्रसाद गौड़	कल्पनाप्रेस, वाराणसी	१९६०
५९ सुश्रुत संहिता	अम्बिकादत्तशास्त्री	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी	१९७४
६० सौरपुराण	...	आनन्दाश्रममुद्रणालय	शक १८४६
६१ हठयोगप्रदीपिका	स्वात्माराम योगीन्द्र	कल्याण, बम्बई	शक १८४६
६२ A History of Indian Philosophy	Surenderanath Das Gupta	Cambridge University Press	1932
६३ Geographical Concepts in Ancient India	Dr. Bechan Dube	Natational Geographical Society of India, B. H. U.	1967
६४ History of Indian Literature	M. Winternitz	Motilal Banarasi Das, Varanasi	1967
६५ The Geography of the Purāṇas	S. Muzafar Ali	New Age Printing Press Delhi	1966
६६ The Sāmkhya System	A. B. Keith	Mysore	1918

आचार्य-सूची

———

शब्दानुक्रमणिका

घ

च

ज

त

फ

ब

य

ह

दोष

न्याय

सम्बन्ध

पारिभाषिक-शब्द-कोष

अक्लिष्ट	=क्लेशनाशिका सत्त्वगुणप्रधाना चित्त-वृत्ति ।
अतिप्रसङ्गदोष	=अतिव्याप्ति ।
अदर्शन	=अविद्या ।
अदृष्ट	=क्रियाजन्य परोक्ष सामर्थ्य ।
अदृष्टजन्मवेदनीय	=अप्रत्यक्ष अग्रिम जीवन में उपभोग्य कर्माशय ।
अनवस्था	=विरामाभाव ।
अन्तःकरण	=बुद्धि, अहङ्कार, मनस् ।
अन्तरङ्ग-साधन	=साक्षात्-साधन ।
अन्तराय	=योग-विघ्न ।
अर्थक्रिया	=कार्यकरणसामर्थ्य ।
अलिङ्ग	=प्रकृति ।
अविद्या	=देहादि में आत्मबुद्ध्यादि ।
अविप्लुतविवेकख्याति	=स्थिर प्रकृति-पुरुषभेदज्ञान ।
अव्यक्त	=प्रकृति ।
अव्यपदेश्य-धर्म	=भाविव्यापारिका शक्ति ।
अष्टाङ्गयोग	=अष्ट क्रिया-साध्य योग ।
असम्प्रज्ञात	=चित्त की निर्वृत्तिक अवस्था ।
अस्मिता	=(१) सम्प्रज्ञात की चतुर्थ अवस्था; (२) जड़-चेतन की एकात्म-प्रतीति ।
अहङ्कार	=महत्तत्त्व का कार्य ।
आत्यन्तिक	=शाश्वत ।
आनुश्रविक	=वेदप्रतिपाद्य ।
आहार्यज्ञान	=कल्पना ।
इतरेतराश्रय	=परस्पराश्रय दोष ।
ईश्वर	=अविद्यादिशून्य पुरुषविशेष ।
उदार	=(क्लेशों की) सक्रिय अवस्था ।
उदितधर्म	=सक्रिय शक्ति ।
ऋतम्भरा	=सत्यग्राहिणी प्रज्ञा ।
एकभविक	=एकजन्मप्रद कर्माशय ।
एकाग्र	=चित्त की चतुर्थ अवस्था (भूमि) ।
ऐकान्तिक	=अवश्यम्भावी ।
कर्तृकर्मविरोध	=एक ही पदार्थ में कर्त्तृत्व और कर्मत्व का आरोप ।
कर्मयोग	=(१) धौती, बस्ती आदि कर्म; (२) महाबन्ध आदि मुद्राएँ ।

कर्माशय	=कर्मजन्य संस्कार ।
कूटस्थ	=निर्विकार ।
कैवल्य	=मोक्ष ।
क्रियायोग	=तपस्, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ।
क्लिष्ट	=रजस्तमोप्रधाना चित्त-वृत्ति ।
क्लेश	=अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ।
क्षण	=निरवयव वास्तविक काल ।
गगनारविन्द	=आकाशकुसुम, अलीक ।
गुण	=सत्त्व, रजस्, तमस् ।
गुणवृत्तिविरोध	=गुणों की उत्कर्षापकर्ष अवस्था ।
चतुर्व्यूह	=हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय ।
चित्त	=बुद्धि ।
जीवन्मुक्त	=देहत्याग से पूर्व ज्ञानी ।
ज्ञ	=पुरुष ।
तत्त्वज्ञान	=जड़-चेतन पदार्थों का प्रत्यक्ष ।
तनु	=(अविद्यादि क्लेशों का) शैथिल्य ।
दग्धबीज	=कार्योत्पादसामर्थ्यहीन ।
दृक्शक्ति	=पुरुष ।
दृश्य	=प्रकृत्यादि ।
दृष्टजन्मवेदनीय	=वर्तमान जन्म में उपभोग्य कर्माशय ।
धर्म	=(१) कार्य; (२) पदार्थगत गुण ।
धर्मी	=(१) कारण; (२) धर्म का अधिकरण ।
ध्यान	=अष्टाङ्गयोगान्तर्गत चित्तस्थैर्य ।
निद्रा	=सुषुप्ति ।
निरोध	=चित्त-वृत्तियों की अभिभूतावस्था ।
परवैराग्य	=विवेकख्यातिविषयक वैतृष्ण्य ।
परिकर्म	=मैत्री आदि चार साधन ।
परिपाक	=फलावस्था ।
पुरुष	=पञ्चविंश तत्त्व ।
पुरुषविशेष	=ईश्वर ।
पौरुषेयबोध	=प्रतिविम्बित पुरुष का विषयज्ञान ।
प्रकृति	=महदादि का मूलकारण ।
प्रकृतिलीन	=आत्मत्वेन प्रकृति का उपासक ।
प्रतिबिम्ब	=बिम्ब की छाया ।
प्रधान	=प्रकृति ।
प्रशान्तवाहिनी	=वृत्तिशून्य चित्त के निरुद्ध संस्कारों का आविर्भाव-तिरोभाव ।

प्रसंख्यानाग्नि =विवेकजज्ञान ।
प्रसवभूमि =उत्पत्तिस्थल ।
प्रसुप्त =(क्लेशों की) निष्क्रिय अवस्था ।
बहिरङ्ग-साधन =परम्परया कारण ।
बीजभावापन्न =पुनरुद्भवसामर्थ्ययुक्त (क्लेशों की) निष्क्रिय अवस्था ।
बीजाङ्कुरन्याय =कार्यकारण की अनादि परम्परा ।
बुद्धि =प्रकृति का प्रथम कार्य ।
भेदज्ञान =पार्थक्यज्ञान ।
भ्रमज्ञान =अज्ञानाधारित ज्ञान ।
मनस् =ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय उभयवृत्तिविशिष्ट तत्त्व ।
महत् =प्रकृति-विकृतिरूप बुद्धितत्त्व ।
महाप्रलय =गुणों की साम्यावस्था ।
मोक्ष =पुरुष के औपाधिक व्यापार की आत्यन्तिक निवृत्ति ।
यतमान =अपरवैराग्य की प्रथम अवस्था ।
युक्त =योगारूढ़ साधक ।
युञ्जान =योगाभ्यासी साधक ।
योग =चित्तवृत्तिनिरोध ।
राजयोग =असम्प्रज्ञातयोग ।
लिङ्ग =महत्तत्त्व ।
लिङ्गशरीर =महत् से लेकर तन्मात्रपर्यन्त अष्टादश-अवयवात्मक सूक्ष्मशरीर ।
विकल्प =कल्पनात्मिका चित्तवृत्ति ।
विकृति =कार्य ।
विच्छिन्न =व्यवहित ।
विपर्यय =भ्रमज्ञान पर आधारित चित्तवृत्ति ।
विशेष =एकादश इन्द्रिय एवं पञ्चमहाभूत ।
विषमपरिणाम =सत्त्व, रजस्, तमस् का गुण-प्रधानभाव ।
वृत्ति =चित्त की ज्ञानात्मिका अवस्था ।
व्यक्त =महत् से लेकर पञ्चमहाभूतपर्यन्त पदार्थ ।
शशशृङ्ग =खरगोश के सींग, अलीक ।
शान्तधर्म =निष्क्रिय शक्ति ।
संसार =आत्मदेहसंयोग ।
संस्कार =ज्ञान की उत्तर-पीठिका ।
सत्त्वपुरुषान्यताख्याति =प्रकृति-पुरुष का पारस्परिक अपरोक्षात्मक भेदज्ञान ।
सदृशपरिणाम =गुणों का स्व-स्व परिणाम ।
समाधि =ध्यान की उत्तर-पीठिका ।

समापत्ति	=चित्त का अक्लिष्टात्मिक ध्येयाकार परिणाम ।
सम्प्रज्ञात	=अशेषविशेषग्राहिणी अक्लिष्टात्मिका चित्त-वृत्ति ।
साङ्कर्यदोष	=अनुचित मिश्रण ।
सूक्ष्मशरीर	=अठारह तत्त्वों का समुदाय ।
सृष्टि	=तत्त्वोद्भव ।
स्त्यान	= चित्तविक्षेपिका कर्मायोग्यता ।
स्ववचोव्याघात	=उक्तिविरोध ।
हान	=अवास्तविक एकीकरण (संयोग) का विच्छेद ।
हानोपाय	=अष्टाङ्गयोग ।
हेय	=संसार या अनागतदुःख ।
हेयहेतु	=उक्त हेय की हेतुभूता अविद्या ।

BANARAS HINDU UNIVERSITY SANSKRIT SERIES
LIST OF PUBLICATIONS

Vol. No. 1. Campū-Rāmāyaṇa Kā Sāhityika Pariśīlana (in Hindi) 1968
Dr. Karuṇā Śrīvāstava 13.00

Vol. No. 2. Pāṇinian Interpretation of the Sanskrit Language (in English) 1969
Dr. N. C. Nath 30.00

Vol. No. 3. A Critical Study of the Kātyāyana-śrauta-sūtra (in English) 1969
Dr. K. P. Singh 21.00

Vol. No. 4. A Critical Study of the Śrīmad-Bhāgavata (in English) 1969
Dr. K. S. Tripāthī 40.00

Vol. No. 5. The Ṛg-veda-prātiśākhya with the Bhāṣya of Uvaṭa (in Hindi) 1970
(A Critical Edition with translation and notes)
Dr. V. K. Varma 72.00

Vol. No. 6. Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts (in Gaekwada Library, Bhārata-kalā-bhavana and Sanskrit Mahāvidyālaya Library. B.H.U.) 1971
Dr. Ramā Śaṅkar Tripāṭhī 100.00

Vol. No. 7. The Ṛg-veda-Prātiśākhya—Eka Pariśīlana (in Hindi) 1972
Dr. V. K. Varma 45.00

Vol. No. 8. Mūla-Yajurveda-Saṁhitā 1973
Maharṣi Daivarāta 55.00

Vol. No. 9. Vedānta-kaumudī (A Critical Edition with the Sanskrit Commentary of Śrī Rāmādvayācārya and Hindi translation of the Text) 1973
Dr. Rādhe Śyāma Caturvedī 80.00

Vol. No. 10. A Critical Study of the Pātañjala-yoga-sūtra in the Light of its Commentators (in Hindi) 1974 65.00
Dr. (Miss) Vimlā Karṇāṭak